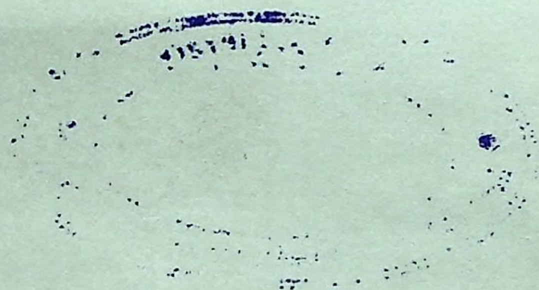
तुलसी मानस संदर्भ



तुलसी मानस संदर्भ

संपादक :
डॉ० रामस्वरूप आर्य
अध्यक्ष, हिंदी विभाग
वर्धमान कॉलेज, बिजनौर

रामायणि, मैथिल भाषा में लालदास
ालम में एषुत्तच्छन की अध्यात्म
नेपाली में भानुभक्तकृत नेपाली

मानस चतुश्शती आयोजन समिति
[redacted] प्र०)

मुख्य वितरक : हिंदी बुक सेंटर
४/५ बी, आसफअली रोड, नईदिल्ली

संपर्क सूत्र : संभल मानस चतुश्शती आयोजन समिति,
अनाज मंडी, बिजनौर (उ० प्र०)

[redacted] आयोजन समिति
.०)

संस्करण : १९७४

मुद्रक : प्रभात प्रिंटिंग प्रेस
कृष्णाटोला, अलीगढ़ (उ० प्र०)

TULSI MANAS SANDARBH

By Dr. Ram Swaroop Arya [redacted]

Rs. 150.00

समायोजन

रामचरितमानस एक ऐसा महान ग्रंथ है जिसने भारत की सामान्य जनता से लेकर विद्वन्मंडली तक को समान रूप से प्रभावित किया है। कथा-संघटन, चरित्र-चित्रण तथा काव्य-सौष्ठव आदि अनेक दृष्टियों से उसका अध्ययन किया गया है; तद्‌युगीन परिस्थितियों का भी उस पर पूर्ण प्रभाव है, साथ ही साथ वह भारत की जनता के लिए दिशा-निर्देश का भी पावन कार्य करता रहा है। भक्ति, धर्म, दर्शन सभी दृष्टियों से मानस एक अद्वितीय ग्रंथ है।

ऐसे विशिष्ट और गौरव संपन्न महाकाव्य की चतुश्शती के अवसर पर, एक ध्येय के रूप में, ऐसा ग्रंथ प्रकाशित करने का संकल्प मन में उदित हुआ जिसमें गोस्वामी तुलसीदास के जीवनवृत्त एवं कृतित्व का सम्यक् विवेचन हो, साथ ही रामचरितमानस पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया गया हो। अतः इस संदर्भ-ग्रंथ में हमने इस प्रकार के लेखों को संकलित करने का भरसक प्रयास किया है।

रामकथा का भारत के विभिन्न प्रांतों में व्यापक प्रचार रहा है तथा प्रांतीय एवं क्षेत्रीय भाषाओं में भी रामकथा विषयक काव्यों की रचना हुई है। रामकथाकाव्य की परंपरा में संस्कृत का आदिकाव्य वाल्मीकिरामायण जगत् प्रसिद्ध है। संस्कृत में ही अध्यात्मरामायण ने भी पर्याप्त ख्याति प्राप्त की थी। अपभ्रंश की पउमचरिउ जैन मतावलंबियों में तथा इसी प्रकार बंगला में कृतिवासरामायण, असमीया में माधवकंदलीकृत असमीया रामायण उड़िया भाषा में बलरामदासकृत उड़िया रामायण, मैथिल भाषा में लालदास कृत रमेश्वरचरित्र मैथिलीरामायण, मलयालम में एषुत्तच्छन की अध्यात्म रामायण, तमिल में कंबनकृत कंबरामायण, नेपाली में भानुभक्तकृत नेपाली रामायण आदि अपने-अपने क्षेत्रों में प्रचलित हैं।

हिंदी में भी रामकथा विषयक अनेक काव्यों की रचना हुई है जिनमें गोस्वामी तुलसीदास के रामचतिमानस के अतिरिक्त रीतिकालीन काव्यों में केशवकृत रामचंद्रिका और आधुनिककाल में मैथिलीशरण गुप्त रचित साकेत एवं राधेश्याम कथावाचक की रामायण ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है। ग्रंथ के अंत में इन विभिन्न भाषाओं में रचित रामकाव्यों से रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास किया गया है।

ग्रंथ का विषयक्षेत्र पर्याप्त विस्तृत था। अतः इसके लिए हमने अनेक लेखकों से व्यक्तिगत तथा पत्र द्वारा संपर्क स्थापित किया। कुछ सज्जनों से निराशाजनक उत्तर मिले, कुछ के उत्तर ही नहीं मिले परंतु प्रसन्नता की बात है कि जिनके भी उत्तर मिले उन्होंने हमारा उत्साह ही बढ़ाया और सहर्ष अपने लेख हमें प्रदान करने की कृपा की।

विशेष रूप से तुलनात्मक खंड के लिए, हमने ऐसे महानुभावों से प्रार्थना की जिन्होंने मानस तथा किसी अन्य भाषा में लिखित रामकाव्य पर तुलनात्मक शोधकार्य किया हो। इस कार्य में हमें पर्याप्त सफलता मिली। तुलनात्मक लेखों की श्रेणी में हम अन्य क्षेत्रीय भाषाओं की रामायणों से मानस की तुलना विषयक कुछ लेख और देना चाहते थे परंतु बहुत प्रयत्न करने पर भी ऐसे लेखों को जुटाना संभव न हो सका। हमारा विश्वास है कि भविष्य में हम इस कार्य में भी सफल होंगे और रामचरितमानस का और अधिक विस्तारपूर्वक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर सकेंगे।

संदर्भ-ग्रंथ के संपादन-कार्य में जिन महानुभावों के महत्त्वपूर्ण सुझाव प्राप्त हुए हैं और जिन विद्वानों ने अपना बहुमूल्य समय व्यय करके ग्रंथ के लिए अपने लेख प्रदान किए हैं, उन सभी के प्रति हम हृदय से आभारी हैं। हम सर्वश्री पं० गौरीशंकर द्विवेदी, डॉ० रामदत्त भारद्वाज, आचार्य बैजनाथ राय तथा श्री धर्मदेवराय के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं जिन्होंने ग्रंथ की योजना के प्रचार-प्रसार में विशेष सहयोग प्रदान किया।

हमने प्रयत्न किया है कि यथासंभव सभी स्थलों पर संदर्भ दिए जाएँ और वे एक ही पद्धति पर हों। संदर्भ में पहली संख्या कांड, दूसरी संख्या दोहा तथा तीसरी संख्या चौपाई की है।

ग्रंथ पर्याप्त समय पहले ही प्रकाशित हो जाना चाहिए था परंतु अनेक अपरिहार्य कारणों से इतना अधिक विलंब हो गया है। इसका सबसे बड़ा कारण है संपादकों तथा मुद्रक का पर्याप्त दूरी पर होना। तब भी ग्रंथ के मुद्रण और साजसज्जा में प्रभात प्रिंटिंग प्रेस, अलीगढ़ के प्रबंधक श्री जगदीश प्रसाद वार्ष्णेय ने जो श्रम किया है उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

ग्रंथ में कितनी ही कमियाँ और त्रुटियाँ रह गयी हैं, प्रूफ आदि की अशुद्धियाँ भी हैं, इन सबको संपादकों का प्रमाद मानकर सहृदय पाठकगण क्षमा करेंगे और अपने मूल्यवान् सुझावों से लाभान्वित करेंगे।

वसंत पंचमी १९७४ —संपादकद्वय

संदर्भ-ग्रंथ-समिति

मुख्य संरक्षक : श्री जनार्दनदत्त शुक्ल, आई०सी०एस०

संरक्षक : डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा
श्री हकीम रईस अहमद
श्री वी० पी० सिंह, आई०ए०एस०

अध्यक्ष : श्री विजयकृष्ण सक्सेना, आई०ए०एस०

संस्थापक : श्री सतीशचंद्र गुप्त

परामर्श-मंडल : श्री भुवनचंद्र जोशी
श्री रमेशचंद्र दुबे
श्री बनवारीलाल गोयल
श्री हरिश्चंद्र गर्ग
श्री अभयपालशरण रस्तोगी

संपादक : डॉ० रामस्वरूप आर्य
[redacted]

विषयानुक्रमणिका

१.	तुलसीदास का जीवनवृत्त—श्री वेदव्रत शास्त्री	१
२.	तुलसी का जन्मस्थान और सोरों सामग्री—डा० रामदत्त भारद्वाज	१२
३.	तुलसीदासजी की कृतियाँ—श्री वेदप्रकाश गर्ग	४०
४.	रामकाव्य परंपरा और तुलसीदास—डा० रामेश्वरप्रसाद सिंह	५८
५.	युगबोधों के परिप्रेक्ष्य में तुलसी का काव्य—डा० गणेश खरे	७०
६.	तुलसी के काव्य में युग-चित्रण—डा० श्रीराम त्यागी	७६
७.	तुलसी का लोकनायकत्व—प्रो० श्यामकिशोर शर्मा	८३
८.	तुलसी का समाज-दर्शन—डा० विश्वदेव त्रिगुणायत	९३
९.	तुलसी : आधुनिक दृष्टि से—डा० श्यामबहादुर वर्मा	१०२
१०.	दोहावली में आधुनिक संदर्भ—प्रो० शंभूनाथ चतुर्वेदी	११०
११.	तुलसी : समाजशास्त्री की दृष्टि से—श्री अभयपालशरण रस्तोगी	११७
१२.	तुलसी की दृष्टि-पुरुषार्थ और भाग्य के संदर्भ में —डा० कृष्णचंद्र गुप्त	१२२
१३.	तुलसी-काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि —प्रो० भगवानशरण भारद्वाज	१४०
१४.	तुलसी का समन्वयवाद—डा० (श्रीमती) स्नेहलता प्रकाश	१४६
१५.	तुलसी का स्वांतःसुखाय—डा० सूर्यप्रसाद दीक्षित	१५७
१६.	तुलसी और नारीजाति—डा० हरिदत्तशर्मा सुधांशु	१६५
१७.	तुलसी के नारी पात्र—डा० (श्रीमती) गिरिजासिंह	१७६
१८.	तुलसी-काव्य में प्रकृति—डा० रामाभिलाष त्रिपाठी	१८९
१९.	तुलसी और संगीत—श्रीमती मीना अग्रवाल	१९९
२०.	तुलसी के काव्य में संस्कृति : श्रृंगारप्रसाधन —डा० (श्रीमती) हर्षनंदिनी भाटिया	२१०
२१.	तुलसी का व्यंजना-कौशल—डा० शिवबालक शुक्ल	२२२
२२.	तुलसी की कारयित्री ... त खंडेलवाल	२४५

२३. तुलसी की अलंकार योजना--डा० वचनदेवकुमार २५६
२४. तुलसी की छंदोयोजना--डा० गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेंद्र' २६८
२५. तुलसी-काव्य का भाषाशास्त्रीय अध्ययन
—डा० कैलाशचंद्र भाटिया २८४
२६. तुलसी की काव्य-वर्ण्य संबंधी परिकल्पना— डा० सुरेशचंद्र गुप्त २९७
२७. तुलसी-काव्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन—डा० हरिश्चंद्र वर्मा ३०५
२८. तुलसी का उक्ति वैचित्र्य—डा० बल्देवप्रसाद मिश्र ३१७
२९. तुलसी-साहित्य में ब्रजतत्त्व —श्री मोहनलाल शर्मा ३२३
३०. तुलसी का लोक-साहित्य—डा० राजनारायण मौर्य ३२९
३१. तुलसी की भक्ति-भावना—डा० सत्यनारायण शर्मा ३३६
३२. तुलसी-साहित्य में माया—डा० नंदकिशोर तिवारी ३४५
३३. साध्वी रत्नावली और उनका काव्य—श्री गौरीशंकरद्विवेदी 'शंकर' ३५३
३४. तुलसी शोध : एक विहंगावलोकन—डा० वीरेंद्रपाल श्रीवास्तव ३६१
३५. तुलसी और सूर - डा० राजनारायण राय ३७४
३६. तुलसी और केशव—डा० निजामउद्दीन ३८३
३७. महाकवि स्वयंभू एवं तुलसी की नारी भावना—डॉ० योगेंद्र 'अरुण' ३९३
३८. 'साकेत' और तुलसी के राम—डा० लक्ष्मीनारायण दुबे ४००
३९. तुलसी और विनयपत्रिका—प्रो० शिवअवतार रस्तोगी ४०५
४०. विनयपत्रिका और मानस की भूमिका—डा० रामदेव शुक्ल ४१४
४१. विनयपत्रिका में तुलसी का व्यावहारिक मुक्ति-मार्ग
—डा० गिरिधरप्रसाद शर्मा ४१९
४२. बरवैरामायण : एक कलात्मक कृति—डा० रामस्वरूप आर्य ४२४
४३. कवितावली में तुलसी की काव्यकला—प्रो० श्रीचंद्रजैन ४३०
४४. तुलसीदास और रामजी का नहछू--डा० शालिग्राम गुप्त ४३७

मानसखंड

४५. रामचरितमानस में मंगलाचरण की विशेषताएँ--सुश्री उषामिश्रा ४४५
४६. रामचरितमानस का कथाशिल्प -डा० एन० चंद्रशेखरन् नायर ४५२
४७. रामचरितमानस का महाकाव्यत्व—डा० गिरिराजशरण अग्रवाल ४५९
४८. रामचरितमानस में गार्हस्थ-धर्म—डा० भगवतशरण अग्रवाल ४६९
४९. रामचरितमानस में नीति— श्री जनार्दनदत्त शुक्ल ४७५

५०. मानस की अंतःकथाएँ—डा० वागीशदत्त पांडेय ४८१
५१. रामचरितमानस की धर्म-भावना—डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी ४९०
५२. शकुनविचार और मानस—डा० स्वर्णकिरण ४९५
५३. रामचरितमानस में मनोबल और औचित्य का शंखनाद
—डा० कन्हैयालाल सहल ५०१
५४. रामचरितमानस में रस-योजना—डा० विपिनबिहारी ठाकुर ५०७
५५. रामचरितमानस में लोकजीवन संबंधी शब्दावली
—डा० श्यामप्रकाश ५१३
५६. रामचरितमानस के कुछ कूटोन्मुखी शब्द—डा० अंबाप्रसाद 'सुमन' ५२३
५७. रामचरितमानस में साहित्य-चिंतन—आचार्य बैजनाथ राय ५३१
५८. रामचरितमानस की एक अज्ञात हस्तलिखित प्रति
—श्री उदयशंकर दुबे ५३६
५९. मानस के राम—श्री शचींद्र भटनागर ५४५
६०. रामचरितमानस और बीसवीं शताब्दी का भारतीय समाज
—डा० भोलानाथ 'भ्रमर' ५५०
६१. रामचरितमानस का मूलस्रोत : अध्यात्मरामायण
—डा० कैलाशशरण श्रीवास्तव ५५६
६२. रामचरितमानस और पउमचरिउ—श्रीरंजन सूरिदेव ५६४
६३. रामचरितमानस और कंबरामायण—डा० रामेश्वरदयालु अग्रवाल ५७७
६४. रामचरितमानस और नेपालीरामायण—डा० हरिश्चंद्र दीक्षित ५८२
६५. रामचरितमानस और मैथिलीरामायण—डा० अमरेश पाठक ५९१
६६. रामचरितमानस और राधेश्याम रामायण
—प्रो० रघुवीरसहाय काश्यप जोशी ५९६
६७. मानस के मलयालम अनुवाद—डा० एस० एन० गणेशन ६०१
६८. पूर्वांचलीय रामचरित-काव्य और रामचरितमानस
—डा० रमानाथ त्रिपाठी ६०६
६९. रामचरितमानस और जायसी का पद्मावत
—प्रो० सेवक वात्स्यायन ६२०
७०. रामचरितमानस और वाल्मीकिरामायण
—डा० रामप्रकाश अग्रवाल ६२५
परिशिष्ट : लेखक परिचय ६३२

व्यक्तित्व एवं कृतित्व

श्री वेदव्रत शास्त्री

तुलसीदास का जीवनवृत्त

जिस समय भारतभूमि पर विदेशी-शासकों का शासन-सूर्य पूर्ण विकास पर था, भारतीय आचार-विचार, परंपराएं प्रतारणा पदाक्रांत की जा रही थीं, धार्मिक उन्माद 'मजहबी जिहाद' के नाम पर असंख्य प्राणियों का रक्तपान कर फल-फूल रहा था, सुंदर-सुंदर कला-केंद्रों एवं मंदिरों को 'शाही-मसजिदों' का रूप दिया जा रहा था, वेद, पुराण, स्मृतियाँ और दर्शन-ग्रंथ दहकते अंगारों की भाँति 'हमाम' गर्म कर रहे थे, दंभी शासक 'दीन इलाही' की धुनि में सूर्य नमस्कार और गंगाजल पान कर भोली-भाली जनता से 'मीना-बाजार' लगवा रहा था; इस्लाम धर्म की भावना से संख्यातीत व्यक्तियों को शासक धर्म में दीक्षित करने के लिए तलवारें म्यानों से बाहर चमचमा रहीं थीं देश में दंभ-द्वेष का दावानल ज्वालामुखी की लपटों के समान प्रज्ज्वलित हो उठा था, समाज में सर्वत्र फूट का फल फल-फूल रहा था। पारस्परिक अवाच्य-वाणी में एक दूसरे के उपास्य देवताओं को निंद्य कहने की अभद्र-वाणी गूँज रही थी और 'भाई के खून का प्यासा' भाई ही बना बैठा था। उस समय जिन महापुरुषों ने देश का पथ-प्रदर्शन किया, जाति को ज्योति-प्रदीप बनकर दिव्य मार्गदर्शन सुलभ बनाया, जिनकी अमर वाणी ने निर्जीव धमनियों में उष्ण रक्त का संचार कर दिखाया; प्रेम, एक्य और भक्ति की त्रिवेणी द्वारा भूले-भटके और आशा पर अटके हिंदुओं को हिमाचल सदृश सुदृढ़ चट्टान बना धैर्य के साथ स्वधर्मरत रहने का स्वर्णिम संदेश सुनाकर भारतीय परंपराओं को पुनर्जीवित करने में योग दिया, उन सबमें विबुधजन वंदनीय गोस्वामी तुलसीदास जी का स्थान सर्वोपरि है।

प्राचीन भारतीय आदर्श पुरुषों द्वारा जो कुछ भी लिखा मिलता है, वह सब लोकललाम भावना का ही उच्चतम प्रतीक है। नाम महात्म्य को तब हेय समझा जाता था। तभी तो बौद्धों को बोधन कराने वाले तार्किक शिरोमणि कुमारिल या शंकर ने अपने संबंध में तथा अनेक राजर्षियों को अमर बनाने वाले महाकवि कालिदास ने अपने संबंध में कहीं कुछ भी तो नहीं लिखा। तत्कालीन विद्वान् समाज-चेतना के निमित्त निज-निज भावों का प्राकट्य किया करते थे। अपने वंश-वर्णन का उस काल उन्हें अवकाश ही कहाँ था ? गोस्वामी तुलसीदास भी ऐसे ही लोकोत्तर महापुरुष थे। ग्रंथों द्वारा कीर्ति उपार्जन की लालसा उनको नहीं थी अतएव अपने संबंध में उन्होंने विवरण नहीं दिया है। फिर भी शोध-शास्त्रियों ने अपनी शोधों द्वारा उनके जीवन-पक्ष की ओर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

जन्म-स्थल—तुलसी के जीवनचरित से संबंधित इस पक्ष की ओर विद्वान् शोधकर्त्ताओं ने सबसे अधिक समय लगाया है। अनेक परस्पर भिन्न मत इस संबंध में प्रस्तुत किए जाते हैं। विदेशी विद्वानों के हम सबसे अधिक ऋणी हैं जिन्होंने विभिन्न जन-श्रुतियों को एकत्र कर तुलसी-जन्म-स्थल के विवरण को प्रस्तुत कर अन्वेषकों को प्रेरणा प्रदान की। इनमें सर्वश्री एच० एच० विलसन, एस० एस० ग्राउज, सर ऑर्थर ग्रियर्सन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रायः एक शताब्दी तक 'तुलसी चरित', 'मूल गोसाईं चरित', 'घट-रामायन', 'गोसाईं चरित', 'गौतम चंद्रिका' और 'तुलसी प्रकाश' जैसी पुस्तकों के आधार पर और जनश्रुतियों का आश्रय लेकर हाजीपुर, हस्तिनापुर, दुआब की तारी, रजियापुर, राजापुर, अयोध्या, काशी और राजपुर (बिहार) को गोस्वामी जी का जन्म-स्थल कहा जाता था किंतु विगत पचास वर्षों की शोध द्वारा यह सिद्ध हो गया कि उनका जन्म-स्थल सोरों (एटा) था।

गोस्वामी जी के पूर्वज सोरों से दो मील दूर रामपुर में निवास करते थे किंतु गोस्वामी जी के पिता आत्माराम शुक्ल अपनी माता और पत्नी हुलसी को लेकर सोरों के योगमार्ग मुहल्ले में आ बसे थे, उसी घर में गोस्वामी जी का जन्म हुआ था। उक्त तथ्य की पुष्टि गोस्वामी जी की पत्नी रत्नावली ने भी की है :

प्रभु बराह पद पूत महि जनम मही पुनि एहि।
सुर सरि तट महि त्यागि अस, गए धाम पिय केहि ॥[1]
तीरथ आदि बराह जे, तीरथ सुर सरि धार।
याही तीरथ आइ पिय, भजहु जगत करतार ॥[2]

'दुआब की तारी' गोस्वामी जी की ननिहाल थी अर्थात् उनकी माता हुलसी का जन्म स्थल। राजापुर (बाँदा), चित्रकूट, काशी और अयोध्या उनके साधना-स्थल थे। जन्म-स्थल तो सूकर खेत (सोरों, एटा) ही था।[3]

जन्म-संवत्—जो भी सामग्री अभी तक प्राप्त है उसके आधार पर गोस्वामी जी के जन्म संवत् के संबंध में एक निश्चित और सर्वमान्य संवत् का निर्धारण संभव नहीं है। विभिन्न जनश्रुतियों और लेखकों के अनुसार उनके छह जन्म संवत् बताए जाते हैं :

१. 'मूल गोसाईं चरित' और 'मानस मयंक' में प्राप्त जनश्रुति के अनुसार तुलसी का जन्म संवत् १५५४ माना गया है :

पंद्रह सौ चौवन बिषै कालिंदी के तीर।
सावन सुक्ला सप्तमी तुलसी धरेउ सरीर।[4]

२. 'राममुक्तावली' के आधार पर जगमोहन वर्मा ने सं० १५६० को तुलसी का जन्म-संवत् माना है। परंतु राममुक्तावली तुलसी की रचना नहीं है।

३. अविनाशराय ने 'तुलसी प्रकाश' में तुलसी का जन्म सं० १५६८ लिखा है :

राम राम सागर मही सक सित सावन मास।
रबि तिथि भृगु दिन दुतिय पद नषत विसाषा बास।[5]

इसका आशय इस प्रकार है—शक सं० १४३३, श्रावण शुक्ला सप्तमी, शुक्रवार अर्थात् सन् १५११ ई० या सं० १५६८ वि०।

४. 'गौतम चंद्रिका', विल्सन और गार्सां द तासी के अनुसार तुलसी का

---

१. दोहा रत्नावली, २२
२. दोहा रत्नावली, २१
३. विशेष जानने के लिए तुलसी का जन्म-स्थल निबंध पढ़ें—संपादक
४. मूल गोसाईं चरित, २
५. तुलसी प्रकाश, २५

जन्म सं० १६०० में हुआ। परंतु इस जन्म तिथि को मानने पर मानस की रचना ३१ वर्ष की आयु में माननी होगी जो कि बहुत अधिक संभव नहीं है। दूसरे रत्नावली जब २७ वर्ष की थीं तब सं० १६०४ में तुलसी उन्हें छोड़कर चले गए। इस आधार पर तुलसी उस समय केवल ४ वर्ष के ठहरते हैं। अतः यह तिथि हास्यास्पद है।

५. श्री शिवसिंह सेंगर ने अपने 'शिवसिंह सरोज' में तुलसी का आविर्भाव काल १५८३ माना है।

६. 'घटरामायन' में तुलसी साहब ने तुलसी का जन्म सं० १५८९ स्वीकार किया है। परंतु घटरामायन की प्रामाणिकता में संदेह है।

हमारे विचार से तुलसी का जन्म संवत् १५७२ के लगभग ठहरता है। उनकी पत्नी रत्नावली का जन्म १५७७ वि० में हुआ था। तुलसीदास उनसे लगभग ५ वर्ष बड़े अवश्य ही रहे होंगे। रत्नावली की आयु विवाह के समय १२ वर्ष की थी। तुलसीदास ने भी विद्याध्ययन आदि में तथा अपनी परिस्थितियों को स्थिर बनाने में १७–१८ वर्ष लगाए ही होंगे।

जाति और आस्पद––सभी प्रकार के अंतर्बाह्य साक्ष्यों के अनुसार तुलसी का जन्म ब्राह्मण जाति में हुआ था। हाँ, उनकी उपजाति या गोत्र के संबंध में विभिन्न मत व्यक्त किए जाते हैं। परंतु विनय-पत्रिका में उन्होंने अपने सुकुल होने का स्पष्ट उल्लेख किया है :

दियो सुकुल जनम सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को।[1]

बल्लभ संप्रदाय के वार्ता-ग्रंथों में भी गोस्वामी जी के जीवन वृत्त के संबंध में कुछ उल्लेख हैं जो कवि नंददास जी की वार्ता में हैं। उसकी प्रारंभिक पंक्तियों से भी तुलसीदास के सनाढ्य ब्राह्मण होने का ज्ञान होता है :

'सो वे तुलसीदास के भाई सनोढ़िया ब्राह्मन हते। सो तुलसीदास जी तो बड़े भाई और छोटे भाई नंददास जी हते।'

बाल्यावस्था :

गोस्वामी तुलसीदास ने 'कवितावली' और 'विनयपत्रिका' के अनेक प्रसंगों में अपनी बाल्यावस्था की दयनीय दशा का वर्णन किया है। बचपन में ही वे पितृ-मातृ-सुख से वंचित हो गए थे :

---

१. वि० प० १३५।१

(क) मातु पिता जग जाय तज्यो
बिधि हू न लिखी कछु भाल भलाई।[1]

(ख) जननि जनक तज्यो जनमि करम
बिनु बिधिहु सृज्यो अवडेरे।[2]

साधारण रूप से इन पंक्तियों का अर्थ निकलता है कि माता-पिता ने किसी कारण-वश तुलसी को त्याग दिया परंतु विनय पत्रिका[3] में उन्होंने अपने माता-पिता के प्रति जो श्रद्धा प्रदर्शित की है उससे ज्ञात होता है उनके प्रति वात्सल्य का अभाव नहीं था वरन् मृत्यु के कारण ही उनको इस सुख से वंचित रहना पड़ा।

इसके पश्चात् उनका बालपन अत्यधिक कष्ट में व्यतीत हुआ और उन्हें दूसरों के दान पर निर्भर रहना पड़ा। उनको दया की भीख मांगनी पड़ी :

(क) बारें तें ललात बिललात द्वार-द्वार दीन
जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को।[4]

(ख) फिर्‌यौ ललात बिनु नाम उदर
लगि दुखउ दुखित मोहि हेरे।[5]

(ग) जाति के सुजाति के कुजाति के पेटागि बस
खाए टूक सबके बिदित बात दुनीं सो।[6]

डा० रामदत्त भारद्वाज ने 'तुलसी प्रकाश' के आधार पर तुलसी की बाल्यावस्था का वर्णन करते हुए लिखा है कि "अविनाशराय के साक्ष्य के अनुसार तुलसीदास जी केवल दस मास के थे जब उनके माता-पिता का देहांत हुआ था। तुलसीदास जी का बचपन कष्टमय रहा। उन्हें अपनी जीविका के लिए भिक्षा तक मांगनी पड़ी। यद्यपि उनके माता-पिता खाते-पीते थे तथापि माता-पिता तथा चाचा जीवाराम की मृत्यु के पश्चात् आय का कोई साधन न रह गया था। उनकी दादी उन्हें अवश्य राम का भरोसा देती थीं और वे राम के नाम पर भिक्षा-वृत्ति करते थे।"[7]

१. कवितावली ७।५७
२. वि० प० २२७।२
३. वि० प० ३६।३-४
४. कवितावली ७।७३
५. वि० प० २२७।३
६. कवितावली ७।७२
७. गोस्वामी तुलसीदास पृ० २९०-९१

माता-पिता :

सोरों की सामग्री के अनुसार गोस्वामी तुलसीदास के पिता का नाम आत्माराम शुक्ल तथा माता का नाम हुलसी था। इसके साथ ही किसी अन्य जनश्रुति, परंपरा अथवा रचना के आधार पर तुलसी की माता का नाम हुलसी के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं बताया गया है। तुलसी ने स्वयं लिखा है :

रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी।
तुलसीदास हित हियँ हुलसी सी।[1]

डा० रामदत्त भारद्वाज ने विनय पत्रिका की एक पंक्ति के आधार पर सिद्ध किया है कि तुलसी ने 'कूट और गूढ़ार्थ' द्वारा अपने माता-पिता का नाम स्पष्ट कर दिया है :

अगम जो अमरनि हू सो तन तोहिं दियो।

उनके अनुसार, "अगम का अर्थ है परब्रह्म अर्थात् तुलसीदास जी के राम। गीता कहती है : 'मां तु वेद न कश्चन' और 'अमरनि' का अर्थ है 'जो न मरे' अर्थात् आत्मा। गीता कहती है : न जायते म्रियते वा कदाचित्। दोनों शब्दों का अर्थ हुआ : राम, आत्मा अथवा 'आत्माराम'। तत्पश्चात् कूट में 'हू-सो' की विद्यमानता है जिसमें मध्यांतर का अत्यय हो गया है। पूर्व शब्द था—हुलासो। कवि ने अपने पिता 'आत्माराम' और माता 'हुलासो' का उल्लेख कैसी गूढ़ रीति से किया है।"[2]

मूलनाम

पं० रामनरेश त्रिपाठी के अनुसार 'तुलसीदास' का पहला नाम रामबोला था। संभव है राम-राम बोलकर वे भीख मांगा करते थे, इससे लोगों ने उनका नाम 'रामबोला' या 'रामबोलवा' रख लिया होगा। माता-पिता तो मर ही चुके थे, तुलसीदास को किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं मालूम था कि किसने उनका नाम रामबोला रखा था, इसी से वे कहते हैं कि राम ने नाम रख दिया था :[3]

राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम।[4]

---

१. मानस १।३१।६
२. गोस्वामी तुलसीदास पृ० ३०८
३. तुलसीदास और उनका काव्य पृ० १८-१९
४. वि० प० ७७।१

परंतु कवितावली के एक कवित्त से उनके मूलनाम तुलसी का पता चलता है :

नाम तुलसी पै भोंड़ो भाँग ते कहायो दासु।
किये अंगीकार ऐसे बड़े दगाबाज को।[1]

रामचरितमानस, दोहावली और बरवै रामायण में भी इसी भाव को प्रकट किया गया है :

(क) केहि गिनती महँ गिनती जस बनघास।
राम जपत भये तुलसी तुलसीदास॥[2]

(ख) नाम राम को कलपतरु कलि कल्यान निवास।
जो सुमिरत भयो भाँग ते तुलसी तुलसीदास॥[3]

तात्पर्य यह है कि भक्त के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर लोग उन्हें तुलसीदास कहने लगे होंगे।

गुरु और अध्ययन :

रामचरितमानस के निम्नलिखित सोरठे के अनुसार तुलसीदास के गुरु का नाम नरहरि अथवा नृसिंह था :

बंदौ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु बचन रविकर निकर॥[4]

उन्होंने बाल्यावस्था में ही, जबकि उनका पूर्ण बौद्धिक विकास नहीं हुआ था, अपने गुरु से रामकथा सुनी थी :

मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहउँ अचेत॥[5]

ज्ञान की वृद्धि होने पर उन्होंने साहित्य का गहन अध्ययन किया और नाना पुराण निगमागमों का विधिवत् ज्ञान प्राप्त किया। साधना-क्षेत्र में प्रवेश करने के पूर्व श्री गोस्वामी जी भली प्रकार शिक्षित हो गए थे। पिंगल-शास्त्र के अतिरिक्त गान-विद्या और संगीत-शास्त्र का उनको भरपूर ज्ञान हो गया था।

---

१. कवितावली ७।१३
२. बरवै रामायण ७।५९
३. मानस १।२६, दोहा० ११
४. मानस १। सोरठा ५
५. मानस १।३० क

पाणिग्रहण संस्कार—गोस्वामी जी का पाणिग्रहण संस्कार साध्वी रत्नावली के साथ सं० १५८९ वि० में हुआ था। चार वर्ष पश्चात् द्विरागमन हुआ। ग्यारह वर्ष उनका दाम्पत्य जीवन अत्यंत शांति के साथ व्यतीत हुआ। रत्नावली रचित दोहे से इसकी पुष्टि होती है :

बैस बारही कर गह्यौ, सोरहिं गवन कराइ।
सत्ताइस लागत करी, नाथ रतन असहाइ।

उनके तारक नाम का पुत्र भी उत्पन्न हुआ परंतु वह अधिक दिन जीवित न रह सका।

गृहस्थाश्रम का त्याग—संवत १६०४ वि० में जब गोस्वामी जी केवल ३२ वर्ष के ही थे, विरक्त होकर सोरों (एटा) से चले गए थे। किन कारणों से उन्होंने वैराग्य धारण किया, इसका कोई भी अंतस्साक्ष्य प्राप्त नहीं होता। बहिर्साक्ष्य के आधार पर इतना ही कहा जाता है कि पत्नी के प्रति अतिशय अनुरक्ति और इस पर उनके उद्बोधक कथनों के कारण तुलसी ने वैराग्य धारण कर लिया था :

मो तन प्रेम करी सरि पार करें हरि प्रेम तरें भवप्रानी।
प्रेम प्रताप महा महिमा लघु धी अविनास न जाय बखानी।
नाथ भई बड़ भागिनि हौं तुम प्रेम पयोनिधि पाय सिहानी।
नैनन आनंद नीर भरैं पुलकाय कही रतनावलि बानी।
बैन सुनैं तिय के तुलसी हरि प्रेम कथा मनमाहि समानी।
सूषत राम सनेह को खेत दयो रतनावलि मानहुं पानी।
राम विसारि असार विचारनु बैस चली अविनास न जानी।
सोचत भे तुलसी धरि मौन सती तिय नैनन नींद प्रमानी।
× × × ×
रातिहिं में तुलसी गृह त्यागि गए कित औचक काहु न जानी।

इतना निश्चित है कि उनके साहित्यिक-जीवन का श्रीगणेश वैराग्य लेने के पश्चात् ही हुआ।

इष्टदेव—श्री नरहरि जी रामभक्त होने के साथ-साथ हनुमान जी के अनन्य उपासक थे।[1] अतः गोस्वामी जी भी हनुमान जी और श्री रामजी के दृढ़

---

१. आज भी सोरों की जीर्णशीर्ण नरहुरि पाठशाला में प्राचीन हनुमान जी का मंदिर है जिसके सामने राम सीता का मंदिर है।

उपासक हो गए। श्री हनुमान जी द्वारा ही उनको अपने इष्टदेव श्री राम की प्राप्ति में सहायता मिली।

साधना-स्थल—विरक्त होने के पश्चात् तुलसीदास ने अनेक तीर्थों एवं नदी तटों के अरण्यों का पर्यटन किया। उनमें प्रयाग, काशी, अयोध्या, चित्रकूट और राजापुर के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। तीर्थराज प्रयाग की महिमा मानस और कवितावली में वर्णित है।

गोस्वामी जी के जीवन का अधिकांश समय काशी में व्यतीत हुआ। यद्यपि उनके इष्टदेव श्रीराम और हनुमान थे परंतु फिर भी शंकर के प्रति उनके मन में प्रगाढ़ श्रद्धा तथा भक्ति थी। काशी के प्रति उन्होंने लिखा :

मुक्ति जन्म महि जानि, ज्ञान खानि अघ हानि कर,
जहँ बस संभु भवानि, सो कासी सेइअ कस न।[1]

काशी में असीघाट पर उन्होंने हनुमान जी के दो मंदिर बनवाए थे। अपनी ५६-५७ वर्ष की अवस्था में गोस्वामी जी अयोध्या वास करने गए थे। वहीं सं० १६३१ वि० में जब वे प्रायः ५९ वर्ष के थे उन्होंने रामचरितमानस की रचना प्रारंभ की :

संवत सोरह सौ इकतीसा। करौं कथा हरि पद धरि सीसा।
नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा।[2]

काशी और अयोध्या में निवास करने के पश्चात् गोस्वामी चित्रकूट में भी रहे। अपने विभिन्न ग्रंथों में भी उन्होंने बड़ी श्रद्धा और विस्तार से चित्रकूट का वर्णन किया है। ऐसी भी किंवदंती है कि चित्रकूट में ही श्री हनुमान की कृपा से तुलसीदास जी को श्रीराम के दर्शन हुए थे।

साधना-स्थल राजापुर (बांदा) की स्थापना तो तुलसीदास ने स्वयं की थी जैसा कि इंपीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया में उल्लिखित है कि अकबर के राजत्व-काल में राजापुर की स्थापना तुलसीदास नामक संत ने की जो कि सोरों के निवासी थे। उन्होंने एक मंदिर बनवाया और कितने ही अनुयायियों को आकर्षित किया।[3]

---

१. मानस ४।१ सोरठा
२. मानस १।३४।२-३
३. इंपीरियल गजेटियर आफ इंडिया, खंड XI, द्वारा डब्ल्यू० डब्ल्यू० हंटर, द्वितीय संस्करण १८८६, पृ० ३८५-८६

गोस्वामी जी को अपने जीवन-काल में पर्याप्त सम्मान प्राप्त हुआ था। विद्वद्वर्ग में तो उनका सम्मान था ही, साथ ही शासक-वर्ग में भी वे श्रद्धा के पात्र हो गए थे। मुगल सम्राट अकबर, अब्दुल रहीम खानखाना, महाराजा मानसिंह, राजा बीरबल आदि उनका आदर करते थे। आमेर के राजा मानसिंह, उनके भाई जगतसिंह और कितने ही ख्याति प्राप्त महाराजा गोस्वामी जी की सेवा में उपस्थित हुआ करते थे। किंतु उन्होंने अभिमान कभी नहीं किया। इसका महत्त्व भी उन्होंने राम को ही दिया। निम्नलिखित दोहे से स्पष्ट है कि बड़े-बड़े पदाधिकारी और राजा उनके चरणों का स्पर्श करते थे :

घर-घर माँगे टूक पुनि भूपति पूजे पाय।
जे तुलसी तब राम बिनु ते अब राम सहाय ॥[1]

सम्मान तो उनको जितना मिला, सो मिला ही परंतु विरोध भी उनका कम नहीं हुआ। किसी ने अज्ञानवश तो किसी ने ईर्ष्यावश उनका विरोध किया। 'हँसिहहिं कूर कुटिल कुबिचारी, जे पर दूषन भूषन धारी' पंक्ति से स्पष्ट है कि रामचरितमानस की रचना से पूर्व भी उनके निंदक थे और बाद को भी। तुलसीदास की कतिपय उक्तियों से प्रकट होता है कि उनके विरोधियों ने उन्हें तरह-तरह से डराने-धमकाने का प्रयत्न किया और उनके जीवन को कष्टकर बनाने में सदैव लगे रहे परंतु रामभक्ति का सहारा लेकर वे अविचल भाव से परिस्थितियों का सामना करते रहे--'कौन की त्रास करै तुलसी जो पै राखिहै रामु तौ मारिहै को रे।'[2]

वृद्धावस्था--तुलसी के काव्य में प्राप्त विभिन्न उल्लेखों से ज्ञात होता है कि तुलसी की वृद्धावस्था अत्यधिक कष्टमय परिस्थितियों में व्यतीत हुई। उनको विभिन्न प्रकार के रोगों ने आक्रांत कर लिया था जिसके कारण वे अपने जीवन के प्रति भी आशावान् नहीं रहे थे :

रोग निकर तनु जरठपन तुलसी संग कुलोग।
राम कृपा लै पालिए दीन पालिबे जोग ॥[3]

उनको अनेक प्रकार के रोगों ने घेर लिया था। इसका वर्णन हनुमान बाहुक में विशद रूप में प्राप्त होता है :

---

१. दोहावली १०९
२. कवितावली ७।४८
३. दोहावली १७८

घेरि लियो रोगनि कुजोगिनी कुलोगिनी ज्यौं
बासर जलद घन घटा धुकि धाई है।[1]

महाप्रयाण--जीवन के अंतिम वर्षों में तुलसीदास जी जिन रोगों से पीड़ित थे उनसे मुक्त न हो सके थे अतः उनमें जीवन की लालसा शेष नहीं रही थी :

जीबे की न लालसा दयालु महादेव मोहि
मालुम ह तोहि मरिबेई को रहतु हौं।[2]

तुलसीदास की मृत्यु के संबंध में कोई ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त नहीं है। इस पर भी जितने भी साक्ष्य मिलते हैं उन सभी में सं० १६८० को उनका मृत्यु संवत् स्वीकार किया गया है। एक जन श्रुति है :

संवत सोरह सै असी असी गंग के तीर।
सावन सुक्ला सत्तमी तुलसी तजेउ सरीर॥

इस जनश्रुति के अनुसार तुलसी का देहावसान अस्सी गंगा के संगम पर सं० १६८० की श्रावण शुक्ला सप्तमी को हुआ। परंतु इसमें सं० १६८० को स्वीकारते हुए भी कुछ विद्वान् 'सावन सुक्ला सत्तमी' के संबंध में एक मत नहीं हैं। वेणीमाधवदास ने 'सावन स्यामा तीज सनि' को उनका दिवंगत होना स्वीकार किया है :

संवत् सोरह सै असी असी गंग के तीर।
सावन स्यामा तीज सनि तुलसी तजेउ सरीर॥[3]

डा० माताप्रसाद गुप्त इसमें 'सनि' को स्वीकार न करते हुए 'श्रावण कृष्णा तीज' को स्वीकार करते हैं[4]। डा० उदयभानुसिंह ने भी इसी मत को समर्थन दिया है[5] जबकि डा० रामदत्त भारद्वाज का मत 'श्रावण शुक्ला सप्तमी' के पक्ष में है।[6]

जो भी हो, गोस्वामी तुलसीदास जैसा प्रभावशाली और संस्कृति का पुनरुत्थानकर्ता व्यक्तित्व सौभाग्य से ही अवतरित होता है। उनका जीवन-वृत्त अनेक दृष्टियों से विश्व-शांति और विश्व-प्रेम की प्रेरणा देता है। उनमें नर को नारायण बना देने की क्षमता है।

---

१. हनुमान बाहुक, ३५
२. कवितावली, ७।१६७
३. मूल गोसाईं-चरित दोहा ११६
४. तुलसीदास, पृ० १८६
५. तुलसी काव्य-मीमांसा पृ० १७६
६. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १७३

डा० रामदत्त भारद्वाज

तुलसी का जन्म स्थान और सोरों सामग्री

तुलसीदास जी के जन्म-स्थान के विषय में मतभेद है। हाजीपुर, हस्तिनापुर, राजापुर, काशी, अयोध्या, तारी और सोरों के योगमार्ग मोहल्ले का उल्लेख किया जाता है, किन्तु रामपुर (एटा) का पक्ष प्रबल है।

एच० एच० बिल्सन ने 'ए स्केच ऑव द रिलीजस सेक्ट्स ऑव द हिंदूज़' में चित्रकूट के निकट हाजी को जन्मस्थान लिखा, तदनुसार गार्सी द तासी ने भी ऐसा ही बताया, और एफ० एस० ग्राउज एवं सरजॉर्ज आर्थर ग्रियर्सन ने भी उसका उल्लेख कर दिया। इस विषय में संदिहान रामबहोरी शुक्ल ने कहा कि "कुछ लोग चित्रकूट के पास हाजीपुर को उनका जन्मस्थान मानते हैं।" फ्रांसीसी विद्वान् तासी और अंग्रेजी लेखक विल्सन ने इस मत का प्रवर्त्तन किया। जहाँ तक मुझे ज्ञात है ऐसा कोई स्थान आजकल तो है नहीं। संभव है उन्होंने राजापुर को भ्रमवश हाजीपुर लिख दिया हो। यों तो भारत में अनेक हाजीपुर हैं, किंतु प्रतीत होता है कि विल्सन ने गोस्वामी जी के विषय में जहाँ अनेक भ्रांत बातों की चर्चा की वहाँ हाजीपुर की भी।

ग्राउज ने लिखा है कि 'भक्तिसिंधु' के अनुसार गोस्वामी जी का जन्म हस्तिनापुर में हुआ था, किंतु उन्होंने इसे महत्त्व प्रदान नहीं किया। ग्रियर्सन ने इस विषय में 'वृहद्रामायण माहात्म्य' का उल्लेख और किया। किंतु वे

तारी और राजापुर की ओर ही अधिक झुके। लाला सीताराम के शब्दों में "कोई कहता है उनका जन्म राजापुर के पास हस्तिनापुर में हुआ था जिसे अब हस्तनाम कहते हैं। लाला जी तो स्वयं तारी के पक्ष में थे।

अतःएव राजापुर, काशी अयोध्या और तारी के संबंध में कुछ विस्तृत विवेचन की अपेक्षा है जो इस प्रकार है :

(क) राजापुर का पक्ष :

गोस्वामी तुलसीदास का घनिष्ठ संबंध राजापुर से प्रकट करने के लिए निम्नलिखित सामग्री का उल्लेख किया जा सकता है :

१. 'तुलसी चरित', 'मूल गोसाईं चरित' और 'घट रामायण' का परिशिष्ट,
२. अयोध्याकाण्ड का तापस-प्रकरण,
३. अयोध्याकाण्ड की हस्तलिखित प्राचीन प्रति,
४. शासकीय विवरण,
५. मंदिर और प्रतिमाएँ,
६. माफी की दो सनदें,
७. शर्त वाजिबुल अर्ज, तथा
८. जनश्रुति।

राजापुर-पक्ष का समर्थन करने वाले तीनों ग्रंथ सत्य की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। उनमें से 'मूल गोसाईं चरित' की सर्वश्री श्रीधर पाठक, शुकदेवबिहारी मिश्र, मायाशंकर याज्ञिक, माताप्रसाद गुप्त आदि विद्वानों ने खुली निंदा की है और तत्-प्रदत्त तिथियों को अशुद्ध बताया है। सर्वश्री शिवनंदन सहाय रामस्वरूप मिश्र, श्यामबिहारी मिश्र, शुकदेवबिहारी मिश्र, रामनरेश त्रिपाठी, श्यामसुंदरदास प्रभृति विद्वान् 'तुलसी चरित' को अप्रमाणिक समझते हैं, और मैंने भी अंतःसाक्ष्य के आधार पर उसमें कतिपय इतिहास व्यतिक्रम के उदाहरण उपस्थित किये हैं। 'घट रामायण' के परिशिष्ट पर श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु, श्री परशुराम चतुर्वेदी डॉ० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने अनेक शंकाएं उठाई हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने उसकी तिथियों का परीक्षण किया और, उनके अनुसार, जन्मतिथि को छोड़कर सभी तिथियाँ या तो परीक्षा की कसौटी पर नहीं कसी जा सकतीं अथवा मिथ्या हैं। मैंने इस पुस्तक के अनेक इतिहास व्यतिक्रमों की ओर ध्यान आकर्षित किया है।

राजापुर का पक्ष लेने वाली पुस्तकों के संबंध में सबसे अधिक उल्लेखनीय

बात यह है कि उन तीनों के विवरणों में सामंजस्य नहीं। तुलसीदास जी की जाति, कुल और विवाह से संबंध रखने वाले विवरण परस्पर विरोधी हैं। गोस्वामी जी के माता-पिता तथा पत्नी के नामों में भी अनुकूलता नहीं और उनके जन्म-संवत् के विषय में भी मतभेद है।

'अयोध्याकांड' के तापस-प्रकरण के आधार पर सर्वश्री विजयानंद त्रिपाठी, रामचंद्र शुक्ल, रामबहोरी शुक्ल आदि कतिपय विद्वान् राजापुर को गोस्वामी जी का जन्म स्थान समझते रहे। श्री चंद्रबली पांडे की पहले तो तापस-प्रकरण पर आस्था रही, किंतु पीछे उन्होंने इसे त्याग दिया। श्री शंभुनारायण चौबे 'तापस' से तुलसीदास अर्थ ग्रहण नहीं करते। अन्य टीकाकारों ने भी तापस से निम्नलिखित तात्पर्य ग्रहण किया, यथा:

१. रावण बध का सदेह संकल्प,
२. अग्नि,
३. अगस्त्य ऋषि का शिष्य, तथा
४. चित्रकूट वन।

चौबेजी तो तापस प्रसंग को प्रक्षिप्त मानते और कहते हैं कि :

(१) यह प्रकरण सर्वथा अप्रासांगिक और असंगत है,
(२) किसी पौराणिक कथा से इसकी पुष्टि नहीं होती है, तथा
(३) संपूर्ण 'रामचरितमानस' की ग्रंथ-संख्या मिलाते समय रामायण प्रतियों की छंद-संख्या में अंतर पड़ता है।

राजापुर का अयोध्याकांड पुराना अवश्य है। परंतु श्री चंद्रबली पांडे, डॉ० माताप्रसाद गुप्त और श्री शंभुनारायण चौबे उसे गोस्वामी जी के हाथ का लिखा नहीं मानते।

राजापुर में यमुना जी के पुलिन से जो काली मूर्ति प्राप्त हुई है उसे गोस्वामी तुलसीदास की बताया जाता है, जिसे श्री चंद्रबली पांडे भक्तराज छीतूदास की तथा सोरों वाले राजा नामक किसी साधु की समझते हैं।

राजापुर में कुछ सनदें हैं, और वहां का शर्त वाजिवुल अर्ज यह बताता है कि राजापुर में तुलसीदास जी के शिष्य गणपति उपाध्याय का वंश चलता है।

पर उक्त सभी सामग्री से यह तनिक भी स्पष्ट नहीं होता कि गोस्वामी जी का जन्म राजापुर में हुआ। प्रत्युत राजापुर के शासकीय विवरण और

प्राचीन जनश्रुतियों से यह स्पष्ट है कि गोस्वामी जी का जन्म राजापुर में नहीं हुआ, किंतु उन्होंने एटा जिले के सोरों से पधार कर राजापुर नामक कस्बे की नींव डाली। इस विषय में सबसे पहला गजेटियर १८७४ का है। रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज, श्री सीतारामशरण भगवान्प्रसाद और बाबू शिवनंदन सहाय ने राजापुर की जनश्रुति का उल्लेख किया जो राजापुर के विपक्ष में है। यद्यपि कुछ उल्लेखों से तो सोरों की पुष्टि होती है, तथापि इस बात के कहने में संकोच न होना चाहिए कि गोस्वामी जी का राजापुर से घनिष्ठ संबंध था और वे वहाँ रहे भी थे।

(ख) काशी का पक्ष :

श्री रजनीकांत शास्त्री निम्नलिखित सोरठे के आधार पर तुलसी का जन्म-स्थान काशी में मानते हैं—

मुक्ति जन्म महि जानि, ग्यान खानि अघ हानिकर
जहं बस सम्भुभानि, सो कासी सेइय कस न।[1]

इस मत के खंडन में डॉ० माताप्रसाद गुप्त 'कवितावली' के उत्तरकांड से निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं—

चेरो राम राय को सुजस सुनि तेरो हरि
पाय तर आय रह्यो सुरसरि तीर हौं
जीबे की न लालसा दयालु महादेव मोहि
मालूम है तोहि मरुबेइको रहतु हौं।[2]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि गोस्वामी जी कहीं से आकर काशी में वास करने लगे थे, जिससे यह स्वतः सिद्ध होता है कि वे वहाँ उत्पन्न नहीं हुए थे।

(ग) अयोध्या का पक्ष :

श्री चंद्रबली पांडे गोस्वामी जी का जन्म राजापुर समझते थे, किंतु पीछे निम्नलिखित कारणों से उसे अयोध्या मानने लगे। वे अयोध्या के निमित्त अपने विचार इस प्रकार उपस्थित करते हैं :

१. व्रजनिधि ने तुलसीदास जी की प्रशस्ति में लिखा है कि उन्होंने 'कोसलदेस उजागर कीन्हों।' किंतु 'उजागर कीन्हों' से यह तात्पर्य ग्रहण नहीं किया जा सकता कि वहां उनका जन्म हुआ, जबकि भिन्न साक्ष्य भी उपलब्ध

१. मानस ४।१
२. कवितावली। ७।१६७

हो, और यह भी आवश्यक नहीं कि 'कोसल देश' का तात्पर्य अयोध्या से ही हो।

२. 'तुलसी-चौरा' का उल्लेख मोहन साईं ने अपने गीत में किया है। किंतु अयोध्या में 'तुलसी चौरा' की विद्यमानता से तुलसी का जन्मस्थान स्वतः सिद्ध नहीं होता। इसमें कोई संदेह नहीं कि तुलसीदास जी अयोध्या गये थे, और वहां उन्होंने रामायण को लिखना आरंभ किया।

३. पांडेजी ने गीतावली से कुछ उद्धरण दिये हैं जिनका साम्य सूरदास की इस पंक्ति से हो सकता है :

हौं तो तेरे घर को ढाढ़ी।

किंतु इन वचनों से जन्म-स्थान ढूंढना क्लिष्ट कल्पना मात्र है।

४. गोस्वामी जी ने 'रामचरितमानस' के उत्तरकांड में रामचंद्र जी के मुख से कहलाया है :

जन्म भूमि मम पुरी सुहावनि।
उत्तर दिसि बह सरजू पावनि॥

इस उद्धरण से गोस्वामी जी की जन्मभूमि अयोध्या सिद्ध करना युक्ति संगत नहीं क्योंकि सूरदास जी ने भी इस प्रसंग में लिखा है :

हमारी जन्म भूमि मम गाउँ
सुनहु सखा सुग्रीव विभीषण
अवनि अयोध्या नाउँ।'[1]

'अध्यात्म्य रामायण' कार भी लिखते हैं :

'एषा सा दृश्यतेऽयोध्या प्रणामं कुरु भामिनि'

और वाल्मीकि जी ने भी कुछ इसी प्रकार लिखा है :

एषा सा दृश्यते सीते राजधानी पितुर्मम
अयोध्यां कुरु वैदेहि प्रणामं पुनरागता।[2]

'कवितावली' के एक कवित्त में निम्नलिखित पंक्ति आती है :

तुलसी तिहारो घर जायो है घर को।[3]

---

१. सूरसागर, ६०९
२. वाल्मीकि रामायण ७।५५
३. कवितावली ७।१२२

इस पंक्ति से पांडेय जी का यह निष्कर्ष है कि तुलसीदास जी का जन्म अयोध्या में हुआ, और सोरों वाले भी इसका अर्थ रामपुर लगाते हैं, किंतु यह रामपुर कहाँ है, रामपुर कौन-सा है इस विषय में मतभेद है, जिसके संबंध में आगे चलकर विचार होगा।

(घ) तारी का पक्ष :

ग्रियर्सन ने १८९३ ई० में 'नोट्स ऑन तुलसीदास' लिखे। उसके अनुसार तारी को जन्म-स्थान के रूप में प्रधानता मिली। किंतु इस तारी को दुआव (अंतर्वेद) में बताया गया है। रैवरैंड एडविन ग्रीव्ज ने 'तुलसी ग्रंथावली' में इस प्रकार लिखा है : "फिर औरों ने कहा कि ये तारी में जन्मे पर दूसरे लोग कहते हैं कि उनके माता-पिता वहाँ रहते थे, पर यह उनके वहाँ उत्पन्न होने से पहले था। सन् १९१३ ई० में श्री सीताराम भगवान् प्रसाद ने लिखा कि गोस्वामी जी का जन्म-स्थान गंगाराह क्षेत्र (सोरों) के प्रांत अंतर्वेद में तारी नामक ग्राम था। बाबू शिवनंदन सहाय और लाला सीताराम जी भी तारी को जन्म-स्थान मानते हैं। लालाजी तारी को राजापुर के निकट यमुना जी के दक्षिण तट पर मानते हैं, पर उनसे पूर्ववर्ती लेखकों ने उसे अंतर्वेद में माना है। सोरों के पास भी एक तारी है जिसकी चर्चा अविनाशराय ने और कान्हराय भट्ट ने की है जो आज भी स्थित है। उन सब लेखों से और वहाँ की जनश्रुति से यह विदित होता है कि वह तारी तुलसीदास जी की माता हुलसी की जन्म-भूमि है और तुलसीदास जी के जन्म-स्थान से पहले उनके माता-पिता वहाँ रहे भी थे। यह तारी गंगा-यमुना के अंतर्वेद में तो है ही, गंगा और काली नदी के भी अंतर्वेद में है।

(ङ) रामपुर :

पहले उल्लेख किया जा चुका है कि तुलसीदास जी ने कवितावली के उत्तरकांड में लिखा है : 'तुलसी तिहारो घर जायो है घर को।' इससे स्पष्ट है कि तुलसीदास जी राम के घर जाये हैं। राम के घर का तात्पर्य है 'रामपुर' से और रामपुर का अर्थ अयोध्या भी है। सोरों-सामग्री के अनुसार 'रामपुर' नाम का ग्राम गंगाजी के किनारे सोरों के पास था जहाँ तुलसीदास जी के पुरखे रहते थे। १८२९ विक्रमी में मुरलीधर चतुर्वेद ने 'रत्नावली चरित' में निम्नलिखित पंक्तियाँ नरहरि, तुलसीदास और नंददास के विषय में लिखी हैं :

स्मारत वैष्णव सो पुनीत, सकल वेद आगम अधीत।
चक्रतीर्थ ढिग पाठशाल, तहीं पठावत विपुल बाल।
तहाँ रामपुर के सनाढ्य, सुकुल वंशधर द्वै गुनाढ्य।
तुलसिदास अरु नंददास, पढ़त करत विद्या विलास।
एक पितामह पौत्र दोउ, चंद्रहास लघु अपर सोउ।[1]

तुलसी और नंद दोनों एक ही बाबा के पौत्र थे। नंद और चंद्र दोनों सगे भाई थे। उनके पूर्व पुरुष रामपुर में रहते थे। बाबा के घर में ही तुलसीदास और नंददास का जन्म हुआ था, जैसा कि मुरलीधर के इस छप्पय से भी स्पष्ट है :

एक पितामह सदन दोउ जनमें बुधिरासी,
दोऊ एकहि गुरु नृसिंह बुध अन्तेवासी।
तुलसीदास नंददास मते द्वै मुरलीधारे,
एक भजे सियराम एक घनश्याम पुकारे।
एक बसे सो रामपुर एक श्यामपुर मह रहे,
एक राम गाथा लिखी एक भागवत पद कहे ॥१॥

इसके अतिरिक्त साक्ष्य है कि नाभादास जी ने नंददास जी के संबंध में एक छप्पय लिखा। उसमें नंददास जी को रामपुर का बताया है, उनके शब्द हैं :

प्रचुर पयध लौं सुजस रामपुर ग्राम निवासी

वैष्णव वार्ताओं तथा अन्य वैष्णव-साहित्य से स्पष्ट है कि तुलसीदास जी और नंददास जी भाई-भाई थे। तुलसीदास जी का जन्म रामपुर में संभव है। कृष्णदास जी ने, जो नंददास जी के पुत्र और तुलसीदास जी के भतीजे थे, अपनी वंशावली लिखी। उसमें तुलसीदास, नंददास और रामपुर का उल्लेख है। रत्नावली ने जो दोहे लिखे, उसमें एक दोहे से प्रतीत होता है कि तुलसीदास जी गंगा-किनारे सूकर क्षेत्र में उत्पन्न हुए। उक्त रामपुर नामक ग्राम सूकर क्षेत्र के अंतर्गत है। रत्नावली की रचना में नंददास का उल्लेख है, और तुलसीदास जी के जन्म-स्थान का भी :

प्रभु वराह पद पूज महि, जन्म मही पुनि ऐहि।
सुरसरि तट महि त्यागि, गए धाम पिय केहि।

---

१. रत्नावली चरित ६०-६४

मोहि दीनो संदेस पिय अनुज नंद के हाथ।
रतन समुझि जनि पृथक मोहि जो सुमिरति रघुनाथ।[१]

तुलसीदास जी ने भी अपने संबंध में यदा-कदा कुछ कहा है। विनय पत्रिका में वे कहते हैं :

दियो सुकुल जनम शरीर सुंदर
हेतु जो फल चारि को।
जो पाइ पंडित परम पद
पावत पुरारि मुरारि को।
यह भरत-खंड समीप सुरसरि
थल भलो संगति भली।[२]

'वरवै' में तुलसीदास जी लिखते हैं :

जो पहुँचाव रामपुर तन अवसान

इस पंक्ति से डॉ० माताप्रसाद के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि गोस्वामी जी अपनी मृत्यु को निकट समझते थे। उक्त पंक्ति में रामपुर शब्द व्यंजक है। तुलसीदास जी का जन्म गंगाजी के किनारे हुआ था। अतएव उन्हें गंगाजी और राम नाम बहुत प्यारे थे। उनकी इच्छा थी कि जब-जब मेरा जन्म हो तब-तब गंगाजी के तीर पर हो और मैं राम का भक्त बनूँ :

बरु बारहिं बार सरीर धरौं
रघुबीर को ह्वै तव तीर रहौंगो।[३]

अतः तुलसीदास जी की उक्ति-समष्टि से यह प्रकट होता है कि उनका जन्म रामपुर में हुआ जो गंगाजी के तट पर था।

सोरों सामग्री का रूप

सोरों-सामग्री का अभिप्राय गोस्वामी तुलसीदास-परक उस सामग्री से है जो सोरों या उसके निकटवर्ती स्थानों से उपलब्ध है, एवं वह सामग्री जो उक्त सामग्री का समर्थन करती है। इसके दो रूप हैं—गृह्य और बाह्य।

---

१. दोहा रत्नावली २२,२७
२. विनय पत्रिका, १३५
३. कवितावली ७।१४७

गृह्य सामग्री

सोरों की गृह्य सामग्री षड्विध है, क्योंकि उसके आधार हैं : भवन, वंशज, जनश्रुति, भाषा-शैली, पांडु-लिपियाँ और तुलसीदास जी के वचन।

(क) भवन सामग्री एवं (ख) वंशज :

इसके अंतर्गत रामपुर ग्राम का बलराम मंदिर है, जिसके नाम पर इस ग्राम का नाम पड़ा और जहाँ आज भी बलदेव छट का मेला लगता है। सोरों में गुरु नरसिंह जी की पाठशाला, वराह-मंदिर और गंगाघाट, तुलसीदास-गृह, नंददास-गृह तथा सीताराम और सामेश्वर के मंदिर विद्यमान हैं। सोरों के पास बदरिया ग्राम में गोस्वामीजी की ससुराल थी। सोरों में गुरु नरसिंह और महाकवि नंददास के वंशज आज भी निवास करते हैं।

(ग) जनश्रुतियाँ :

गोस्वामीजी की पत्नी रत्नावली जिस घर में निवास करती थीं उसकी रज धारण करने से आरोग्य लाभ होता है ऐसी जनश्रुति है। इसका उल्लेख मुरलीधर चतुर्वेद ने भी संवत् १८२९ में किया था। सोरों के हिंदू-मुसलमान दोनों ही कहते हैं कि तुलसीदासजी सोरों के थे। उनका घर कसाइयों के निकट था। आज भी मुसलमान और क़साई वहाँ रहते हैं, और वहीं पास में श्मशान भी है। जनश्रुति है : 'तुलसी तेरी झोंपड़ी गलकटियन के पास' अथवा 'तुलसी घर मरघट्ट में गलकटियन के पास।' नरसिंह मंदिर के विषय में लोग कहते हैं कि उसमें तुलसीदास जी के गुरु नरसिंह जी पढ़ाते थे और उसमें आज भी हनुमान् जी की प्रतिमा विद्यमान है। एटा जिले के तारी नामक ग्राम में यह जनश्रुति अभी तक रही है कि वहाँ गोस्वामी जी की ननसाल थी।

(घ) भाषा-शैली :

रामचरितमानस की भाषा-शैली का साम्य तत्कालीन अन्य कवियों की भाषा-शैली से है। महाकवि नंददास और कृष्णदास ने, जो गोस्वामी जी के क्रमशः भाई और भतीजे लगते थे, चौपाई और दोहों में भी रचना की है। रत्नावली के दोहे और मुरलीधर चतुर्वेद की रचना ब्रजावधी में है। सोरों की, विशेषतः उसके आस-पास के ग्रामों की, भाषा न शुद्ध ब्रजी है और न शुद्ध अवधी। पं० गोविंदवल्लभ भट्ट, पं० गौरीशंकर द्विवेदी और पं० राम-नरेश त्रिपाठी ने कुछ ऐसे शब्दों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जो सोरों में

ही बोले जाते हैं, कुछ कासगंज, हाथरस और मथुरा में भी बोले जाते हैं। सोरों और मथुरा में राजपूताने के यात्री बहु-संख्या में प्रतिवर्ष आते हैं, कदाचित् इस कारण तुलसी-रचना में मारवाड़ी शब्द भी विद्यमान हैं। सोरों तो पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मुस्लिम जनसंख्या से संकुल रहा है, अतएव तुलसी-साहित्य में अरबी-फारसी के शब्द भी न्यून नहीं हैं। लखनऊ विश्वविद्यालय के डा० देवकीनंदन श्रीवास्तव ने 'तुलसीदास की भाषा' नामक अपने शोध-प्रबंध में लिखा है कि भाषा के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि तुलसीदास जन्मकाल से बाल्यकाल तक सोरों या उसके आसपास रहे।

(ङ) आत्मपरिचय :

गोस्वामी जी के कुछ वचन और कूट आत्म-परिचयात्मक हैं, उनसे भी सोरों-पक्ष की पुष्टि होती है। उनमें से कुछ का मौखिक निर्देश सोरों के ऋषि-कल्प स्व० दशरथ शास्त्री ने और कुछ का उल्लेख अलीगढ़ के पं० रामचंद्र वैद्य शास्त्री ने किया है। मुझे 'तुलसी-सतसई' में भी एतद्विषयक प्रामाण्य दृष्टि-गोचर हुआ है। सोरों-सामग्री के अनुसार, तुलसीदास जी का जन्म-स्थान रामपुर ग्राम था, अतएव उन्होंने भी लिखा : तुलसी तिहारो घर जायौ है घर को।[१] रामपुर गंगाजी के किनारे था, अतएव गोस्वामी जी ने लिखा :

बरु बारहिं बार सरीर धरौं रघुवीर को ह्वै तब तीर रहौंगो
भागीरथी बिनवौं कर जोरि बहोरि न खोरि लगै सो कहौंगो।[२]

गोस्वामी जी सुकुल ब्राह्मण थे, इस बात की पुष्टि उनके इन वचनों से होती है :

(क) दियो सुकुल जनम सरीर सुंदर[३]
(ख) जायो कुल मँगन बधावनो बजायो सनि[४]
(ग) ब्राह्मन ज्यों उगिल्यो उरगारि हौं
त्यों ही तिहारें हियें न हिते हौं[५]

तुलसीदास जी के समकालीन महाकवि केशवदास जी की 'कविप्रिया' (२१३) को ध्यान में रखें तो, निम्नलिखित पंक्तियों से गोस्वामी जी का सनाढ्यत्व स्पष्ट है :

---

१. कवितावली ७।१२२ २. कविता०, ७।१४७
३. वि० प०, १३५ ४. कविता०, ७।७३
५. कविता०, ७।१०२

बहुत प्रीति पुजाइबे पर पूजिबे पर थोरि,
देत सिख सिखयो न मानति मूढ़ता अस मोरि।[१]

गोस्वामी जी की शिक्षा-दीक्षा, बचपन में, सूकरक्षेत्र में हुई थी, जैसा कि वे स्वयं लिखते हैं :

मैं पुनि निज गुर सन सुनी, कथा सो सूकरखेत,
समुझी नहीं तस बालपन, तब अति रहेउँ अचेत।[२]

तुलसीदास जी के गुरु नरसिंह जी थे, तुलसी कहते हैं : 'बंदौ गुरु पद कंज कृपासिंधु नर रूप हरि[3]। तुलसीदास जी की माता हुलसी थीं जिनका स्मरण इस प्रकार किया गया है :

रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी। तुलसिदास हित हिय हुलसी सो।[४]

तुलसीदास जी ने अपने पिता आत्माराम का उल्लेख 'तुलसी सतसई' में इस कूट के द्वारा किया है :

जतन अनूपम जानु बर सकल कला गुन धाम।
अविनासी अव्यय अमल भौ यह तनु धरि राम।[५]

(च) पांडु-लिपियाँ :

प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों के संचय एवं संरक्षण करने वालों में प्रमुख हैं सर्वश्री गोविंदवल्लभ भट्ट, भद्रदत्त शर्मा, हरगोविंद पंडा, वेदव्रत शर्मा। सोरों संबंधी प्रामाणिक पांडु-लिपियाँ ये हैं :

१. रामचरितमानस के दो कांड—

(क) बालकांड १६४३ वि० की प्रति, एवं

(ख) अरण्यकांड १६४३ वि० की प्रति।

उक्त कांड खंडित हैं, ये नंददास जी के पुत्र सूकर-क्षेत्र निवासी कृष्णदास के लिये नकल किये गये थे। बालकांड की पुष्पिका इस प्रकार है : इति श्री रामचरित्र मानसे सकल कलि कलुष विध्वंसने विमलवैराग्य संपादिनी नाम १ सोपान समाप्त : संवत् १६४३ शाके १५०८ '.............. वासी

१. वि० प० १५८
२. मानस १।३० क
३. मानस १।१०५
४. मानस १।३० ख
५. तुलसी सतसई १।५

नंददास पुत्र कृष्णदास हेत लिषी रघुनाथदास ने कासीपुरी में। अरण्यकांड की पुष्पिका इस प्रकार है : 'इति श्री रामायने सकल कलिकलुष विध्वंसने विमल वैराग्य संपादिनी षट सुजन संवादे रामवन चरित्र वर्ननो नाम तृतयो सोपान आरन्य कांड समाप्त ॥३॥ श्री तुलसीदास गुरु की आग्या सों उनके भ्राता सुत कृष्मदास सोरों क्षेत्र निवासी हेत लिषितं लछिमनदास कासीजी मध्ये संवत् १६४३ अषाढ़ सुद्ध ४ सुक्रे इति' ॥

२. भ्रमरगीत—नंददास जी ने जो भ्रमरगीत लिखा था उसकी प्रतिलिपि उनके पुत्र कृष्णदास के शिष्य बालकृष्ण ने सोरों में की। इसकी पुष्पिका में 'सच्चिदानंद' से 'व्रजचंद' तक गोस्वामी तुलसीदास और नंददास जी की वंशावली का उल्लेख है। यह माघ कृष्णा ३ सोमवार १६७२ वि० को लिखी गयी थी।

३. रत्नावली के दोहे—रत्नावली कृत दोहों के दो संस्करण उपलब्ध हैं, जिनमें एक संस्करण तो २०१ दोहों का है और दूसरा १११ दोहों का। इन दोहों में रत्नावली ने कुछ आत्म-परिचय दिया, अपने वियोग का वर्णन किया, और कन्याओं को शिक्षा प्रदान की है। प्रतियाँ ये हैं :

(क) दोहा-रत्नावली, गोपालदास की प्रति जो भाद्रपद अमावस्या सोमवार १८२४ वि० को पूर्ण हुई, और

(ख) गंगाधर की प्रति जो भाद्रपद शुक्ला ३ चंद्रवार १८२९ वि० में पूर्ण हुई, तथा

(ग) रत्नावली लघु दोहा संग्रह, संवत् १८७५ माघ शुक्ला त्रयोदशी सोमवार को लिखी हुई ईश्वरनाथ की प्रति। इसमें रत्नावली के केवल १११ दोहे हैं जो उक्त दोनों प्रतियों में भी मिलते हैं।

४. सूकर क्षेत्र माहात्म्य—इस माहात्म्य को नंददास जी के पुत्र कृष्णदास जी ने १६७० वि० में लिखा था। इसकी तीन प्रतियाँ विद्यमान हैं। इनके अतिरिक्त १९२७ वि० की, अर्थात् आज से लगभग १०० वर्ष पूर्व मुद्रित, प्रति भी उपलब्ध है।

(क) मुरलीधर चतुर्वेद के हाथ की प्रतिलिपि जो उन्होंने १८०९ वि० में की, तथा

(ख) शिवसहाय की प्रति जो कार्तिक कृष्णा ११ बुधवार को १८७० वि०

में पूर्ण हुई। इस रचना में वराह पुराण के अनुसार सूकर क्षेत्र अर्थात् सोरों का वर्णन है। कृष्णदास ने आद्यंत में जो परिचय दिया है उससे स्पष्ट है कि वे सूकर क्षेत्र के निकट रामपुर ग्राम में रहते थे। इससे यह भी विदित है कि तुलसीदास जी सुकुल ब्राह्मण, नंददास जी के ताऊ के पुत्र और स्वयं कृष्णदास के ताऊ थे, रत्नावली ताई और कमला कृष्णदास की माता थीं, तुलसी और नंद दोनों ही गुरु नरसिंह के शिष्य थे, तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' लिखा और नंददास जी ने 'रासपंचाध्यायी' लिखी।

५. **कृष्णदास वंशावली**—कृष्णदास जी ने अपनी वंशावली दस दोहों में लिखी हैं, जिसे मुरलीधर चतुर्वेद ने और शिवसहाय कायस्थ ने 'सूकर क्षेत्र माहात्म्य' के अंत में दिया है। इससे ज्ञात है कि रामपुर नाम का ग्राम सूकर क्षेत्र के निकट था। वहीं नारायण शुक्ल के चार पुत्र हुए—श्रीधर, शेषधर, सनक और सनातन। सनातन के पुत्र परमानंद थे, और उनके पुत्र सच्चिदानंद हुए। सचिदानंद के दो पुत्र थे—आत्माराम और जीवाराम। आत्माराम के पुत्र तुलसीदास थे, और जीवाराम के दो पुत्र हुए—नंददास और चंद्रहास। नंददास के पुत्र कृष्णदास और चंद्रहास के पुत्र ब्रजचंद्र हुए। तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' लिखा तो नंददास जी ने बल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित हो भागवत रास रचा।

६. **रत्नावली चरित**—मुरलीधर चतुर्वेद कृत इस पुस्तक का प्रारंभ गणेशस्तव और तुलसीदास-प्रशस्ति से हुआ है जो दोनों ही संस्कृत में हैं, तदनंतर रत्नावली का जीवन-चरित है। इसके पश्चात् छप्पय हैं, जिनमें से दो में गोस्वामी तुलसीदास और नंददास जी के जन्मस्थान का, तीन में सूकरक्षेत्र की महिमा का और अंतिम में अपनी आयु के इक्यासीवें वर्ष में चतुर्वेद जी के प्रवेश का उल्लेख है। इस पुस्तक की दो प्रतियाँ उपलब्ध हैं:

(क) स्वयं मुरलीधर चतुर्वेद की प्रति जो उन्होंने श्रावण शुक्ला प्रतिपदा १८२९ वि० को पूर्ण की, और

(ख) रामवल्लभ मिश्र की प्रतिलिपि जो मार्गशीर्ष शुक्ला ६ शनिवार १८६४ वि० को पूर्ण हुई।

७. **वर्षफल**—इसे कृष्णदास जी ने नभ कृष्णा त्रयोदशी १६५७ वि० में अपने चाचा चंद्रहास के निर्देश से लिखा था। यह पुस्तक ज्योतिष की है। इसके आदि और अंत में कवि ने अपने वंश का परिचय दिया है। उन्होंने इस

बात का उल्लेख किया है कि रत्नावली की भूमि बदरी को गंगा जी की उस बाढ़ ने नष्ट कर दिया जो १६५७ वि० के आषाढ़ मास के अंत में आयी थी। इस वर्षफल की प्रतिलिपि रुद्रनाथ ने १८७२ वि० में की।

८. सेवादास की टीका—नाभादास कृत भक्तमाल पर प्रियदास ने 'भक्ति रस बोधिनी' टीका लिखी। उस पर सेवादास ने टीका की जो मार्गशीर्ष शुक्ला १० गुरुवार को पूर्ण हुई। प्रियादास ने लिखा था :

तिया सौं सनेह बिन पूछैं पिता गेह गई,
भूली सुधि देह भजे वाहि ठौर आये हैं।

उक्त 'वाहि ठौर' को सेवादास जी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है :

सूनों लषि गेह उमड्यो तिय सनेह जिय,
रत्नावलि दर्श हेतु नैन अकुलाये है।
भादों की अरध राति चंचला चमकि जाति,
मंद-मंद बिन्दु परें घोर घन छाये हैं।
ऐसे में तुलसी षेत सूकर सौं मोद भरे,
चपल चाल चलत जात गंगधार धाये हैं।
शब पै सवार ह्वै गंगधार पार करी,
बदरी ससुरारि जाय पौरिया जगाये हैं।

सेवादास ने तुलसीदास और नंददास के पत्र-व्यवहार की भी चर्चा की है।

गृह्य सामग्री का परीक्षण

सोरों की गृह्य सामग्री पर कुछ आक्षेप हुए हैं, मुझे भी अपने ग्रंथों में उन पर विचार-विमर्श के लिये अवसर मिला है। वास्तव में, आक्षेपों ने इस सामग्री के संबंध में अधिकाधिक विचार के लिये प्रेरणा प्रदान की है। विचार-विमर्श से, मेरी समझ में, सोरों-सामग्री को बड़ा बल मिला है। कुछ शंकाएँ कतिपय शब्द तथा उनके अर्थ और प्रयोग के संबंध में हैं, जिनका समाधान शब्दकोषों और तत्कालीन प्रयोगों से ही हो जाता है। संवत १६४३ के मानस के पाठ में कुछ अशुद्धियों का निर्देश किया गया है जिनमें से कुछ तो प्रतिलिपिकारों की ही हैं। भद्दी भूलें राजापुर के अयोध्याकांड और श्रावण कुंज (अयोध्या) के बालकांड में भी मिलती हैं, किंतु इस प्रासंगिक चर्चा का यह

तात्पर्य नहीं कि वे प्रतियाँ प्राचीन नहीं अथवा महत्वपूर्ण नहीं। तुलसीदास जैसे व्यस्त महापुरुषों को इतना अवकाश कहाँ मिलता होगा कि वे अपनी रचना की प्रतिलिपियों को प्रदान करते समय उनके एक-एक शब्द को पढ़कर शोधते रहते। पाठांतर के संबंध में निवेदन है कि १६४३ वि० की प्रति 'रामचरितमानस' की अब तक उपलब्ध सब से प्राचीन प्रति है। सं० १६४३ के अरण्यकांड का पाठ काशिराज की प्रति से साम्य रखता हुआ भी भिन्न है। अतएव हमारी प्रस्थापना है कि 'मानस' का पाठ समय-समय पर बदलता रहा, उसका वर्तमान रूप अन्यून काट-छाँट घटा-बढ़ी तथा शब्द-परिवर्तन का परिणाम है, और बहुत से ऐसे क्षेपक जिन्हें हम यों ही टाल देते हैं प्रारंभ में गोस्वामी जी के द्वारा लिखे गये थे। मानस में पाठ-भेद कितना, कब और क्यों हुआ यह प्रश्न स्वतंत्र एवं गंभीर विचार की अपेक्षा रखता है। १६४३ का पाठ साहित्यिक दृष्टि से कितना उपादेय है, यह अलग बात है, किंतु हमारी विनम्र धारणा है कि वह पाठ ऐतिहासिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों से परम महत्वपूर्ण है। कुछ आक्षेप हस्तलेख और लिखावट के संबंध में भी हुए हैं, जो वैज्ञानिक परीक्षण के उपरांत नितांत निराधार ठहरते हैं।

वैज्ञानिक परीक्षण :

कागज-स्याही, लिखावट और मिति-वार के संबंध में क्रमशः नेशनल आरकाइव्ज, भारतीय पुरातत्व विभाग एवं गवर्नमेंट एपिग्रेफिस्ट फार इंडिया ने सोरों-सामग्री की कुछ प्रमुख पांडुलिपियों का वैज्ञानिक परीक्षण किया है, जो उसकी प्रामाणिकता की पुष्टि करता है। इस परीक्षण के अनुसार उक्त बालकांड की पुष्पिका अपने मूल रूप में विद्यमान है, अर्थात् वह किसी और पुष्पिका को मिटाकर नहीं लिखी गयी। उक्त अरण्यकांड की पुष्पिका में 'श्री रामायने' से 'निवासी' तक सब शब्द (लालस्याही फीकी होने के कारण) लाल शब्दों के ऊपर काली स्याही में लिखे गये हैं। इन शब्दों में 'श्री तुलसीदास गुरु की आग्या सों उनके भ्राता सुत क्रष्णदास सोरों छत्र निवासी' भी हैं। तुलसीदास जी का स्वर्गारोहण १६८० वि० में हुआ था, उनकी आज्ञा १६८० वि० से पूर्व ही मिल सकती थी। अतएव स्पष्ट है कि पुष्पिका तुलसीदास जी के जीवन काल की है। पुष्पिका के संवत् '१६४३' के कुछ अंकों पर स्याही फिरी प्रतीत होती है, किंतु '४' के नीचे लाल स्याही का '४' भी चमकता है। '१' में परिवर्तन की आवश्यकता ही नहीं क्योंकि 'रामचरितमानस' का निर्माण १६३१ वि० में हुआ और प्रस्तुत पांडुलिपि

पर सर्व प्रथम आक्षेप १९९६ वि० में हो चुका था। अंक '३' पर कोई आक्षेप नहीं है। '६' के संबंध में आक्षेप है। इस विषय में यह संदेह संभव है कि उसके स्थान पर ७, ८ अथवा ९ का अंक रहा हो; किंतु इस संबंध में यह ध्यान रखना चाहिए कि १७४३, १८४३ और १९४३ में से किसी संवत् में आषाढ़ शुक्ला चतुर्थी को शुक्रवार न था, पर १६४३ वि० में था जैसा कि एपिग्रेफिस्ट उटकमंड से सूचित करते हैं। अतएव पुष्पिका के मिति, वार और संवत् गणना से शुद्ध हैं। बालकांड की पुष्पिका भी १६४३ वि० की है और उसके पर्याय १५०८ शक संवत् का भी उल्लेख उसमें है। अतएव संदेह के लिए कोई गुंजाइश नहीं। सोरों की उक्त अन्य सभी पांडुलिपियों के मितिवार आदि मिलते हैं।[1]

1. Report on the Examination of manuscript volumes of 'Balkand.' 'Aranyakand' of Tulsikrit Ramayan and 'Bhaktmal' by Shri Seva Das received from Dr. Bharadwaj :

The manuscript volume of 'Aranyakand', Balkand' of Tulsikrit Ramayan, and 'Bhaktmal' by Shri Seva Das Ji were examined in this Department. These three manuscripts are written with carbon ink, from which any dating evidence is not possible. The paper of these manuscripts has been found to be all rag, and is sized with starch. All rag starch sized paper has been in use since ancient time (13/14 century) upto the present period for writing purposes and as such it is not possible to derive any conclusion regarding the date of these manuscripts from the above observation.

Colophons on page 124 of manuscript 'Balkand' and page 28 of manuscript 'Aranyakand' have been also examined. The reddish tinge underneath the black writing in the end three lines on page 124 of 'Balkand' manuscript does not appear to be from any previous writing. Perhaps red colour has been used as a background for the colophon in black ink as a decoration. However, the end four lines of colophon on page 28 of manuscript 'Aranyakand' appear to be rewritten in black ink over red writing. Some of the alphabets of the previous writing in red ink could be distinctly seem upto the 1st and 2nd line, but from the middle portion of the third line upto the end of fourth line there is no clear indication of over writing, since the red ink appears to have faded in these portions. However, slight faded impression of digit 4 is visible slightly shifted

पुरातत्व विभाग के संयुक्त डायरेक्टर जनरल ने लिखावट आदि के संबंध में परीक्षण किया। विशेषज्ञ के अनुसार १६४३ वि० के बालकांड और अरण्यकांड तथा १८६४ वि० की सेवादास की भक्तमाल-टीका सर्वथा प्रामाणिक है। उनमें से प्रत्येक की लिखावट तत्कालीन है और पुष्पिका भी उसी हाथ की लिखी हुई है जिसने पुस्तक की प्रतिलिपि प्रस्तुत की। तथा सेवादास की पुस्तक में ऊपर-नीचे तथा हाशिये पर जो टिप्पणियाँ हैं वे भी सेवादास के हाथ की हैं।[२]

---

from the impression of the digit 4 in black ink in the year inscription 1643 (in Hindi numerals).

Perhaps a calligraphic study of the manuscripts may help their dating and the Department of Archaeology may be in a position to help you in this matter.

(Sd) K. D. Bhargava
Director of Archives
Government of India

2. D O No. P/II/59-JDGA
From : Dr. B. Ch. CHHABRA, M. A. M. O. L., PH. D. (LUGD) F. A. S., Joint Director General of Archaeology in India. New Delhi-II, the 22nd September, 1959.

Dear Dr. Bharadwaj,

Please refer to your letter dated the 21st September, 1959. I examined the manuscripts in the original of the following which you had brought personally with you :

1. The 'Bala Kanda' of the Rama Carita Manasa, dated 1643 V. E.
3. The 'Bhaktamala' by Sevadasa, dated 1894 V. E.

I hereby confirm what I told you about the genuineness of the manuscripts. In each case the colophon and the rest of the text on the last page appear to me to be by one and the same hand. In the case of the third manuscript, namely that of the Bhaktamala, the top and bottom notes and also the marginal notes on page 164 and the rest of the text also appear to be by one and the same hand.

The Devanagari characters used in all the three manuscripts appear to be of the period noted in each case.

The four photographs kindly sent by you are hereby returned.

Dr. R. Bharadwaj,
14/29, Shakti Nagar, Delhi.
Encls : 4 Photographs.

Yours sincerely,
Sd/B. Ch. Chhabra
Joint Director General
22-9-1959

वाह्य सामग्री

इसके अतिरिक्त ऐसी बाह्य सामग्री है जो सोरों की गृह्य सामग्री का समर्थन करती है, यथा : नंददास का विनय पद, नाभादास की प्रशस्तियाँ, प्रियादास की टीका, अष्टसखामृत, वैष्णव वार्ताएँ, भावप्रकाश, गोकुलनाथ जी के वचनामृत, काका वल्लभ जी के वचनामृत और उनकी भगवदीयनाम-मणिमाला, भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के प्रशस्ति-पद, रामचरितमानस की प्राचीन टीकाएँ, बाबू शिवनंदन सहाय के लेख और ग्रंथ, भक्तमाल पर सीतारामशरण भगवान् प्रसाद की टीका एवं सर जार्ज ग्रियर्सन एवं रेवरेंड एडविन ग्रीव्ज तथा एफ० एस० ग्राउज़ के अनुसंधान, पूर्वी उत्तर प्रदेश की जनश्रुतियाँ, एवं राजापुर, बुंदेलखंड और एटा के गज़ेटियरों का समर्थन है। बाह्य सामग्री का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :

नंददास का विनय-पद :

श्रीमत्तुलसीदास स्वगुरु भ्राता पद बंदे।
शेष-सनातन बिपुल ज्ञान जिन पाइ अनंदे।
रामचरित जिन कीन्ह तापत्रय कलिमल हारी।
करि पोथी पर सही आदरेउ आप पुरारी।
राखी जिनकी टेक मदनमोहन घनधारी।
वाल्मीकि अवतार कहत तेहि संत प्रचारी।
नंददास के हृदय नयन को खोलेउ सोई।
उज्ज्वल रस टपकाय दिया जानत सब कोई।

इस पद में नंददास जी ने अपने बड़े भाई तुलसीदास जी की वंदना की है। इससे प्रतीत होता है कि नंददास जी तुलसीदास जी के छोटे भाई और शेष सनातन वंश के थे, जैसा कि सोरों सामग्री भी बताती है। यह पद महात्मा विनायक राव की कृपा से 'कल्याण' के रामायणांक में प्रकाशित हुआ था।

नाभादास की प्रशस्तियाँ :

(क) कलि कुटिल जीव निस्तार हेत
वाल्मीकि तुलसी भयो।

इस पर प्रियादास ने अनेक छंदों में टीका की है। एक यह है :

तिया सो सनेह बिन पूछे पिता गेह गई।
भूली सुधि देह भजे वाही ठौर आये हैं।
वधू अति लाज भई रिस सों निकस गई।
प्रीति राम नई तन, हाड़ चाम छाए हैं।

उक्त छंद में 'वाही ठौर' को स्पष्ट करते हुए सेवादास जी ने अपनी टीका में लिखा है कि तुलसीदास जी सूकर क्षेत्र से गंगाजी को पारकर अपनी पत्नी रत्नावली से मिलने ससुराल बदरिया पहुँचे थे, उस समय भादों अर्धरात्रि थी और मंद-मंद वर्षा हो रही थी।

(ख) नाभा जी ने नंददास जी के विषय में निम्नलिखित षट्पदी उपस्थित की है :

लीला पद रस रीति ग्रंथ रचना में नागर,
सरस उक्ति जुत जुक्ति भक्ति रस ज्ञान उजागर,
प्रचुर पयधलों सुजस रामपुर ग्राम निवासी,
सकल सुकुल संवलित भक्त पद रेनु उपासी,
चंद्रहास अग्रज सुहृद परम प्रेम पय में पगे
श्री नंददास आनंद निधि रसिक सु प्रमुदित रंग मगे।

इससे स्पष्ट है कि महाकवि नंददास बड़े विद्वान थे और रामपुर ग्राम के निवासी थे। यह सूचना सोरों सामग्री के अनुकूल पड़ती है। उक्त षट्पदी के आरंभ में सेवादास जी ने लिखा है कि 'तुलसीदास जी कही ब्रज में मति जाहि। जब विधि चुके फिर आयबो कहाँ तुलसीदास जी को उत्तर दीयौ।'

अष्ट सखामृत :

राम भगत तुलसी अनुज नंददास ब्रज ख्यात।
दुज सनौढिया सुकुल कवि कृष्ण भगत अवदात ॥१॥
कर्यो राम ते स्याम निज बदलि इष्ट अरु ग्राम।
रच्यौ स्यामसर बाछरू हरि बलदाऊ धाम ॥३॥
सोंपि अनुज चंद्रहास कर सुत दारा धन धाम।
आये सूकर खेत तजि ब्रज बसि सेवत स्याम ॥४॥
कृष्ण राम के रूप भए नंददास मन आनि।
लखि तुलसी मन चलि रहे प्रान जोरि जुग पानि ॥७॥
रामायन भाषा विरचि भ्राता करी प्रकास।
देखि रची श्री भागवत भाषा श्री नंददास ॥८॥

प्राणेश कवि के उक्त लेख से स्पष्ट है कि नंददास जी रामभक्त तुलसी दास जी के अनुज, जाति से सुकुल आस्पदीय सनाढ्य ब्राह्मण तथा सूकर क्षेत्रांतर्गत रामपुर ग्राम के निवासी थे। उनके इष्टदेव पहले राम थे, फिर कृष्ण हो गये और उन्होंने कृष्णभक्ति के आवेग में अपने ग्राम का नाम भी परिवर्तित कर दिया। सूकरक्षेत्र को त्याग और घर का सब भार छोटे भाई चंद्रहास को सौंप, ब्रज में निवास करने लगे। जब देखा कि बड़े भाई तुलसी दास जी ने हिंदी भाषा में रामचरितमानस लिखा है, तो उन्होंने भी भागवत का हिंदी रूपांतर कर दिया।

प्राणेश कवि के 'अष्ट सखामृत' की एक प्रति चैत्र शुक्ला ५ शुक्रवार १८६५ वि० की, पं० रमण वैद्य गोकुल से प्राप्त है। गणना से यह तिथि १ अप्रैल १८०८ ई० है। इसकी एक प्रति पौष कृष्ण ३० शनिवार सं० १९६७ की, वैष्णव ग्वालदास ने गोवर्धन में की, जो अब बंबई के गोस्वामी गोकुलनाथ जी महाराज के पास है।

वार्ताएँ :

वार्ताओं में 'चौरासी' और 'दो सौ बावन' वैष्णवों की वार्ताएँ हैं। वचनामृतों में उल्लेखनीय है गोकुलनाथ जी के और काका वल्लभ जी के शब्द। श्री कंठमणि शास्त्री के शब्दों में—'इस अक्षय निधि के संचय एवं परिदर्शन का श्रेय जहाँ गोकुलनाथ जी को दिया जा सकता है, वहाँ उसके वर्गीकरण और सज्जीकरण का श्रेय हरिदास जी महानुभाव को समाधिगत होता है। 'वार्तामृतों से तुलसीदास जी और नंददास जी का भ्रातृत्व और सनाढ्यत्व स्पष्ट है, एवं यह भी विदित है कि नंददास जी रामपुर नामक ग्राम में जन्मे थे।

(क) गोकुलनाथ जी के समकाल की सबसे प्राचीन प्रति विद्या विभाग कांकरौली में उपलब्ध है। चौरासी वैष्णव वार्तागंत 'गोसाईं जी के सेवक चारि अष्ट छापी तिनकी वार्ता' की प्रतिलिपि चुन्नीलाल नामक किसी सनाढ्य ब्राह्मण ने गोकुल में यमुना तट पर चैत्र सुदी ५ को १९९७ वि० में की थी। इसमें लिखा है—'अब श्री गोसाईं जी के सेवक नंददास सनोढ़िया ब्राह्मण तिनके पद गाइयत हैं सो वे पूर्व में रहते तिनकी वार्ता। सो वे नंददास और तुलसीदास दोइ भाई हते। तामें बड़े तो तुलसीदास छोटे। नंददास सो वे नंददास पढ़े बहुत हते।' इस 'पूर्व' शब्द को लेकर कुछ लोगों की कल्पना

अयोध्या या काशी तक जा पहुँचती है। किंतु औरंगजेब के उपद्रव के कारण श्रीनाथ जी का देव विग्रह ब्रज मेवाड़ से लाया गया था। उसी समय हरिराय जी मेवाड़ चले गये। 'भाव प्रकाश' का निर्माण मेवाड़ में हुआ और रामपुर मेवाड़ से 'पूर्व' में है ही।

(ख) संवत् १७५२ की 'भाव प्रकाश' वाली वार्ता। यह प्रति पारीख द्वारकादास के पास है। इसमें लिखा है 'अब श्री गुसाई जी के सेवक नंददास जी सनाढ्य ब्राह्मण रामपुर में रहते, जिनके पद अष्टछाप में गाइयत है तिनकी वार्ता·· सो वे तुलसीदास जी तो बड़े भाई और छोटे भाई नंददास जी हैं। सो वे नंददास जी पढ़े बहुत हते। और तुलसीदास तो रामनंदीन के सेवक हते।'

(ग) भाव प्रकाश : श्री हरिराय जी (१६४७-१७७२ वि०) ने दो सौ बावन वैष्णव वार्ताओं का संपादन किया और यत्र-तत्र भाव को स्पष्ट करने के लिए अपनी ओर से संवत् १७२९ के पश्चात् टीका लिखी। नंददास जी की वार्ता पर वह टीका इस प्रकार है : अब श्री गोसाईं जी के सेवक नंददास जी सनाढ्य ब्राह्मण रामपुर में रहते जिनके पद अष्टछाप में गाइयत है तिनकी वार्ता को भाव कहते हैं—

भाव प्रकाश—ये नंददास जी लीला में श्री ठाकुर जी के भोज सखा अंतरंग, तिन को प्रकट्य है। सो दिवस की लीला में तो ये 'भोज' सखा है और रात्रि की लीला में चंद्रावली जी की सखी चंद्ररेखा इन कौ नाम है। सो चंद्ररेखा चंपकलता से प्रगटी हैं। तातें उनके सात्त्विक भाव रूप है। सो ये पूरब में रामपुर ग्राम में जन्मे।

(घ) दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता : इसका संपादन गोस्वामी हरिदास जी ने १७३० वि० के लगभग किया। इसकी दो सौ इक्तालीसवीं वार्ता नंददास जी की है और उनमें तुलसीदास जी का भी उल्लेख नंददास जी के भाई के नाते, अनेक स्थलों पर हुआ है, जिनसे विदित होता है कि नंददास जी और तुलसीदास जी भाई-भाई और सनाढ्य ब्राह्मण थे। तुलसीदास जी नंददास जी के लिए चिंतित रहते, नंददास जी ने उन्हें कृष्ण जी के दर्शन भगवान राम के रूप में कराये। दोनों भाइयों का पत्र-व्यवहार बड़ा मनोरम है। 'वार्ता' के कुछ आवश्यक उद्धरण इस प्रकार हैं :

'सो वे तुलसीदास जी के भाई सनोढिया ब्राह्मण हते। सो तुलसीदास जी तो बड़े भाई और छोटे भाई नंददास हते। सो वे नंददास जी पढ़े बहुत हते' (वार्ता

प्रसंग १)। 'सो मैं तो अब तन मन धन यह लोक परलोक श्रीकृष्ण को दीनो है (और) अब तो मैं परवस होइ के पर्यो हूँ। ऐसो नंददास ने तुलसीदास जी को पत्र लिख्यौ" (वार्ता प्रसंग ३)। तब नंददास श्री गुसाईं जी से विनती करी, ये मेरे भाई तुलसीदास हैं, सो श्री रामचंद्र जी बिना और को नहीं नमे है' (वार्ता प्रसंग ४)। सो एक दिन नंददास के मन में ऐसी आई जो—जैसे तुलसी दास जी ने 'रामायण' भाषा किये हैं। तै से हम हैं श्रीमद्भागवत भाषा करें। पाछे नंददास ने श्रीमद्भागवत दशम भाषा संपूरन कियो (वार्ता प्रसंग ५)।

(ङ) गोकुलनाथ जी के वचनामृत १७९६ वि० की इस हस्तलिखित प्रति से भी तुलसीदास जी और नंददास जी के भ्रातृत्व की पुष्टि होती है। लेख है— 'एक बार श्री मुखै बातन प्रसंग आज्ञाकारी जो तुलसीदास जी मर्यादामार्गी हते। पर टेक कैसी हती ते ऊपर दोहो कह्यौ ॥ दोहा ॥

बनै तो रघुवर ते बनै बिगरै तौ भरपूर।
तुलसी औरन के बनै ता बनिबे में धूर ॥१॥

जीव कों सर्वथा अनन्यता चाहिये। ते तुलसीदास जी गोकुल आये हते। ता दिन श्री रघुनाथ जी महाराज कौ विवाह हतौ।।····नंददास जी अष्ट काव्य वारे सो तुलसीदास के छोटे भाई ॥ तुलसीदास बड़े भाई ॥ २३० ॥

(च) श्री काकाबल्लभजी महाराज के साक्ष्य :

(अ) इनका प्राकट्य संवत् १७०३ वि० है। इन्होंने अपने पचासवें वचनामृत में गोस्वामी तुलसीदास और नंददास का उल्लेख किया है, उससे भी दोनों के भ्रातृत्व की प्रबल पुष्टि होती है—'जो मर्यादा मार्ग में श्री रामचंद्र जी के भक्त तुलसीदास बहोत बड़े वैष्णव हते ताके अनेक पद हैं। रामायण ग्रंथ पद्यबंध कवित बंध चौपाई बंध ऐसे अनेक कीने हैं·····उनके भाई नंददास जी बहोत विषयी हते · श्री गोकुल आय के श्री गुसाई जी की शरण आये और अष्टछाप में प्रख्यात भये ··· पिछे तुलसीदास जी भाई की खबर लेवे व्रज में आये। सो एतो राम उपासी हते और व्रज में तो सब ठिकाणे कृष्ण कृष्ण की धुनि सुनी। तब तुलसीदास ने एक साखी कही···पाछे भाई सों मिले तब कहो जो तैंने व्यभिचार धर्म क्यों कीनो अपने प्रभून को छोड़ि अन्य धर्म के आचरण क्यों करत है। अब पिछों चालि ॥

(आ) काका वल्लभ जी महाराज ने 'भगवदीय नाम मणिमाला' लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व लिखी, जिसमें २५२ वैष्णवों का नामोल्लेख गुजराती 'धोलो'

में किया है, और इसमें लिखा है : नंददास सखा रामपुरी कहिये रे, सात्त्विक चंपकलता 'चंद्रलेखा' लहिये रे ॥३०८॥' स्पष्टतः नंददास जी के जन्मस्थान 'रामपुर' का उल्लेख कर महाराज जी ने 'अष्टसखामृत', 'भाव-प्रकाश' आदि का समर्थन किया है ।

अन्य साक्ष्य :

(क) रामायण बालकांड १ । 'दर मतव हिंदू प्रेस लाला प्यारे लाल के एतमाम से छपी संवत् १९२८ वि० । इसके पृष्ठ ४ पर 'नररूप हरि' का अर्थ है नर हरिदास वाराह क्षेत्र निवासी और पृष्ठ २६ पर 'सूकर खेत' का अर्थ हैं गंगा-तीर सोरों घाट जहाँ वाराह अवतार भया' ।

(ख) १९०२ ई० के (ज्ञानसागर प्रेस बंबई में छपे) रामचरितमानस के प्रारंभ में प्रदत्त जीवनचरित के पृष्ठ ३ और ४५ पर 'सूकरखेत' का अर्थ 'गंगा किनारे का सोरों' किया गया है ।

(ग) पं० रामेश्वर भट्ट ने १९०२ ई० में तुलसी कृत रामायण में लिखा 'दीनबंधु पाठक ने गुसाईं जी को एक सुयोग्य भक्त जानकर अपनी गुणवती कन्या का विवाह इनके साथ कर दिया ।'

(घ) लखीमपुर खीरी के निवासी और रामायण के टीकाकार पं० नारायण प्रसाद मिश्र के अनुसार (१९३० ई०) प्रसिद्ध है कि 'दीनबंधु पाठक की कन्या रत्नावली से इनका (तुलसीदास का) विवाह हुआ था, जिसके तारक नाम का एक पुत्र भी हुआ था ।'

(ङ) डॉ० श्यामसुंदरदास ने इस उक्ति की पुष्टि की कि 'तुलसीदास जी के गुरु स्मार्त वैष्णव थे ।'

(च) विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने तुलसीकृत रामायण की अपनी संजीवनी टीका में लिखा कि 'इनका विवाह दीनबंधु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ ।'

(छ) पं० बाबूराम मिश्र रामचरितमानस सटीक में लिखते हैं कि 'वे (तुलसीदास) स्मार्त वैष्णव थे ।'

(ज) श्री सूरजभान अग्रवाल ने 'रामचरितमानस रामायण टीका सहित' में लिखा है कि 'तुलसीदास ने अपना विवाह दीनबंधु पाठक की कन्या से कर लिया ।'

(झ) लखीमपुर (खीरी) के पंडित सीताराम मिश्र ने गोस्वामी तुलसीदास रामायण की टीका में लिखा है कि 'नंददास सनोढ़िया ब्राह्मण तुलसीदास के छोटे भाई पूर्व देश के रहने वाले थे। गोस्वामी जी का विवाह दीनबंधु पाठक की कन्या से हुआ था। तारक नाम का पुत्र हुआ था।'

(ञ) 'मानस' के अनन्य प्रेमी रायबहादुर लाला सीताराम ने तुलसीदास जी को तारी में उत्पन्न सनाढ्य ब्राह्मण माना है, महात्मा रूपकला जी ने भी उनका जन्म तारी में माना है। तुलसी के अनन्य भक्त रामदास गौड़ भी गोस्वामी जी को तारी जात समझते थे। तारी एटा जिले के अंतर्वेद (दुआब) में है।

(ट) अयोध्या के श्री सीतारामशरण भगवान्प्रसाद का सटीक वार्तिक प्रकाश युक्त श्री भक्तमाल नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से १९१३ में प्रकाशित हुआ था, उसके ७४१ वें पृष्ठ पर लिखते हैं: 'जन्म-स्थान भी लोग कई ठिकाने लिखते हैं। बांदा जिले में यमुना तीर 'राजापुर' को बहुत लोग कहते हैं परंतु राजापुर आपका जन्म-स्थान नहीं है। श्री गोस्वामी जी का जन्म-स्थान श्री गंगा वाराह क्षेत्र (सोरों) के प्रांत अंतर्वेद में तेरी नामक ग्राम या तारी था। आपने राजापुर में विरक्त होने के पीछे निवास कर भजन किया, इसी से वहाँ गोस्वामी जी की विराजमान की हुई मूर्ति संकटमोचन श्री हनुमान जी की मूर्ति है और श्री रामायण अयोध्याकांड भी है। यह वार्ता वहाँ जा के भली प्रकार निश्चय की है।'

(ठ) पं० गोविंदबल्लभ भट्ट की १९१९ ई० में तुलसी स्मारक सभा, राजापुर से यह विदित हुआ कि तुलसीदास का जन्म-स्थान सोरों या उसके आसपास कोई स्थान है।

विदेशी अनुसंधान :

(क) गज़टियर। अंग्रेजों ने १८५७ ई० के पश्चात् अपनी राज्य-सत्ता को सुदृढ़ करके विभिन्न स्थान प्रांत मंडल, ज़िले आदि के विवरण, लेख, जनश्रुति आदि के आधार पर प्रस्तुत किये। १८७४ ई० में श्री एडविन टी० एटकिंसन ने 'स्टेटिस्टिकल डिस्क्रप्शन एंड हिस्टोरिकल अकाउंट ऑव द

नॉर्थ वेस्टर्न प्रॉविंस ऑव इंडिया' बुंदेलखंड, जिल्द १, संपादित की।[1] १८८६ ई० में श्री डब्ल्यू हंटर ने 'इंपीरियल गज़टियर ऑव इंडिया,[2] यू० पी०,' २ प्राविंशल सीरिज,[3] और १९०९ में बाँदा ज़िले का गज़टियर प्रकाशित हुआ।[4] इनका सार यह है कि जनश्रुति के अनुसार सम्राट् अकबर

---

1. "Tradition has it that in Akbar's reign, a holy man, Tulsi Das, a resident of Soron, in Parganah Aliganj of the Etah District, came to the jungle on the banks of the Jamna, where Rajapur now stands, erected a temple, and devoted himself to prayer and meditation. His sanctity soon attracted followers, who settled around him, and as their numbers increased they began to devote themselves (and with wonderful success) to commerce as well as to religion. There are some curious local customs peculiar to Rajapur derived from the precepts of Tulsi........."

—Statistical Description and Historical Account of the North-Western Province of India, Edited by Edwin T. Atkinson, B. A., B. C. S., Vol. I, Bundelkhand, Allahabad, 1874, Pages 572-3.

2. "Rajapur was founded in the reign of Akbar by Tulsi Das, a devotee from Soron, who erected a temple, and attracted many followers........."

—Imperial Gezetteer of India, Vol. XI by W. W. Hunter, Second Edition, 1886. Pages 385-6.

3. "Rajapur is the name of the town, and Majhgaon that of the mauza or village area within which it is situated. According to tradition the town was founded by Tulsidas, the celebrated author of the Ramayan and his residence is still shown........."

Imperial Gazetteer of India U. P.,
II (Provincial Series)
Calcutta, 1908, Page 50

4. "It is said that in the reign of Akbar a holy man, named Tulsi Das, a resident of Soron in Kasganj tahsil of the Etah district, came to the jungle on the banks of the Jumna, where Rajapur now stands, and devoted himself to prayer and meditation.........This is of course Tulsi Das, the author of the Ramayana, and his house is still shown in the town........"

District Gazetteers of the
United Provinces, Vol. XXI,
Banda. 1909, Pages 28-56.

के काल में 'रामचरितमानस' के रचयिता तुलसीदास सोरों के निवासी थे, उन्होंने वहाँ आकर राजापुर की नींव डाली और जनता को भगवद्भक्ति की ओर प्रेरित किया।

(ख) तत्पश्चात् श्री जॉर्ज ए० ग्रियर्सन ने, महामहोपध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी आदि कतिपय भारतीय विद्वानों के साहाय्य से गोस्वामी जी की जीवनी और रचना पर स्वयं अनुसंधान कर भारतीय तथा अभारतीय विद्वानों को इस ओर प्रेरित किया। उनका अनुमान था कि गोस्वामी जी का जन्मस्थान वह 'तारी' ग्राम था जो अंतर्वेद (दुआब) में स्थित है। राजापुर के निकट वाला तारी ग्राम अंतर्वेद में नहीं है, सोरों के निकट वाला तो है, वहाँ सोरों-सामग्री के अनुसार गोस्वामी जी की ननसाल थी। ग्रियर्सन महोदय की गवेषणा के अनुसार गोस्वामी जी के पिता आत्माराम, माता हुलसी, गुरु नृसिंह, श्वसुर दीनबंधु पाठक, पत्नी रत्नावली और पुत्र तारक था जो उन्हीं के समय दिवंगत हो गया था। श्री एफ० एस० ग्राउज ने १८७६ ई० में लिखा कि गोस्वामी जी की शिक्षा सोरों में हुई। तदनंतर अनेक विदेशी लेखकों ने गोस्वामी जी की जीवनी के संबंध में इन्हीं दोनों का न्यूनाधिक अनुसरण किया है :

जनश्रुति :

पूर्वी ज़िलों की जनश्रुति नवनवति प्रतिशत सोरों सामग्री का ही समर्थन करती है :

दुबे आतमराम हैं पिता नाम जग जान,
माता हुलसी कहत सब तुलसी के सुन कान।
प्रह्लाद उद्धरण नाम करि गुरु को सुनिए साधु।
प्रकट नाम नहिं कहत जग कहे होत अपराधु।
दीनबंधु पाठक कहत ससुर नाम सब कोइ।
रत्नावलि तिय नाम है सुत तारक गत होइ।

सोरों सामग्री के गृह्य और बाह्य रूप तुलसीदास जी के जन्म-स्थान के संबंध में सोरों-परक हैं। राजापुर की जनश्रुति के अनुसार भी राजापुर तुलसीदास का जन्मस्थान नहीं, जैसा कि १९१३ ई० में अयोध्या के सीतारामशरण भगवान्प्रसाद जी ने इन स्थानों पर स्वयं विचरण कर निश्चय किया।

आरा के बाबू शिवनंदन सहाय ने १९१५ ई० में 'श्री गोस्वामी तुलसीदास जी का जीवन-चरित्र' लिखा। अपनी इस महनीय कृति में उन्होंने कहा है—'हमारे युवक मित्र बाबू गोकरण सिंह २५वीं अक्टूबर से दस नवंबर १९११ तक राजापुर में ठहरे थे। उनसे ज्ञात हुआ है कि कवि मंगलदीन शर्मा एवं कई वृद्धा स्त्रियाँ आज भी वर्तमान हैं जो राजापुर को गोस्वामी जी का जन्म-स्थान होना नहीं बतातीं। कई महीने हुए कि आरा निवासी पं० रघुनंदन जी से हमारी भेंट हुई थी, वह भी कहते थे कि राजापुर में गोसाईं जी का जन्म नहीं हुआ था। इन्हीं सब कारणों से हम राजापुर को गोस्वामी जी का निवासस्थान मानते हैं, जन्म-स्थान मानने को तैयार नहीं हैं' (पृष्ठ ७)। किसी-किसी का मत है कि तारी और सोरों के बीच कहीं पर गोसाईं जी की ससुराल थी (पृष्ठ २२)। १९२६ ई० की 'माधुरी' में, सहायजी ने उक्त तथ्य की आवृत्ति इन शब्दों में की है : 'यद्यपि राजापुर में आपका स्मारक निर्मित हुआ था तथापि वहीं के बड़े-बूढ़े लोग कहते हैं कि वह गोसाईं जी का जन्म-स्थान नहीं। विरक्त होने पर यह वहाँ रहे अवश्य थे और प्रायः जाया करते थे।'

गोस्वामी जी के जन्म-स्थान से संबंध रखने वाली उपलब्ध समग्र सामग्री का अध्ययन करने के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि तुलसीदास जी की गर्भ स्थिति तारी में हुई, जन्म रामपुर में हुआ और विद्याध्ययन गुरु नरसिंह जी से सोरों में। रामपुर और तारी दोनों ही ग्राम सोरों से क्रमशः दो और चार मील की दूरी पर हैं। गोस्वामी जी का विवाह दीनबंधु पाठक की पुत्री रत्नावली से हुआ जो बदरिया की थी और जिसके २०१ दोहे और कुछ पद उपलब्ध हैं। यह ग्राम सोरों के सम्मुख गंगा पार था। गोस्वामी जी १६०४ वि० में सोरों से चले गये और भ्रमण करते रहे। उन्होंने 'रामचरित मानस' का प्रारंभ अयोध्या में किया, तदनंतर राजापुर की नींव डाली, और प्रधान निवास काशी में किया। कतिपय कारणों से मेरी निश्चित धारणा है कि 'रामचरितमानस' की भाषा ब्रजावधी है जिसका साक्ष्य अन्य कवियों की रचनाओं में विद्यमान है।

सोरों-सामग्री की महत्ता :

यदि सोरों सामग्री न होती, तो भी तुलसीदास जी के जन्म-स्थान आदि के विषय में हमारा निष्कर्ष बहुल बाह्य सामग्री के आधार पर, सोरों-परक

ही होता । सोरों-सामग्री विशाल है और वैज्ञानिक परीक्षण से प्रामाणिक भी । इसकी विशेषता यह है कि इसके द्वारा भारत के विभिन्न भागों में विद्यमान प्रकीर्ण जनश्रुतियों एवं लेखों को सप्रकाश सामंजस्य प्राप्त होता है ।

—:o:—

श्री वेदप्रकाश गर्ग

तुलसीदास जी की कृतियाँ

हिंदी-साहित्याकाश के मार्तंड, कवि-कुल गुरु, प्रातः स्मरणीय महाकवि तुलसीदास जी का आविर्भाव हिंदी साहित्य के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। हिंदी-साहित्य को प्रौढ़ता प्रदान करने वाले कलाकारों में उनका अन्यतम स्थान है। वे हमारे राष्ट्र की अक्षय निधि हैं।

तुलसीदास जी के नाम से अनेक रचनाएँ प्राप्त होती हैं। उनमें से कुछ तो निश्चित रूप से ऐसी हैं जो उनकी नहीं हैं। शेष में से भी विद्वानों ने केवल १२ या १३ रचनाओं को ही प्रामाणिक माना है। प्रसिद्ध रामायणी स्व० रामगुलाम द्विवेदी अपने को गोस्वामीजी की शिष्य-परंपरा में मानते थे। उन्होंने तुलसीदास जी की प्रामाणिक कृतियों का उल्लेख स्वरचित निम्नलिखित छंद में किया है :

रामलला नहछू, त्यों विराग-संदीपिनिहु,
बरवै बनाइ विरमाई मति साईं की।
पारवती, जानकी के मंगल ललित गाय,
राम्य राम-आज्ञा रची कामधेनु नाईं की।
दोहा औ कवित्त, गीत बंध कृष्ण कथा कही,
रामायन विने माहि बात सब ठाईं की।
जग में सोहानी जगदीश हूँ के मन मानी,
संत सुखदानी बानी तुलसी गोसाईं की।[1]

१. शिवनंदन सहाय, गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १३०

आचार्य रामचंद्र शुक्ल[1] पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र[2], डा० उदयभानुसिंह[3] तथा डा० माताप्रसाद गुप्त[4] आदि विद्वानों ने भी साधारणतः निम्नलिखित कृतियों को गोस्वामी जी की रचना माना है :—(१) रामलला नहछू, (२) वैराग्य संदीपिनी, (३) रामाज्ञा-प्रश्न, (४) जानकी मंगल, (५) रामचरित मानस, (६) पार्वती मंगल, (७) गीतावली, (८) कृष्णगीतावली, (९) विनय पत्रिका, (१०) बरवै, (११) सतसई-दोहावली, (१२) कवितावली (हनुमान वाहुक सहित)।[5]

यह सूची लगभग उपर्युक्त छंद में उल्लिखित रचनाओं के मेल में ही है।

तुलसीकृत इन रचनाओं में से रामलला नहछू, वैराग्य संदीपिनी, जानकी मंगल, पार्वती मंगल तथा बरवै रामायण को परंपरा से 'पंचरत्न' भी कहा जाता है। डा० ग्रियर्सन ने भी स्वलिखित गोस्वामी तुलसीदास जी के जीवन वृत्त[6] में उनकी कृतियों का उल्लेख करते हुए एक कृति का नाम 'पंचरत्न' दिया है और उपर्युक्त पाँचों कृतियों को उसमें परिगणित किया है, तुलसीदास विरचित रामचरितमानस, विनय पत्रिका, गीतावली और कवितावली सदृश गौरव ग्रंथों के समक्ष 'पंचरत्न' में परिगणित रचनाओं का महत्व गौण है। अतः स्वाभाविक रूप से विद्वानों ने इन रचनाओं की प्रामाणिकता पर सम्यक् रीति से विचार नहीं किया है। डा० उदयभानु सिंह और डा० माता प्रसाद गुप्त ही ऐसे विद्वान हैं, जिन्होंने इन कृतियाँ की प्रामाणिकता पर किसी अंश तक विचार किया है।

गोस्वामी जी ने अपनी तीन ही रचनाओं की तिथियाँ दी हैं। शेष के

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० १४०
२. हिंदी साहित्य का अतीत, पृ० २४८
३. तुलसी-काव्य-मीमांसा, पृ० ६९
४. तुलसीदास, पृ० १२९-१३७। डा० गुप्त ने वैराग्य संदीपिनी को अप्रामाणिक माना है और सतसई के मुख्यांश को प्रामाणिक मान कर उसे तुलसीकृत माना है।
५. हनुमान वाहुक की गणना गोस्वामी जी की प्रामाणिक कृतियों में की जाती है, किंतु कुछ विद्वान इसे कवितावली का ही भाग मानते हैं और कुछ स्वतंत्र रचना के रूप में इसकी गणना करते हैं।
६. खड्ग विलास प्रेस, बांकीपुर, पटना द्वारा प्रकाशित 'रामचरितमानस' के साथ मुद्रित।

संबंध में केवल अनुमान ही किया जा सकता है कि वे कवि-जीवन में किस स्थान पर आती हैं। तिथि-युक्त रचनाएँ ये हैं :

(१) रामाज्ञा-प्रश्न—गोस्वामी जी की ज्ञात-तिथि रचनाओं में सब से पहले आती है। इसका रचना-काल निम्नलिखित दोहे के आधार पर सं० १६२१ वि० माना गया है :

सगुन सत्य ससि नयन गुन अवधि अधिक नय बान।
होइ सुफल सुभ जासु प्रीति प्रतीति प्रमान।[1]

इसका आशय है—ससि १, नयन २, गुन ६, नय (नीति) ४, और बान ५ और इन दोनों का अंतर १। नियमानुसार उल्टे क्रम से पढ़े जाने पर उपर्युक्त दोहे से सं० १६२१ वि० की तिथि प्राप्त होती है।[2] इस तिथि को उद्घाटित करने का श्रेय डा० माताप्रसाद गुप्त को है। कुछ विद्वान डा० गुप्त से मतैक्य नहीं रखते। वे इस रचना-तिथि को खींच-तान पर ही आधारित मानते हैं।

(२) रामचरितमानस—इसकी रचना-प्रारंभ-तिथि कवि ने इस प्रकार दी है :

संवत सोरह सै इकतीसा। करउँ कथा हरि पद धरि सीसा।
नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा।[3]

(३) पार्वती-मंगल—इस तीसरी कृति की रचना-तिथि का निर्देश उसी में कवि ने निम्नलिखित प्रकार से किया है :

जय संवत फागुन सुदि पाँचइ गुरु दिनु।
अस्विनि बिरचेउँ मंगल सुनि सुख छिनु-छिनु॥[4]

अर्थात् 'सं० १६४३, फाल्गुन शुक्ला ५, गुरुवार' इस कृति का रचना-काल ठहरता है। अब क्रमशः सभी कृतियों पर विचार किया जा रहा है :

रामलला नहछू—इस रचना की बहुत कम हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं। इनमें से कोई भी प्रति कवि के हस्तलेख में नहीं है। इन प्रतियों का

---

१. रामाज्ञा ७।७।३

२. तुलसीदास-डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० २३५।

३. मानस १।३४।१-२

४. पार्वती मंगल, ५

पाठ सामान्यतः 'नहछू' के मुद्रित पाठ से मिलता-जुलता है। दूसरे प्रकाशित पाठ को लेकर कुछ आक्षेप इसकी प्रामाणिकता के संबंध में किये जाते हैं। उत्तान शृंगार विषयक जिन अंशों को लेकर ये आक्षेप किये जाते हैं, सौभाग्य से कवि के जीवनकाल की प्राप्त एक प्राचीन प्रति से इन सबका निराकरण हो जाता है। क्योंकि उस प्रति में उन अंशों का अभाव है। यह प्राचीन प्रति डा० माताप्रसाद गुप्त को प्राप्त हुई थी और इसका प्रतिलिपि-काल सं० १६६५ वि० है।[2] इस प्रति में और मुद्रित संस्करण में पर्याप्त पाठभेद है। 'नहछू' के मुद्रित पाठ में कुल ४० द्विपदियाँ अर्थात् ८० पंक्तियाँ हैं, किंतु डा० गुप्त की प्रति में २६ द्विपदियाँ अर्थात् ५२ पंक्तियाँ हैं। दोनों पाठों में केवल १२ द्विपदियाँ उभयनिष्ठ हैं, यद्यपि वे भी दोनों में विभिन्न क्रम में संग्रहीत हैं। मुद्रित पाठ की जो द्विपदियाँ डा० गुप्त की प्रति में नहीं हैं, उनमें से प्रमुख वे हैं, जिनमें लोहारिनि, अहिरिनि, तँबोलिनि, दरजिनि, मोचिनि, मालिनि, बारिनि और नाउनि के हाव-भाव का वर्णन है, जिनमें राजा दशरथ उनमें से एक के यौवन पर मुग्ध बतलाए जाते हैं। ऐसे ही पहले से उपस्थित नाउनि के आने का उल्लेख वाला अंश तथा कौशल्या की जेठि का उल्लेख करने वाला अंश भी डा० गुप्त को प्राप्त प्रति में नहीं है।

मुद्रित पाठ से भिन्न डा० गुप्त वाली प्रति में प्राप्त द्विपदियों में प्रमुख वह अंश है, जिसमें न्योछावर के लिए नाउनि के झगड़ने का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त इस प्रति में यह बात महत्त्वपूर्ण है कि प्रश्नोत्तरों द्वारा लोक गीत-तत्त्व का समावेश किया गया है। संभव है मुद्रित-संस्करण का उक्त अंश प्रक्षिप्त हो। अतः ग्रंथ के पाठ-निर्धारण की आवश्यकता प्रकट है। इस प्राचीन प्रति की भाषा पर भोजपुरी का विशेष प्रभाव है। मुद्रित पाठ और डा० गुप्त की प्रति के उभयनिष्ठ अंश की भाषा पूर्वी हिंदी है और उनका पाठ-भेद वाला अंश भी पूर्वी हिंदी में ही है। गोस्वामी जी ने लोकगीत की 'सोहर' शैली में इस 'नहछू' ग्रंथ की रचना की थी। रचना का विषय है–राम का नहछू वर्णन। यह नहछू विवाह के अवसर का है और अयोध्या में हुआ है। प्रबंध-दोष, शैली शैथिल्य दोष आदि के आक्षेप भी इसकी प्रामाणिकता के संबंध में किए जाते हैं, किंतु यह कवि की प्रारंभिक रचनाओं में से है।

---

२. तुलसीदास—डॉ० माताप्रसाद गुप्त, पृ० २०४

अतः काव्यगत दोषों का होना संभव है। शैली एवं प्रबंध अप्रौढ़ता के कारण यह अप्रामाणिक नहीं मानी जा सकती।

वैराग्य संदीपिनी---इस रचना की खोज में प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों में सर्वाधिक प्राचीन प्रति सं० १८८१ की है। कोई भी प्रति कवि के हस्तलेख में नहीं है। प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों का पाठ मुद्रित पाठ के समान ही है। प्रायः सभी विद्वानों ने इसे तुलसीदास जी की कृति माना है, किंतु डा० माताप्रसाद गुप्त ने इसे तुलसी की कृति स्वीकार नहीं किया।[१] मिश्र बंधुओं ने भी इसे तुलसी की रचना नहीं माना है।[२] डा० गुप्त ने शैली-शैथिल्य, अव्यवस्थित छंद-योजना और किंचित् भिन्न विचारधारा के कारण इसे तुलसी की रचना नहीं माना है। उन्होंने उदाहरणों द्वारा उपर्युक्त शंकाओं का निर्देश किया है, किंतु डा० उदयभानु सिंह ने डा० गुप्त द्वारा उठाई गई शंकाओं को सोदाहरण निर्मूल घोषित किया है।[३] कारण यह है कि यह कवि की प्रारंभिक कृतियों में से है। अतः इसमें भाषा, रचना-शैली और कथ्य का सम्यक् प्रसार प्राप्त नहीं हो सका है। डा० देवकीनन्दन श्रीवास्तव ने भी भाषा के आधार पर इसे गोस्वामी जी की प्रामाणिक रचनाओं में परिगणित किया है।[४]

इस रचना में कुल ६२ छंद हैं, जिनमें ४६ दोहे, २ सोरठे और १४ चौपाइयाँ हैं। तीन प्रकाशों के अंतर्गत पहले ७ छंदों में मंगलाचरण, भगवान् श्रीराम की वंदना, उनके स्वरूप का निरूपण और 'वैराग्य-संदीपिनी' ग्रंथ की प्रशंसा है। फिर २६ छंदों में 'संतस्वभाव-वर्णन' रूप प्रथम प्रकाश है, दूसरा प्रकाश 'संतमहिमा-वर्णन' ९ छंदों का और तीसरा 'शांतिभाव-वर्णन' २० छंदों का है।

रामाज्ञा-प्रश्न--गोस्वामी जी की ज्ञात-तिथि (सं० १६२१) रचनाओं में यह सबसे पहले आती है। इस कृति की प्रतियाँ 'रामायण सगुनौती', 'सगुनावली', 'राम शलाका' तथा 'सगुन माला' आदि कई नामों से मिलती हैं।

---

१. तुलसीदास, पृ० १३४।७
२. हिंदी नव-रत्न, पृ० २३ और ६२२
३. तुलसी-काव्य-मीमांसा, पृ० ७६-८१
४. तुलसीदास की भाषा, पृ० ३४७

प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों का पाठ मुद्रित पाठ जैसा ही है। इसकी एक प्राचीन प्रति कवि के जीवन-काल की प्राप्त है।

यह कवि की प्रारंभिक कृतियों में से है अतः शैली-शैथिल्य का दोष निरर्थक है। यह 'मानस' से दस वर्ष पूर्व की रचना है।

सगुनौती की यह पुस्तक किन्हीं गंगाराम ज्योतिषी के लिए लिखी गई है और इसमें शुभाशुभ शकुनों का वर्णन किया गया है। यह ग्रंथ सात सर्गों में समाप्त हुआ है। प्रत्येक सर्ग में सात-सात सप्तक हैं और प्रत्येक सप्तक में सात-सात दोहे हैं। इसमें राम-कथा का वर्णन किया गया है किंतु कथा क्रमबद्ध नहीं है, जैसी 'मानस' या अन्य ग्रंथों में पायी जाती है।

जानकी-मंगल--इस कृति की भी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ खोज में प्राप्त हुई हैं। उनमें से एक कवि के जीवन-काल की भी कही जाती है। कवि के जीवन-काल की यह तथाकथित प्रति अयोध्या के 'कामद कुंज' में प्राप्त हुई बताई गई है। प्राप्त सूचना के अनुसार प्रति में पुष्पिका नहीं है। अतः इसके लिपिकार के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है। इस प्रति की एक प्रतिलिपि काशी नागरी प्रचारिणी सभा में रखी हुई कही जाती है। एक प्रति अयोध्या के पं० रामरक्षा त्रिपाठी के पास है। यह प्रति 'कामद-कुंज' की प्रति से अभिन्न है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने इसकी प्राचीनता को स्वीकार किया है।[1] इस प्रति के ठीक प्रारम्भ में तिथि का उल्लेख इस प्रकार है--"संवत १६३२ कथा किये सवा"। तिथि का प्रति के शीर्ष में दिया जाना विचित्रता का सूचक है। इस पंक्ति का अर्थ भी स्पष्ट नहीं है। केवल इस उल्लेख से यह भी पता नहीं चलता कि यह तिथि 'रचनातिथि' है, अथवा प्रतिलिपि-तिथि फिर यह तिथ्युल्लेख अन्य व्यक्ति की लिखावट में है। अतः यह तिथि संदिग्ध है और प्रक्षिप्त जान पड़ती है।

कथा-प्रसंग आदि के आधार पर इसका रचना-काल रामाज्ञा-प्रश्न' और 'मानस' के मध्य में ठहरता है। कुछ विद्वान 'पार्वती-मंगल' से भाषा-शैली-साम्य के आधार पर इसका रचना-काल भी सं० १६४३ वि० ही मानते हैं, किंतु कथा भेद-विवेचन से ज्ञात होता है कि कवि-दृष्टि 'रामाज्ञा प्रश्न' की तुलना में 'मानस' की ओर अग्रसर होती दिखाई देती है। फिर साधारण बाह्य-

१. देखिए तुलसीदास, पृ० २०६

साम्य के कारण ही दो रचनाओं को परस्पर समकालीन मानना उस दशा में अधिक युक्ति-संगत नहीं होगा जबकि उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण अंतः साक्ष्य स्पष्ट रूप से उस परिणाम के विरोध में हो। अतः जानकी-मंगल को सं० १६४३ की रचना मानना युक्ति-युक्त नहीं है।

इसकी शैली 'मानस' से पर्याप्त अंशों में साम्य रखती है। अनेक स्थलों पर तो एक-सी शब्दावली तक मिलती है। अतः इस प्रकार के संदेह व्यर्थ हैं। प्राप्त प्रतियों का पाठ मुद्रित प्रतियों जैसा ही है। प्रायः सभी विद्वानों ने इसे गोस्वामी जी की प्रामाणिक रचना माना है।[1] इसमें कवि ने श्रीराम और सीता जी के मंगलमय विवाहोत्सव का बड़े ही मधुर शब्दों में वर्णन किया है। जनकपुर में स्वयंवर की तैयारी से आरंभ कर अंत में अयोध्या पहुँचने पर वहाँ आनंद मनाये जाने आदि प्रसंगों का संक्षेप में बड़ा ही सरस एवं सजीव वर्णन किया गया है।

रामचरितमानस--इस विश्व-विश्रुत ग्रंथ की रचना सं० १६३१, चैत्र शुक्ल ९ भौमवार को प्रारंभ हुई थी। इसकी समाप्ति कब हुई, इसका उल्लेख कवि ने नहीं किया। फकीर मोहन साईं (सं० १८१२) ने लिखा है कि 'मानस' सं० १६३३ मार्ग शीर्ष शुक्ला ५ को पूरा हुआ।[2] इससे ज्ञात होता है कि इस प्रकार की कोई जनश्रुति रही है। यद्यपि यह असंभव नहीं है कि कवि ने इतने थोड़े समय में ही ग्रंथ की समाप्ति कर दी हो, फिर भी इतना समय कुछ कम जान पड़ता है, क्योंकि 'मानस' एक बड़ा ग्रंथ है। 'मानस' के रचना-क्रम के विषय में यह ज्ञात होता है कि वह तीन बार में लिखकर पूरा किया गया होगा और तब उसे एक रूपता प्रदान करने की चेष्टा की गई होगी।[3]

'मानस' की प्राचीन प्रतियाँ प्राप्त हैं, उनमें प्राचीनतम प्रति तीन शताब्दियों से अधिक प्राचीन सं० १६६१ की है, किंतु यह 'बालकांड'

---

१. देखिए, गोस्वामी तुलसीदास–डा० श्यामसुन्दर दास, पृ० ८४, तुलसी के चार दल, श्री सद्गुरुशरण अवस्थी, पृ० २२९, हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास–डा० रामकुमार वर्मा, ४०४

२. देखिए, तुलसीदास–डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ८४-८५

३. देखिए, विशेष विवरण के लिए—तुलसीदास, डा० माताप्रसाद गुप्त पृ० २६२—२७७ तक

मात्र की प्रति है। बालेतर समस्त कांडों की प्रतियों में काशिराज की सं० १७०४ की प्रति सबसे प्राचीन है। पाठ विज्ञान के आधार पर 'मानस' के पाठ-निर्धारण की चेष्टा अवश्य की गई है।

पार्वती-मंगल—इस रचना की प्रतियाँ बहुत ही थोड़ी प्राप्त हुई हैं, और जो प्राप्त भी हुई हैं, उनमें से कोई भी प्राचीनता अथवा पाठ के नाते महत्त्वपूर्ण नहीं है, उनका पाठ वही है जो मुद्रित प्रति का है। इसकी रचना तिथि सं० १६४३ फाल्गुन शुक्ला ५, गुरुवार है, जो गणना से शुद्ध उतरती है।

मिश्र बंधुओं ने इस कृति को गोस्वामी जी की रचना मानने में शंका प्रकट की है,[1] किंतु इस संबंध में उनके जो आक्षेप हैं, वे निराधार हैं। मिश्र बंधुओं के अतिरिक्त अन्य सभी विद्वान इसे तुलसीकृत मानते हैं। यह मंगल-काव्य है। अतः इसमें संगीत की प्रधानता है और लोकगीत छंद 'सोहर' का प्रयोग किया गया है। इसकी शैली और शब्द-योजना 'मानस' से पर्याप्त अंशों में समानता रखती है। इस रचना का विषय 'शिव-पार्वती-विवाह' का वर्णन करना है।

गीतावली—इस ग्रंथ की हस्तलिखित प्रतियाँ खोज में पर्याप्त संख्या में प्राप्त हुई हैं। इनका पाठ मुद्रित प्रतियों जैसा ही है। इस कृति की एक प्राचीन प्रति कवि के जीवनकाल की प्राप्त है। इस प्रति का आकार-प्रकार अर्थात् पद-संख्या और पद-क्रम दोनों में वह मुद्रित 'गीतावली' से कुछ भिन्न है। यह प्रति खंडित है। इस प्रति के आधार पर गीतावली का अन्य नाम 'पदावली रामायण' भी है। इसके बाद जो सबसे प्राचीन प्रति प्राप्त है, वह सं० १७९७ की है, और प्रतापगढ़ के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। पाठ-विज्ञान के आधार पर दूसरे पाठ-निर्धारण की आवश्यकता है। यह कवि का पद-संग्रह है।

इस रचना में कवि ने स्वतः उसकी रचना-तिथि का कहीं उल्लेख नहीं किया है और न ही उसम कोई ऐसी घटना उल्लिखित है, जिसके आधार पर रचना-काल का निर्णय करने में सहायता मिलती हो। इसके कथानक में अन्य ग्रंथों से कई बातों में अंतर पाया जाता है, जोकि कवि की स्वतंत्रता

१. देखिए, हिंदी-नवरत्न, पृ० २३ तथा ६२३।

का द्योतक है। विषय निर्वाह और भाषा के परिमार्जित रूप के आधार पर क्रम एवं समय का अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है। इस अनुमान से यदि दूसरी रचना-तिथि सं० १६५८ के लगभग मानी जाए तो अनुचित न होगा।

इस वृति में गोस्वामी जी ने संपूर्ण राम चरित का वर्णन पदों में किया है। इसमें कवि कथानक के क्रम की अपेक्षा न करके अपने इष्ट देव की मधुर झांकी प्रस्तुत करने में ही लीन है। इसके समस्त पदों की संख्या ३३० के लगभग है और कथानक के आधार पर उन्हें सात कांडों में विभाजित किया गया है।

विनय-पत्रिका—'गीतावली' की भाँति यह भी एक संग्रह-ग्रंथ है। कवि ने स्वयं इस संग्रह का भी निर्माण-काल नहीं दिया है। इस संग्रह के पदों में ऐसी किसी घटना का भी उल्लेख नहीं है, जिसके आधार पर उसका संबंध किसी तिथि के साथ स्थापित किया जा सके। अतः अनुमान का आश्रय ही ग्रहण करना पड़ता है।

इस रचना की सं० १६६६ की एक प्रति कवि के जीवन-काल की प्राप्त है। इस प्रति के आधार पर इसका अन्य नाम 'रामगीतावली' भी है। इसमें कुल १७६ पद हैं, जबकि मुद्रित पाठ में २७९ पद हैं। हो सकता है कि शेष पदों की रचना सं० १६६६ के बाद हुई हो। इसके कुछ पदों में कवि की वृद्धावस्था के आत्मोल्लेख मिलते हैं। सावधानी के साथ इसका पाठ संपादन होना चाहिए। 'गीतावली' के पदों की तरह इस कृति के पदों की रचना भी एक विस्तृत काल-क्षेत्र में हुई है। 'विनय-पत्रिका' की प्राप्त प्रतियों में सबसे प्राचीन प्रति सं० १७६० की है। इसका पाठ मुद्रित पाठ से अभिन्न है। 'रामगीतावली' के रूप में इसका संपादन अनुमानतः सं० १६५८ के लगभग किया गया होगा और 'विनय-पत्रिका' के पाठ का संकलन सं० १६६६ के बाद संभवतः कवि ने स्वतः अपने जीवन-काल में किया होगा।

'विनय-पत्रिका' का विषय एक भक्त कवि का भगवान् राजा राम को कलियुग के विरुद्ध प्रार्थना-पत्र देना है। यह अर्जी पदों में दी गई है। गोस्वामी जी की समझ में कलयुग के कारण जो समाज की क्षति हुई तथा धर्म को आघात पहुँचा, उसका उन्होंने विस्तार से विवेचन किया है।

विनय-पत्रिका में भक्त तुलसी का दार्शनिक रूप उच्च कोटि के कवित्व रूप में सामने आया है।

कृष्णगीतावली—इस कृति की कई प्रतियाँ खोज में मिली हैं, किंतु उन सबका पाठ मुद्रित प्रति जैसा ही है। इसकी सबसे प्राचीन प्रति सं० १७९७ की है, जो प्रतापगढ़ के राजकीय पुस्तकालय में है। यह भी एक संग्रह-ग्रंथ है। इसकी भी तिथि कवि ने स्वयं नहीं दी है और न किसी ऐसी घटना का उल्लेख है, जिसका संबंध किसी तिथि के साथ स्थापित किया जा सके। अतः विषय-निर्वाह तथा भाषा-शैली के आधार पर ही इसके काल-क्रम का अनुमान किया जा सकता है।

विषय-निर्वाह की दृष्टि से 'कृष्णगीतावली' 'गीतावली' से उत्कृष्टता लिए हुए है। 'गीतावली' में अनेक ऐसे प्रसंग मिलेंगे, जो अनावश्यक विस्तार से युक्त हैं और कुछ प्रसंग ऐसे भी हैं जो बिल्कुल छूट गए हैं, किंतु 'कृष्णगीतावली' में एक भी ऐसा प्रसंग नहीं है, जिसे अनावश्यक विस्तार प्राप्त हो और न ग्रंथ के आकार के विचार से कोई ऐसा प्रमुख प्रसंग है, जो छूट गया हो। केवल ६१ पदों में कवि ने पूरी कृष्णकथा बड़े सुंदर ढंग से उपस्थित की है। शैली की दृष्टि से 'कृष्णगीतावली' में 'गीतावली' की अपेक्षा अधिक एकरूपता है साथ ही इसमें शैली के माध्यम से ब्रज का जो वातावरण उपस्थित करने का यत्न किया गया है, वह उसकी अन्य विशेषता है। इस प्रकार इस रचना में कलापक्ष 'गीतावली' से अधिक सफल है। संभवतः इस प्रौढ़ कृति की रचना कवि ने उस समय की प्रतीत होती है, जबकि गीत-रचना में उसका हाथ मँज गया था। चूंकि 'गीतावली', 'विनय-पत्रिका' और 'कृष्णगीतावली' परस्पर सापेक्ष लगती हैं, इसलिए इसका संकलन-काल भी सं० १६५८ के लगभग प्रतीत होता है।[1]

बरवै-रामायण—इस कृति की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ खोज में प्राप्त हुई हैं। इन प्रतियों के पाठ में एकरूपता नहीं है। कोई भी प्रति कृतिकार के जीवन-काल की नहीं है। अब तक प्राप्त प्रतियों में प्राचीनतम प्रति सं० १७९७ की है, जो प्रतापगढ़ के राजकीय पुस्तकालय में है। इस

१. गीतावली, विनय पत्रिका एवं कृष्णगीतावली के विशेष विवरण के लिए देखिए तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त

प्रति का पाठ अधिकांशतः मुद्रित प्रतियों के पाठ से भिन्न है। इस कृति की एक प्रति महाराज बनारस के पुस्तकालय में भी है। इसका लिपिकाल सं० १८७३ है तथा इसमें ४०५ छंद हैं। इसी प्रकार की दो प्रतियाँ राजा जौनपुर के पुस्तकालय में भी हैं। इन दोनों का लिपिकाल भी सं० १८७३ है और ४०५ ही छंद हैं। जौनपुर के राजा पं० यादवेंद्रदत्त दुबे ने सं० २०१० वि० में इसको प्रकाशित कराया था। इस संस्करण के १५ छंद ही मुद्रित प्रतियों में पाए जाते हैं, और वे भी परिवर्तित क्रम में।

इस रचना के अन्य प्रकाशित संस्करणों में केवल ६९ छंद हैं। उनमें पाठ साम्य है। जौनपुर संस्करण में राम-कथा अविच्छिन्न रूप में कही गई है। इसमें अन्य मुद्रित पाठों में आए हुए शृंगारिक छंद नहीं हैं। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इसे तुलसीकृत नहीं मानते हैं।[1] उनके मत से यह किन्हीं 'भगतजी' की रचना है।

कवि ने स्वयं 'बरवै' की रचना-तिथि नहीं दी है और न ही अन्य कोई ऐसा पुष्ट संकेताधार प्राप्त है, जिसके द्वारा निश्चित समय निर्धारित किया जा सके। शैली और विषय-निर्वाह की दृष्टि से मुद्रित-पाठ के कथा-भाग के अनेक बरवै विचारणीय हैं। मुख्यतः उसके प्रारंभ के अनेक शृंगारपूर्ण छंदों को लेकर उस पर आक्षेप किए गए हैं, किंतु इस रचना की भी एक प्राचीन प्रति ऐसी प्राप्त है, जिसमें वैसे शृंगारपूर्ण छंदों का अभाव है, उनके स्थान पर उक्त प्रति में राम-भक्ति विषयक भिन्न छंद हैं। उनमें तुलसी की शैली ही दृष्टिगोचर होती है। इस काव्य के संपादन में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। वैज्ञानिक प्रणाली के आधार पर इस ग्रंथ के पाठ-निर्धारण की नितांत अपेक्षा है। असंभव नहीं कि कथा-भाग के उक्त छंद पाठालोचन में प्रक्षिप्त प्रमाणित हों। पाठ-भिन्नता के कारण यही संभावना ज्ञात होती है कि इसका संकलन गोस्वामी जी के निरीक्षण में नहीं हुआ था।

परंपरागत रूप से तथा लगभग सभी विद्वानों द्वारा यह रचना तुलसी विरचित मानी गई है। भाषा के आधार पर भी डा० देवकीनंदन श्रीवास्तव ने इसे तुलसी-कृत ही स्वीकार किया है।[2] इस कृति के छंदों

१. हिंदी साहित्य का अतीत, पृ० १०९-१०
२. देखिए, तुलसीदास की भाषा, पृ० ३४७

को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामी जी की यह स्फुट रचना है और छंदों को क्रम देने का कार्य पीछे किसी ने किया है। इस कृति में राम-कथा अत्यंत संक्षेप में वर्णित है। अवधी के माधुर्य के लिए यह तुलसी की प्रतिभा का सुंदर उदाहरण है।

सतसई-दोहावली—गोस्वामी जी के नाम से दो 'दोहा-संग्रह' मिलते हैं। इनमें से एक संग्रह 'सतसई' के नाम से और दूसरा संग्रह 'दोहावली' के नाम से प्रसिद्ध है। इन दोनों संग्रहों में से सतसई की प्रतियाँ बहुत थोड़ी प्राप्त हुई हैं। उनमें से कोई ऐसी नहीं है, जो बहुत प्राचीन हो, और पाठ भी उनका मुद्रित प्रति के पाठ से कोई विशेष अंतर नहीं रखता। 'सतसई' का एक मुख्यांश 'दोहावली' में मिलता है। इस अंश के प्रामाणिक होने में संदेह नहीं है। 'सतसई' के उस अंश की शैली तथा विचारधारा के संबंध में ही जो 'दोहावली' में नहीं मिलता, यह बात कही जा सकती है कि दूसरा अधिकांश निश्चित रूप से गोस्वामी जी की रचना नहीं है। फिर, जिस दोहे में ग्रंथ का रचना-काल 'सं० १६४२ वैशाख शुक्ल ९ गुरुवार' दिया हुआ है, वह प्रक्षिप्त है, क्योंकि जिस प्रणाली पर गणना करने पर कवि की और तिथियाँ शुद्ध उतरती हैं, उस प्रणाली पर उस दोहे में दी हुई तिथि ठीक नहीं उतरती। इसलिए 'सतसई' की प्रामाणिकता के संबंध में जो संदेह किया जाता है, वह उचित है। ऐसा प्रतीत होता है कि कभी कवि के देहावसान के पश्चात् किसी 'सतसई' के अनुकरण पर कवि के किसी भक्त ने उसके दोहों के साथ-साथ स्वरचित कुछ दोहे मिलाकर यह संग्रह तैयार कर दिया हो और तिथि संबंधी दोहा भी रचकर उसमें रख दिया हो।

'दोहावली' की भी कई प्रतियों का उल्लेख खोज-रिपोर्टों में हुआ है, किंतु उनके पाठों का मिलान मुद्रित पाठ से पूरा-पूरा नहीं होता। सब से प्राचीन प्रति सं० १७९७ की है, जो प्रतापगढ़ के राजकीय पुस्तकालय में है। इस प्रति में भी केवल ४७८ दोहे हैं, जबकि मुद्रित पाठ में ५७३ दोहे मिलते हैं। इस प्रकार प्राप्त प्रतियों में पाठ संबंधी अंतर स्पष्ट है। अतः सावधानी पूर्वक ग्रंथ के संपादन की आवश्यकता है। पाठ-संपादन के पश्चात् यदि प्रस्तुत 'दोहावली' के कतिपय अंश प्रक्षिप्त प्रमाणित हों तो कोई आश्चर्य नहीं। इस संग्रह में रचना-काल संबंधी कोई दोहा नहीं है और न उस की कोई ऐसी प्रति है, जो कवि के जीवन-काल की हो, लेकिन इस संग्रह में कुछ

इस प्रकार की घटनाओं के उल्लेख आते हैं, जिनकी सहायता से उक्त उल्लेख युक्त छंदों का रचना-काल जाना जा सकता है। 'दोहावली' के एक दोहे में 'रुद्र बीसी' का उल्लेख हुआ है। यह समय कवि के जीवन-काल में सं० १६५६ से १६७६ तक आता है।[1] सं० १६६९ के पंचनामे के शीर्ष पर उल्लिखित दोहा भी दोहावली में मिलता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे दोहे भी मिलते हैं, जिनमें बाहु-पीड़ा, वृद्धावस्था तथा मृत्यु की एक धुंधली प्रतिच्छाया के उल्लेख दृष्टिगोचर होते हैं। अतः ज्ञात होता है कि दोहावली में कवि की अंतिम रचनाएँ संकलित हैं।

घटनोल्लिखित दोहे 'सतसई' में प्राप्त नहीं होते। अतः हो सकता है कि 'सतसई' का मूल संग्रह पूर्व का रहा हो और 'दोहावली' में आपेक्षाकृत बाद के दोहे भी संकलित हुए हों, किंतु गोस्वामी जी ने बहुत से सामान्य दोहे लेकर स्वतः इस प्रकार के दो संग्रह प्रस्तुत किए होंगे, यह कम संभव प्रतीत होता है। 'सतसई' और 'दोहावली' के मूल में कवि के दोहों का ऐसा सरल संग्रह था, जिसको उसके देहावसान के बाद अलग-अलग ढंग से बढ़ा कर इस प्रकार के दो, एक दूसरे से किंचित् भिन्न संग्रहों के रूप में उपस्थित किया गया। जान ऐसा पड़ता है कि कवि स्वतः इस संग्रह को अंतिम रूप नहीं दे पाया था और उसके देहावसान के कारण संग्रह असंपादित रह गया था। 'सतसई' की अपेक्षा 'दोहावली' की शैली और विचारधारा पूर्ण रूप से गोस्वामी जी की है, इसलिए उसी को गोस्वामी जी का दोहा-संग्रह मानना होगा। इस संग्रह-ग्रंथ में कवि की सूक्ति-शैली के दर्शन होते हैं।

कवितावली और बाहुक—'बरवै' और 'दोहावली' की भाँति 'कवितावली' और 'बाहुक' भी संग्रह-ग्रंथ हैं। 'बाहुक' अधिकतर हस्तलिखित प्रतियों में केवल 'कवितावली' के परिशिष्ट की भाँति मिलता है। इस कारण दोनों पर एक साथ विचार किया जा सकता है। इस संकलन की अनेक प्रतियों का उल्लेख खोज-रिपोर्टों में हुआ है। इस कृति की सबसे प्राचीन प्रति सं० १७९७ की है, जो प्रतापगढ़ के राजकीय पुस्तकालय में है। एक और महत्त्वपूर्ण प्रति सं० १८७० की प्राप्त है। यह प्रति प्रतापगढ़ वाली प्रति से बाद की है, किंतु पाठ की दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखती है।[2] इस

---

१. देखिए, तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ४८

२. देखिए, तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० २२७

रचना की प्राप्त प्रतियों में पर्याप्त पाठ-भेद मिलता है। पाठ-भेद के साथ-साथ क्रम भिन्नता भी मिलती है। ये अंतर विशेष रूप से अंतिम भाग में मिलते हैं, जिसमें कवि के जीवन से संबंधित महत्त्वपूर्ण बातें आती हैं। इस ग्रंथ के वैज्ञानिक पाठ-निर्धारण की नितांत आवश्यकता है। यह बड़े खेद की बात है कि कवि के जीवन-वृत्त के लिए सबसे महत्वपूर्ण इस रचना का यथेष्ट यत्नपूर्वक संपादन अभी तक नहीं हुआ है।

इस रचना में रचना-काल कवि ने स्वयं नहीं दिया है और न कवि के जीवन-काल की कोई प्रति ही प्राप्त है। इतना अवश्य है कि इसमें कुछ ऐसी घटनाओं के उल्लेख हुए हैं, जिनका समय ज्योतिष-गणना और ऐतिहासिक साक्ष्यों से ज्ञात हो जाता है। इस प्रकार के उल्लेख 'रुद्रबीसी', 'मीन के शनि', तथा 'महामारी' विषयक हैं। इनके अतिरिक्त वृद्धावस्था संबंधी उल्लेख भी प्राय: आते हैं। रुद्र-बीसी कवि के जीवन-काल में सं० १६५६ से सं० १६७६ तक आई थी और मीन के शनि का समय सं० १६६६ से १६७१ तक पड़ता है। महामारी के वर्णन से यह स्पष्ट नहीं है कि वह कौन-सी बीमारी थी? प्राय: कहा जाता है कि यह महामारी ताऊन या प्लेग थी। ताऊन भारत में पहले-पहल सं० १६७३ में आया था और उसके बाद लगातार आठ वर्षों तक देश के विभिन्न भागों में सं० १६८१ तक रहा था।[1] इन उल्लेखों, वृद्धावस्था तथा मृत्यु-सामीप्य संबंधी छंदों से ज्ञात होता है कि इस कृति में कवि की अंतिम अवस्था की रचनाएँ भी संगृहीत हैं।

इस संकलन के संबंध में अनुमान का ही आश्रय लेना पड़ता है। प्राप्त प्रतियों के पाठ-वैषम्य से ऐसा जान पड़ता है कि कवि इस रचना को भी अंतिम रूप नहीं दे पाया था और संग्रह देहावसान के कारण असंपादित ही रह गया था।

'बाहुक' इस ग्रंथ की प्रतियों में अधिकतर एक परिशिष्ट की भाँति मिलता है और वैसे भी वह प्रकृत्या 'कवितावली' के अंतिम अंश से किसी प्रकार भिन्न नहीं है, फिर भी प्रश्न यह हो सकता है कि 'बाहुक को यदि स्वतंत्र रचना मानें तो उस का समय क्या होगा? 'बाहुक' में हनुमान की प्रशंसा के छंदों के अतिरिक्त बाहु-पीड़ा तथा बर-तोड़ आदि के छंद आते हैं। ये रोग

---

१. देखिए, तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ४८–५१ तक

कवि को जीवन के अंतिम दिनों में हुए थे, बल्कि संभावना यह भी है कि बर-तोड़ की बीमारी में ही कवि का देहांत हुआ। अतः यह निश्चित है कि 'बाहुक' में गोस्वामी जी की निरी अंतिम रचनाएँ संकलित हैं। इसकी भी ठीक-ठीक एक ही आकार-प्रकार की प्रतियाँ बहुत कम मिलती हैं। अतः इस रचना के संबंध में भी मानना पड़ेगा कि इसे भी कवि अंतिम रूप नहीं दे पाया था, जिसके परिणाम-स्वरूप इसकी प्रतियों के पाठ में भी परस्पर विचारणीय अंतर मिलता है।

यद्यपि 'कवितावली' संग्रह-ग्रंथ है, किंतु बाद में किसी ने इसके छंदों को रामचरित के क्रम से संग्रह कर उन्हें मानस आदि की तरह सात कांडों में विभक्त कर दिया है। अंतिम कांड में कवि के भिन्न-भिन्न विषयों के छंदों को भी रख दिया है। इससे यह कांड सब कांडों से बड़ा हो गया है।

तुलसीदास जी की प्रामाणिक मानी जाने वाली रचनाओं में से 'रामचरितमानस' ही एक ऐसा ग्रंथ है, जिसके पाठ-निर्धारण का तो कार्य पाठ-विज्ञान की प्रणाली पर हुआ है, किंतु तुलसी-ग्रंथावली के शेष ग्रथों के पाठ-निर्धारण की समस्या अभी ज्यों की त्यों है। पाठ-विज्ञान के आधार पर उन सब के पाठ-संपादन की नितांत आवश्यकता है। जब तक यह कार्य संपादित नहीं होता, तब तक उनके मुद्रित पाठ पर ही संतोष करना पड़ेगा।

गोस्वामी जी के उपर्युक्त मान्य-ग्रंथों के अतिरिक्त निम्नलिखित कृतियों को भी कुछ विद्वान तुलसी-कृत ही मानते हैं। यद्यपि इस संबंध में विद्वानों का मतैक्याधिक्य नहीं है। फिर भी यदा-कदा कोई विद्वान इस विषय में किसी न किसी ग्रंथ को लेकर पक्ष-समर्थन करते देखा जाता है। इस दूसरी श्रेणी की रचनाएँ इस प्रकार हैं—छंदावली रामायण, छप्पयरामायण, हनुमान चालीसा, ज्ञान दीपिका, राममुक्तावली संकटमोचन, कुंडलिया रामायण, और कलिधर्माधर्म निरूपण आदि।

प्रतियों की प्राचीनता, शैली तथा विचारधारा के विचार से उपर्युक्त कृतियों में से अधिकतर रचनाएँ गोस्वामी जी की नहीं ज्ञात होती हैं, किंतु हो सकता है कि इस सूची की कुछ रचनाएँ गोस्वामी जी की ही हों, और उनके अति प्रारंभिक रचनाकाल की होने के कारण इन बातों में उनकी अन्य रचनाओं से कुछ भिन्न और हीन ज्ञात होती हों, लेकिन ऐसी रचनाओं

को शेष से आवश्यक निश्चय के साथ अलग करना सुगम नहीं है, और जब तक वह हो नहीं जाता कवि के अध्ययन में इन रचनाओं की सहायता नहीं ली जा सकती।

जहाँ तक प्रतियों की प्राचीनता का संबंध है, इनमें से किसी भी ग्रंथ की प्रति कवि के जीवन-काल की नहीं मिलती और एक प्रति को छोड़कर कोई ऐसी भी प्रति प्राप्त नहीं है, जो कम से कम दो सौ वर्ष भी पुरानी हो। वह अकेली प्रति 'राम मुक्तावली' की है, जो सं० १६८९ की है। यह काशिराज के पुस्तकालय में है। विषय-प्रतिपादन, शैली, विचारधारा तथा छंद-योजना के आधार पर यह कृति किसी प्रकार भी गोस्वामी जी की सिद्ध नहीं होती।[1]

इनमें से अन्य रचना 'ज्ञान दीपिका' अपने रचना-काल के कारण विचारणीय है। इसमें रचनाकाल सं० १६३१, आषाढ़ शुक्ल २, गुरुवार दिया हुआ है, पर किसी भी प्रकार की गणना करने से यह सही नहीं उतरती और फिर रचना-काल के अनुसार शैली तथा विचारधारा इसकी वही होनी चाहिए थी जो 'मानस' की है, किंतु वहाँ भी साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक है। अतः यह कृति भी तुलसीदास जी की कृति के रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती।[2]

'कुंडलिया रामायण' का एक संस्करण अपनी टीका-टिप्पणी के साथ पं० सत्यनारायण पांडेय ने प्रयाग के इंडियन प्रेस से प्रकाशित कराया था। उसकी भूमिका में उन्होंने इस कृति को गोस्वामी जी की सिद्ध करने की भरसक चेष्टा की है। साथ ही उन्होंने इस रचना के अन्वेषण का समस्त श्रेय भी स्वयं ही लेने का प्रयास किया है। पांडेय जी को ज्ञात होना चाहिए कि उनके संस्करण से पूर्व यह रचना कई स्थानों से प्रकाशित हो चुकी थी और उनके इस अन्वेषण से ७०-८० वर्ष पूर्व ही प्रसिद्ध राम-भक्त और श्रेष्ठ टीकाकार श्री बैजनाथ कुर्मी ने इस कृति पर टीका लिखी थी, जो लखनऊ के प्रसिद्ध नवलकिशोर प्रेस में छपी थी। वह तभी से बराबर पाठकों को प्राप्त है। इसके ३०-४० वर्ष बाद बंगवासी प्रेस ने भी इस रचना का एक संस्करण प्रकाशित किया था। अतः इस अन्वेषण का श्रेय श्री पांडेय जी को नहीं दिया

१. देखिए, तुलसीदास—डा० माताप्रसाद, पृ० १३३
२. देखिए, तुलसीदास—डा० माताप्रसाद, पृ० १३४

जा सकता। जहाँ तक तुलसीदास जी की कृति के रूप में इस रचना की प्रामाणिकता का संबंध है, वह संदिग्ध है। शैली की शिथिलता तो सर्वत्र है और भी अन्य ऐसे कारण हैं, जिनके आधार पर अधिकांश विद्वानों ने इस कृति को तुलसी-कृत नहीं माना है।

'छंदावली रामायण' और 'कलिधर्माधर्म-निरूपण' को मिश्र बंधुओं ने गोस्वामी जी की रचनाएँ ही स्वीकार किया है[1] किंतु प्रामाणिकता की कसौटी पर वे खरी नहीं उतरतीं। अतः इन रचनाओं को तुलसी-कृत स्वीकार नहीं किया जा सकता। शेष रचनाएँ भी प्रतियों की प्राचीनता, शैली अथवा विचारधारा की प्रामाणिकता अथवा अन्य किसी विशेषता के अभाव में न विचारणीय ही हैं और न स्वीकार्य ही। हाँ, इनमें से 'हनुमान-चालीसा' को किसी सीमा तक तुलसी-कृत माना जा सकता है। यह स्तोत्र के रूप में रचा गया है और गोस्वामी जी की अति-प्रारंभिक रचना प्रतीत होता है। वे हनुमान जी के परम भक्त थे। उन्होंने अनेक स्थानों पर हनुमान जी की मूर्तियाँ स्थापित कराई थीं। उनके इस लगाव को देखते हुए यह स्वाभाविक प्रतीत होता है कि इसे प्रार्थना रूप में रचा होगा। पुराने समय से ही इसे भक्तगण इसी रूप में मानते चले आये हैं, किंतु प्रारंभिक रचना होने से साहित्यिकता का अभाव है। इसका कारण इसे सार्वजनिक रूप देना भी संभव हो सकता है। फिर भी इसे एक दम तुलसीदास जी की प्रामाणिक रचना स्वीकार नहीं किया जा सकता।

काल-क्रम और अवस्था-क्रम (जन्म सं० १५८९ वि०) के अनुसार गोस्वामी जी की प्रामाणिक कृतियाँ बहुत कुछ स्वतः निर्मित निम्नलिखित चार समूहों में विभाजित की जा सकती हैं। 'रामाज्ञा-प्रश्न', 'रामचरितमानस' तथा 'पार्वती-मंगल' के अतिरिक्त शेष सभी ग्रंथों की तिथियाँ केवल अनुमान सिद्ध हैं :

(अ) प्रारंभिक (सं० १६१४-२५)

(१)	रामलला नहछू	सं० १६१४	अवस्था २५ वर्ष
(२)	वैराग्य संदीपिनी	सं० १६१६	अवस्था २७ वर्ष
(३)	रामाज्ञा-प्रश्न	सं० १६२१	अवस्था ३२ वर्ष

१. देखिए, हिंदी-नवरत्न, पृ० ३१ तथा ३७

(आ) मध्यकालीन (सं० १६२६-४५)

(१)	जानकी-मंगल	सं० १६२६	अवस्था ३७ वर्ष
(२)	रामचरितमानस	सं० १६३१	अवस्था ४२ वर्ष
(३)	पार्वती-मंगल	सं० १६४३	अवस्था ५४ वर्ष

(इ) उत्तर कालीन (सं० १६४६-६०)

(१)	गीतावली	सं० १६५८	अवस्था ६९ वर्ष
(२)	विनय-पत्रिका	सं० १६५८	अवस्था ६९ वर्ष
(३)	कृष्णगीतावली	सं० १६५८	अवस्था ६९ वर्ष

(ई) अंतिम और अपूर्ण (सं० १६६१-८०)

(१) बरवै (२) सतसई-दोहावली

(३) कवितावली (बाहुक सहित)

डा० रामेश्वरप्रसाद सिंह

रामकाव्य-परंपरा और तुलसीदास

राम का चरित भारतीय मानस की अभिव्यक्ति का माध्यम रहा है। भारतीय जीवन के विभिन्न मोड़ों पर रामचरित ने युगानुकूल उत्तरदायित्व स्वीकार किया है। जब-जब विचार, भाषा, सम्प्रदाय या अन्य किसी दृष्टि से उल्लेखनीय या मौलिक परिवर्तन हुआ है, राम का चरित भारतीय जन का सहयोगी, संरक्षक या मार्गदर्शक बनकर उपस्थित हुआ है। यह केवल संयोग की बात नहीं है कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषाओं का प्रथम महाकाव्य राम के जीवन पर ही आधारित रहा है। वाल्मीकि, विमलसूरि और स्वयंभू आदि का कृतित्व इसका प्रमाण है।

राम की कथा अत्यंत प्राचीन है। तुलसीदासजी ने मानस में चार वेदों को राम के विशद् यश का वर्णन करने वाला कहा है। यद्यपि रामायणीय कथा के कई पात्रों के नामादि का उल्लेख वेदों में प्राप्य है किंतु उसके आधार पर किसी कथा-सूत्र का संगठन संभव नहीं है। राम के विषय में सांगोपांग विवेचन आदि कवि वाल्मीकि की रामायण में ही सर्वप्रथम प्राप्त होता है। रामायण के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि रामकथा की उत्पत्ति इक्ष्वाकुवंश के राजाओं के सूतों द्वारा आख्यानों के रूप में हुई। उन आख्यानों का अब कोई विवरण सुलभ नहीं है। वाल्मीकीय रामायण के गठन एवं परिष्कृति से यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि वाल्मीकि ने पूर्व-प्रचलित कथाओं के सूत्रों को सुश्रृंखलित एवं सुविचारित ढाँचे में अनुस्यूत कर के जन-कंठ की कथा को परिनिष्ठित रूप प्रदान किया। यद्यपि रामायण के रचना-काल के बारे में

विद्वानों में मतैक्य नहीं है पर सामान्यतः ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी तक इसके रचित हो जाने के बारे में अधिकांश पंडितों की सहमति है।

रामायण पहले मौखिक ही रही, फलतः इसमें रूपांतर घटित होता रहा। अभी इसके तीन पाठ मिलते है : दाक्षिणात्य, गौड़ीय एवं पश्चिमोत्तरीय। काव्योपजीवी कुशीलवों द्वारा प्रचारित एवं विभिन्न प्रदेशों में वहाँ की मौखिक परंपरा के अनुरूप लिपिबद्ध किए जाने के कारण स्वभावतः ही उसमें पाठ-भेद पाए जाते हैं। समय एवं प्रचारक के आग्रह से भी उसमें प्रक्षिप्तांश प्रविष्ट हुए। नयी सामग्री का प्रवेश मुख्यतः बालकांड, उत्तरकांड, अवतार संबंधी स्थल एवं अद्भुत प्रसंग संबंधी स्थलों में ही हुआ। पाठभेद मुख्यतः प्रक्षिप्त सामग्री मे ही है, मूल कथावस्तु में विभिन्न पाठों में प्रायः समानता है।

रामायण के राम इक्ष्वाकुवंशीय थे। वाल्मीकि द्वारा प्रश्न किए जाने पर कि 'चरित्रेण को युक्तः' नारद ने राम का नाम बताया। लोक में प्रतिष्ठित, गुणवान, पराक्रमी, धर्मज्ञ, सत्यवक्ता, विद्वान एवं कृतज्ञ उसी राम को वाल्मीकि ने अपने काव्य का नायक बनाया। महाकवि की वह रामायण परवर्ती रामायणों के लिए प्रेरणास्रोत बनी। लोकमंगल की प्रेरणा से रचित रामायण महाकाव्य की परंपरा अब भी अनेकानेक रामकाव्यों के माध्यम से अग्रसर हो रही है।

रामायण के उपरांत रामचरित का उल्लेख महाभारत में प्राप्त होता है। द्रोणपर्व, शांतिपर्व एवं आरण्यक पर्व में मुख्यरूप से रामकथा का विवरण मिलता है। अन्य कई पर्वों में यत्र-तत्र कुछ उल्लेख सुलभ हैं। महाभारत की रामकथा रामायण पर ही आधारित है। यहाँ रामचरित का स्वतंत्र वर्णन नहीं है, विभिन्न प्रसंगों में उसका विवरण दिया गया है।

वाल्मीकि की प्रतिभा से चित्ताकर्षक बनी हुई रामकथा का प्रवेश बौद्धों और जैनों के साहित्य में हुआ। इन संप्रदायों ने रामचरित का लाभ उठाने के लिए उसे अपनी मान्यताओं के अनुसार प्रस्तुत किया। ईसवी सन् के कई सौ वर्ष पहले हीं बौद्धों ने राम को बोधिसत्व मान लिया और अपने जातक साहित्य में उनका विवरण प्रस्तुत किया। इन जातकों में बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाएँ हैं। बौद्धों के मतानुसार राम के पुनरावतार बुद्ध हैं। उनके साहित्य में राम-कथा का प्रसार अत्यल्प है। दशरथ जातक, मनामकं जातक एवं दशरथ कथानक—इन तीन जातकों में रामचरित का उल्लेख मिलता

है। देवधम्म जातक में रामकथा की रूप-रेखा मिलती है तथा जवद्दिस जातक में राम का दंडकारण्य जाना दिखलाया गया है। वेस्संतर जातक एवं साम जातक में भी रामकथा का प्रवेश हुआ है। कुछ विद्वानों की राय में दशरथ जातक की रामकथा रामायणीय कथा का विकृतरूप है। वस्तुतः बौद्धों में रामकथा के प्रति अभिरूचि का अभाव दिखाई पड़ता है। संभवतः विरागी बुद्ध एवं गृहस्थ राम के चरित्र की भिन्नता के कारण ही बौद्धों ने उनका अनुसरण नहीं किया फलतः परवर्ती बौद्ध-साहित्य में रामचरित का सर्वथा अभाव मिलता है।

जैनियों के साहित्य का एक व्यापक एवं उत्तम अंश रामचरित से संबंधित है। प्राकृत एवं अपभ्रंश का प्रथम जैन महाकाव्य रामचरित से संबंधित है। रामकथा की व्यापकता एवं लोकप्रियता से प्रभावित होकर जैनियों ने संभवतः रामकथा को स्वीकार किया। सनातन धर्म पर अपनी विजय तथा उसके प्रति अपनी स्पर्द्धा व्यक्त करने के लिए भी शायद जैनियों ने उनके प्रतिष्ठित देवताओं की कथाओं को ग्रहण किया और अंततः उनकी परिणति जैन-धर्म में उनके दीक्षित होने में प्रस्तुत की।

राम का स्थान जैनों के त्रिषष्ठि शलाका पुरुषों में है। राम वर्तमान अविसर्पिणी के तिरसठ शलाका पुरुषों में आठवें बलदेव एवं लक्ष्मण आठवें वासुदेव हैं।

जैन परंपरा में सबसे प्राचीन जैन रामकाव्य के रचयिता विमलसूरि हैं। उनके महाकाव्य 'पउमचरियं' का रचना-काल जैन परंपरा के अनुसार ७२ ई० है। विमलसूरि ने 'पउमचरियं' के आरंभ में ही कहा है कि "उस पद्मचरित को मैं आनुपूर्वी के अनुसार संक्षेप में कहता हूँ जो आचार्यों की परंपरा में नामावली निबद्ध है।"

इससे ज्ञात होता है कि जैनियों में विमलसूरि के पूर्व ही रामचरित प्रवेश कर चुका था। उनके सम्मुख रामायण, महाभारत एवं बौद्धों का रामचरित भी वर्तमान था। संभवतः सनातन धर्म के समक्ष अपने संप्रदाय की हीनता प्रमाणित होने के भय से विमलसूरि ने अपनी कथा के आदि स्रोत का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने स्वीकार किया है कि अन्यों की रामकथा में कुछ अविश्वसनीय बातें हैं जिन्हें विश्वासयोग्य बनाने के लिए ही उन्होंने रामकाव्य की रचना की है। उन्हीं के अनुकरण पर रविषेणाचार्य ने

(७७३ वि०) संस्कृत में पद्मचरित की रचना की जो वस्तुतः पउमचरियं का छायानुवाद है। विमलसूरि के अतिरिक्त संस्कृत में हेमचंद्र, जिनदास आदि; प्राकृत में शीलाचार्य, भद्रेश्वर, भवनतुंग सूरि तथा अपभ्रंश में स्वयंभू एवं रइधू ने रामचरितात्मक काव्य की रचना की।

विमलसूरि से भिन्न रामचरित की एक दूसरी परंपरा गुणभद्राचार्य (९५५ वि०) के उत्तरपुराण से चली। इनकी परंपरा में पुष्पदंत ने अपभ्रंश में महापुराण की रचना की जिसके दो खंड हैं—आदिपुराण एवं उत्तरपुराण।

जैन रामकथा में पद्म राम का पर्यायवाची है। जैन रामचरित की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि इसमें कहीं भी राम-सीता आदि का चरित्र अतिमानवीय नहीं है वे साधारण व्यक्ति हैं। राक्षस, वानर आदि विद्याधर माने गए हैं। प्रायः हर व्यक्ति जिनभक्त है। जो जिनभक्त नहीं है उसकी प्रायः पराजय हुई है। राम और रावण दोनों जिनभक्त हैं। वे कहीं भी अलौकिक नहीं लगते। रामादि को जिनभक्त बनाने के पीछे सनातन धर्म से जैनधर्म को श्रेष्ठ प्रमाणित करने की भावना काम करती है। जैन रामकथा का परवर्ती अन्य रामकथाओं पर भी प्रभूत प्रभाव पड़ा है। स्वयंभू की रामायण में राम, लक्ष्मण, हनुमान आदि नारी-प्रिय हैं और अनेकानेक विवाह करते हैं। संभव है, रसिकोपासकों पर इन पात्रों की नारीप्रियता का प्रभाव पड़ा हो। शिल्प मुख्यतः छंद की दृष्टि से तुलसीदास स्वयंभू के ऋणी हैं।

संस्कृत धार्मिक काव्य में रामचरित :

संस्कृत के धार्मिक साहित्य पर राम के जीवन का प्रभूत प्रभाव पड़ा है। महाभारत के अतिरिक्त अन्य अनेक पौराणिक काव्यों में राम का जीवनचरित वर्णित मिलता है। प्रसिद्ध १८ पुराणों में मार्कंडेय, भविष्य, लिंग, वाराह, वामन, मत्स्य और ब्रह्मांड पुराणों में रामचरित का कोई विशेष विवरण नहीं मिलता। यत्र-तत्र थोड़े-बहुत संकेत मिलते हैं। गरुण, नारद एवं कूर्म पुराण में अति संक्षिप्त रामकथा प्राप्त होती है। शिवपुराण, स्कंदपुराण एवं भागवतपुराण में अपेक्षाकृत विस्तृत रामकथा मिलती है। विष्णुपुराण में संक्षिप्त रामकथा वर्णित है। ब्रह्मपुराण में रामचरित के विभिन्न प्रसंगों का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में सीताजन्म से राम के स्वर्गारोहण तक की कथा मिलती है। अग्निपुराण में रामजन्म से

रामराज्य तक का जीवन चरित उल्लिखित है। पद्मपुराण के सृष्टिखंड, उत्तरखंड एवं पातालखंड में व्यापक एवं कई परिवर्तित प्रसंगों के साथ रामकथा मिलती है। हरिवंशपुराण में संक्षिप्त रामकथा वर्णित है। वायुपुराण की रामकथा विष्णुपुराण की रामकथा जैसी ही है। इन प्रसिद्ध पुराणों के अतिरिक्त विष्णुधर्मोत्तर, नृसिंह, वह्नि, श्रीमद्देवीभागवत, वृहद्धर्म आदि उपपुराणों में भी रामचरित का थोड़ा-बहुत विवरण सुलभ होता है।

पुराणों की रामकथा में वाल्मीकीय कथा से कोई विशिष्टता नहीं है। इनके वर्णन अधिकांशत: आदिकाव्य के अनुसार ही हैं। अधिकांश पुराणों में कथा का संक्षिप्त उल्लेख ही मिलता है।

संस्कृत के सांप्रदायिक रामायण :

सांप्रदायिक रामायणों पर विशिष्ट संप्रदायों के सिद्धांतों एवं आदर्शों का गहरा रंग चढ़ा हुआ है। इनमें से अधिकांश की रचना एक हजार ईसवी सन् के बाद हुई है। इनमें योगवासिष्ठ, अध्यात्म रामायण, आनंद रामायण, अद्भुत रामायण, तत्वसंग्रह रामायण एवं कालनिर्णय रामायण महत्वपूर्ण हैं।

योगवासिष्ठ का मुख्य विषय वसिष्ठ-राम-संवाद के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। रामकथा के अतिरिक्त इसमें कई अवांतर कथाएँ भी हैं। अध्यात्म रामायण की रचना का उद्देश्य शांकर वेदांत के अनुरूप राम की भक्ति का प्रतिपादन करना है। इसी उद्देश्य से वाल्मीकीय कथा में कुछ सामान्य परिवर्तन भी किए गए हैं। सांप्रदायिक रामायणों में यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। अवतारवाद की व्यापकता का इससे परिचय मिलता है। रामानंदी संप्रदाय में इसकी बहुत प्रतिष्ठा है। तुलसी के मानस पर इसका सर्वाधिक प्रभाव है। अद्भुत रामायण का प्रथमांश अवतार के कारणों पर प्रकाश डालने, द्वितीयांश वाल्मीकीय रामचरित के वर्णन एवं अंतिमांश सहस्त्रमुख रावण के वध से संबंधित है। आनंद रामायण अध्यात्म के बाद की रचना है। इसके विलासकांड में राम के एक पत्नीव्रत के बदले अगले अवतार में उन्हें अनेक पत्नी रखने का आश्वासन दिया गया है। रसिकोपासकों का यह प्रधान ग्रंथ है।। राम-सीता की क्रीड़ाओं का विलासमय वर्णन इसकी विशिष्टता है। तत्वसंग्रह रामायण में राम के परब्रह्मत्व का प्रतिप्रादन है। वाल्मीकीय कथा से इसमें किंचित् परिवर्तन लक्षित होता है। कालनिर्णय रामायण की विशेषता यह है कि इसमें रामचरित की प्रधान घटनाओं की तिथियाँ दी गई हैं। आदिरामायण एवं भुशुंडी रामायण

में रसिक उपासना की प्रमुखता है। श्री रामदास गौड़ ने 'हिंदुत्व' में इनके अतिरिक्त अन्य अनेक सांप्रदायिक एवं संप्रदायमुक्त रामायणों की चर्चा की है पर उनमें से अधिकांश अनुपलब्ध हैं। महारामायण, मंत्र रामायण, गायत्री रामायण, वेदांत रामायण आदि रामायण अपने विशिष्ट दृष्टिकोणों के कारण महत्वपूर्ण माने जा सकते हैं।

इन सांप्रदायिक रामायणों का उद्देश्य अपने संप्रदायों को रामांकित कर जन-प्रतिष्ठा प्राप्त करना रहा है। काल-क्रम से विकसित संप्रदायों ने रामचरित का उपयोग अनेक बार अपने गुह्य एवं समाज-तिरस्कृत मतवादों की सुरक्षा एवं सम्मान के लिए भी किया। इस सिलसिले में अनेकबार उन्होंने राम-कथा में परिवर्तन भी किया और इसप्रकार एक ओर तो अपनी मौलिकता प्रदर्शित की और दूसरी ओर रामकथा को अपने सिद्धांतों के अनुकूल तोड़ा-मरोड़ा और जो कुछ अपने मतवाद के अनुरूप नहीं पड़ा उसे या तो छोड़ दिया या बदल दिया। इस प्रकार रामकथा में विभिन्नताएँ पनपती रहीं।

संस्कृत का ललित काव्य :

रामकथा की महत्ता एवं व्यापकता से प्रेरित-प्रभावित होकर अनेक महाकवियों ने अनेक रामकाव्यों की रचना की। रामचरित को सर्वांगीण रूप से प्रस्तुत करना ही इनका उद्देश्य रहा। इनमें से कुछ जैसे रामायण मंजरी, रामचरित, उदार राघव,भट्टिकाव्य, रघुवीर चरित, श्रीरामविजय, राघवीयम् तथा जानकीहरण में केवल रामचरित का ही विवरण है किंतु रघुवंश एवं दशावतार चरित आदि में अन्य चरित्रों के वर्णन-प्रसंग में रामचरित का वर्णन किया गया है।

'रामायण मंजरी' में क्षेमेन्द्र ने वाल्मीकीय रामायण का कथासार प्रस्तुत किया है। वाल्मीकि-नारद-संवाद से लेकर राम के स्वर्गारोहण तक की कथा यहाँ सुलभ है। अभिनंद के महाकाव्य में राम-लक्ष्मण के प्रस्रवन-पर्वत पर वर्षावास से लेकर कुंभ-निकुंभ वध तक की कहानी वाल्मीकि के आधार पर वर्णित है। नवीं शताब्दी के कुमारदास की रचना 'जानकीहरण' है जिसके ६० सर्गों में अब केवल २५ सर्ग ही सुलभ हैं। इसमें अयोध्या वर्णन से जानकीहरण तक की कथा वर्णित है। इसमें श्रृंगार-रस की प्रधानता है और राम-सीता का संयोग वर्णन मिलता है। अनेक स्थल अश्लील वर्णनों से युक्त हैं। 'उदार राघव' में रामजन्म से शूर्पणखा विरूपण तक का चरित वर्णित है। इसकी शैली

अलंकृत है और कथा की दृष्टि से भी कई नवीनताएँ हैं। श्री रूपनाथ उपाध्याय के महाकाव्य 'श्रीरामविजय' में दशरथ-राज्य-वर्णन से रामाभिषेक तक की कथा है। इसका कथानक मानस से बहुत भिन्न है। यह आधुनिक महाकाव्य है। महाकवि पणिपाद के 'राघवीयम्' महाकाव्य में दशरथ-राज्य-वर्णन से रामाभिषेक तक का चरित सुलभ है। 'रघुवीर चरित' महाकाव्य में राम बनवास से रामाभिषेक का विवरण है। जानकी परिणय, रामलिंगामृत, राघवोल्लास, रामरहस्य आदि उत्तरकालीन महाकाव्य है जो अत्यंत ही सामान्य कोटि के कहे जा सकते हैं। 'भट्टिकाव्य' में वाल्मीकीय कथा के साथ व्याकरण के नियमों का भी निरूपण है।

'रघुवंश' महाकवि कालिदास की रचना है। इसमें महाराज दिलीप से लेकर अग्निवर्ष तक २९ राजाओं का विवरण मिलता है। १० वें से १५ वें सर्ग तक दशरथ के पुत्रेष्टियज्ञ से राम के स्वर्गारोहण तक का विवरण मिलता है। राम के अतिरिक्त अन्य राजाओं का भी विवरण है फिर भी राम ही इसके नायक हैं। यद्यपि वाल्मीकीय कथा में कोई विशेष परिवर्तन कालिदास ने नहीं किया है पर एक बड़ा ही मार्मिक परिवर्तन उन्होंने अवश्य किया है। रावण वध के बाद पुष्पक विमान से अयोध्या लौटते समय राम सीता को वनवास काल के विभिन्न स्थलों को दिखाते चलते हैं। अतीत के इस पुनरावलोकन से अनेक सुख-दुःखात्मक अनुभूतियाँ कथा को मार्मिक स्पर्श प्रदान करती हैं। बाद के अनेक कवियों ने इसका अनुकरण किया है।

क्षेमेंद्र के महाकाव्य 'दशावतारचरित' में विष्णु के दस अवतारों का वर्णन करते हुए सातवें सर्ग में रावण-जन्म से राम के स्वर्गारोहण तक की कथा वर्णित है। इसकी विशिष्टता यह है कि कवि ने रामचरित का वर्णन रावण के दृष्टिकोण से किया है।

इन महाकाव्यों में वाल्मीकीय रामकथा को ही थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ स्वीकार किया गया है। इनकी विशिष्टता मुख्यतः अलंकरण, चमत्कार-प्रदर्शन एवं शृंगार वर्णन आदि है।

महाकाव्यों के अतिरिक्त संस्कृत के कवियों ने अन्य प्रकार के काव्यों-श्लेष काव्य, विलोमकाव्य, खंडकाव्य, नीतिकाव्य, चित्रकाव्य, दूतकाव्य एवं अन्य स्फुटकाव्य के माध्यम से रामचरित का वर्णन प्रस्तुत किया है। श्लेष काव्य में राम के साथ अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों के चरित को भी एक

ही काव्य में निबद्ध करने की चेष्टा की गई है। इनमें राघवपाँडवीय (प्रथम) राघवपांडवीय (द्वितीय), राघवनैषधीय, रामचरित, राघवपांडवयादवीयं प्रमुख हैं। धनंजयकृत 'राघवपांडवीय' (प्रथम) में धनंजय कवि ने अयोध्या वैभव से रामराज्य तक रामायणीय और हस्तिनापुर वैभव से युधिष्ठिर राज्य तक महाभारतीय कथा का श्लिष्ट वर्णन किया है। इसी प्रकार माधवभट्ट ने अपने 'राघवपांडवीय' (द्वितीय) में दशरथ-मृगयावर्णन से रामाभिषेक तक की कथा वर्णित की है। यह कथा भी महाभारत से श्लिष्ट है। 'राघवनैषधीय' में राम एवं नल का जीवन-चरित श्लिष्ट है एवं रामचरित में राम एवं बंगाल के राजा रामपाल का श्लिष्ट रूप में जीवन-चरित्र वर्णितहै। 'राघवपांडवयादवीय' में रामायण, महाभारत एवं भागवत की कथा का श्लिष्ट वर्णन किया गया है। संभवतः इस परंपरा का यह कठिनतम प्रयास है।

विलोम काव्यों में अक्षरों को बाईं ओर से पढ़ने पर एक और दाहिनी ओर से पढ़ने पर दूसरा अर्थ निकलता है। ऐसे काव्यों में कवि के शब्द-ज्ञान एवं कौशल की चरम परीक्षा हो जाती है। इनमें रामकृष्ण विलोम काव्य, यादव-राघवीय और राघव-यादवीय प्रमुख ग्रंथ हैं जिनमें राम एवं कृष्ण का चरित विलोम क्रम से वर्णित है।

चित्र काव्यों में अक्षर-विन्यास द्वारा वस्तु का चित्र प्रस्तुत किया जाता है। ऐसे काव्यों में 'रामलीलामृत' एवं 'चित्रबंध रामायण' प्रमुख हैं।

रामचरित के कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों को लेकर खंडकाव्यों की रचना की गई है। अन्नदाचरण ने अपने 'रामाभ्युदय' खंडकाव्य में अयोध्यावर्णन से राम विवाह तक की कथा ग्रहण की है। चक्र कवि ने 'जानकी परिणय' में अयोध्या वर्णन से परशुराम पराजय तक की कथा वर्णित की है। इसी प्रकार युवराज कवि के 'श्रीरामचरित' में परशुराम पराजय तक की कथा, हरिकृष्ण भट्ट के 'सीता स्वयंवर' में राम-सौंदर्य वर्णन एवं राम-विवाह तक की कथा एवं रामपाणिवाद के 'उत्तररामचरित' में रामाभिषेक से रामराज्य तक की कथा वर्णित है।

मेघदूत की परंपरा में अनेक दूतकाव्य या संदेशकाव्य विकसित हुए। इनमें हंसदूत, भ्रमरदूत, कपिदूत, वातदूत, कोकिल संदेश एवं चंद्रदूत आदि काव्यों के द्वारा रामकथा के कुछ प्रसंगों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

इनके अतिरिक्त उत्तररामचरित चंपू, चित्रचंपू आदि चंपूकाव्य,

रघुनाथाभ्युदय, पृथ्वीराजविजय आदि ऐतिहासिक काव्य, गीतराघव जानकी गीता, संगीतरघुनंदन आदि गीत गोविंद की पद्धति वाले काव्य तथा राघवविलास, रामशतक आदि अन्य स्फुट रामकाव्यों में कोई मौलिकता नहीं है। इनमें रामचरित को विशिष्टता प्रदान करने की क्षमता नहीं है। इन ललित काव्यों से यह बात स्पष्ट ज्ञात होती है कि रामकाव्य की उदारता अब अलंकरण, चमत्कार-प्रदर्शन एवं बुद्धि-विलास में सीमित हो गई है। जैसे कोई विशालनद उप-धाराओं में विभाजित हो जाए उसी प्रकार रामचरित रूपी नद अनेक धाराओं में विभाजित होकर अपनी विशालता खो चुका है। ऐसा संभवतः युग की प्रतिभा के बिखराव के कारण संभव हुआ है।

हिंदी रामकाव्य :

अब तक तुलसी-पूर्व के संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश रामकाव्यों का विवेचन किया गया है। आगे हिंदी में रचित रामकाव्य का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

तुलसी-पूर्व का रामकाव्य बहुत विस्तृत नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे पहले रचनाकार चंदवरदाई हैं। पृथ्वीराज रासो के 'अथदशम्' में दशावतार वर्णन है जिसमें ५६ छंदों में रामचरित का विवरण है।

चंद के उपरांत स्वामी रामानंद के साहित्य में राम का विवरण सुलभ है। रामानंद के पूर्व त्रिलोचन एवं नामदेव हो चुके थे जिनके पदों में राम के ब्रह्मत्व का निरूपण है। रामानंद यद्यपि सगुणोपासक थे किंतु इनके बारह शिष्यों में कबीर, धन्ना, पीपा, सेन एवं रैदास निर्गुण रामोपासक थे। तुलसीदास के पूर्व १५ वीं शताब्दी में स्वामी विष्णुदास ने वाल्मीकीय रामायण का हिंदी रूपांतर प्रस्तुत किया था। यह 'भाषा वाल्मीकीय रामायण' दोहा-चौपाई छंदों में है। सिकंदरशाह के समकालीन ईश्वर कवि ने अंगजपैज, रामजन्म एवं भरत मिलाप में रामचरित का वर्णन किया था। तुलसी-पूर्व रामकाव्य के श्रेष्ठ रचनाकर महात्मा सूरदास थे। इन्होंने भागवतभावित रामचरित का गुणगान किया था—'सुक जैसे नृप को समुझायो, सूरदास त्यों ही कहि गायो'। रामजन्म से लेकर राज्याभिषेक तक की कथा सूर ने भागवत के अनुसार रची है। भागवत की कथा इतिवृत्तात्मक है परंतु सूर की रचना गेय पदों में मार्मिक स्थलों से संबंधित है। सूरसागर के अतिरिक्त सूरसारावली में भी रामचरित का वर्णन है। सूर तुलसी से बड़े

थे, समकालीन भी थे अतः उन्होंने एक दूसरे को प्रभावित किया होगा। सूर अभेदोपासक थे। अब तक विकसित उपासना-पद्धतियों का सार सूर ने संग्रह किया था। तुलसी के रामकाव्य एवं कृष्णकाव्य में जो अनुपात है और राम एवं कृष्ण को जिस क्रम से उसमें महत्व दिया गया है, सूर के कृष्ण और रामकाव्य में भी आकार का वही अनुपात और महत्व का वही क्रम है।

तुलसी के पूर्व से ही रामकाव्य की एक अन्य परंपरा चली आ रही थी जिसे रसिक परंपरा कहा जाता था। राम की मधुर लीलाओं का ध्यान इन कवियों का साध्य था। इन रसिक साधकों के अनुसार यह परंपरा अत्यंत प्राचीन थी और वाल्मीकीय रामायण में कतिपय स्थलों पर इसके संकेत मिलते हैं। विद्वानों की राय है कि मधुर उपासना कृष्णभक्ति के प्रभाव से रामचरित में प्रविष्ट हुई। हिंदी में सर्वप्रथम अग्रदास ने रसिक शैली में रामकाव्य लिखा है। इन्होंने 'महारासरसोल्लासी विलासी सर्व देहिनाम्' राम का चरित अपने ग्रंथों—रामध्यान मंजरी, कुंडलिया, रामज्योनार एवं पदावली—में प्रस्तुत किया है।

इन रसिकों के अतिरिक्त जैन साधु ब्रह्म जिनदास गुणकीर्ति, विनयसमुद्र आदि ने जैन-परंपरा में ग्रहीत रामचरित के अनुसार रामकाव्य की रचना की। हिंदी रामकाव्य पर आगे चलकर इनका कोई प्रभाव लक्षित नहीं होता।

रामकाव्य-परंपरा में तुलसी का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। उनके पूर्व विशाल रामकाव्य की रचना हो चुकी थी। रामकाव्य की तुलसी-पूर्व तीन परंपराएँ थीं—ब्राह्मण रामकाव्य परंपरा, बौद्ध रामकाव्य परंपरा एवं जैन रामकाव्य परंपरा। बौद्ध रामकाव्य का तुलसी पर कोई प्रभाव नहीं है। बौद्ध रामकथा के अनुसार राम ने अपनी बहन सीता से विवाह किया था। स्मार्त तुलसी के लिए ऐसी कल्पना भी अग्राह्य होती। जैनरामचरित का थोड़ा प्रभाव तुलसी पर माना जा सकता है। कैकेयी का पश्चाताप, राम की सेना से लव-कुश का युद्ध, हनुमान और विभीषण की लंका में भेंट आदि प्रसंग विमलसूरि और फिर स्वयंभू की रामकथा की विशिष्टताएँ हैं। तुलसी ने संभवतः वहीं से यह ग्रहण किया होगा। इसी प्रकार स्वयंभू के शिल्प का प्रभाव भी विद्वान् रामचरितमानस पर मानते हैं। जैन रामकथा

पर जैन-दर्शन का रंग गाढ़ा है। उसके अनुसार राम, दशरथ, सीता और भरत आदि जैन धर्म में दीक्षित होते हैं। जैन रामकथा में हनूमान, राम एवं लक्ष्मण के पीछे नारियों का तीव्र आकर्षण अभिव्यक्त है। उनकी अनेक पत्नियाँ हैं। रसिकों को शायद यह प्रभावित कर सका हो, तुलसी के लिए तो ये बातें अकल्पनीय थीं। इस प्रकार तुलसी के लिए केवल आर्ष रामकाव्य की परंपरा ही शेष थी जिससे उन्होंने प्रेरणा एवं प्रभाव ग्रहण किया।

यह आर्ष रामकाव्य भी विशाल था। इसमें एक ओर तो उदात्त रामचरित वर्णित था, दूसरी ओर बुद्धि व्यायाम से ग्रस्त रामचरित। इसमें विभिन्न दार्शनिक एवं सांप्रदायिक मतवादों के अनुरूप रामचरित के ढाँचे को परिवर्तित-परिवर्द्धित किया गया था। काल-क्रम से विकसित होती रामकाव्य-परंपरा में अनेक व्यक्तियों, युगों, मत-मतांतरों एवं अभ्यासियों का अमृत और विष संचित था। तुलसी को यह संपूर्ण काव्य दाय के रूप में प्राप्त हुआ था। अब यह तुलसी पर निर्भर था कि वे इसमें से क्या और कितना ग्रहण करते हैं। तुलसी ने विशाल दृष्टि का परिचय देते हुए संपूर्ण परंपरा का लाभ उठाया। आवश्यकतानुसार उन्होंने परंपरा को चरितार्थ, सार्थक, आत्मसात, परिष्कृत एवं तिरस्कृत किया। इस व्यापक एवं अनेक स्थानों पर विरोधी रामकाव्य में समन्वय स्थापित करने के अतिरिक्त उनके लिए कोई अन्य विकल्प नहीं था। उन्होंने इस चुनौती को स्वीकारा तथा कथा, सिद्धांत, विचारधारा, शिल्प एवं साधना की दृष्टि से एक उच्चकोटि की समन्वयवादी कृति प्रस्तुत की। उनके इस समन्वय में उनके अध्ययन, विवेक विश्वास एवं युगीन परिस्थितियों की पहचान का ज्ञान अभिव्यक्त है। शायद इस समन्वय का मार्ग रामानंद ने ही संकेतित कर दिया था, शायद युगीन परिस्थितियों की माँग यही थी, शायद तुलसीदास की नियति यही थी। अतः द्वैत-अद्वैत, शैव-शाक्त-वैष्णव, ब्राह्मण-शूद्र, व्यक्ति-समाज, सगुण-निर्गुण, कर्म-ज्ञान-भक्ति, भाग्य-पुरुषार्थ, व्यक्ति-परिवार, प्रवृत्ति-निवृत्ति, राजा-प्रजा तथा वेद और व्यवहार आदि के समन्वय द्वारा उन्होंने संस्कृति-संगम को चरितार्थ किया। इस समन्वयवादी दृष्टि का ही परिणाम है कि पं० विजयानंद त्रिपाठी उन्हें अद्वैतवादी, पं० कांतिशरण विशिष्टाद्वैतवादी और रसिकलोग तुलसी-सखी मानते हैं। तुलसी ने यह आश्चर्य समन्वय के द्वारा ही संभव किया।

नानापुराण निगमागम के अतिरिक्त क्वचिदन्यतोऽपि के लिए तुलसी को विशाल अध्ययन करना पड़ा होगा। उनके काव्य में जो अनेकानेक दर्शन, संप्रदाय, आदि के सिद्धांत एवं विचार मिलते हैं उनके लिए भी तुलसी अनेकानेक ग्रंथों के ऋणी होंगे। विचार एवं कथा आदि की दृष्टि से संभवतः तुलसीदास सब से अधिक अध्यात्म रामायण से प्रभावित हैं किंतु अन्य कृतियों का भी उनपर अल्पाधिक प्रभाव है। रामचरितमानस में शिव के मानस में रामायण की रचना और पार्वती को सुनाना महारामायण की तरह, शीलनिधि राजा के यहाँ स्वयंवर की बात रामायण चम्पू की तरह, नारद-मोह वर्णन शिवपुराण की तरह, पुत्रेष्टियज्ञ, विष्णु अवतार के लिए देव प्रार्थना, रामजन्म, माता को विराट रूप दिखाना, विश्वामित्र का आगमन आदि अध्यात्म रामायण की तरह, अहिल्योद्धार रघुवंश, आनंद रामायण एवं स्कंदपुराण की तरह, रामविवाह 'जानकीहरण' की तरह, परशुराम-प्रसंग महावीरचरित एवं बालरामायण की तरह, कैकेयी दोषादि आनंद रामायण की तरह, केवट राम-चरण प्रक्षालन-प्रसंग सूरसागर की तरह, जयंत-कथा देवरामायण की तरह, अंगद-विलाप दुरंत रामायण की तरह तथा काक-भुशुंडी की कथा भुशुंडी रामायण की तरह वर्णित है। शिवमहापुराण, पद्मपुराण रामलिंगामृत, सौरपुराण आदि का शैवविचारधारा, देवी भागवत आदि की शाक्त विचारधारा तथा गर्गसंहिता, श्रीहरिभक्ति रसामृतसिंधु आदि की कृष्णलीलात्मक विचारधारा का प्रभाव भी तुलसी के रामचरित में प्राप्त है।

इस प्रकार महाकवि तुलसीदास ने युग के परिप्रेक्ष्य में अपने विवेक और अध्ययन की कसौटी पर कसकर रामकाव्य-परंपरा से कथा, विचार एवं शिल्प की दृष्टि से वांछनीय को ग्रहण और अवांछनीय का त्याग किया है।

डा० गणेश खरे

युग-बोधों के परिप्रेक्ष्य में तुलसी का काव्य

राष्ट्रीय-संचेतना और मानवीय जीवन के चित्रांकन में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण आधुनिक-युग की जहाँ प्रमुख विशेषता है, वहाँ जन-गण-मन में बढ़ता हुआ आक्रोश, घुटन और असंतोष आज के जीवन की सबसे जटिल समस्यायें हैं। इन समस्याओं की मूल जड़ है—बिखरता हुआ आज का पारिवारिक संबंध, टूटती हुई सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक मान्यतायें, बढ़ते हुए औद्योगिक-यांत्रिक जीवन की नीरसता, शिक्षित बेकारी, आबादी की घनता, चारित्रिक-पतन, दायित्वहीनता, शोषण, प्रवंचना और सब कुछ बटोर कर अपने पास केंद्रीभूत करने की भौतिक स्पृहा। इच्छा, ज्ञान और क्रिया के बीच बढ़ती हुई इन दूरियों के कारण आज का हमारा जीवन एक राष्ट्रीय भावात्मक तथा सांस्कृतिक-एकता में बँधा हुआ भी भीतर से जर्जरित होकर बिडंबनापूर्ण बन गया है।

प्रश्न है कि क्या महाकवि तुलसीदास के कृतित्त्व में इन प्रमुख युग-बोधों का चित्रण उपलब्ध होता है या नहीं और युगीन जीवन की इन समस्याओं के समाधान में हमें वे क्या-कुछ दे गये हैं ?

सबसे पहले हम राष्ट्रीय-संचेतना का प्रश्न ही उठा रहे हैं। इस प्रसंग में एक अन्य प्रश्न उठता है कि क्या हम उन्हें राष्ट्र-कवि की संज्ञा से विभूषित कर सकते हैं ? यदि इसका उत्तर भावात्मक है तो फिर उनके राष्ट्र-प्रेम का स्वरूप क्या है ? वह गुप्त जी, एक भारतीय आत्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन',

रामधारी सिंह 'दिनकर' आदि आधुनिक-युग के राष्ट्रीय-कवियों की काव्य-धारा से किस प्रकार भिन्न है ? एक प्रश्न और उठ सकता है कि राष्ट्र-कवि-संबंधी हमारी जो मान्यतायें हैं क्या वे संकीर्ण और सामयिक तो नहीं हैं ? फिर क्या आज के राष्ट्रीय-काव्य के निकष पर तुलसी के काव्य की समीक्षा करना समीचीन होगा ? या उनके लिए हमें किन्हीं नये प्रतिमानों का अन्वेषण करना होगा ?

राष्ट्र की संरचना के मूल में भूमि, जन और संस्कृति ये तीन प्रमुख संघटन माने गये हैं। भूमि के अंतर्गत मातृभूमि तथा उसकी नदियों, निर्झरों, सरोवरों, वनस्पतियों, लता-गुल्म, पशु-पक्षियों आदि के प्रति साहचर्यजन्य रति और कृतज्ञता का ज्ञापन किया जाता है। जन के अंतर्गत नाना-प्रकार के मनुष्यों, जातियों आदि के विकास में सहयोग एवं स्वतंत्रता, समानता तथा बंधुत्व की भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति को प्राथमिकता दी जाती है। वैयक्तिक-शक्ति, शील और सौंदर्य का प्रकाशन भी इस संदर्भ में आवश्यक होता है। लोकधर्मी नेता ही अपनी भूमि को विदेशी सत्ताओं से मुक्त कर एवं अत्याचारियों का दमन करके अपनी जन-प्रियता और राष्ट्रीय भक्ति का सबसे अच्छा उदाहरण प्रस्तुत कर सकता है। इस प्रसंग में कवि को सामयिक-युग-गतिविधियों एवं मानवीय जनजीवन की गहरी अभिज्ञता होनी चाहिए। संस्कृति मानवीय-श्रम और विवेक द्वारा अर्जित पुष्प-पराग है, वह हमारे सभ्य-जीवन का संस्कार है, उसमें पंच-सकारों की प्रकल्पना की गई है जो इस प्रकार हैं—समन्वयशीलता, सनातनता, सतत-प्रवाहमयता, सात्त्विकता और सर्वांगीणता। ये पंच-सकार मानवीय जीवन की चिरंतनता, अक्षयता, उसकी सुख-समृद्धि तथा आत्मिक उन्नति के चरम सोपान हैं। कवि इन सांस्कृतिक तत्त्वों का अनुगमन कर जन-जीवन को संघर्षों में नया बल, नयी आस्था, सत्यनिष्ठा, अडिगता, अभयता और समरसता की प्रेरणायें प्रदान करता है। अतीत-गरिमा, वर्तमान-जीवन की विषमता से उत्पन्न क्षोभ और भविष्य के लिए शुभ कामनाओं का प्रकाशन भी इसी श्रेणी के अंतर्गत परिगणित किया जायगा। यदि किसी कवि के काव्य में ये तत्त्व प्राप्त हों तो उसे हम राष्ट्र-कवि की संज्ञा से विभूषित कर सकते हैं। आधुनिक राष्ट्रीय-काव्य-धारा के कवियों ने न्यूनाधिक रूप से इन्हीं तत्वों का प्रकाशन किया है किंतु इस राष्ट्रीय-काव्य-धारा की पृष्ठभूमि में देशव्यापी स्तर पर चलने वाले स्वातंत्र्य आंदोलनों को विस्मृत नहीं किया जा सकता। हमारे अधिकांश कवि बलिपंथी अनुगायक ही नहीं, उन कड़ी यातनाओं के

भोगकर्ता भी रहे हैं जो अंग्रेजों द्वारा भारतीयों को मुक्ति-यज्ञ के प्रसाद-स्वरूप प्राप्त हो रहीं थीं। अतः उनमें एक ओर आक्रोश की तीव्रता, प्रतिहिंसा की ज्वाला, विदेशी-सत्ता के प्रति घृणा और स्वतंत्रता-यज्ञ में बलि होने की उन्मत्त भावनाओं और प्रेरणाओं का उद्वेग है तो दूसरी ओर राम, कृष्ण, बुद्ध, गांधी, प्रताप जैसे सांस्कृतिक, राष्ट्रीय और स्वतंत्रता-संग्रामी महापुरुषों का स्मरण-स्तवन है। महाकवि तुलसी के समय भारत मुसलमानों की दासता में जकड़ा था और यहाँ की संस्कृति के दमन का आंदोलन अपनी चरम सीमा पर था; हिन्दू-जाति संत्रस्त थी, मंदिर और मूर्तियाँ प्रभंजित कर उसकी आस्थाओं पर प्रहार हो रहे थे, धर्म एवं उपासना का उपहास कर उसके प्रति उपेक्षा, घृणा, अनादर आदि की दुर्भावनायें भी व्यक्त की जा रही थीं, मुसलमानों का यह अतिचार अंग्रेजों के दुराचार से किसी भाँति कम नहीं था, अंतर केवल नाम में है, रावणीय प्रवृत्तियों में नहीं।

राम-कथा में रावण द्वारा सीता-हरण की घटना आर्य संस्कृति के अपहरण और दमन का ही एक राजनीतिक-प्रयास कहा जा सकता है। राम के द्वारा सीता की मुक्ति का महाप्रयास असत् के ऊपर सत् की विजय के साथ-साथ भारतीय संस्कृति की रक्षा और उसके अभ्युत्थान का भी महान राष्ट्रीय-कार्य है। अगर सीता जैसी सती साध्वी नारी की रावण के चंगुल से मुक्ति न हो पाती तो यह एक घटना आर्यों के मस्तक का चिरंतन कलंक बन जाती और सदा-सदा के लिए उनका गर्वोन्नत माथा आसुरी शक्तियों के समक्ष नत हो जाता। वाल्मीकि रामायण का रावण, मानस की मुगल-शक्ति और आधुनिक-युग में अंग्रेजी-शासकों की निरंकुश-प्रभुता—इतिहास के बदलते हुए संदर्भ मात्र हैं, पर तत्वतः उनमें एक ही ऐतिहासिक चेतना की अनाहद-धारा प्रवहमान है। अंतर मात्रात्मक है, गुणात्मक नहीं।

आधुनिक-युग की राष्ट्रीयता भौगोलिक-मुक्ति की ओर अधिक झुकी हुई है, जबकि तुलसी की सांस्कृतिक अभ्युत्थान की ओर। राष्ट्र की विरोधी-शक्तियों और प्रवृत्तियों को नष्ट करके राम भी सुशासन की नींव डालते हैं और आधुनिक कवि भी इसी दिशा में प्रयत्नशील हैं। राम की भाँति आधुनिक-कवि भी अपनी भुजा उठाकर निशाचरों को मही से नष्ट करने का न केवल संकल्प करते हैं वरन् अथक संघर्ष कर विजय भी प्राप्त करते हैं। इस तरह मानस और आधुनिक-काव्य की राष्ट्रीयता बहुत दूर तक समानांतरगामी है। पर एक

ही कसौटी पर इन दोनों को परखा नहीं जा सकता। आधुनिक राष्ट्रीय-काव्य का विकास देश-रति से सांस्कृतिक एकता की ओर उन्मुख है जबकि मानस में स्वयं भारतीय सांस्कृतिक-एकता देश-प्रेम की ओर अग्रसित हुई है। आधुनिक-काव्य में उपनिवेषवादिता का विमोचन कर स्वायत्त-शासन की स्थापना का प्रयास है, मानस के राम भी किष्किधा और लंका क्रमशः सुग्रीव तथा विभीषण को सौंपकर यही कार्य करते हैं। किंतु उनका यह कार्य वन्य तथा आसुरी शक्तियों के साथ आर्यों के सांस्कृतिक संबंधों की एकता-स्थापन की दिशा में किया गया एक महत्वपूर्ण सोपान है जो आधुनिक राष्ट्रीय-काव्य के लक्ष्य से कहीं अधिक व्यापक, उदात्त और महत् है। वे जननी और जन्मभूमि को स्वर्ग से भी बढ़कर मानते हैं जो उनकी देशभक्ति की पराकाष्ठा है। वस्तुतः तुलसी के राम अपने आप में एक संस्कृति-पुरुष हैं, वे उसके अनुकर्त्ता नहीं, सृजेता हैं। हमारी संस्कृति की रूपरेखा उनके आचार-विचारों, कार्यों और आदर्शों के आधार पर ही निर्मित हुई है अतएव उनकी राष्ट्रीयता एकदेशीय या किन्हीं भौगोलिक इकाइयों में सीमित न होकर अखिल मानव-प्रेम के रूप में विकसित हुई है। इसी अर्थ में मानस भारतीय साहित्य की एक अतुलनीय कृति है और तुलसीदास जी अंतरराष्ट्रीय कवियों की श्रेणी में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनके कृतित्व की तुलना में राष्ट्र-कवि की अभिधा अत्यंत छोटी पड़ जाती है। आज राष्ट्रीय-काव्य की परीक्षा के लिए हमारे पास जो साँचे हैं, वे मानस के परीक्षण में अशक्त हैं। वह एक ऐसा राष्ट्रीय-महाकाव्य है जिसकी कीर्ति विश्वविश्रुत है। वह काल-निरपेक्ष, शाश्वत मानव-भावनाओं एवं राष्ट्रीय मानक मूल्यों का काव्य है; वह भारतीय-चेतना की संकल्पनात्मक अनुभूति है, उसकी अंतश्चेतना के विकास का सुंदर इतिहास है; भूमि, जन और संस्कृति के प्रेम की पुनीत त्रिवेणी है।

इसी प्रसंग में हम एक प्रश्न और कर सकते हैं कि एक अच्छे राष्ट्र-कवि से हम क्या-क्या और किस सीमा तक अपेक्षायें रखते हैं और महाकवि तुलसीदास जी के काव्य ने हमें इस क्षेत्र में क्या नहीं दिया है? केवल वस्तु-विन्यास और चरित्र-चित्रण तक ही यदि हम अपनी दृष्टि सीमित रखें तो भी सीता तथा राम के सौंदर्य-चित्रण, शील और शक्ति के निरूपण में मानस की समता हिंदी का कोई अन्य ग्रंथ नहीं कर सकता। हमारे यहाँ कवि परभू, स्वयंभू, क्रांतदर्शी, मनीषी, लोकधर्मी, आचार्य, ऋषि आदि संज्ञाओं

से विभूषित किया गया है। तुलसीदास जी के व्यक्तित्व और कृतित्व में इन सभी विशेषताओं का अद्‌भुत समन्वय देखने को मिलता है। उनका काव्य सामान्य व्यक्तियों के लिए भी अतीव सहज है और विज्ञानियों के लिए भी दुर्बोध। मानस में जो व्यक्ति जिस दृष्टिकोण से अवगाहन करता है, वह वहाँ से अपनी अभिलषित वस्तु प्रभूत-मात्रा में प्राप्त कर लेता है। अभिमतफल देनेवाली कामधेनु और कल्पतरु की क्षमता मानस में पूरी-पूरी मात्रा में विद्यमान है। इसमें रामराज्य की आदर्श प्रतिष्ठापना भी है, गहन, गूढ़ दार्शनिक, नैतिक, धार्मिक और उपासनामूलक तत्वों की नानापुराण निगमागम सम्मत विवेचना भी और इनके बीच बढ़ते हुए विरोधों का सामंजस्य भी। जिस राम-कथा को चुनकर तुलसीदास जी ने मानस में प्रस्तुत किया है, वह स्वयं आर्य, जैन, बौद्ध तथा इतर विदेशी संस्कृतियों के प्रभावों का संश्लिष्ट रूप है। वह असंख्य रूप में भारत तथा भारतेतर देशों में विद्यमान है। गोस्वामी जी की महत्ता देश-काल की आवश्यकताओं के अनुरूप उसका संचयन तथा उसमें अपनी लोक-चेतना के अनुरूप संशोधन करना है। ये दोनों ही कार्य आपकी क्रांतदर्शी-प्रतिभा और समन्वयात्मक-शक्ति के प्रतीक हैं।

मानस का रचनाकालीन-युग अनेक विरोधाभासों से भरा हुआ था। अनेक मत-मतांतर, विभिन्न दार्शनिक विचारधारायें, संप्रदाय, भक्ति-पद्धतियाँ, निर्गुण-सगुण ब्रह्म विषय मत-भेद, लौकिक कथाओं के आध्यात्मीकरण के सूफी प्रयत्न—ये सब उस युग की अस्थिर मनस्थिति के ही द्योतक हैं। ऐसे समय एक ऐसे आलंबन की आवश्यकता थी जो विविधताओं के बीच भावात्मक और सांस्कृतिक एकता का काम कर सके। क्रांतिकारी एवं विद्रोही कवि कबीर समाज-दर्शन को छोड़ राम की बहुरिया बनकर आत्मनिष्ठ साधक बन गये। सूरदास जी ने कृष्ण की जिन लीलाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया, वे समाज को धैर्य नहीं बंधा सकीं; सूफी कवियों की प्रणय-संघर्ष की लौकिक-अलौकिक गाथायें भी समाज के लिए बेकार सिद्ध हुईं, ऐसे ही चिंत्य समय में तुलसीदास जी ने अपने मानस द्वारा मर्यादा पुरुषोत्तम का सत्य, शिव और सौंदर्यपूर्ण चरित्र प्रस्तुत करके लोक-जीवन को एक अद्‌भुत पराक्रमशील, सुदृढ़ आलंबन प्रदान किया। राम का चरित्र बोध-वृक्ष की एक ऐसी छाया है जिसकी शरण में जाने से सभी अस्थिर स्थिर हो गये, संशय मिट गये और अनास्थायें नष्ट हो गईं।

मानस में पात्रों और चरित्रों का एक विराट् संसार है। दासानुदास से लेकर परमब्रह्म तक सभी प्रकार, श्रेणियों और मनःस्थितियों वाले पात्रों को तुलसीदास जी ने अपनी कृति में स्थान दिया है। उनके पात्रों में आस्थाशील भी हैं और अनास्थाशील भी, मानव भी हैं और देवता भी, राजा भी और रंक भी, ब्राह्मण भी और शूद्र भी, आर्य और अनार्य भी, गृहस्थ और वानप्रस्थ भी, नागरिक और वन्य जनजातियाँ भी, मोहासक्त और विदेह भी, भोगी और तपस्वी भी, योगी और वियोगी भी। फिर उन्होंने पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन में मनुष्य-मनुष्य के बीच जितने संबंध हो सकते हैं, उन सभी का विस्तार और अभिज्ञतापूर्वक चित्रण किया है। जीवन का इतना समाज सापेक्ष और उसके विश्व-व्यापी परिवेश का चित्रण अन्यत्र नहीं मिलता। विचित्रता तो यह है कि हर श्रेणी के पात्रों का, सामाजिक और भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि से, आदर्श एवं मानक रूप भी हमें तुलसीदासजी के मानस में उपलब्ध हो जाता है। यही कारण है इसमें राजा-रंक व्यापी संपूर्ण समाज अपना अभीप्सित सरलता के साथ प्राप्त कर लेता है।

आज मानस को रेशमी कपड़े में लपेटकर एवं नित्य उसकी पूजा करते रहने से हमारा उसके प्रति दायित्व पूर्ण नहीं हो जाता। मूल वस्तु है— मानस को जीना या मानस के पात्रों की जिस श्रेणी में हम आते हैं, उसके अनुरूप आचरण करना; इच्छा, ज्ञान और क्रिया—इन तीनों ही दृष्टियों से अपने को एक करना। इसी दृष्टि से मानस हमारे जीवन का सच्चा कर्मकोष है, मार्ग-निर्देशक ग्रंथ है। यह समझना भूल होगी कि अब रामायण का कार्य-काल समाप्त हो गया है अतएव आज के जीवन में उसकी हमें कोई आवश्यकता नहीं है। अगर सम्यक् ढंग से विचार किया जाय तो मानस की सारी कथा आधुनिक-जीवन के मनोवैज्ञानिक-परिवेश की ही कथा है। उसके सारे पात्र आज भी जीवित हैं। हमारी आत्मा ही राम है। आत्मा स्वयं-स्फूर्त और निष्ठाशील होती है, वह विगत-विकार और अक्षय है। राम के चरित्र की जो विशेषतायें तुलसीदास जी ने मानस में प्रस्तुत की हैं वे वस्तुतः आत्मा की हैं :

> प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
> मुखाम्बुजश्री रघुनंदनस्य मे सदास्तु सा मंजुलमंगलप्रदा।[1]

---

१. मानस २।२ श्लोक

या 'राजिव लोचन राम चले तज बाप को राज बटाउ की नाई' में राम का स्थितप्रज्ञ रूप ही प्रस्तुत हुआ है। उनका सारा चरित्र 'आत्मन्वेवात्मना तुष्टः (गीता–२।५५) अर्थात् आत्मा से ही आत्मा में संतुष्ट हुआ' से किसी प्रकार पृथक् नहीं है।

अपनी बुद्धि को हम सीता का प्रतिरूप कह सकते हैं। मानस के आरंभ में सीता के चरित्र की विशेषतायें प्रदर्शित करते हुए तुलसीदास जी ने लिखा है :

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥[1]

अर्थात सीता उत्पत्ति, पालन और संहार करने, क्लेशों को हरने और संपूर्ण कल्याणों को करने में सक्षम हैं। ये सारे कार्य बुद्धि से ही संभव होते हैं।

दस सिरों वाला रावण हमारी दसों इंद्रियों का प्रतीक है। सोने की लंका अर्थात् काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह की नगरी में वह रहता है। इंद्रियों की तृप्ति संभव नहीं अतएव रावण अपने पास सब कुछ होते हुए भी बुद्धि रूपी सीता का अपहरण करता है किंतु सर्वश्रेयस्करी बुद्धि के अपहरण से कोई सुखी नहीं रह सकता। ऐसा व्यक्ति अपने ही दुष्कर्मों से अपना विनाश करता है। सीता के वियोग में राम का शोकाकुल होना एक रूपात्मक संदेश लिए हुए है। आत्मा स्थिर बुद्धि से युक्त होकर ही अखंडित और सक्रिय रह सकती है। अगर आत्मा से बुद्धि तत्व को पृथक कर दिया जाये तो उसे जगह-जगह भटकना ही पड़ेगा। आत्मा का बुद्धि से पुनर्मिलन सहयोग और सत्संग से ही संभव है। राम-सुग्रीव-मैत्री इसी तथ्य की व्याख्या करती है। हनुमान भक्ति के प्रतीक हैं। भक्ति निष्क्रियता का नाम नहीं, उसका चरम रूप सक्रियता और लोक-धर्म के कार्यों में ही निखरता है। निष्ठापूर्ण श्रद्धा-भक्ति में अतुलित सामर्थ्य है। हनुमान का सारा चरित्र इसी तथ्य की व्याख्या करता है। अंगद शिव-संकल्प के प्रतीक हैं। संकल्प के समक्ष सारी वासनायें, विकार और इंद्रियाँ पराजित हो जाती हैं। रावण-दरबार में अंगद के पैर को न डिगा सकने के इतिवृत में यही रहस्य है, और यदि संकल्प डिग गया तो आत्मा, बुद्धि, संयम आदि सभी की हार हो जाती है। पैर डिगा देने की स्थिति में अंगद के द्वारा सीता को हार जाने तथा राम के वापस लौट जाने की घोषणा में यही बात निहित है।

---

१. मानस १।५ श्लोक

कुंभकर्ण को आलस्य और मेघनाद को मन का प्रतीक माना गया है जो उचित ही है। क्योंकि इंद्रियों का अनुज आलस्य ही हो सकता है, वह भी सामान्य आलस्य नहीं, ६ माहों तक सोने वाला असामान्य आलस्य और इंद्रियों का पुत्र है मन। आलस्य का विनाश आत्मबल से ही संभव है और मन को मारने का काम संयम ही कर सकता है। इसीलिए कुंभकर्ण को राम मारते हैं और मेघनाद को लक्ष्मण जो संयम के प्रतीक है। उनका यह संयम भी असाधारण प्रकृति का है।

मारीच तो स्पष्ट रूप से मृगमरीचिका का प्रतीक है जो कर्मेंद्रियों और ज्ञानेंद्रियों द्वारा डराया, धमकाया और बहकाया जाता है। रावण के द्वारा सीता-हरण भी तभी संभव होता है जब सीता (अर्थात् बुद्धि) लक्ष्मण (अर्थात् संयम) की रेखा लाँघकर बाहर आती हैं। संयम का उल्लंघन करने से ही बुद्धि इंद्रियों के अधिकार-क्षेत्र में आ जाती है। इसी प्रकार राम-रावण-युद्ध में रावण के कटे हुए सिरों के फिर-फिर प्रगट हो जाने की घटना में भी मनोवैज्ञानिक रूपात्मकता खोजी जा सकती है। सभी मनोवैज्ञानिकों ने यह स्वीकार किया है कि यदि इंद्रियों का शक्ति के साथ दमन किया जाय तो वे प्रतिरोधवश और अधिक तेजी से उभरती हैं, अपने रूप-रंग बदलकर हमारे समक्ष उपस्थित होती हैं। किंतु जब इनके मूल कारणों की शोध कर उन पर आघात किया जाता है तो फिर उनका विनाश हो जाता है। यही स्थिति रावण की मृत्यु के साथ भी घटित हुई है।

मानस की कथा में इस मनोवैज्ञानिक रूपात्मकता के साथ-साथ युगीन जीवन के असंतोष के मूल कारणों को भी सरलता के साथ देखा जा सकता है। हम कह चुके हैं कि असंतोष और आक्रोश के मूल में किसी न किसी रूप में मोह-भावना ही विद्यमान है--कहीं यह रूपासक्ति के रूप में प्रगट होती है तो कहीं पुत्र राज्यलिप्सा के रूप में; कहीं पुत्र प्रेम में तो कहीं स्वर्ण-लोभ में और कहीं अहंता और मद के रूप में। किंतु इन सभी मोहों का अंतिम परिणाम आत्मघाती, कष्टकारक और अंततोगत्वा पूर्ण विनाशकारी ही सिद्ध होता है। सुंदरी के प्रति कामासक्त होकर निरासक्त नारद के विवाह हेतु प्रयत्न, क्रोध से अभिभूत होकर कैकेयी का अपने भरत के लिए राजगद्दी मांगना, पुत्र-मोह में दशरथ का प्राण त्यागना, कंचन-मृग के लोभ में आकर सीता द्वारा राम को उसे मारने हेतु भेजना और अपने को अजेय समझने वाले रावण के

मद-पूर्ण प्रयत्नों से उत्पन्न संघर्षों के प्रसंग उपर्युक्त कथन के साक्ष्य-रूप में देखे जा सकते हैं।

इन रूपकात्मक तथा व्यंजनापूर्ण ढंग से प्रस्तुत युग-जीवनकी प्रमुख समस्याओं और उनके विवेकपूर्ण समाधानों के साथ-साथ कवि ने कलियुग के चित्रण में तो स्पष्ट रूप से आज के जीवन के ज्वलंत प्रश्नों का निरावरण रूप में चित्रण किया है। आपने मानवीय-जीवन के विरोधों, असंतोषों, समस्याओं और शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की युक्तियों पर भी स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला है। रथ-रूपक इस प्रसंग में द्रष्टव्य है। शौर्य और धैर्य के चक्र, सत्य और सदाचार की दृढ़ ध्वजा, बल, विवेक, संयम और परोपकार के चार अश्व, जो क्षमा, दया और समता की डोरियों से बँधे हुए हैं, ईश्वर-भजन रूपी चतुर सारथी, वैराग्य ढाल और संतोष कृपाण, दान रूपी फरसा और बुद्धि की शक्ति तथा श्रेष्ठ विज्ञान का धनुष, निर्मल और अचल मन का तूणीर, शम, यम, नियम आदि वाणों और ब्राह्मणों तथा गुरु के पूजन को अभेद्य कवच बनाकर जो व्यक्ति रण-क्षेत्र में उतरता है, उसे संसार में कोई भी विजित नहीं कर सकता।[1] यह रथ-रूपक हिंदुओं को नयी जीवनी शक्ति ही नहीं, आत्म-रक्षा का ऐसा अभेद्य-कवच भी प्रदान करता है जो केवल भारतीय सांस्कृतिक आस्थाओं का प्रतीक नहीं वरन् हमारी राष्ट्रीय चेतना का भी द्रवीभूत मकरंद है।

समग्रतः हम गोस्वामी तुलसी के काव्य की महत्ता का एक चित्र कामायनी के निम्नांकित छंद में ईषत् परिवर्तन के साथ प्रस्तुत कर सकते हैं :

चेतना का सुंदर इतिहास, अखिल मानव भावों का सत्य,
विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य-अक्षरों से अंकित है (हो) नित्य।

---

१. मानस ६।८०।२-६, दोहा

डा० श्रीराम त्यागी

तुलसी के काव्य में युग-चित्रण

किसी कवि का मूल्यांकन जहाँ अनेक बातों पर निर्भर है वहाँ इस बात पर भी निर्भर है कि उसने अपने युग के समाज का चित्रण किस सीमा तक वास्तविक रूप में किया है। कवि एक सफल चितेरे के साथ-साथ एक चिंतक और युगद्रष्टा भी होता है। वह जहाँ समकालीन समस्याओं का चित्रण करता है वहाँ अपने चिंतन के आधार पर उनका शाश्वत समाधान भी प्रस्तुत करता है।

तुलसी रचित रामचरितमानस को लीजिए। व्यक्ति अथवा समाज का कोई ऐसा अवयव नहीं अथवा मनुष्य का कोई ऐसा व्यवहार नहीं, जिसका सफल चित्रण इसमें प्राप्त न होता हो। साथ ही साथ जन्म से मृत्यु तक का कोई संस्कार नहीं जिसका सफल व मर्मस्पर्शी विवरण रामचरितमानस में प्रस्तुत न किया गया हो। खुजराहों जैसे अतीत के मंदिरों का अलंकरण देखकर जहाँ विदेशी यात्री दाँतों तले अंगुली दबाकर रह जाते हैं और यह देखकर आश्चर्यचकित हो उठते हैं कि किस प्रकार पत्थर जैसी कठोर वस्तु में भी भारत के कारीगरों ने जीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्म व्यवहार को चित्रित किया है, वहाँ रामचरितमानस के पाठक तुलसी की लेखनी पर भी मंत्र-मुग्ध हो उठते हैं और उनके मुँह से अचानक निकल जाता है कि साहित्य में व्यापक व्यवहार का जो चित्रण है वह सब तुलसी का जूठा है।

तुलसीदास ने रामचरितमानस की रचना अपने जीवन के अंतिम छोर पर की। इससे पूर्व वे राम संबंधी अनेक ग्रंथ लिख चुके थे। इन सभी में

राम के भिन्न-भिन्न पहलुओं का इतना विस्तृत वर्णन करने के पश्चात् भी अपनी वृद्धावस्था में तुलसी ने मानस जैसे विशाल ग्रंथ की रचना का जोखिम क्यों उठाया ?

इस प्रश्न के मन में उठते ही तत्कालीन राजनीतिक व सामाजिक अवस्था मस्तिष्क में घूम जाती है। तुलसीदास का जीवनकाल हुमायूँ, शेरशाह व अकबर का शासनकाल है। उस समय भारत पर अफगानों व मुगलों का राज्य था जो यवन थे। यवनों का यह आधिपत्य महमूद गजनवी से प्रायः प्रारंभ हुआ और बलवन, अलाउद्दीन, फिरोज तुगलक, तैमूरलंग, सिकंदर लोदी व बाबर के शासन काल से निकलता अकबर के शासन काल तक पहुँचा। इस युग में मंदिरों का विध्वंस, ग्रामों व नगरों का विनाश, संस्कारों की भ्रष्टता चरम सीमा पर पहुँची। उदाहरण स्वरूप बलबन का इतिहासकार कहता है :

"By royal command (Balban's) many of the rebels were cast under the feet of elephants, and the fierce Turks cut the bodies of the Hindus in two. About a hundred met their death at the hands of the flayers, being skinned from head to foot; their skins were all stuffed with straw, and some of them were hung over every gate of the city. The blood of the rioters ran in streams, heaps of the slain were seen near every village and jungle, and the stench of the dead even spread to the Ganges. Males over eight years were killed women carried into slavery. As a result of this holocaust and slaughter, the districts of Badaun, Amroha, Sambhal and Gannaur enjoyed the peace of death for thirty years :

इसी प्रकार तैमूर अपनी जीवनी में स्वयं कहता है :

'From the time of entering Hundusthan up to the present,' 'Timur records in his autobiography (Malfusat-i-Timuri), 'We had taken more than 100,000 infidels and Hindus prisoners, and they were all now in my camp...... I asked my Amirs' advice, and they said that on the great day of battle these 100,000 prisoners could not be left with the baggage, and that it would be entirely opposed to the rules of war to set them free. In fact no other course remained but to make them all

food for the sword... When this order reached the warriors of Islam, they draw their swords and put their prisoners to death.

तथा उसका इतिहासकार जफरनामा में लिखता है :

It was the divine pleasure to ruin the city and punish its people.........Bold as the striving Hindus were, the officers in charge kept the gates shut and allowed no more troops to enter; but there were some 15,000 men already in, busy all that Friday night in pillaging, and burning the houses and in the morning the soldiers outside broke in and added to the tumult. The whole place was sacked, and several places in Jahanpanah and Siri destroyed.........Towers were built high with the heads of the Hindus and their bodies were left to beasts and birds of prey......Such inhabitants as escaped death were made prisoners.

फिरोज तुगलक अथवा सिकंदर लोदी को छोड़ मानववादी बाबर को ही ले लीजिये—अपनी प्रसिद्ध जीवनी तुज्क-ए-बाबरी में वह स्वयं लिखता है :

On the top of a hill to the northwest of Chanderi, I errected a tower of the heads of Pagans, gave Chanderi to Ahmad Shah, the grandson of Sultan Nasir-ud-din, and fixed a revenue of fifty lacs to be paid from it to the Imperial treasury.

उपर्युक्त राजनीतिक नायकों के इन कृत्यों की तुलना समकालीन राजनीतिक नायकों से कीजिये और देखिये कि क्या ये सब कृत्य उन राजाओं जैसे न थे जिन्हें हम रावण के वंशजों में गिनते हैं ? क्या मारीच व सुबाहु, खर व दूषण, कुंभकरण व रावण के आचरण इन मध्यकालीन राजाओं अथवा सुल्तानों के आचरण से भिन्न थे ? कदापि नहीं। इन दुष्कृत्यों से निबटने के लिये, समाज की उस स्थिति से उबारने के लिए राम का जन्म हुआ। राम ने धनुष-वाण धारण किया। बंसी नहीं बजाई। वे साधनहीनता से घबराये नहीं वरन् उपलब्ध साधनों से ही, चाहे वे कितने ही तुच्छ थे, अपना मोर्चा संभाला और भालुओं व बानरों की सेनाओं से ही उन जघन्य कृत्यों के कर्ताओं से, शाश्वत मूल्यों के विध्वंसकों से, लोहा लिया और विजयश्री का

वरण किया। तुलसीकालीन परिस्थिति रामकालीन परिस्थिति से मेल खाती थी, कृष्णकालीन परिस्थिति से नहीं। उसके निदान के लिये बंसी की नहीं धनुष-वाण की आवश्यकता थी। उसे परिवर्तित करने के लिये साधन हीनता से निराश होने की नहीं वरन् उपलब्ध साधनों का संयोजन कर जैसा राम ने किया आशावादी दृष्टि रख परिस्थिति से जूझने की आवश्यकता थी। अपने पौरुष में विश्वास करने की, सत्यमेव जयते में आस्था रखने की थी, अतः तुलसी ने रामचरितमानस की रचना की और इस ग्रंथ के माध्यम से तत्कालीन पाशविकता के विरुद्ध उठने की, उससे जूझने की प्रेरणा दी, इसके वदले कि वे निष्क्रिय हो, निराश हो भाग्यवाद पर बैठे रहें। उन्होंने अतीत से तत्कालीन सामाजिक व राजनीतिक परिस्थिति का प्रारूप निकाल उसका सफल चित्रण किया और अतीतकालीन निदान का सहारा ले समकालीन समस्या का निदान भी प्रस्तुत किया। इस प्रकार तुलसी ने अपने काव्य में अभूतपूर्व चिंतक व भविष्यद्रष्टा का परिचय दिया। ऐसा परिचय शायद ही किसी अन्य साहित्यकार ने दिया हो।

तुलसी द्वारा प्रस्तुत निदान व्यर्थ नहीं गया। समाज ने उसे समझा, नायकों ने उसे ग्रहण किया। उदाहरण स्वरूप, संभवतया, रामचरितमानस से ही प्रभावित हो, गुरु गोविंद सिंह ने सिक्खों को अहिंसा का परित्याग कर खड्ग धारण करने की प्रेरणा दी। इसी से प्रेरित हो छत्रसाल व शिवाजी के पथ-प्रदर्शकों ने उन्हें बाहुबल को संगठित कर भारतीय संस्कृति की रक्षा करने का आदेश दिया।

प्रो० श्यामकिशोर शर्मा

तुलसी का लोकनायकत्व

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके, क्योंकि भारतीय समाज में नाना भाँति की परस्पर-विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचार-निष्ठा और विचार-पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे, गीता में समन्वय की चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।"[1] भारतवर्ष विभिन्न प्रकार के धर्मों, जातियों, संप्रदायों एवं विचार-पद्धतियों में विभाजित है। कोई एक मत सबके द्वारा मान्य नहीं, ऐसी स्थिति में यहाँ की जनता में अनेक प्रकार के मत-मतांतरों और इनमें होने वाले द्वंद्वों का होना स्वाभाविक है। ऐसी विभिन्न परस्पर विरोधिनी संस्कृतियों का समन्वय कोई 'लोकनायक' ही कर सकता है, 'लोकशासक' नहीं। तुलसी ने इस प्रकार का समन्वय कर 'लोकनायकत्व' के पद को प्राप्त किया।

'लोकशासक' बाह्य-शक्ति के आधार पर बनता है। वह जनता (लोक) की कुछ समय तक व्यवस्था या संचालन भी कर सकता है लेकिन जनता का स्नेहभाजन नहीं बन सकता, क्योंकि वह जनता को शक्ति के द्वारा जीतता है, प्रेम से नहीं। लोक-प्रिय केवल लोकनायक ही हो सकता है क्योंकि वह जनता पर अपना अधिकार त्याग, तपस्या, श्रद्धा तथा स्नेह से करता है। 'लोकनायक' का अधिकार जनता के तन एवं मन दोनों पर होता है। शासन में शक्ति

---

१. हिंदी साहित्य की भूमिका पृ० ११२

और सत्ता की आवश्यकता है लेकिन नायकत्व में नहीं, उसमें स्नेह, श्रद्धा तथा त्याग की आवश्यकता है। जनता 'तानाशाही' का आदर मन से नहीं करती इसीलिए 'तानाशाह' का शासन अधिक समय तक नहीं चलता। तुलसी और अकबर क्रमानुसार लोकनायक एवं लोकशासक—दोनों समकालीन थे। अकबर का अब केवल ऐतिहासिक महत्त्व शेष है। परंतु तुलसी आज भी भारतीय-समाज द्वारा पूजित हैं तथा हिंदू-समाज के कर्णधार हैं। डॉ० राम विलास शर्मा, प्रो० प्रकाशचंद्र गुप्त आदि प्रगतिवादी कट्टर आलोचकों ने भी तुलसी की भूरि-भूरि प्रशंसा की और उन्हें उस समय-विशेष के परिप्रेक्ष्य में विशुद्ध प्रगतिवादी 'प्राचीन संस्कारों में नवीन एवं नये ढंग से समन्वय स्थापित करने वाला' ठहराया। उन्होंने अपनी प्राचीन सर्वमान्य परंपराओं में अपनी प्रतिभा से नवीन आदर्श, सिद्धांत आदि का 'युग विशेष की माँग के अनुसार' समन्वय किया। तुलसी का लोकनायकत्व सहिष्णुता की नींव पर आधारित है। तुलसी ने अपने समय की प्रचलित तीव्र विषमताओं का उन्मूलन कर समन्वय का स्वरूप स्थापित किया। अपनी सहिष्णुता एवं सौम्यता के कारण तुलसी ने 'बंदौं संत असज्जन चरना' में संत और असज्जन का समन्वय किया।

तुलसी का आविर्भाव ऐसी विषम परिस्थितियों में हुआ जबकि हिंदू-समाज अपनी शक्ति से क्षीण होकर विदेशी-चंगुल में फँस चुका था। हिंदू समाज की समस्त संस्कृति और सभ्यता विनष्ट प्रायः हो चुकी थी। भारतवर्ष के हर तौर-तरीके तथा ज्ञान-विज्ञान पर विदेशी-धर्म एवं संस्कार छा गये थे। कहीं कोई उचित आदर्श नहीं था। केवल विभिन्न संप्रदाय अपना-अपना सिक्का जमाने के लिए अपना राग अलाप रहे थे परंतु कोई एक प्रभावशाली आवाज नहीं थी जो सब को अपने में आत्मसात कर अपना प्रभाव स्थापित करती, तुलसी ऐसी जटिल परिस्थिति में जन्मे और उन्होंने अपनी समन्वयकारी वाणी के आधार पर जनता में धर्म और कर्म में साम्य स्थापित कर समाज का एक नया चित्र खींचा। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन जटिल परिस्थितियों का बड़ा विशद चित्रण करते हुए लिखा है कि "जिस युग में इनका (तुलसी का) जन्म हुआ था उस युग के समाज के सामने कोई ऊँचा आदर्श नहीं था। समाज के उच्च स्तर के लोग विलासिता के पंक में उसी तरह मग्न थे, जिस प्रकार कुछ वर्ष पूर्व सूरदास ने देखा था। निचले स्तर के पुरुष और स्त्री दरिद्र, अशिक्षित और रोग ग्रस्त थे। वैरागी हो जाना मामूली बात थी। जिसके घर की संपत्ति नष्ट हो गई या स्त्री मर गई, संसार में कोई आकर्षण नहीं रहा, वही चट संन्यासी

हो गया। सारा देश नाना प्रकार के संप्रदाय के साधुओं से भर गया था। 'अलख' की आवाज गर्म थी हाँलाकि ये 'अलख लखने' वाले कुछ भी नहीं लख सकते थे। नीच समझी जाने वाली जातियों में कई पहुँचे हुए महात्मा हो गये थे, उनमें आत्म-विश्वास का संचार हो गया था। पर, जैसा कि साधारणतः हुआ करता है, शिक्षा और संस्कृति के अभाव में यही आत्म-विश्वास दुर्वह गर्व का रूप धारण कर गया था। आध्यात्मिक साधना से दूर पड़े ये गर्व-मूढ़ पंडितों और ब्राह्मणों की बराबरी का दावा करते थे। परंपरा से सुविधा भोग करने की आदी ऊँची जातियाँ इनसे चिढ़ा करती थीं। समाज में धन की मर्यादा बढ़ रही थी। दरिद्रता हीनता का लक्षण समझी जाती थी। पंडितों और ज्ञानियों का समाज के साथ कोई भी संपर्क नहीं था। सारा देश विशृंखल, परस्पर-विच्छिन्न, आदर्शहीन और बिना लक्ष्य का हो रहा था। एक ऐसे आदमी की आवश्यकता थी जो इन परस्पर-विच्छिन्न और दूर-विभ्रष्ट टुकड़ों में योग-सूत्र स्थापित करे। तुलसीदास का आविर्भाव ऐसे समय में ही हुआ था"।[1]

तुलसी ने रामचरितमानस, विनयपत्रिका, कवितावली, गीतावली, जानकी मंगल, पार्वतीमंगल आदि अपने ग्रंथों में अपने जीवन 'ब्राह्मण-वंश में जन्म, दरिद्रता के कारण दर-दर भटकना, गृहस्थ-जीवन की निकृष्ट आसक्ति और उसमें अपमान, अशिक्षित और सुसंस्कृत जनता के मध्य रहना' के कटु-मधुर अनुभवों के आधार पर अनेक दशाओं के ज्ञान से वर्ग-विभाजित समाज में समन्वय की स्थापना की। वर्ग-भेद के मूल-कारणों को अच्छी तरह समझ कर तुलसी ने समन्वय की गहरी साधना का जो चित्र 'रामचरितमानस' में खींचा वैसा अन्यत्र प्राप्त नहीं, इसलिए उत्तर-भारत में रामचरितमानस से अधिक लोकप्रिय कोई पुस्तक नहीं, और इसी प्रसिद्धि और लोक-प्रियता के कारण वे लोकनायक कहलाये।

तुलसी बड़े उदार कवि थे। उनकी उदार-दृष्टि की प्रशंसा ग्रियर्सन और कार्पेंटर सरीखे विदेशी विद्वानों ने भी मुक्त-कंठ से की। रामचरितमानस का देशी एवं विदेशी भाषाओं में अनुवाद कवि की लोक-प्रियता और उसकी गहन-प्रतिभा का परिचायक है। स्वर्गीय डॉ० मेग्डूगल की पुस्तक The way of salvation in the Ramayan of Tulsidas' में लेखक ने तुलसी

---

१. हिंदी साहित्य की भूमिका पृ० १११

की जिस समन्वय-प्रतिभा का स्वरूप प्रतिपादित किया है, उसे कोई भी विद्वान नकार नहीं सकता। तुलसी का 'रामचरितमानस' ही समग्र समन्वय-प्रवृतियों का खजाना बन गया है, जिसके अंतर्गत कवि ने राम की उपासना में भक्ति और ज्ञान का समन्वय, लोक तथा शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ और वैराग्य का समन्वय, भाषा और संस्कृत का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, कला और तत्व-ज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चांडाल का समन्वय, प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय, शैवों, वैष्णवों और शाक्तों के समन्वय आदि को बड़े सरस और मार्मिक ढंग से व्यक्त किया है।

रामचरितमानस प्रारंभ से अंत तक समन्वय का काव्य है। तुलसी के मानस में राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक सभी विषयों का सुंदर समन्वय है। राजनैतिक दृष्टि के आधार पर शासकों या अधिकारियों का आदर्श, तुलसी ने जिस ढंग से व्यक्त किया है वह उनकी सूझ-बूझ का अनोखा ढंग है :

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी।[1]

तुलसी ने शासक का आदर्श उपस्थित करते हुए लिखा है :

मुखिआ मुखु सो चाहिए, खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग, तुलसी सहित बिबेक।[2]

'राम-राज्य' उपर्युक्त-आदर्श को चरितार्थ करता है :

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहि ब्यापा।
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती।[3]

तुलसी प्रजातंत्र के पक्षपाती थे अतः "जो पंचहि मन लागइ नीका, करहु हरषि हिय रामहिं टीका" का आदर्श रूप प्रतिपादित किया। राजनैतिक दृष्टि से युग की विषम परिस्थितियों का चित्रण देखिए :

गोंड़ गँवार नृपाल महि, यमन महा महिपाल।
साम, न दाम, न भेद कलि, केवल दंड कराल।[4]

इन्हीं बातों को देखते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि "उत्तरकांड में एक ओर राम-राज्य की कल्पना और दूसरी ओर यर्थाथता द्वारा तुलसी ने अपने आदर्श के साथ वास्तविक परिस्थिति का चित्रण कर दिया। किसी भी दूसरे

१. मानस २।७१।३
२. मानस २।३१५
३. मानस ७।२१।१
४. दोहावली ५५६

कवि के चित्रों में ऐसी तीव्र विषमता नहीं है। किसी के चित्रण में यह 'कन्ट्रास्ट नहीं मिलता।'

तुलसी के नर-नारी की समन्वय-भावना पर 'ढोल-गँवार शूद्र पशु नारी ये सब ताड़न के अधिकारी' पंक्ति को लेकर कुछ लोग आक्षेप लगाते हैं कि तुलसी ने नारी का विरोध किया है। तुलसी ने पति-पत्नी के आदर्श को 'एक ओर पति पत्नी में अनुरक्त हो तथा दूसरी ओर पत्नी मन-कर्म-वचन से पति के लिए हितकारिणी, लिखा है :

एक नारिब्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी।[1]

तुलसी पर स्त्री-जाति के प्रति लगाये गये आरोप का निराकरण उनकी निम्नलिखित पंक्तियों से हो जाता है :

कत बिधि सृजीं नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहु सुखु नाहीं।[2]

वास्तव में तुलसी नारी-जाति के प्रति उसकी उछृंखलता के ही विरोधी थे।

तुलसी के समय में शिव के भक्त राम के घोर विरोधी थे और राम के भक्त शैवों के घोर शत्रु। तुलसी ने इन विरोधी-तत्त्वों को समूल नष्ट कर शिव और राम भक्तों को एक दूसरे के समीप लाने का सफल प्रयत्न किया। दोनों शक्तियाँ एक हैं फिर छोटी-बड़ी शक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। राम के मुख से शिव की अटूट प्रशंसा सुनकर परंपरा से चले आये विरोधी शैवों के सिर झुक गये। तुलसी के 'राम' स्वयं कहते हैं :

सिव-द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहु मोहि न पावा।[3]

शैव और वैष्णवों की विचार-भिन्नता की समाप्ति के संबंध में डॉ० रामकुमार वर्मा का कथन है कि "राम के व्यक्तित्व में शैव, शाक्त और पुष्टि-मार्गियों के आदर्शों की पूर्ति कर तुलसीदास ने राम-भक्ति में व्यापकता के साथ-साथ शक्ति भी ला दी। शैव और वैष्णवों की विचार-भिन्नता की समाप्ति तुलसी की लेखनी से हुई।"

अन्य भक्त-संप्रदायों के समन्वय के लिए तुलसी ने अपनी विनय-पत्रिका के प्रारंभ में ही सभी प्रमुख देवी-देवताओं की स्तुति कर पारस्परिक-विरोध को

१. मानस ७।२२।४
२. मानस १।१०२।३
३. मानस ६।२।४

समाप्त कर दिया। तुलसी राम के अनन्य-भक्त तथा वर्णाश्रम धर्म के पक्के समर्थक थे। उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य एवं शूद्रों का समन्वय किया। वे केवल ब्राह्मणों एवं उनके धर्म के कट्टर पक्षपाती ही नहीं थे अपितु उनकी भक्ति का द्वार अछूतों एवं पतितों के लिए भी खुला था। तुलसी के 'राम' किरात, भील, गीध, स्वपचादि के भी मित्र थे। वे सभी का उद्धार करने वाले थे :

सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुन गाथ।[1]

तुलसी ने अपने रामचरितमानस में ज्ञान-मार्ग, कर्म-मार्ग, भक्ति एवं उपासना-मार्ग को बड़ी अच्छी तरह से सँजोया है, मध्य युग के महान् दो वाद 'विशिष्टाद्वैतवाद और अद्वैतवाद' में तुलसी ने जो सामंजस्य स्थापित किया वह अन्यत्र दुर्लभ है। दोनों वादों के अनुयायी मानस में अपने-अपने सिद्धांतों के प्रतिपादन का पूर्णरूप प्राप्त करते हैं। सबसे मजेदार बात यह है कि दोनों वादों वाले महानुभाव अपने-अपने वाद की चरम स्थिति की घोषणा करते हैं। विशिष्टाद्वैत को लेकर चलने वाले भक्ति-पंथ के अनुयायी 'मानस' को 'भक्ति-मणि' से अभिभूत करते हैं तो दूसरे ज्ञान-मार्ग के समर्थक ज्ञान-मणि के अतिरिक्त कुछ नहीं देखते। मानस में अद्वैत सिद्धांत का दावा महामहोपाध्याय गिरधरशर्मा ने इस प्रकार किया है, "दावे के साथ कहा जा सकता है कि शंकर अद्वैत के विरुद्ध पड़ने वाले सांप्रदायिक विचार रामायण में हैं ही ही नहीं।" अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैतवाद का सामंजस्य करते हुए तुलसी लिखते हैं :

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।[2]

ज्ञान और भक्ति दोनों एक ही रूप हैं, आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी लिखते हैं कि "ईश्वर ज्ञान-स्वरूप है, अतः ज्ञान के प्रति यह औत्सुक्य भी भक्ति के समान एक 'भाव' ही है।"[3]

इस प्रकार तुलसी न अद्वैतवादी थे और न ही विशिष्टाद्वैतवादी। फिर वे किस वाद के समर्थक या जनक थे? इस संबंध में डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र

---

१. मानस १।२४ २. मानस ७।११५।७
३. गोस्वामी तुलसीदास पृ० ६२

लिखते हैं कि "स्वतंत्र रूप से उन्होंने कोई नई बात कहने का दावा नहीं किया और जो कुछ कहा श्रुति सम्मत ही कहा। उनकी नवीनता यदि कुछ थी तो केवल उपयुक्त विषय के संग्रह और अनुपयुक्त विषय के त्याग में थी। परंतु इतना होते हुए भी उन्होंने जो सिद्धांत 'रामचरितमानस' द्वारा सर्वसाधारण के सामने रख दिये हैं, उन पर इन्हीं की अमिट छाप पड़ी हुई है। इसलिए यदि हम उन सिद्धांतों के समूह को 'तुलसी-मत' कह दें, तो कोई किसी प्रकार का अनौचित्य न होगा।"[१]

तुलसी भक्त-कवि थे अतः उनका विचार भक्ति की ओर झुकना स्वाभाविक ही था। उन्होंने ज्ञान-मार्ग का तिरस्कार नहीं किया अपितु उसे कठिन अवश्य घोषित किया और उसकी 'तलवार की धार' तुलना से की :

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा।[२]

राम-भक्ति को तुलसी ने बड़ा सरस एवं कोमल बताया :

राम भगति चिंतामनि सुंदर। बसइ गरुड़ जाके उर अंतर।
परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती।[३]

तुलसी ने अपने समय में प्रचलित भक्ति के निर्गुणमार्गी एवं सगुणमार्गी संप्रदायों में समन्वय स्थापित कर घोषित कर दिया कि भक्तों के प्रेम के वशीभूत होकर निर्गुण ब्रह्म ही सगुण का रूप धारण करता है :

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद।[४]

श्रीमद्भगवद्गीता का निर्गुण भी अपने भक्तों की रक्षार्थ सगुण रूप धारण करता है :

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत,
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्,
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।[५]

इसी सिद्धांत का प्रतिपादन तुलसी ने अपने महाकाव्य रामचरितमानस में भी किया है :

१. तुलसी-दर्शन पृ० ३०७
२. मानस ७।११९।१
३. मानस ७।१२०।१-२
४. मानस १।१९८
५. श्रीमद्भगवद्गीता ४। ७-८

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपा-निधि सज्जन-पीरा।[१]

तुलसी पूर्ण विकसित जीवन के पक्षपाती थे। वे राम और उनकी भक्ति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को निहित मानते थे। तुलसी अपने इष्ट 'राम' की भक्ति के आगे मुक्ति को भी ठोकर मारने को तैयार थे। वे तो 'मुक्ति न माँगो, हरियश सुनहुँ सुनावहुँ' के भाव से 'देवा ! तेरी भक्ति न छाँड़ो' का गीत गाते थे।

तुलसी की स्वांतः सुखाय रचना में लोक-हित कूट-कूट कर भरा है। महात्माओं का कोई अपना सुख नहीं होता। लोक-सुख ही उनका 'अपना' सुख है। तुलसी का स्वांतः सुखाय भी लोक-सुख सिद्ध हुआ। 'नानापुराण-निगमागम' के आधार पर तुलसी की कृति 'रामचरितमानस' में प्रारंभ से अंत तक समन्वय का सुंदर प्रारूप विद्यमान है। गीता का निष्काम कर्म, वैष्णवों की भक्ति, सूफियों का प्रेम, मुसलमानों का एकेश्वरवाद, बौद्धों की अहिंसा, शैवों का वैराग्य, हिंदू वेदांतों का ज्ञानादि, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा पारिवारिक सभी विषयों का उन्होंने अधिकार सहित वर्णन किया है। पिता-पुत्र, भाई-बहिन, सास-बहू, पति-पत्नी, भाई-भाई, राजा-प्रजादि के आदर्श संबंधों का सामंजस्य जो तुलसी के 'रामचरितमानस' में विद्यमान है, अन्यत्र दुर्लभ है। यही कारण है जिससे रामचरितमानस समन्वय का विराट् रूप लेकर चलता है। रामचरितमानस की व्यापक पृष्ठभूमि एवं तुलसी की अद्भुत प्रतिभा के संबंध में प्रो० प्रकाशचंद्र गुप्त का कथन है कि तुलसी की दृष्टि व्यापक और सार्वभौमिक थी। जीवन के प्रति उनका अटूट दृष्टिकोण स्वस्थ एवं जनवादी था। दृष्टि का यह व्यापक प्रसार हमें विश्व के दो-चार ही लेखकों या कवियों में मिलता है। जीवन के रंग बिरंगे चित्र-विचित्र रूप को उन्होंने उसकी समग्र व्यापकता में देखा। हर्षविषाद, उल्लास-विलास जय-पराजय उनके काव्य में हम चिरकाल तक सुरक्षित पायेंगे। मनुष्य की प्रकृति का व्यापक दर्शन तुलसी-साहित्य में पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुआ है। जो विशाल चित्र-पट तुलसी ने हमें दिया उसके पीछे 'विचार पर्दे के पीछे' हम कवि की मूलतः जनवादी दृष्टि ही पाते हैं।

---

१. मानस १।१२१।३,४

तुलसी का समन्वय केवल जीवन और जगत तक ही सीमित नहीं रहा अपितु उसने साहित्य-क्षेत्र को भी प्रभावित कर अपने रंग में रंग लिया। तुलसी काव्य के दोनों पक्ष—कला-पक्ष एवं भाव-पक्ष—अपने युग की समस्त प्रचलित काव्य-पद्धतियों के समन्वय से भरे हैं। कला-पक्ष के अंतर्गत तुलसी ने प्रबंध काव्य, मुक्तक, गीति-तीनों रूपों का समन्वय किया। काव्य-शैलियों के संदर्भ में कवि, समाज-सुधारक, लोकनायक तुलसी ने उसकी सभी शैलियों को अपनाया। वीरगाथाकाल की छप्पय शैली (कवितावली के लंकाकांड में), कृष्ण-भक्त कवियों की गीति-पद्धति (विनयपत्रिका एवं गीतावली में), चारण एवं भाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति (कवितावली में) प्रेमाख्यानों की दोहा-चौपाई-पद्धति (रामचरितमानस में), इस प्रकार तुलसी ने प्रायः सभी शैलियों को अपने काव्य में अपनाया। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने तुलसी के शैली-सौंदर्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि "तुलसीदास की अनुपम शैली का सौंदर्य उसकी ऋजुता, उसकी सुबोधता, उसकी सरलता, उसकी चारुता, उसकी रमणीयता, उसका लालित्य और उसके प्रभाव में है और ये गुण 'रामचरितमानस' में चरम उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं"[१] तुलसी के समय में भाषा के दो रूप—'ब्रज एवं अवधी' थे। तुलसी ने दोनों भाषाओं को अपने काव्य में अपनाया क्योंकि तुलसी को दोनों भाषाओं पर पूर्ण अधिकार प्राप्त था। भाषा-अधिकार के संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि "ब्रजभाषा का जो माधुर्य हम सूर-सागर में पाते हैं वही माधुर्य और भी संस्कृत रूप में हम 'गीतावली' और 'कृष्ण गीतावली' में पाते हैं, ठेठ अवधी की जो मिठास हमें जायसी के पद्मावत में मिलती है वही 'जानकीमंगल', 'पार्वतीमंगल', 'बरबै रामायण' और 'रामलला-नहछू' में हम पाते हैं।"[२] तुलसी का काव्य भाषा की दृष्टि से विशुद्ध है जहाँ न तो भाषा की कृत्रिमता है और न ही फूहड़पन।

तुलसी का कला-पक्ष जैसा विशुद्ध एवं सशक्त है वैसा ही उनका भाव-पक्ष सरस एवं प्रभावयुक्त। तुलसी के काव्य में किसी भी भाव एवं रस ने मर्यादा-रेखा का उल्लंघन नहीं किया। शृंगार के मर्यादित रूप-वर्णन में तुलसी बेजोड़ हैं। प्रथम दर्शन-जन्य प्रेम का जैसा सजीव चित्रण तुलसी ने किया वैसा हिंदी-काव्य में ही नहीं विश्व के किसी भी काव्य में दुर्लभ है। जनक-तनया सीता

---

१. तुलसीदास पृ० ३६१
२. हिंदी साहित्य का इतिहास पृ० १३०

का सौंदर्य एवं पुष्प-वाटिका में प्रेम-संबंधी चेष्टाओं का निरूपण जितनी सूक्ष्मता से तुलसी ने दर्शाया उतना किसी भी अन्य शृंगारी कवि के सामर्थ्य की बात नहीं। यथा :

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन राम हृदयँ गुनि।
मानहुँ मदन दुंदभी दीन्ही।
मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही।[1]

किसी नवयौवना सुंदरी के 'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि' सुनकर कौन न रीझेगा ? नूपुर धुनि में और अनुराग की चेष्टाएँ बढ़ाने को तुलसी मानो रसिक बन उठे हों। सीता भी राम के दर्शनार्थ व्याकुल हो जाती हैं :

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता।
कहँ गए नृपकिसोर मनु चीता।
जहँ बिलोक मृग सावक नैनी।
जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी।[2]

अब अधिक स्नेह के कारण सीता का शरीर भी शिथिल हो गया 'अधिक स्नेह देइ भइ भोरी' आदि में तुलसी ने शृंगार का स्वाभाविक चित्र उपस्थित किया है। अन्य सब रसों का सुंदर समन्वय भी तुलसी-काव्य में विद्यमान है।

इसप्रकार कह सकते हैं कि तुलसी में जीवन के सभी पक्षों में समन्वय स्थापित करने की अपूर्व क्षमता थी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इनकी इस अपूर्व क्षमता को देखते हुए लिखा है कि "भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि यदि किसी को कहसकते हैं तो इन्हीं महानुभाव को।" तुलसी का समस्त काव्य जन-हित के लिए है, उसमें आदि से अंत तक जीवनोपयोगी सामग्री का समावेश है इसीलिए तुलसी का काव्य विशेषतः 'रामचरितमानस' संपूर्ण भारत पर और बहुत से विदेशों पर भी छा गया है। व्यक्ति उसमें निर्दिष्ट उपदेशों का अनुसरण करते हैं इसीलिए वह लोकनायकत्व के पद को प्राप्त हुए।

---

१. मानस १।२३०।१ २. मानस १।२३२।१

डॉ० विश्वदेव त्रिगुणायत

तुलसी का समाज-दर्शन

रामपद चंचरीक कवि-कुल-गुरु महाकवि तुलसीदास जहाँ उच्च कोटि के भक्त तथा सरस-काव्य के प्रणेता थे, वहीं महान समाज-सुधारक भी। तुलसी का भावुक कलाकार 'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा' की बात अवश्य कहता है किंतु वह कभी भी समाज अथवा लोक की उपेक्षा नहीं कर सका है। उनके संपूर्ण काव्य में चाहे वह प्रबंधकाव्य हो या मुक्तक-गीति शैली परक रचनायें, सर्वत्र लोक-मंगल तथा समाज को साथ लेकर चलने की प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है।

भक्तिकाल के समस्त कवियों में समाज के प्रति जागरूक वृत्ति रखने की प्रवृत्ति तुलसी के अतिरिक्त केवल कबीर और जायसी में ही देखने को मिलती है। तुलसी की सामाजिकता इन दोनों की अपेक्षा कहीं व्यापक, सार्थक और सक्रिय है। इसके विपरीत कबीर में आलोचना अधिक होने के कारण एकांगिता और कटुता आ गई है। जायसी में समाज के कुछ चित्रों के दर्शन मात्र होते हैं। वह भी सीमित क्षेत्र में बँधे हुए भावों के चित्रण को स्पष्ट करने के लिए, किंतु तुलसी के काव्य में तत्कालीन समाज का अत्यंत व्यापक और यथार्थ चित्रण दृष्टिगत होता है।

तुलसी का उद्देश्य केवल तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्रण करना मात्र नहीं था। वह एक आदर्शवादी कवि थे। अतः उनका मुख्य प्रयोजन तत्कालीन समाज की दशा का चित्रण करते हुए उसमें व्याप्त जड़ता, बुराइयों एवं

कमियों को दूर करके उसके सम्मुख एक आदर्श समाज का उज्ज्वल और श्रेष्ठतम रूप भी प्रस्तुत करना था। महाकवि तुलसी भावुक होने के साथ-साथ अत्यंत सचेत और प्रबुद्ध युगद्रष्टा भी थे। वह अपने समय की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियों से भली-भाँति परिचित थे। संपूर्ण भारत की यात्रा तथा विभिन्न स्थलों पर लंबी अवधि तक निरंतर निवास करने के कारण उस समय की देश की स्थिति को देखकर उनका जैसा जनकवि द्रवित हो उठा था। विदेशी सत्ता के शासन से संत्रस्त हिंदू जनता की निराश और पीड़ाभरी दुर्दशा देखकर उनका मन भारत के गौरवपूर्ण अतीत की झाँकी प्रस्तुत करने के लिए मचल उठा। इस प्रकार अपने इष्टदेव राम की कथा को सरस काव्य के रूप में लोकभाषा में प्रस्तुत करते हुए तुलसी ने तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों में 'रामराज्य' के रूप में एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था भी प्रस्तुत की है।

रामकथा रूपी चित्रपटी इतनी व्यापक और सक्षम थी कि उससे तुलसी के यह दोनों उद्देश्य सिद्ध हो सकते थे। इसीलिए उन्होंने तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण करने के लिए एवं एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था की रूपरेखा प्रस्तुत करने के लिए 'रामचरितमानस' का प्रणयन किया। लोक-नायक तुलसी के हृदय में प्राचीन भारतीय सामाजिक, धार्मिक आदर्शों के प्रति गहरी निष्ठा एवं आस्था थी। अतएव उन्होंने तत्कालीन सामाजिक दुर्दशा का चित्रण करते हुए उससे मुक्ति प्राप्त करने का उपाय प्राचीन भारतीय सामाजिक आदर्शों का अनुगमन ही माना है।

सदाचारी व्यक्ति के सामने यदि अनाचार के कार्य संघटित होते हैं और वह उन्हें देखते हुए भी मौन रहे, तो उसके द्वारा एक प्रकार से अन्याय का समर्थन हो जाता है।[1]

तुलसी जैसा प्रबुद्धचेता कवि अपने समय की विश्रृंखलित अस्त-व्यस्त सामाजिक व्यवस्था को देखकर कैसे मौन रह सकता था? गोस्वामी जी जैसे आदर्शवादी कवि के मस्तिष्क में आदर्श सामाजिक व्यवस्था के रूप में प्राचीन वर्णव्यवस्था, आश्रम-प्रणाली, कर्त्तव्य तथा सदाचार पर आधारित संबंधों से युक्त परिवार एवं अन्य सामाजिक संस्थाओं का पुनीत एवं उज्ज्वल स्वरूप प्रतिष्ठित था। वह विदेशी सत्ता के शासन से संत्रस्त, उपेक्षित और दुःखी

१. डॉ० राजपति दीक्षित—तुलसीदास और उनका युग, पृ० ३८

हिंदू-समाज की पतित दशा को देखकर क्षुब्ध हो उठे थे। उनके समस्त साहित्य में उनके इस क्षोभ का स्पष्ट दर्शन होता है।

मुगल साम्राज्य की सुदृढ़ स्थापना के साथ समस्त उत्तर भारत का जन-जन वैभव, समृद्धि और विलास में आपादमस्तक निमग्न था। उच्च वर्ग सुरा-सुंदरी के आक्रोड़ में अपने को भूल जाने के लिए विह्वल था तो सदा से उपेक्षित प्रजा अपनी भयंकर दरिद्रता, निर्धनता और अनवरत रूप से होने वाले अत्याचारों से पीड़ित होकर समस्त सामाजिक, धार्मिक तथा नैतिक आदर्शों तथा मर्यादाओं को कभी की खो चुकी थी। चारों ओर अव्यवस्था का खुला साम्राज्य था। वर्ण और आश्रम व्यवस्थायें नष्ट हो चुकी थीं। यदि उनका कोई रूप शेष भी था तो वह भी अपने मूल रूप से नितांत भ्रष्ट और पतित। जो वर्णव्यवस्था आर्य या हिंदू सामाजिक व्यवस्था का एक प्रमुख आधार थी उसका स्वरूप पूर्णतः विकृत हो चुका था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने कर्त्तव्य से च्युत होकर पथभ्रष्ट हो गये थे। श्रुति सम्मत मार्ग का परित्याग कर सब स्वच्छंद बिहारी हो गये थे :

(क) बरन धरम नहिं आस्रम चारी।
स्रुति बिरोध-रत सब नर-नारी।[1]

(ख) बरन-धरम गयो, आश्रम निवासु तज्यो,
त्रासन चकित सो परावनो परो-सो है।[2]

(ग) आश्रम-बरन-धरम-बिरहित जग,
लोक-बेद-मरजाद गई है।[3]

तुलसी को यह सम्यग्ज्ञान था कि इस उच्छृंखलता का मूल कारण उस समय की दयनीय राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियाँ थीं। अव्यवस्थित राज्य शासन में तथा विषम आर्थिक परिस्थितियों में कोई भी सामाजिक व्यवस्था दृढ़ नहीं रह सकती, चाहे वह कितनी ही प्राचीन और सुस्थिर क्यों न हो। घोर निर्धनता, आर्थिक शोषण, उत्पीड़न तथा बेकारी से समस्त समाज संत्रस्त था :

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।[4]

---

१. मानस ७।९८।१
२. कवितावली ७।८४
३. विनयपत्रिका १३९।४
४. कवितावली ७।९७

"बुभुक्षितः किम् न करोति पापम्" के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति इतना दुःखी था कि सामाजिक, नैतिक मर्यादाओं की बात ही कहाँ सोच पाता था। वह तो येन-केन-प्रकारेण अपनी आजीविका जुटाने में ही इतना व्यस्त था कि अन्य कर्त्तव्य-कर्मों की ओर दृष्टिपात करने का उस पर समय ही कब था :

किसबी, किसान-कुल, बनिक, भिखारी, भाट,
चाकर, चपल नट, चोर, चार, चेटकी।
पेट-को पढ़त, गुन गढ़त, चढ़त गिरि,
अटत गहन-बन अहन अखेटकी।
ऊँचे नीचे करम, धरम-अधरम करि,
पेट ही को पचत, बेचत बेटा-बेटकी।[1]

जिस समाज में साधारणजन अपनी उदरपूर्ति के लिए अपने पुत्र और पुत्रों को बेचने के लिए विवश हो जायें वहाँ धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य और अच्छे या बुरे का ज्ञान भला कहाँ तक रह सकता है ? ऐसी विषम परिस्थितियों में समस्त सदाचार कदाचारों में परिवर्तित हो गये थे। विवेक, संयम और उदारता के स्थान पर लोगों में अज्ञान, पाखंड तथा उच्छृंखलता व्याप्त हो गई थी जिससे वह और भी दुःखी व पीड़ित थे :

नहिं तोष, बिचार, न सीतलता।
सब जाति कुजाति भये मँगता।[2]

स्वेच्छा-कल्पित आचरण, व्यभिचार, असत्य तथा परस्पर घृणा, द्रोह, अविश्वास से समस्त संबंध टूट चुके थे :

सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा॥
भये बरन संकर कलिहिं, भिन्नसेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहिं दुख, भय रुज सोक बियोग।[3]

सामाजिक मर्यादा तथा तथा नैतिकता के लुप्त हो जाने से राजा-प्रजा, पिता-पुत्र, पति-पत्नी और मित्र-बंधु आदि समस्त संबंध स्वार्थ से परिपूर्ण हो गये थे। सामाजिक सुस्थिरता के लिए सुव्यवस्थित शासन-व्यवस्था एवं सुनियंत्रित शासन या सत्ता की अपेक्षा होती है। साम, दाम, दंड और भेद के

---

१. कवितावली ७।९६ २. मानस, ७।१०२।४
३. मानस, ७।१००क

यथोचित प्रयोग से ही शासन-सूत्र ठीक प्रकार से चला करता है, किंतु जब शासकवर्ग ही भोग और विलास में डूबा हो तो अव्यवस्था का होना स्वाभाविक है :

गोंड़, गँवार, नृपाल, महि, यवन महा-महिपाल।
साम, न दाम, न भेद कलि, केवल दंड कराल।[1]

अनीति और अन्याय पर आधारित भ्रष्ट राज्यसत्ता केवल दंड या भय के बल पर सामाजिक आदेशों का पालन करने के लिए प्रजा को विवश नहीं कर सकती। फलस्वरूप चतुर्दिशि कुव्यवस्था, अनाचार और अराजकता व्याप्त हो जाती है :

राज-समाज कुसाज कोटि कटु, कलपित कलुष कुचाल नई है।
नीति-प्रतीति-प्रीति-परमिति-पति, हेतुबाद हठि हेरि हई है।[2]

केवल शासन-व्यवस्था ही नहीं, समाज का मस्तिष्क कहा जाने वाला प्रबुद्ध ज्ञानीवर्ग भी उपेक्षित हो गया था। अब तो जो जितना अधिक प्रपंच-प्रदर्शन कर सकता था, वह उतना ही बड़ा ज्ञानी या पंडित था :

मारग सोई जा कहँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा।[3]

मनुष्य के सदाचार के पथ पर अग्रसर होने के लिए प्रेरणास्रोत साधु और संतों की दशा और भी दयनीय हो गई थी। वह जन-साधारण से भी पतित हो गये थे। विविध प्रकार के आडंबरों, पंथों और संप्रदायों में विभक्त तथा-कथित धार्मिक-समाज पाखंड, अनाचार, दंभ तथा धूर्तता का क्रीड़ाक्षेत्र बन गया था :

बहु दाम सँवारहिं धाम जती। विषया हरि लीन्हि न रहि बिरती।
तपसी धनवंत दरिद्र गृही। कलि कौतुक तात न जात कही।[4]

भौतिक समृद्धि तथा सांसारिक भोग-विलासों को ही जीवन का परम लक्ष्य मान लिया गया था। श्रुति, स्मृति और पुराण-सम्मत पथ परित्याग कर आडंबर मात्र ही धर्म और नैतिकता के प्रतीक बनकर रह गये थे :

धनवंत कुलीन मलीन अपी। द्विज चिह्न जनेउ उघारतपी।
नहिं मान पुरान न बेदहिं जो। हरि सेवक संत सही कलि सो।[5]

१. दोहावली, ५५६
२. विनयपत्रिका, १३९
३. मानस ७।९८।२
४. मानस ७।१०१।१
५. मानस ७।१०१।४

महात्मा तुलसीदास मुगल-साम्राज्य की सुख-शांति से, उसके ऐश्वर्य-वैभव के चाकचिक्य से प्रभावित होकर आश्वस्त हो जाने वाले व्यक्ति न थे।[1] साथ ही वह तत्कालीन विषम सामाजिक परिस्थितियों से निराश होने वाले भी न थे। वह एक महान आशावादी विचारक थे। उन्होंने केवल समस्या का निदान मात्र ही नहीं किया था, उसके उपचार के लिए उन्होंने उपाय प्रस्तुत करने के साथ आजीवन अपनी समस्त रचनाओं के माध्यम से सतत् प्रयास भी किया था।

तुलसीदास का सारा प्रयास जनता-जनार्दन के मानस-परिष्कार के लिए था। वे जिस समाज की कल्पना करके चले वह स्वार्थ-त्याग और बलिदान सिखाने वाला था और उन्होंने जिस राज्य की भावना की थी वह लोकाराधन के लिए राज्य, सुख, राग आदि सबको निछावर कर देने वाला था। उन्होंने राजा और प्रजा के लिए जो आदर्श रखा था वह संक्षेप में प्राचीन वर्णव्यवस्था का पुनरुज्जीवक और रामराज्य का प्रस्थापक था।[2]

तुलसी की वर्णाश्रम व्यवस्था में गहरी आस्था और निष्ठा थी। वह उसको सामाजिक सुव्यवस्था, सुख-शांति और समृद्धि का मूलाधार मानते थे। वर्णाश्रम व्यवस्था श्रुति-संभव होने के साथ-साथ विभिन्न वर्णों को अपने कर्त्तव्य-कर्मों को यथोचित रूप में करते हुए जीवन के परम् लक्ष्य की उपलब्धि में सहायक होती है :

बरनास्रम निज-निज धरम, निरत बेद-पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि, नहिं भय सोक न रोग।[3]

गोस्वामीजी की वर्णव्यवस्था में सामाजिक संस्तरण तथा जातिवाद की संकीर्णता एवं भेद-भाव के लिए कोई स्थान न था। वह शुद्ध कर्म-प्रधान थी। पवित्र कर्म करने वाले शूद्र के लिए भी तुलसी के हृयद में सम्मान और आदर था। राम के अनन्य भक्त पूतमना केवट को महर्षि प्रवर वशिष्ठ पुनः पुनः अपने कंठ से लगा लेते हैं, वहाँ उनको किसी प्रकार के संकोच या भेद-भाव का अनुभव नहीं होता :

---

१. तुलसीदास और उनका युग—डा० राजपति दीक्षित, पृ० १३६
२. तुलसीदास और उनका युग—डा० राजपति दीक्षित, पृ० ४६
३ मानस ७।२०

प्रेम पुलक केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि दंड तें प्रनामू।
राम सखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा।[1]

इसी प्रकार केवट और शबरी से भेंट होने पर राम का उसके प्रति सहज निश्चल भाव उनकी उदारता और उदात्त मानवीय वृत्ति का परिचायक है। अरण्यवासी वानरों एवं भालुओं के साथ राम का व्यवहार अत्यधिक आत्मीयता और उदारता से परिपूर्ण है।

तुलसीदास कट्टर मर्यादावादी थे। उच्छृंखलता तथा सामाजिक कर्त्तव्य कर्मों में स्वच्छंदता को वे पसंद नहीं करते थे। वे सामाजिक संबंधों में अनुशासन तथा अधिकार की अपेक्षा कर्त्तव्य को प्रमुख मानते थे। कर्त्तव्य के प्रति सचेत रहना ही उनके समस्त सामाजिक संबंधों का आधार है। इसमें उपेक्षा या निष्क्रियता को वे पाप समझते थे। पिता-पुत्र, भाई-भाई, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, स्वामी-सेवक, मित्र-मित्र सभी संबंधों की आधार-भूमि यही कर्त्तव्य-परायणता है। समस्त विघ्न-बाधाओं, कष्टों और दुःखों की अग्नि-परीक्षा में तपने वाले राम को 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' इसीलिए कहा जाता है कि वे अपने कर्त्तव्य के सम्मुख तीनों लोकों का राज्य भी प्रसन्नता से त्याग सकते थे।

वर्णाश्रम की भाँति परिवार को भी तुलसीदासजी समाज का प्रमुख आधार मानते थे। उनकी दृष्टि में परिवार ही वास्तव में समस्त समाज की सुख-शांति का केंद्र था। 'रामचरितमानस' में आदर्श परिवार और उसके अंतर्गत माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बंधु आदि संबंधों का अत्यधिक मधुर और अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। परस्पर प्रेम, सम्मान और शिष्टाचार से ही पारिवारिक संबंध दृढ़ होते हैं। राम और भरत की परस्पर प्रीति और विश्वास ही तो कुटुंब को नष्ट होने से बचाता है। राम के प्रति अनन्य भक्ति ही लक्ष्मण को अपनी पत्नी और माता को त्यागकर बन जाने के लिए विवश कर देती है। कैकेयी के इस क्रूर कृत्य के बाद भी कौशल्या और सुमित्रा का स्नेह कैकेयी पर भगिनी जैसा ही है। इस परिवार का प्रत्येक व्यक्ति समाज के सामने कोई न कोई आदर्श उपस्थित करता है। दशरथ सत्यप्रियता और पुत्र-प्रेम का, राम पितृ-भक्ति का, लक्ष्मण अपूर्व सहन-शक्ति का, कौशल्या प्रेममयी माता का और सीता पति परायणा पत्नी का आदर्श हैं। कैकेयी भी जगत के सामने एक आदर्श रखती हैं। वह है पश्चाताप का आदर्श। यदि किसी

---

१. मानस २।२४३।३

व्यक्ति से अपराध हो जाए तो भी वह कैकेयी के समान पश्चाताप करके अपने जीवन को पावन कर सकता है। पिता-पुत्र का, भाई-भाई का, पति-पत्नी का जो मधुर और आदर्श संबंध इस परिवार में देखने को मिलता है उसमें उत्कर्ष और त्याग का सौंदर्य खिल उठा है।

परिवार के अंतर्गत रक्त-संबंधी ही नहीं आते, सेवक और दासियाँ आदि भी आते हैं। राम का सुमंत्र के साथ व्यवहार अत्यंत शिष्ट तथा सम्मानपूर्ण है, क्योंकि वह वृद्ध होने के अतिरिक्त पिता के समय से ही हैं। जटायु का अंतिम संस्कार राम पिता की भाँति ही करते हैं।

लोक-मर्यादा का उल्लंघन, समाज की व्यवस्था का तिरस्कार, अनधिकार चर्चा, भक्ति और साधुता का मिथ्या दंभ, मूर्खता छिपाने के लिए वेद-शास्त्र की निंदा ये सब बातें ऐसी थीं जिनसे गोस्वामीजी की अंतरात्मा बहुत व्यथित हुई।[1] वे इस समस्त अव्यवस्था के लिए तात्कालिक यवन-शासन को उत्तरदायी समझते थे। इसीलिए उन्होंने 'रामराज्य' के रूप में एक आदर्श राजनैतिक व्यवस्था और शासन-सूत्र का प्रतिपादन किया है। उनका मत था कि उत्तम शासन-व्यवस्था में ही श्रेष्ठ समाज की कल्पना संभव है। 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार जिस शासन-प्रणाली में प्रजा की सुख-शांति नष्ट हो जाये वह राजसत्ता घोर निंदनीय है :

जासु राजु प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृपु अवसि नरक अधिकारी।[2]

उनकी दृष्टि में वही शासन-प्रणाली सर्वश्रेष्ठ है जिसमें सब लोग अपने कर्त्तव्य-कर्मों का पालन करते हुए किसी प्रकार से दुःखी, चिंतित, रोगी तथा दरिद्री न हों :

रामराज राजत सकल, धरम निरत नर-नारि।
राग न रोष न दोष दुख, सुलभ पदारथ चारि।

जिस समाज में परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, शत्रुता और द्वेषभाव को त्याग कर प्रत्येक जन प्रेम, सहानुभूति तथा सुख से रहता हो तथा जहाँ किसी प्रकार का कोई वैषम्य व्यक्ति-व्यक्ति के बीच न हो ऐसे समाज को तुलसी आदर्श समाज की संज्ञा से अभिहित करते हैं :

---

१. आचार्य रामचंद्र शुक्ल—लोक धर्म और मर्यादावादी तुलसी, पृ० १६७
२. मानस २।७१।३

बयरु न कर काहू सन कोई। रामप्रताप विषमता खोई।[१]

ऐसे आदर्श समाज में समस्त सामाजिक-जन वर्ण और आश्रम की व्यवस्था के अनुरूप स्वकर्त्तव्य-कर्मों का अनुकरण करते हुए श्रुति-सम्मत पथ के अनुयायी होकर संसार के समस्त सुखों और ऐश्वर्यों का आनंद लेते हुए कल्मषों, अत्याचारों, अनाचारों तथा दुःखों से मुक्त रहते हैं :

बरनास्रम निज-निज धरम, निरत बेद-पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय सोक न रोग।[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोस्वामी तुलसीदासजी की दृष्टि तत्कालीन समाज की समस्त दीनताओं और कुरीतियों पर गहरी पड़ी थी और एक सफल कलाकार के अनुरूप उन्होंने उनके निराकरण का मार्ग सुझाया था। वे समाज में व्याप्त आलस्य, अवसाद एवं अकर्मण्यता को दूर करके उसमें नयी स्फूर्ति और नई चेतना भर देना चाहते थे। उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति में सामाजिक हित परिलक्षित होता है।[3]

१. मानस ७।१६।४ २. मानस ७।२०
३. डॉ० रामचंद्र देव—तुलसी और तुंचन, पृ० ७६

प्रो० श्यामबहादुर वर्मा

तुलसी : आधुनिक दृष्टि से

तुलसी पर रस-छंद-अलंकारमयी साहित्यशास्त्रीय तथा भक्ति-ज्ञान-योग-कर्ममयी अध्यात्मशास्त्रीय दृष्टि से पर्याप्त विचार किया गया है। तुलसी को अपने युग का प्रतिनिधि कवि मानकर उनके युग के रीति-रिवाजों आदि का समाजशास्त्रीय तथा तुलसी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने वाले विद्वानों की भी कमी नहीं रही है। किंतु राष्ट्रात्मा 'चिति', जो शाश्वत और नित्य नूतन है, की दृष्टि से तथा देश-काल निरपेक्ष, देशकालातीत अर्थात् कालजयी व सार्वभौम दृष्टि से तुलसी पर कम विचार किया गया है। पाश्चात्य चिंतन में 'चिति' तत्व का साक्षात्कार न किए जा सकने के कारण तथा समाजवादी-फैशन की औछी, उथली व दंभपूर्ण दृष्टि के कारण 'तुलसी काव्य की आत्मा' का साक्षात्कार भी अनेकानेक विद्वानों के लिए पहुँच से परे की बात हो गयी है। 'चिति' तत्व के स्वरूप-ज्ञान के अभाव में किसी ने तुलसी को ढोंगी, परंपरा का दास, शोषण का समर्थक, सामंतों का स्तुतिकर्ता इत्यादि कहा तो किसी ने उन्हें विद्रोही, क्रांतिकारी इत्यादि और किसी ने उन्हें मात्र कवि या मात्र भक्त के रूप में देखा।

तुलसी को आधुनिक दृष्टि से देखने का तात्पर्य यह नहीं हो सकता कि पाश्चात्य नास्तिक या ईसाई दृष्टि से विकसित और शास्त्रीय कहे जाने वाले ग्रंथों के आधार पर हम उन्हें भ्रांत पहले कहें और फिर भ्रांतता के प्रतिशत का निर्धारण करें। हम यों देखें कि वाल्मीकि और व्यास में क्या था जो तुलसी के काल में भी 'आधुनिक' था और हमारे काल में भी 'आधुनिक' है?

बस तुलसी में भी वैसा ही कालजयी तत्व, परंपरा को आधुनिक परिधानों में सँवारने की दृष्टि, अपने राम के प्रति अपनत्वमयी भावना, राष्ट्रीय चिति के अनुरूप अपनी संस्कृति को दिशा देने की जागरूकता, परंपरा की कड़ी के रूप में प्रयोगपरकता और ज्ञान-भक्ति-कर्ममयी सौंदर्य लहरियों को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य देखने के लिए समर्थ तथा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान समन्वित एकात्म मानववादी दृष्टि की आवश्यकता है। इस दृष्टि से तुलसी को देखना ही आज का यथार्थ तुलसी-दर्शन कहा जा सकता है।

तुलसी को आधुनिक दृष्टि के नाम पर मिथकों के रंगीन चश्में से देखकर ठीक निष्कर्षों पर नहीं पहुँचा जा सकता। 'राम' भारत के ऐतिहासिक पुरुष पहले थे राम-कथा के नायक बाद में बने। उनके अलौकिक गुणों ने उन्हें लोकप्रिय बनाया, उनकी आदर्श राज्य-व्यवस्था ने 'रामराज्य' के रूप में लोक-प्रसिद्धि पाई और उनके महान युगपुरुष व्यक्तित्व ने समकालीन वाल्मीकि को रामायण-लेखन में प्रवृत्त किया जिससे रामायण ने लोक-मानस में प्रतिष्ठा पाई। वे भगवान थे, इस बात का महत्व योगियों व भक्तों के लिए हो सकता है किंतु भगवान के और भी अवतार हुए हैं—उनके लिए कितने ग्रंथ लिखे गए ? उनके धर्मराज्यों में से कितनों ने कालजयी कीर्ति प्राप्त की और उनमें से कितनों के किन गुणों का लेखा-जोखा आज मिलता है ? वस्तुतः पुरुषोत्तम राम के आदर्श व्यक्तित्व के प्रति श्रृद्धानत भारतीय अंतःकरण ने पूर्ण मानवत्व में पूर्ण ब्रह्मत्व का दर्शन करने के सिद्धांतमार्ग को अपनाकर ही जीवन में रामभक्ति को प्रतिष्ठित किया है। राम का चरित्र और चारित्र्य परंपरा-प्रसिद्ध रूप में तुलसी को मिला था। वे उनकी सृष्टि नहीं है। कलाकार के रूप में उनका कार्य राम का कलात्मक प्रतिबिंब उपस्थित करना था—अपने अनिवार्य, अपरिहार्य तत्वों के साथ तथा लोकमानस को तत्काल प्रभावित कर सकने में समर्थ रूप में। तुलसी चाहते तो भी राम को रावण से परास्त नहीं दिखा सकते थे, राम को चरित्रभ्रष्ट नहीं दिखा सकते थे और न रावण को पवित्रात्मा महापुरुष ही, क्योंकि राम-कथा तो सहस्रों वर्षों पहले ही ऐतिहासिक घटना के रूप में लिपिबद्ध हो चुकी थी। यदि वे कुछ धर्मांध बौद्धों या जैनियों के समान राम-कथा में मनमाना परिवर्तन करते तो उनके रामचरितमानस का भी वैसा ही अंत होता। किंतु उन्हें तो पुण्यरूप, पापहर, सदाकल्याणकारी, विज्ञानप्रद, भक्तिप्रद, माया-मोह-मल-नाशक रामचरितमानस की रचना करनी थी अतः उन्होंने

संस्कृति से टकराने के स्थान पर उसका साक्षात्कार करने, कबीर जैसे अधिकारी-अनधिकारी, भेद मिटाने के स्थान पर अधिकार प्राप्त करने की क्षमता बढ़ाने तथा दंभपूर्ण पांडित्यवादी प्रवृत्ति को प्रश्रय देने के स्थान पर अपने दोषों को उठा-उठा कर संसार को दिखाते हुए विनम्र भक्तिभाव को अपनाने का मार्ग चुना। उन्होंने यह दावा नहीं किया था कि वे कुछ नया कर रहे हैं अपितु 'यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशंभुना दुर्गमं''''रामायणं' को प्रकट करने की ही घोषणा की थी। श्रीकृष्ण ने गीतोपदेश में भी परंपरा प्राप्त ज्ञान को मात्र पुनर्जीवित करने का दावा किया था, वाल्मीकि ने भी जो कुछ घटित हुआ था, उसी को लिपिबद्ध करने की घोषणा की थी ''' वहाँ न मार्क्सवादी नावीन्य का दंभ था, न अहमन्य पंडितों की दंभपूर्ण घोषणा। यहाँ तो परंपरा के पुण्य प्रवाह को पहचानने की तथा उसको और भी पवित्र बनाकर अगली पीढ़ियों तक पहुँचाने की तत्परता दिखाई देती है। यहाँ राष्ट्रपिता बनने की दंभमयी प्रवृति के स्थान पर 'राष्ट्र का सर्वोत्तम पुत्र' बन पाने की विनम्र प्रयत्नशीलता का दर्शन होता है। निस्संदेह आधुनिक विश्व को इस सांस्कृतिक कला' का तुलसी उच्चस्वर से संदेश देते हैं।

तुलसी ने रामकाव्य की रचना 'राष्ट्र' को उसकी 'चिति' का दर्शन कराने के लिए की थी, चिति के अनुरूप संस्कृति को प्रगतिशील बनाने के लिए की थी, राष्ट्रीय जीवन में प्रतिष्ठित रामादर्श को पुनः सशक्त रूप में प्रस्तुत करने के लिए की थी। प्रत्येक मानव, मानव समूह या राष्ट्र अपने जीवनादर्श को जहाँ साकार पाता है वहीं श्रद्धा उँडेल देता है। बिना जीवनादर्श के व्यक्ति, समूह, राष्ट्र किसी का भी तेजस्वी जीव नहीं हो सकता। तब यदि हम अपने काल में शत-शत बाधाओं को पराभूत कर, विशाल भारत का, शक्ति-शील और सौंदर्य से समन्वित विराट् व्यक्तित्व के आधार पर, निर्माण करने वाले अपने राष्ट्रनायक राम को आदर्श रूप में ग्रहण किए रहें तभी हमारा 'स्व', हमारी 'चिति' तेजस्वी रूप में रहेंगे। कृष्ण ने भी राम को श्रद्धेय माना था और एक से एक बढ़कर महापुरुषों ने भारत पर लोक-संगठन, लोक-संस्कार इत्यादि का कार्य किया किंतु राम के आदर्श रूप को सदैव स्मरण रखा। महान राष्ट्रादर्श की यह जीती-जागती कल्पना राष्ट्रनिर्माण एवं व्यक्ति-निर्माण के लिए अनिवार्य है, यह तुलसी-अध्ययन का आधुनिक दृष्टि से स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है। 'जाके प्रिय न राम वैदेही, तजिए ताहि कोटि बैरी सम जदपि परम सनेही' केवल रामभक्ति का गीत नहीं, भारतीय सांस्कृतिक दिशा का बोधज्ञान भी है।

राजनीति जीवन का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है। सभी नागरिक राजनीति में रुचि रखने वाले नहीं हो सकते किंतु राज्य सभी नागरिकों पर अधिकार और सबके प्रति कर्त्तव्य मानने को बाध्य है। अतः यदि राज्य न्यायी हाथों में रहा, सशक्त हाथों में रहा, त्यागी हाथों में रहा तथा ज्ञानी व्यक्ति के हाथों में रहा तभी शांतिपूर्ण, सुरक्षित, सुसमृद्ध तथा सुसंस्कृत राष्ट्रजीवन चल सकता है, यह समझना कठिन नहीं है। समाजवाद, पूँजीवाद, सामंतवाद, प्रजातंत्रवाद, साम्राज्यवाद आदि वादों के घूँघटों से भी इस सत्य का अवलोकन करने में कुछ कठिनाई नहीं होनी चाहिए क्योंकि वादों के विवाद में मूर्ख लोग पड़ते हैं, 'जो योग्य शासन चले वही सर्वोत्तम है' के अनुसार शासन अंततः शासकों द्वारा ही चलना है भले ही वह किसी भी तंत्र से निकलकर आएँ परंतु शासक राम हो या रावण, यह समाज के लिए महत्वपूर्ण है। मदांध शासक अंततः समाज के लिए घातक होगा भले ही वह महापंडित वेदभाष्यकर्ता, त्रिलोकजेता रावण ही क्यों न हो और वह भले ही सोने की लंका बनाले।

सोने की लंका में भी सुख, शांति और सुरक्षा कहाँ? वहाँ तो वैभव कमाकर लाने वाले बलशाली कुंभकरण की बात हो या हितैषी कालनेमि की या नीतिज्ञ विभीषण की, उसकी उपेक्षा ही होती है। वहाँ सती मंदोदरी और तपस्विनी त्रिजटा भी विनाश को नहीं रोक पातीं और अंततः लंका भस्म होकर ही रहती है। किंतु त्याग पर आधारित आर्य संस्कृति में राज्यपद कलह का कारण नहीं बनता, वहाँ लक्ष्मण, भरत और राम जैसे भाई त्याग के आदर्श उपस्थित करते हैं, कौशल्या और सुमित्रा कैकेयी की कुटिलताओं को सहन करके भी राष्ट्रजीवन की मर्यादा बढ़ाती हैं। सीता, उर्मिला, मांडवी आदि युवतियाँ भी अपने त्यागपूर्ण जीवन की अनुपम गाथाएँ प्रस्तुत करती हैं और अंततः त्याग एवं वैभव का, शूरता और करुणा का, निःश्रेयस और अभ्युदय का समन्वित रूप साकार होकर 'रामराज्य' आता है। दैन्यमयी लंका और अनुदात्त रावण का 'श्रीमती' अयोध्या और उदात्त राम से कैसा कलात्मक वैषम्य है? समष्टि-भावना के ह्रास, जीवन में पुरुषार्थ-साधना में असंतुलन तथा चंचल चित्तता के कारण लंका तथा लंकावासी और अयोध्या एवं अयोध्यावासी कैसे दो विपरीत चित्र प्रस्तुत करते हैं जिनमें गूँजती हुई आर्षवाणी मिलती है—'रामवत् वर्तितव्यं न च रावणादिवत्'। यहाँ व्यष्टि और समष्टि का समन्वय, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के चतुष्टय की साधना तथा लोकमंगल की साधना राम व रामपक्ष में मूर्तिमान है जबकि रावण और रावणपक्ष में

उसका अभाव है । आधुनिक असंतुलित विश्वजीवन को तुलसी ने यहाँ महान संदेश दिया है ।

तुलसी के काव्य में सभी देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा, राम व शिव की परस्पर प्रीति इत्यादि आधिदैविक जगत के तत्वों को भौतिक दृष्टि से समझने का प्रयास 'समन्वयवाद' तक पहुँचकर रुक जाता है । प्रतीकशास्त्र से भी उसमें कुछ मगज मारा जा सकता है किंतु आध्यात्मिक जगत के सत्य को उससे समझा नहीं जा सकता । आध्यात्मिक दृष्टि ही अखंड दृष्टि है जो खंड सत्यों अर्थात् सत्य-खंडों के पीछे की पृष्ठिभूमि जानने के कारण उनका भी यथार्थ मूल्यांकन करने में सक्षम है । व्यष्टि-चेतना को समष्टि-चेतना-रूप परब्रह्म की प्राप्ति कराने की विभिन्न आध्यात्मिक पगडंडियों की यात्रा को जिसने स्वयं न चला हो, वह स्थूल अर्थों में भटककर वैसा ही भ्रमित होता है जैसा वेदों को 'गड़रियों का गीत' कहने वाला विद्वान् अथवा वेदों में इतिहास खोजने वाला महाविद्वान् । तुलसी का जीवनदर्शन अखंड, अद्वैत दृष्टि का होने के कारण तथा साधना के चरमबिंदु तक जाकर सिद्ध होकर भी लोकमंगल की उपासना करने के कारण तुलसी कर्मयोग के उस मार्ग के पुरस्कर्ता हैं जिसमें ज्ञान और योग भक्ति के अंगी बनकर आते हैं तथा व्यक्ति व समाज दोनों का सम्यक् विकास होता चलता है ।

रामराज्य में राम का वैसे ही सर्वोच्च स्वरूप मिलता है जैसे राम में पुरुष का । राम पुरुषोत्तम हैं, रामराज्य राज्योत्तम है । राम मर्यादा की मूर्ति हैं, रामराज्य भी मर्यादा की मूर्ति है । रामराज्य कोई 'यूतोपिया' नहीं है जिसको तुलसी ने काल्पनिक रूप में रचा हो बल्कि वह तो सहस्रों वर्ष पूर्व राम वसिष्ठ आदि के घोर प्रयत्नों के परिणामस्वरूप साकार किया गया एक स्वर्णतथ्य है, एक ऐतिहासिक सत्य, ठीक वैसे ही जैसे गौतमबुद्ध का धर्मचक्र प्रवर्तन और जगद्गुरु शंकराचार्य का दिग्विजय कर बौद्धों को वैदिक धर्म में आत्मसात करना । उस समय तुलसी को उस परंपरा से प्राप्त 'रामराज्य' के भव्य आदर्श का स्मरण भी वैसा स्फूर्तिदायक था जैसे महात्मा गांधी को बीसवीं शताब्दी में । उन्होंने तत्कालीन राज्य-व्यवस्था के दोषों को खुली आँखों से देखा और उसके स्थान पर स्वकीय राज्य की सर्वोत्तम अवस्था क्या हो सकती है, उसको अतीत के इतिहास के सबसे चमकदार पृष्ठ से उठाकर लोकभाषा में कलात्मकता से प्रस्तुत कर दिया ।

तुलसी का रामराज्य सामंती है या प्रजासत्तात्मक—यह प्रश्न निरर्थक

है। तुलसी के राम में सर्वोत्कृष्ट लोकमंगलसाधक सामंत, व्यक्ति-व्यक्ति के स्वत्व की रक्षा करने वाले प्रजातांत्रिक तथा समाज के संपूर्ण हित की कामना से व्यक्ति का पूर्ण विलय भी स्वीकारने वाले समाजवादी इत्यादि सभी की संयुक्त छवि मिलती है। वे जन-जन के प्रिय, लोकमंगल के उपासक, समाज-पुरुष के चरम वैभव के लिए व्यक्तिगत जीवन की आहुति देने वाले वैदिक 'राजा' हैं---मूलतः राजा निर्वाचित होता था—जिनका दायित्व लोक-रंजन का है। समाजवादी या कैसी भी शासन-व्यवस्था क्यों न हो, शासक के व्यक्तित्व का शासन-व्यवस्था पर भारी प्रभाव पड़ता ही है—अमरीकी अध्यक्ष जॉनसन, रूसी प्रधानमंत्री लेनिन, स्टालिन, ख्रुश्चेव आदि, चीनी अध्यक्ष माओ, भारतीय प्रधानमंत्री नेहरू, शास्त्री, इंदिराजी इत्यादि के उदाहरण इस दिशा में अतीत के शत-शत उदाहरणों के साथ इसी सत्य की पुष्टि करते हैं। समाज में व्यक्ति-व्यक्ति को अधिक से अधिक सुख मिल सके इसके लिए प्रमुख शासक की जितनी सचेष्टता होगी, शासनतंत्र उतना ही उस दिशा में उन्मुख हो सकता है। अतः यह है लोकनेता शासक के व्यक्तित्व का स्वरूप और राम इस कसौटी पर सर्वोत्तम हैं। वे किसी भी शासन-व्यवस्था में आदर्श लोकनायक हैं, आदर्श शासक के वांछित गुणों से युक्त हैं।

तुलसी पर आधुनिक दृष्टि से नारी-विरोधी, ब्राह्मण-पक्षपाती व शूद्र-द्रोही तथा मात्र हिंदू-सुधारक होने के कारण सांप्रदायिक होने के आरोप लगाए गए हैं। कुछ विद्वानों की तो यह भी सम्मति है कि समाजवादी समाज की धर्मनिरपेक्षता, नास्तिकता आदि में रामचरितमानस एक बड़ी बाधा है अतः उसे निरुत्साहित कर घर-घर से विदा दिलानी चाहिए। जिस हिंदू धर्म की महानता को विवेकानंद की वाणी ने पराधीनता के काल में विश्व से स्वीकार करा लिया उसको संकुचित या संप्रदाय मात्र कहने वालों की बुद्धिमत्ता! पर टिप्पणी करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वर्ण-व्यवस्था का स्वाभाविक रूप ही शास्त्रवर्णित है किंतु उसे जातिव्यवस्था से गड्डमगड्डा कर देने वाले अज्ञानियों को क्या कहा जाए? ऐसे बुद्धिहीनों ने ही साक्रेटीज को मृत्युदंड दिलाया था, ईसा को फाँसी दिलाई थी और दयानंद को विष दिलाया था। वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-व्यवस्था को एक समझने के कारण उसका विरोध करने वाले व्यक्ति उतने ही भ्रांत हैं जितने उसी कारण उसका समर्थन करने वाले। जो वर्ण-व्यवस्था ही नहीं समझ पाए हैं वे तुलसी पर उसी कारण आरोप लगाएँ तो उन्हें दयनीय ही कहा जाएगा। विद्वान लेखक श्रीनारायण

सिंह ने नारी संबंधी दृष्टिकोण को गलत तरह से प्रस्तुत करने वालों को उचित मार्ग-दर्शन दिया है :

'नारी के संबंध में उनकी अनुभूति और धारणा अच्छी नहीं थी' इस प्रकार की आलोचना करने वालों से जब यह पूछा जाता है कि फिर कौशल्या आदि का उत्कृष्ट चित्रण कैसे हो गया, तों वे उन्हें अपवादमात्र और वैयक्तिक कहकर भाग निकलने की चेष्टा करते हैं और चट से राम पर आकर, यह तर्क करने लगते हैं कि कौशल्यादि की प्रशंसा तुलसी ने केवल 'राम के नाते' अथवा 'उपास्य राम के परिवार से संबद्ध' होने की बात को निबाहने के लिए की है। यदि केवल यही बात है तो इनसे पूछा जाए कि आखिर उस प्रकार के चित्रण करने की अनुभूति कहाँ से आई और फिर यह भी पूछा जाए कि बालि की पत्नी तारा, रावण की पत्नी मंदोदरी तथा दासी त्रिजटा का राम-परिवार से क्या संबंघ था जो उनका चरित्र-चित्रण इतना ऊँचा किया जा सका ?'[1]

सत्य तो यह है कि तुलसी को गलत समझाने के जानबूझ कर किए गए प्रयासों का ही यह दुष्परिणाम है। सती, पार्वती, कौशल्या, सुमित्रा, सीता, शबरी, अनुसुइया, तारा, त्रिजटा, शतरूपा इत्यादि के उत्कृष्ट चरित्रों को प्रकाशित करने वाले तुलसी का नारी संबंधी दृष्टिकोण स्पष्ट है। यों तो 'सब नर काम लोभ रत क्रोधी, देव बिप्र श्रुति संत बिरोधी' इत्यादि कहने वाले तुलसी को मानव-विरोधी भी कहा जाना चाहिए था। पर ऐसा नहीं कहा गया, क्यों ? शायद नारी को अपनी विलासपूर्ति के लिए अनुचित मार्गों एवं दूषित दृष्टि के पुरस्कर्ताओं को रामचरितमानस में आश्रय पाने वाली लक्ष्योन्मुखी तथा साधना प्रवृत्त महिलाओं के प्रति जो रोष है, वही तुलसी के प्रति फूट पड़ा है। काम, क्रोध, लोभ और मोह के दास बने पामरों ने यदि तुलसी को उल्टा समझा तो इसमें आश्चर्य क्या ? रावण भी राम को नहीं समझ पाया था। तुलसी विनम्रता का अक्षय भंडार थे—वे स्वयं को महान धार्मिक नहीं कहते, अध्यात्मिक विभूति नहीं कहते पर राम-भक्त कहते हैं, अपने छोटे से छोटे दुर्गुण को विस्तृत करके दिखाते हैं। 'राम जस संग' के कारण ही अपनी कविता की लोकप्रियता की आशा रखते हैं, 'कवित बिवेक एक नहिं मोरें' यह शपथ पूर्वक कहते हैं और फिर भी अंत में वे कलात्मकता के साथ अज्ञानी

---

१. क्रांतिकारी तुलसी, पृ० १३५-१३६

आलोचकों पर कटाक्ष करते हैं :

समुझि बिबिध बिधि बिनती मोरी।
कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी।
एतेहु पर करिहहिं जे असंका।
मोहि ते अधिक ते जड़ मति रंका।[1]

निःसंदेह, तुलसी की अखंड अद्वैत दृष्टि, परंपरा और प्रयोग में विश्वासी-वृत्ति, लोक और वेद दोनों का आदर करने वाले स्वभाव, संस्कृत और लोक-भाषा दोनों के महत्व को पहचानने वाली बुद्धि, शाश्वत तत्वों और युगीन आवश्यकता को पूरा करने वाली कवित्व शक्ति, निर्भीक और विनम्र प्रकृति तथा संतुलन, समन्वय, समरसता व सरसता में स्नात प्रतिभा ने काव्यकला को सजाकर जो वाङ्मय सरस्वती को अर्पित किया, वह युग-युग में जन-जन व हमारे समाज का मार्ग-दर्शन करने में समर्थ है। विश्व के लिए भी उसमें सांस्कृतिक संदेश है किंतु हमारी राष्ट्रात्मा 'चिति' का तो वह प्रतिबिंब ही है। इसी कारण तुलसी ने कबीर, सूर, जायसी, मीरा सभी से कहीं-कहीं मिलते-जुलते होने पर भी एक महान वैशिष्ट्य प्रदर्शित किया है—एक ऐसा वैशिष्ट्य जिसमें युग और भविष्य, स्वदेश और विश्व, व्यष्टि और समष्टि सभी के लिए महत्वपूर्ण सामग्री है। तुलसी को आधुनिक दृष्टि ही नहीं, हर युग की आधुनिक दृष्टि मूल्यवान मानेगी क्योंकि मणि की चमक अंदर से आती है, बाहर से नहीं।

१. मानस १।१२।४

प्रो० शंभूनाथ चतुर्वेदी

दोहावली में आधुनिक संदर्भ

प्रायः आधुनिकता को परिभाषित करते हुए कहा जाता है कि आधुनिकता, लेखक का जीवन के प्रति एक विशेष प्रकार का संबंध या आत्मीयतापूर्ण लगाव है। मेरे विचार से लेखक अपने युग के लिए आधुनिक होता है, क्योंकि अपने समय, परिवेश और जीवन के प्रति उसका विशेष प्रकार का लगाव होता है। कुछ रचनाकार अपने युग के प्रति तो संवेदनशील होते हैं, साथ ही साथ भविष्य द्रष्टा भी होते हैं। हम कह सकते हैं कि रचनाकार दो तरह के होते हैं। एक, वे जो वर्तमान यथार्थ को अभिव्यक्ति देते हैं और दूसरे, वे जो भविष्य-यथार्थ के चितेरे होते हैं। तुलसी को हम इसी अर्थ में आधुनिक कह सकते हैं कि उनकी रचनाएँ अपने युग का दर्पण तो हैं ही, भविष्य के संबंध में भी जो परिकल्पनाएँ उन्होंने की थी, वे आज सत्य बन गई हैं। बीसवीं सदी के आधुनिक रचनाकार और तुलसी की आधुनिकता में अंतर भी है। आज का रचनाकार आधुनिकता, मूल्यबद्धता और प्रतिबद्धता में कोई संबंध-सूत्र नहीं स्थापित कर पाता। आज का आधुनिक बोध संपन्न रचनाकार केवल निषेधात्मक रूप से आधुनिकता को परिभाषित करता है—दार्शनिक शब्दावली में वह 'नेति-नेति' के माध्यम से आधुनिकता की परिभाषा करता है। तुलसी की आधुनिकता न तो निषेधात्मक कही जा सकती है, न उसमें मूल्यों की अस्वीकृति और रिक्तता है और न प्रतिबद्धता को ही उसमें नकारा गया है। आज का रचनाकार भूलभुलैयों में फँसा हुआ है, विचार और शिल्प के स्तर पर वह जलेबियां बना रहा है और जीवन लक्ष्य के नाम पर किसी खोए हुए

सत्य की तलाश कर रहा है। जीवन की दुखांत कथा की पहिचान को यदि आधुनिकता माना जाय तो तुलसी और आधुनिक रचनाकार में काफी समानता दिखाई पड़ेगी। इतिहास के संदर्भों को व्याख्यायित करने का तुलसी का प्रयास आधुनिक रचनाकार से किसी भी दशा में अशक्त नहीं माना जा सकता। आज की आधुनिकता, राजनीतिक स्थितियों के निरीक्षण और उनके प्रति दायित्वपूर्ण रुख की परिचायक भी मानी जाती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि आधुनिक-बोध और राजनीति-बोध एक दूसरे से अटूट रूप से जुड़े हुए हैं। आधुनिकता को राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता। आधुनिकता की इस कसौटी पर भी तुलसीदास का कृतित्व खरा उतरता है।

मैं तुलसीदास को इसलिए भी आधुनिक कहना चाहूँगा क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति पद्धति आज के आधुनिक बोध संपन्न रचनाकार की ही तरह थी। भाव और शिल्प दोनों ही स्तरों पर तुलसी का स्वर आधुनिक था। आज के रचनाकार की ही तरह उनका स्वर भी मुखौटाबाजी और पर्दापरस्ती का समर्थक न था। तुलसी ने मुखौटे उतारे, लोगों का पर्दाफाश किया, यथार्थ का साक्षात्कार किया और कराया। उनकी काव्य-भाषा भी ऐसे अवसरों पर आज के रचनाकार की तरह सपाट हो जाती थी। सपाट बयानी की दृष्टि से तुलसी की आधुनिकता को अस्वीकारा नहीं जा सकता। चाटुकारों और छद्म वेश धारियों की पोल तुलसी ने सपाट भाषा में ही खोली :

हृदय कपट बर बेष धरि बचन कहहिं गढ़ि छोलि,
अबके लोग मयूर ज्यों क्यों मिलिए मन खोलि।[1]

तुलसी ने व्यक्ति की महानता की कसौटी उसके कर्म को माना, केवल दिखावे को नहीं। मुँह पर नकाब डालने वाले, अपनी वास्तविकता छिपाने वाले लोगों का पर्दाफाश तुलसी ने स्पष्ट शब्दों में किया :

चरन चोंच लोचन रँगौ चलौ मराली चाल,
छीर नीर बिबरन समय बक उघरत तेहि काल।[2]

मुखौटे उतारने का यह स्वर अकविता, अस्वीकृत कविता, भूखी पीढ़ी के कवियों और युयुत्सावादी कवियों से कम नहीं है। यह तुलसी का प्रखर युयुत्सावादी स्वर, है, भले ही युयुत्सा का नारा उन्होंने न लगाया हो। तुलसी

---

१. दोहावली ३३१ २. दोहावली ३३३

का यह विद्रोही स्वर, सुविधा की खोज के लिए भी नहीं था। आजकल के विद्रोहियों की भाँति राज्य-सम्मान पाने के लिए, राज्य सभा और विधान परिषद् में मनोनीत होने के लिए तुलसी ने खिलाफत और बगावत नहीं की थी। तुलसी के काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यही कही जा सकती है कि उन्होंने राज्याश्रय को सदैव अस्वीकारा। उन्होंने न कभी राज-सम्मान की आकांक्षा की और न कभी पदलोलुपता का ही परिचय दिया :

बड़े बिबुध दरबार में भूमि भूप दरबार,
जापक पूजक पेखिअत सहत निरादर भार।[1]

तुलसी की आधुनिकता का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि उन्होंनें आज के शासक वर्ग के लिए भी राजनीतिक आदर्शों को प्रस्तुत किया। उनकी शासन नीति आज के युग के शासक के लिए बहुत उपादेय है। तुलसी की आधुनिकता समसामयिक न होकर सार्वकालिक है। इसीलिए हम तुलसी को अपने युग के लिए ही नहीं, आज के संदर्भ में भी आधुनिक मानते हैं।

तुलसी सही अर्थ में जनवादी और समाजवादी रचनाकार थे। उन्होंने विचार और शिल्प दोनों ही क्षेत्रों में जनवादी परंपराएँ स्थापित कीं। वे समाजवाद का नारा नहीं लगाते थे, वरन् देश और देशवासियों के सम्मुख समाजवाद का सही स्वरूप रखना चाहते थे। तुलसी की मान्यता थी कि शासकवर्ग में माली, किसान और सूर्य की सी विशेषताएँ होनी चाहिए। शासक वर्ग में वे श्रम और पोषक तत्वों का समावेश चाहते थे। तुलसी ने यह सिद्ध कर दिया कि शासक को जनवादी होना चाहिए अपनी नीतियों, सिद्धांतों और क्रिया कलापों में। तुलसी का यह स्वर, सामाजिक प्रतिबद्धता का स्वर था। वे मार्क्स और सार्त्र से किसी भी स्थिति में कम प्रतिबद्ध रचनाकार नहीं थे। तुलसी के समाजवाद और जनवाद का स्वर भी जनवादी भाषा में ही प्रकाशित हुआ है। उनकी उपमान-योजना भी जनवादी है :

माली भानु किसान सम नीति निपुन नरपाल,
प्रजा भाग बस होहिंगे कबहुँ कबहुँ कलिकाल।[2]

तुलसी की समाजवादी और जनवादी व्यवस्था का मूलाधार है कर-निर्धारण की नीति। समाज का संपूर्ण असंतोष और विद्रोह इसी कर-निर्धारण पर निर्भर करता है। तुलसी की मान्यता थी कि शासक वर्ग को इतना कम

१. दोहावली ३९३ २. दोहावली ५०७

कर लगाना चाहिए कि जनता को उसका अनुभव ही न हो पाये। यदि तुलसी की इस कर-निर्धारण की नीति पर आज के अर्थशास्त्री ध्यान दें, आज के शासक ध्यान दें, तो नक्सलपंथी और 'भूमि-कब्जा' संबंधी सभी आंदोलन अपने आप समाप्त हो जायेंगे। तुलसी के मस्तिष्क में समाजवादी व्यवस्था की स्पष्ट रूपरेखा विद्यमान थी। उनकी धारणा थी कि सरकार को कम से कम कर जनता पर लगाने चाहिए। इसीलिए उन्होंने अच्छे शासक की समता सूर्य से स्थापित की। सूर्य जब अपनी किरणों से जल खींचता है तो किसी को पता नहीं चलता, लेकिन जब जल-वृष्टि होती है तो संपूर्ण जन-समाज उल्लसित हो उठता है :

बरसत हरषत लोग सब करषत लखै न कोइ,
तुलसी प्रजा सुभाग ते भूप भानु सो होइ।[1]
सुधा सुनाज कुनाज फल आम असन सम जानि,
सुप्रभु प्रजा हित लेहिं कर सामादिक अनुमानि।[2]

तुलसी की यह आर्थिक नीति न तो मार्क्स और लेनिन के अर्थशास्त्र से कमजोर है और न किसी आधुनिक समाजवादी राजनीतिक दल की आर्थिक नीतियों से कम प्रगतिशील। समाजवादी देशों को तुलसी की इस कर-नीति पर ध्यान देना चाहिए। समाजवादी शासन-व्यवस्था के शासन-यंत्रों का विश्लेषण भी तुलसी ने अपनी रचनाओं में किया है। तुलसी ने शासक-वर्ग और जनता के संबंधों का विवेचन भी अपनी कविता में किया। समाजवादी राज्य में प्रजा और शासक एक दूसरे के पोषक हैं, पूरक हैं। मैं तुलसी को इसलिये भी आधुनिक मानता हूँ कि विचार और शिल्प दोनों के ही स्तर पर वे आधुनिक बोध से संपन्न दिखाई पड़ते हैं। जनता और शासकवर्ग के पारस्परिक संबंधों की व्याख्या वे आधुनिक शिल्प के माध्यम से करते हैं। वे शरीर-विज्ञान पर आधारित रूपक का प्रयोग करते हैं, अपने मत प्रकाशन के लिए। तुलसी की विचारधारा भी आधुनिक है और शिल्प भी :

रसना मंत्री दसन जन तोष पोष निज काज,
प्रभु कर सेन पदादिका बालक राज समाज।[3]

तुलसी ने समाजवादी राष्ट्र में कृषि, व्यापार, शिक्षा तथा अन्य शिल्प-

१. दोहावली ५०८ २. दोहावली ५०९
३. दोहावली ५२५

कलाओं के विकास की आवश्यकता अनुभव की थी। तुलसी ने देश के सर्वांग विकास की चर्चा अपनी कविता में की है। तुलसी की कविता आधुनिक जीवन के जितनी निकट है, उतनी संभवतः किसी बीसवी सदी के रचनाकार की भी नहीं है :

खेती बनि बिद्या बनिज सेवा सिलिपि सुकाज,
तुलसी सुरतरु सरिस सब सुफल राम के राज। [1]

जन-कल्याण के लिए ही राजा (आधुनिक युग में प्रधान मंत्री) को अपने मंत्रि-मंडल का गठन करना चाहिए। यदि राजा की नीतियों को क्रियान्वित करने वाला मंत्रिमंडल न होगा तो शासन-व्यवस्था में अनेक व्यवधान आएँगे। मंत्रिमंडल की एकरूपता का उल्लेख भी तुलसी ने अपनी कविता में किया है। सिद्धांतों और नीतियों में समान आस्था ही मंत्रिमंडल के निर्माण का प्रमुख आधार होना चाहिए। मेरे विचार से यही समान सिद्धांतों वाले राजनीतिक दलों के ध्रुवीकरण का मूलाधार भी है :

रैअत राज समाज घर तन धन धरम सुबाहु,
साँत सुसचिवन सौंपि सुख बिलसत नित नरनाहु। [2]

कोई भी समाजवादी देश मात्र राष्ट्र-नीति ही नहीं बल्कि परराष्ट्र-नीति या विदेश-नीति के आधार पर ही सफल हो सकता है। तुलसीदास के काव्य में परराष्ट्र-नीति के सूत्र भी बिखरे पड़े हैं। तुलसी की विदेश-नीति का आधुनिक युग में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिये। तुलसी की परराष्ट्र-नीति एक सीमा तक उदारपंथी है। वे किसी भी राष्ट्र को सर पर चढ़ाने के पक्षपाती नहीं थे। तुलसीदास विदेश-नीति में सावधानी, स्वराष्ट्र सम्मान और दूरदर्शिता के पक्षपाती थे। चीन और पाकिस्तान के साथ अपनी नीति-निर्धारण में तुलसी की विदेश-नीति हमारे लिए बहुत सहायक हो सकती है :

सत्रु सयानो सलिल ज्यों राख सीस रिपु नाव,
बूड़त लखि पग डगत लखि चपरि चहूँ दिसि धाव। [3]

मैं यह मानता हूँ कि किसी भी रचनाकार की स्थिति एक चिकित्सक की सी होती है। चिकित्सक रोग का निदान भी करता है और चिकित्सा भी।

---

१. दोहावली १८४ २. दोहावली ५२१
३. दोहावली ५२०

चिकित्सक की सफलता उसके उपचार पर निर्भर करती है । यदि चिकित्सक किसी रोगी को क्षय रोग बताकर फीस जेब में रखकर चल देता है, तो रोगी की मृत्यु निश्चित समझनी चाहिए । निदान के बाद समुचित उपचार की व्यवस्था चिकित्सक को करनी चाहिए । रोग के निवारण हेतु उपयुक्त नुस्खा भी लिखना चाहिए । साहित्यकार की स्थिति भी ठीक ऐसी है । समाज की अव्यवस्था का उल्लेख करके उसे उसकी व्यवस्था हेतु संकेत भी करने चाहिए । विश्व-साहित्य में टालस्टाय, गोर्की, कालिदास, तुलसी और प्रेमचंद ऐसे ही रचनाकार कहे जा सकते हैं । तुलसी ने समाजवादी व्यवस्था के संचालन हेतु नीति निर्धारित की और साथ ही साथ इस नीति के प्रति उदासीनता के दुष्परिणामों का उल्लेख भी किया । स्वार्थ-सिद्धि में लगे शासकों और नेताओं के पतन का संकेत भी तुलसी ने अपनी कविता में किया है :

राज करत बिनु काजहीं ठटहिं जे क्रूर कुठाट,
तुलसी ते कुरुराज ज्यों जइहैं बारह बाट ।[1]

तुलसी समाजवादी कवि थे, जनवादी रचनाकार थे । जन-कल्याण की भावना उनके समाजवाद की नींव थी ।

परहित सरिस धर्म नहिं भाई । पर पीड़ा सम नहिं अधमाई । इसी समाज-वाद पर आधारित देश की गौरवमय कल्पना तुलसीदास ने 'उत्तरकांड' में की । वे प्रत्यक्ष रूप से देश-प्रेम और राष्ट्रीयता को जगाने वाले रचनाकार थे । आदर्श देश, आदर्श राज्य और आदर्श शासक वर्ग की उनकी कल्पना को हमें आज साकार करना है । देश की सरिताएँ हमारे लिये प्रेरणादायिनी बनें, नारियाँ देश की बागडोर को संभाल कर नई दिशाओं की ओर राष्ट्र को ले जायें, शासकवर्ग नीति को मान्यता दे :

धन्य सो देश जहाँ सुरसरी । धन्य नारि पतिब्रत अनुसरी ।
धन्य सो भूप नीति जो करई । धन्य-सो द्विज निज धर्म न टरई ।

तुलसीदास, इसलिये भी सच्चे अर्थों में आधुनिक कहे जा सकते हैं कि उन्होंने केवल निषेध-पक्ष में ही आधुनिकता को स्वीकार नहीं किया । केवल विघटन, निराशा, कुंठा और अनास्था के चार घोड़ों के रथ पर ही उन्होंने जन-जीवन को सवार नहीं किया । जीवन-लक्ष्य के नाम पर मात्र एक काला धब्बा ही

---

१. दोहावली ४१७

उनकी नजरों के सामने न था । उन्होंने 'उत्तरकांड' में एक ओर ह्रासोन्मुखी स्थितियों का उल्लेख किया और दूसरी ओर ऐसे आदर्शों का संकेत भी किया जिनके सहारे युग-जीवन का पुनर्निर्माण हो सकता है । तुलसी की आधुनिकता हेमिंग्वे के उपन्यास 'द ओल्ड मेन एंड द सी' के कथानायक मछुआरे की भाँति है । जीवन की असफलताएँ उसे निराश नहीं करती हैं—वह पराजय के स्थान पर जय का संदेशवाहक है । तुलसी की आधुनिकता आज के मानव को मात्र निष्क्रिय, जड़, और पशु नहीं बनाती । वे हेनरी मिलर के उपन्यास 'ट्रापिक ऑफ कैंसर, हर्मेन हैस के उपन्यास 'स्टीपेन बुल्फ' और काफ्का की कहानी 'मेटामोर्फोसिस' की भाँति मानवता की अपेक्षा पशुता में अधिक रुचि नहीं लेते । तुलसी की आधुनिकता इसलिये पूर्ण है कि उसमें पशु को मानव और महामानव के स्तर पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया है । रीछ और वानरों को तुलसी ने महामानव राम के चरित्र-स्तर तक उठाने का स्तुत्य प्रयास किया । आज के युग की आवश्यकता पशुता में मानवता की ओर जाने की है । तुलसी मानव-द्रोही (मिस एनथाप) न होकर मानवतावादी थे, और जनवादी थे ।

श्री अभयपालशरण रस्तौगी

तुलसी : समाजशास्त्री की दृष्टि में

जीवन के ऊबड़-खाबड़ कंटकाकीर्ण पथ पर अनवरत गति से बढ़ते हुए महान चरणों की छाया कुछ स्मृति चिह्न छोड़ जाती है जिसे सुसंस्कृत वर्ग इतिहास, पुराण, दर्शन किंवा स्मृति शास्त्रों की वैज्ञानिक संज्ञाओं से विभूषित करता है। भयानक वन, कगारों को निगलती नदियाँ, धरा-भक्षक सागर और मुँह, फैलाए कंदराएँ झील का अंतिम पत्थर बन कर पथ रोकने का अवांछनीय प्रयास करते हैं किंतु अनोखा राही सृजन का पथ प्रशस्त करता द्रुतगति से बढ़ता ही जाता है, रुकता नहीं। श्रद्धेय तुलसी एक ऐसे ही महायोगी थे जिन्हें साहित्यिक महाकवि; धर्मभीरु संत तथा समाजशास्त्री समाज-सुधारक कहने में गौरव अनुभव करते हैं। वस्तुतः महाकवि के हृदय, संत के हाथों एवं समाज-सुधार की लेखनी ने सत्यं शिवं सुन्दरम् की जिस 'मानस' त्रिवेणी का सृजन किया, वह युग-धर्म का साकार चित्र प्रस्तुत करती है। 'मानस' मोतियों की वह लोक-निर्मात्री माला है जिसे कर्तव्य के धागे में वेद, शास्त्र, उपनिषद, पुराण प्रभृति रंग-बिरंगे भाव-मोतियों द्वारा गूँथा गया है। यहाँ हम उस लोक-निर्माता पथिक की कुछ क्रांतिकारी विचारधाराओं का विशद विवेचन करेंगे।

समन्वयवाद : लब्ध प्रतिष्ठ आलोचक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। युगद्रष्टा तुलसी को हम इस तथ्य से आँकते हैं तो लगता है समन्वय उनकी कला का अभिन्न अंग

बन गया है। तभी तो शैव और वैष्णवों की दो विरोधी विचारधाराओं को समन्वय के शांत चौराहे पर केवल दो पंक्तियों द्वारा लाकर खड़ा कर दिया है :

सिव द्रोही मम भगत कहावा।
सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा।[1]

इसी भाँति ज्ञान और भक्ति के संबंध में पर्याप्त अवधि से चली आ रही आपसी तू-तू, मैं-मैं का निराकरण तुलसी की समन्वयकारी दार्शनिकता का परिचायक है :

ग्यान पंथ कृपान कै धारा।
परत खगेस होइ नहिं बारा।[2]

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि तुलसी का काव्य समन्वय की विराट् चेष्टा है। लोकशास्त्र का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, गार्हस्थ और वैराग्य का समन्वय, कथा और तत्वज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चांडाल का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय'''मानस शुरू से अंत तक समन्वय का काव्य है।

लोक और वेद के विलक्षण सामंजस्य के लिए महाकवि की लेखनी कितनी सिद्धहस्त है :

लोक बेद सम्मत सबु कहई।
जेहि पितु देइ राज सो लहई।[3]

वर्गवाद एवं जाति-विभेद को खुली चुनौती : संत तुलसी पर वर्गवाद एवं जाति विभेदवाद का आरोप करने वाले अपनी मान्यताओं की पुष्टि में दो पंक्तियों का सहारा लेते रहे हैं :

ढोल गँवार सूद्र पशु नारी।
सकल ताड़ना के अधिकारी।[4]

जिसका अर्थ लगाया जाता रहा कि ढोल, गँवार, शूद्र, पशु और नारी को ताड़ना देना, पीटना शास्त्रसम्मत है तथा तुलसी इन सबके पीछे डंडा लेकर पड़े हुए हैं किंतु यदि विद्वत् समाज क्षमा करें तो मैं एक दुस्साहस

---

१. मानस ६।२।४ २. मानस ७।११६।१
३. मानस २।२०७।२ ४. मानस ५।५६।३

करूँगा और वह यह कि काव्य सदैव विविध अर्थों, दृष्टिकोणों, लाक्षणिक अभिव्यंजनाओं एवं भिन्न अनुभूतियों का मिलन स्थल रहा है। फलतः उपर्युक्त पंक्तियों का भावार्थ इस प्रकार स्पष्ट किया जाए तो साहित्यिक जगत् उदार दृष्टिकोण अपनायेगा, ऐसी आशा है।

तुलसी के उदाहरण-पात्र पाँच नहीं अपितु चार हैं जिनमें दो सजीव तथा दो निर्जीव हैं। ढोल, नारी, (स्त्री नहीं, प्रत्युत अवध में प्रयोग किये जाने वाला किसान का एक उपकरण जिसे बीज बोने के समय काम में लाया जाता है तथा हल के साथ ठक-ठक की ध्वनि से बीज वपन की क्रिया संपन्न होती है।) दोनों निर्जीव पात्र हैं। दोनों को ही ताड़ना दिये बगैर काम नहीं चलता। गँवार शूद्र और पशु दो सजीव पात्र हैं। गँवार स्वयं संज्ञा न होकर शूद्र का विशेषण है। शूद्र वर्ग को, जो विशाल समुदाय के रूप में रहा है तथा जिसने वाल्मीकि, निषाद एवं शबरी जैसी उदात्त आत्माओं को जन्म दिया है, ताड़ना देकर वश में करना रामराज्य की निर्दयता ही कही जाएगी। अतः शूद्रों में भी जो गँवार, अधम, नीच, दुष्ट नर हैं उन्हीं को मारना-पीटना नहीं वरन् ताड़ना क्रिया (डाँट-फटकार आदि जिसका एक रूप है) प्रभृति सुधारवादी कृत्यों द्वारा समाज के अनुकूल बनाना महाकवि की लेखनी को अभीष्ट था। जाति-पाँति और वर्गवाद की वकालत ही तुलसी का लक्ष्य होता तो वह सात्विक वाणी यह न कह पाती :

मेरे जाति पाँति न चहौं काहू की जाति पांति।

और वैचारिक उदारता देखिए :

धूत कहौ अवधूत कहौ,
रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ।
काहु की बेटी सों बेटा न ब्याहव,
न काहु की जाति विगार न सोऊ।[1]

जगज्जनी सीता, ममता की प्रतिभा और आदर्शमूर्ति कौशल्या, सती अनुसूया का उदात्त चरित्र नारी-विरोधी लेखनी लिख सकेगी? असंभव है, हाँ प्रकृति के विपरीत जाना सर्वथा हानिप्रद है जिसे आज की 'कल्चर्ड रमणी' व्यावहारिक रूप प्रदान कर कुछ विचित्र झमेले प्रस्तुत कर रही है।

---

१. कवितावली ७।१०६

साम्यवाद : तुलसी का आदर्श साम्राज्य वहाँ है जहाँ न विषमता है, न दरिद्रता और न दुख है, न क्लेश। समानता एवं सहानुभूति का स्वच्छंद विचरण है तथा शांति की दुंदुभी जय-जयकार कर रही है :

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।
नहि कोउ अबुध न लच्छन हीना।[1]

अबोध अर्थात् अज्ञान समस्त दुःखों की खान है अतः जब ज्ञान और शिक्षा की प्रवृद्धि होगी तो समाज स्वयमेव कर्त्तव्य और अधिकारों की वास्तविकता का अनुभव करेगा। दुःख तथा दारिद्रय समाज से दूर भागते जायेंगे। समरसता, समानता, अस्तित्व एवं सदाचार का पथ उज्ज्वल बनेगा। शोषण का दानवीय रावण एवं शांतिप्रिय शोषितों के नायक मर्यादा पुरुषोत्तम राम का द्वंद्व-युद्ध युगप्रवर्तक तुलसी की सामाजिक क्रांति का विकसित रूप है जिसे हम मानवता तथा दानवता का खुला संघर्ष कह सकते हैं। महाकवि स्वयं अभावों में पले थे। बचपन में ही माता-पिता का इहलोक से प्रयाण उन्हें दरिद्रता का यथार्थ रूप दिखा सका :

बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन ।
जानत हौं चारिफल चारि ही चनक को।[2]

तथाकथित भावनाओं का प्रणेता यदि साम्यवाद और समाजवाद की आधारशिला रखे तो कोई अतिशयोक्ति नहीं।

लोकतंत्री और प्रजाप्रिय दशरथ की तीव्र अभिलाषा है कि वह अपने सुयोग्य पुत्र को युवराज पद सौंप दे। महत्वाकांक्षाओं ने नये-नये भविष्य का भवन निर्माण कर लिया है। अधिकार और कर्त्तव्यों में होड़ लगी है। किंतु यह सब क्यों? जनता का आदेश, समाज की इच्छा और राष्ट्र के नियम सहमत होंगे तभी न—विनम्र एवं आशा भरे शब्दों में दशरथ की वाणी जनता जनार्दन के समक्ष इस प्रकार प्रकट हुई :

जौं पाँचहि मत लागै नीका ।
करहु हरषि हियँ रामहि टीका ।[3]

लोकतंत्र की कितनी महान धारणा है। समाज की मर्यादा का कैसा

१. मानस ७।२१।३ २. कवितावली ७।७३
३. मानस २।५।२

मनोहर रूप है। लोकतंत्र की कितनी उत्कृष्ट मान्यता है। जनता का सेवक महाराजा दशरथ किसी व्यक्ति विशेष से नहीं, दो चार या पाँच व्यक्तियों से ही नहीं बल्कि पंच परमेश्वर में आस्था रखने वाले जनसमुदाय से आज्ञा माँग रहा है।

डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि तुलसी ने दर्शन की अनुमति धर्म को प्रदान की है तथा दर्शन-साहित्य को मानव की श्रेष्ठतम प्रेरणाओं का प्रतीक बना दिया है। उन्होंने भक्ति को जीवन के रोगों की अमोघ औषधि मानकर उसका व्यावहारिक एवं सुगम रूप उपस्थित किया है। परंपरा और प्रयोग का ऐसा मणिकांचन समन्वय किसी भी इतर कवि और संत में नहीं।

डा० रामविलास शर्मा के मतानुसार तुलसी ने काम, क्रोध, लोभ, मोह से संघर्ष किया है—उनको जड़ से उखाड़ने के लिए नहीं, प्रत्युत मर्यादित करने के निमित्त। शूर्पणखा और नारद के दो चरित्र जिसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

अस्तु, पिता का पुत्र के प्रति, पुत्र का पिता के प्रति, माता का आत्मज के प्रति, आत्मज का माता के प्रति, पति का पत्नी के प्रति, पत्नी का पति के प्रति, भाई का भाई के प्रति तथा मित्र का मित्र के प्रति जो कर्तव्य है—उसका आदर्श प्रस्तुत करना लोकनिर्माता तुलसी का मानवीय मिशन रहा है और उन्हें अपने इस पवित्र मिशन को सर्वत्र पहुँचाने में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। उन्हें हम कवि कहें या दार्शनिक, समाज-शास्त्री कहें या राजनीतिज्ञ, धर्म-प्रणेता कहें या समाज-नायक, साम्यवाद का संस्थापक और लोकतंत्र का पुजारी कहें या मानवता का महान भक्त, सब कुछ थोड़ा है। फलतः हम उन्हें कहेंगे—सरस्वती के साधक, सद्धर्म के प्रणेता, समाज के नायक और इसके बाद लोकनिर्माता महामानव तुलसी।

डॉ० कृष्णचंद्र गुप्त

तुलसी की दृष्टि—पुरुषार्थ और भाग्य के संदर्भ में

तुलसी-काव्य में जीवन और जगत की अनेक समस्याओं पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार उपलब्ध होते हैं। तुलसी ने 'नानापुराणनिगमागम' का मंथन करते हुए अपनी प्रखर प्रतिभा से लौकिक-जीवन का सूक्ष्म दर्शन किया, जिसके फलस्वरूप उनका साहित्य अनेक समस्याओं के तर्कसंगत समाधानों से भरपूर है। इन समाधानों में प्रायः संगति और एकरूपता है। कहीं-कहीं तो प्रसंग-भेद या दृष्टि-भेद से कुछ असंगति या विरोध दृष्टिगत होता है, उसका भी समाधान पूर्वापर प्रसंगों और विचारों से हो जाता है। परंतु भाग्य या पुरुषार्थ के विषय में परस्पर विरोधी विचार अनेक प्रसंगों में प्राप्त होते हैं। भारतीय जीवन-दर्शन के संदर्भ में भाग्य और पुरुषार्थ को लेकर दो दृष्टिकोण समानांतर चलते दिखाई देते हैं। किसी भी भारतीय मनीषी के लिए इनके विषय में मौन रहना सहज या वांछनीय नहीं रहा। इसीलिए भाग्य या पुरुषार्थ में से किसी एक का तर्कसंगत प्रतिपादन करने के अतिरिक्त कोई मार्ग शेष नहीं रह जाता, क्योंकि शास्त्र या लोकदर्शन से प्रसूत चिंतन भाग्य या पुरुषार्थ के पक्ष में व्यक्त होकर सामाजिक एवं नैतिक मानव मूल्यों को निर्धारित करता है। तुलसी ने भी विभिन्न घटनाचक्रों में पड़े हुए पात्रों के माध्यम से भाग्य की अपरिहार्यता तथा पुरुषार्थ की अनिवार्यता के विषय में विचार व्यक्त किये हैं। कहीं-कहीं पात्रों के व्यक्तित्व एवं घटनाओं पर टिप्पणियों के रूप में मत भी व्यक्त किया गया है।

यदि किसी एक ही पक्ष में विचार व्यक्त किए गये होते तो समस्या कुछ भी नहीं थी, लेकिन दोनों विषयों के पक्ष में परस्पर विरोधी विचारों को देखकर यह जिज्ञासा संभवतः उठती है कि आखिर तुलसी ने किसका प्रतिपादन किया है ? संभवतः किसी अन्य विषय पर इतने परस्पर विरोधी विचार तुलसी-काव्य में प्राप्त नहीं होते। फिर भारतीथ जीवन में तुलसी के प्रभाव एवं स्थान को देखते हुए यह निर्णय करना केवल साहित्यिक या वैचारिक दृष्टि से ही उपादेय नहीं है अपितु जनमानस को प्रभावित करने वाले कवि की दृष्टि पुरुषार्थ के पक्ष में है या भाग्य के पक्ष में, यह जानना भी आवश्यक है, जिससे भटकते हुए जनमानस को दिशानिर्देश मिल सके।

भाग्य एवं पुरुषार्थ विषयक चिंतन को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है :

१. व्यक्ति का नियमन स्वयं व्यक्ति के द्वारा।

२. व्यक्ति का नियमन अलौकिक शक्ति के द्वारा।

१. व्यक्ति का नियमन स्वयं व्यक्ति के द्वारा :

व्यक्ति अपने कार्यों के लिए स्वयं ही उत्तरदायी है। उसकी गतिविधियों का नियमन किसी अलौकिक शक्ति के, जिसे भाग्य, प्रकृति, परमेश्वर या अन्य कोई भी नाम दिया जा सकता है, द्वारा नहीं होता है। इसलिए अपने सुख-दुःख के लिए उसके ही शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित, वांछनीय-अवांछनीय कर्म उत्तरदायी हैं। यह दृष्टिकोण पुरुषार्थवादी है। इसके प्रतिपादक प्रसंगों एवं कथनों में तुलसी ने कर्म करने की स्वाधीनता, कर्म की प्रतिष्ठा, कर्मानुसार फलभोग की अनिवार्यता एवं रामार्पण करके शुभाशुभ कर्मों की अनासक्त भाव से त्याग की भावना प्रतिपादित की है। इन्हीं शीर्षकों के अंतर्गत तुलसी के इस दृष्टिकोण का निरूपण और विवेचन करना तर्कसंगत होगा।

(अ) कर्म करने की स्वाधीनता :

किसी अलौकिक, अदृश्य शक्ति के नियमन पर शुभाशुभ या इच्छित-अनिच्छित का विवेक न करते हुए मनुष्य, तुलसी के मतानुसार, कर्म करने के लिए विवश नहीं है, अपितु जड़-चेतन, सदसद् एवं उचित-अनुचित सभी प्रकार के तत्वों से भरपूर संसार में मनुष्य उचित करने के लिए भी उतना ही स्वतंत्र है जितना अनुचित करने के लिए। मानस के प्रस्तुत प्रसंग में इसी कर्म-स्वाधीनता को प्रतिपादित किया गया है :

भलेउ पोच सब बिधि उपजाए। गनि गुन दोष बेद बिलगाए।
कहहिं बेद इतिहास पुराना। बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना।
दुख सुख पाप पुन्य दिन राती। साधु असाधु सुजाति कुजाती।
दानव देव ऊँच अरु नीचू। अमिय सजीवन माहुरु मीचू।
माया ब्रह्म जीव जगदीसा। लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा।
कासी मग सुरसरि क्रम नासा। मरु मारव महिदेव गवासा।
सरग नरक अनुराग बिरागा। निगमागम गुन दोष बिभागा।
जड़ चेतन गुन दोष मय, बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार।[1]

इस प्रकार कर्म करने की स्वाधीनता का उपभोग करते हुए ही मनुष्य शुभाशुभ कर्मों का शुभाशुभ परिणाम भुगतने के लिए बाध्य है। मानस के अयोध्याकांड में भरत की मति फेरने के लिए जब देवराज इंद्र ने बृहस्पति से कहा, तब उन्होंने कर्मानुसार फल-भोग की प्रतिपादक प्रस्तुत प्रख्यात धारणा को व्यक्त किया। इससे भी कर्म करने की स्वाधीनता ध्वनित होती है :

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा।[2]

'जैसा करेगा' में चयन की स्वाधीनता व्यंजित होती है, 'वैसा ही फल पाएगा' से अचूक परिणाम व्यवस्था सूचित होती है।

(आ) कर्म की प्रतिष्ठा :

किसी अलौकिक अदृष्ट शक्ति पर भरोसा कर आत्मबल के प्रति आश्वस्त होकर हाथ पर हाथ धर बैठना निष्क्रियता एवं अविवेक का लक्षण है। समुद्र से मार्ग देने की प्रार्थना कर बिना प्रयास सागर तरने के, पुरुषार्थ की अवहेलना सूचक, कार्य को लक्ष्मण जैसे पुरुषार्थी स्वीकार नहीं कर पाते तथा अलौकिक शक्ति, दैव, भाग्य या विधाता के अवलंब को कायरों के जीवन का आधार मानते हुए वे मनस्वी सुलभ स्वाभिमान के स्वर में पुरुषार्थ द्वारा अर्जित सफलता के गौरव के प्रति सबका ध्यान आकृष्ट करते हैं :

नाथ दैव कर कवन भरोसा। सोषिउ सिंधु करिअ मन रोसा।
कादर मन कहुँ एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा।[3]

बिना पुरुषार्थ किए हुए या कम पुरुषार्थ किए हुए प्राप्त होने वाले फल

---

१. मानस १।६।२-५ दोहा २. मानस २।२१९।२
३. मानस ५।५१।२

में दीनता और दैव की कृपा का भार रहता है, जो स्वाभिमानी व्यक्ति को गरिमामय नहीं लगता।

(इ) कर्मानुसार अनिवार्यतः फलभोग :

तुलसी ने कर्म करने की स्वाधीनता एवं कर्म की प्रतिष्ठा के साथ-साथ कर्मानुसार अनिवार्यतः फलभोग की स्थिति का भी प्रतिपादन किया है। लौकिक दृष्टि से कर्मानुसार अनिवार्यतः फलभोग का सिद्धांत तथा पारलौकिक दृष्टि से सारे जगत का प्रपंच, मोहमूल, स्वार्थपरक एवं स्वप्नवत् मानकर, 'जगन्मिथ्या' का सिद्धांत प्रतिपादित किया है। मानस के अयोध्याकांड में केवट राम-वनगमन के प्रसंग में कैकेयी को दोषी मानता है, तब प्रत्यक्ष कार्य-कारण की अनिवार्यता की उपेक्षा करते हुए लक्ष्मण कैकेयी को दोष-मुक्त करते हुए 'निजकृत कर्म-भोग सबु भ्राता' को मानते हुए भी, निर्दोषी राम के दुःख उठाने का कोई तर्क-संगत कारण न खोज सकने पर कार्यकारण संबंध से परिचालित जगत को ही प्रपंच ठहराते हैं।[1]

लक्ष्मण भेदबुद्धि से दोषारोपण करने को ही निरर्थक मानते हैं। फिर दोष कैकेयी का है या उसको भ्रमित करने वाली मंथरा का ? या मंथरा की बुद्धि को फेरने वाली सरस्वती का ? या सरस्वती से याचना करने वाले देवताओं का ? या रावण के प्रति देवताओं की आशंका का ? आखिर किसका ? किसी एक का या सबका ? यदि सबका तो किस मात्रा में कौन दोषी है ? इस तर्कजाल से किसी का निकलना सहज नहीं। अतः इस अप्रिय प्रसंग को, दोषयुक्त अन्वेषण को, निरर्थक सिद्ध करने के लिए पारलौकिक या आध्यात्मिक दृष्टि का सहारा लेकर जगन्मिथ्या या संसार स्वप्नवत् है कहकर इस सारे दोषारोपण के मूल में जगत के व्यावहारिक क्रियाकलाप को ही निरर्थक प्रतिपादित किया गया है।

अतः 'निज कृत कर्म भोगु सबु भ्राता' वाली व्यावहारिक एवं तर्कसंगत धारणा का प्रतिपादन करते हुए जब प्रायः बिना किये हुए कर्मों को भोगने के तथा थोड़े अपराध का अधिक फल भोगने के उदाहरण जगत में दृष्टिगत होते हैं, तब इस धारणा की सार्वभौमिकता एवं सार्वकालिकता का अतिक्रमण होता है और फिर किसी अलौकिक-अदृष्ट शक्ति के द्वारा जगत के नियमन का सिद्धांत लागू होता हुआ दिखाई पड़ता है। इसी पर विश्वास करते हुए ऐसे उदाहरणों की संगति बैठती है या फिर पूर्व जन्मों के कर्मों का फलभोग इनका कारण माना जा सकता है।

---

१. मानस २।९२।२-४ से ९३।१ तक

मानस के उत्तरकांड में राम हनुमान के सम्मुख लौकिक दृष्टि से अनिवार्य कर्म फलभोग एवं अलौकिक या पारलौकिक दृष्टि से पारमार्थिक गुण-दोष निरपेक्ष विचार का प्रतिपादन करते हैं :

करहिं मोहबस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना।
कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ कर्म फलदाता।
अस बिचारि जे परम सयाने। भजहिं मोहि संसृति दुख जाने।
त्यागहिं कर्म सुभासुभ दायक। भजहिं मोहि सुर नर मुनि नायक।
संत असंतन्ह के गुन भाखे। ते न परहिं भव जिन्ह लखि राखे।
सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिहिं, देखिअ सो अविवेक।[1]

शुभाशुभ कर्मों के गुण-दोषों से बचा भी जा सकता है यदि उन्हें रामार्पण कर दिया जाए। भक्ति भावना की इस शब्दावली का व्यावहारिक अर्थ यह हो सकता है कि यदि अनासक्त भाव से, मात्र कर्तव्य की प्रेरणा से जो भी अच्छे या बुरे समझे जाने वाले कर्म किए जाएँ तो उनका परिणाम सुखी या दुखी नहीं करता अर्थात् सफलता मिलने पर गर्व नहीं होता, असफलता मिलने या मनचाहा फल न मिलने पर निराशा नहीं होती, क्योंकि कर्म तो शुद्ध कर्तव्य भाव से किए गए हैं।

विनयपत्रिका के प्रस्तुत अंश में भी यही धारणा व्यक्त हुई है कि विवेक से ही कर्म-कीचड़ से मुक्त हुआ जा सकता है अर्थात् विवेकपूर्ण अनासक्त दृष्टिकोण अपनाने से ही कर्मफल के सुख-दुख से निर्लिप्त हुआ जा सकता है :

जनम अनेक किये नानाबिधि करम कीच चित सान्यो।
होइ न बिमल बिबेक नीर बिनु बेद पुरान बखान्यो।[2]

शुद्ध-बुद्ध आत्माओं के लिए आध्यात्मिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया यह 'गुणदोष' का चिंतन उपयोगी है परंतु सामान्य जन के लिए तो राम विधाता या नियामक 'सुभ अरु असुभ कर्म फल दाता' ही हैं। अर्थात् मनुष्य कर्मानुसार ही फल प्राप्त करता है। निम्नलिखित कथन कर्मानुसार फलभोग की धारणा को ही पुष्टि करते है :

मानस के अयोध्याकांड में दशरथ राम को सहज निगमनीति—कर्मानुसार फलभोग की नीति—बता रहे हैं :

---

१. मानस ७।४१।२-४ २. विनयपत्रिका ८८

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईस देइ फल हृदयँ बिचारी।
करइ जो करम पाव फल सोई। निगम नीति असि कहँ सब कोई।[1]

जीव के कर्मों पर ईश विचार कर फल प्रदान करता है। यही तथ्य भरत के प्रति वशिष्ठ के प्रस्तुत कथन में व्यक्त हुआ है :

जनम हेतु सब कहँ पितु माता। करम सुभासुभ देइ बिधाता।[2]

शुभाशुभ कर्म अर्थात् शुभाशुभ भाग्य विधाता निर्धारित करते हैं। निश्चय ही इस भाग्य-निर्माण का कोई आधार तो होगा ही। पूर्व कर्मों के अतिरिक्त और क्या आधार हो सकता है ? मानस के उत्तरकांड में राम हनुमान से यही तथ्य प्रकट करते हैं :

काल रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ कर्म फल दाता।[3]

देवराज इंद्र से वृहस्पति भी यही कहते हैं :

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा।[4]

फल तो कर्मानुसार ही मिलता है लेकिन दिखाई यह पड़ता है कि सम-अनुकूल–फल विधाता की कृपा के कारण मिला है और विषम–प्रतिकूल-फल विधाता के कोप के कारण। या भक्त को अनुकूल फल और भक्ति विमुख को प्रतिकूल फल मिलता देखकर भी पक्षपात का भ्रम हो जाता है, जैसा कि बालि को हो गया था :

धरम हेतु अवतरेहुँ गोसाईं। मारेहु मोहि ब्याध की नाईं।
मैं बैरि सुग्रीव पिआरा। अवगुन कवन नाथ मोहि मारा।[5]

इसका समाधान राम ने यह दिया :

अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ ये कन्या सम चारी।
इन्हेंहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई।[6]

इस प्रकार अपने सदाचरण के कारण भक्त सम फल प्राप्त करता है और अपने दुराचरण के कारण भक्ति-विमुख विषम फल।

जो बोया है, मनुष्य वही काटने को विवश है। ऐसी धारणा निम्नलिखित

---

१. मानस २।७७।४
२. मानस २।२५५।२
३. मानस ७।४१।२
४. मानस २।२१९।२
५. मानस ४।९।३
६. मानस ४।९।४

प्रसंगों में विभिन्न पात्रों एवं घटनाओं के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। धनुष न टूटने पर गीतावली में जनक का यह कथन इसी धारणा को पुष्ट करता है :

पन को न मोह न बिसेष चिंता सीता हू की ।
लुनिहै पै सोई, सोई जोई जेहि बई है ।[१]

विनयपत्रिका में भी तुलसी राम की कृपा को न पाने के कारण त्रिविध तापों से दग्ध होकर इसी तथ्य को वाणी देते हैं :

पतित-पावन हित आरत-अनाथनि को
निराधार को अधार, दीनबंधु दई।
इन्ह में न एकौ भयो, बूझि न जूझयो न जयौ
ताहिते त्रिताप-तयौ लुनियत बई।[२]

निम्नलिखित उपालंभ में भी कर्म वशीभूत फलभोग की ध्वनि निकलती है :

काल करमवस मनो मनोरथ कबहुँ कबहुँ कुछ भो तो ।
ज्यों मुदमय बसि मीन बारि तजि उछरि भभरि ले गोतो ।[३]

निम्नलिखितोद्धृतांश में भी कर्म फल की अनिवार्यता ही प्रतिपादित है :

तप तीरथ उपवास दान मख जेहि जो रुचै करो सो ।
पायेहि पै जानिबो करम फल भरि भरि बेद परोसो ।[४]

पुरुषार्थ के अभाव में अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती। दोहावली के इस दोहे में कल्पवृक्ष के नीचे भी दरिद्र और गंगा तीर पर भी मलिन रहने का कारण अकर्मण्यता ही मानी गयी है :

देस काल करता करम, बचन बिचार बिहीन ।
ते सुरतरु तर दारिदी, सुरसरि तीर मलीन ।[५]

इस प्रकार तुलसी ने यह प्रतिपादित किया है कि लौकिक दृष्टि से मनुष्य अपने कर्मों का शुभाशुभ फल भोगता है। इससे मुक्ति नहीं है, हाँ कर्तव्य भाव से किए गए या भक्ति की शब्दावली में समर्पण करके किए गए या दार्शनिक शब्दावली में अनासक्त भाव से किए कर्मों का फल सुखी या दुखी नहीं करता।

पुरुषार्थ रूपक उपर्यक्त विवेचन के उपरांत तुलसी द्वारा प्रस्तुत भाग्य

---

१. गीतावली २।८६
२. विनयपत्रिका २५२
३. विनयपत्रिका १६१
४. विनयपत्रिका १७३
५. दोहावली ४१४

प्रतिपादक प्रसंगों एवं विचारों का निरूपण एवं विवेचन करना समीचीन होगा। इसके अंतर्गत ऐसे प्रसंग आते हैं जिनसे यह ध्वनित होता है कि इस जगत में व्यक्ति के काल, गुण और स्वभाव के साथ-साथ कर्म का निरूपण भी कोई आलौकिक, दिव्य शक्ति करती है जिसके समक्ष व्यक्ति स्वयं को पराधीन मानता है।

२. व्यक्ति का नियमन अलौकिक शक्ति के द्वारा :

अनेक घटना संदर्भों में कहीं इस शक्ति को विधाता और ईश के द्वारा और अधिकांशतः राम के द्वारा अभिहित किया गया है, साथ ही विधि गति की अज्ञेयता, मनोनुकूल फल न पाने पर विधाता पर दोषारोपण करना तथा विधाता के लेख भविष्यवाणी विषयक विचार व्यक्त किए गए हैं। इन्हीं शीर्षकों के अंतर्गत तुलसी के इस चिंतन का निरूपण–विवेचन करना समीचीन होगा।

अ. व्यक्ति के नियामक विधाता और ईश्वर :

तुलसी ने राम-वनवास-प्रसंग में मंथरा द्वारा कैकेयी को विषाक्त करना, कैकेयी का दशरथ से वरदान माँगना, राम-लक्ष्मण-सीता का वनगमन, फलस्वरूप अयोध्यावासियों का दुःखी होना इन सब अप्रिय घटनाओं का नियामक विधाता को ठहराया है। 'रामाज्ञा प्रश्न' में इस सब कांड के लिए कैकेयी, मंथरा या देवताओं को दोषी न मानकर दैव-भाग्य को ही दोषी माना है :

मंद मंथरा मोहबस कुटिल कैकेई कीन्ह।
ब्याधि बिपति सब देवकृत, समय सगुन कहि दीन्ह।[1]

इसमें जहाँ व्याधि, विपत्ति देवकृत मानी है, वहाँ मंथरा के मोह को भी इसका कारण माना है। ऐसे ही जब सौजन्यवश भरत रामवनगमन षड्यंत्र के लिए अपने को दोषी समझकर साधु सुलभ आत्मग्लानि एवं प्रताड़ना के सागर में डूबे जा रहे हैं, तो उस समय गुरु वसिष्ठ भरत के उक्त भावों को दूर करने के लिए इस सारे कांड का नियामक विधाता को ठहराते हैं। यही नहीं अपितु जो कुछ भी होता है, वसिष्ठ के विचार से, इसी विधि के हाथों होता है :

---

१. रामाज्ञा प्रश्न ६।४

सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेहु मुनिनाथ।
हानि लाभु जीवनु मरनु, जसु अपजसु बिधि हाथ।[1]

यहाँ यह विचारणीय है कि निर्दोष होते हुए भी स्वयं को ही एकमात्र दोषी समझने वाले भारत को सांत्वना देने के लिए ही विधि को उत्तरदायी ठहराया गया है। ऐसे ही, राम भी भरत की इस ग्लानि को अनुचित बताते हुए उन्हें इससे मुक्त करने के लिए समस्त कर्मों को ईश अधीन बताते हैं :

तात जायँ जियँ करहु गलानी। ईस अधीन जीव गति जानी।[2]

तथा 'गरइ गलानि कुटिल कैकेयी' को भी राम मानसिक उपचार के लिए सांत्वना देकर उन्हें इस कांड के दोष से मुक्त कर विधि के सर पर इसका उत्तरदायित्व रख देते हैं :

भेटीं रघुबर मातु सब, करि प्रबोधु परितोषु।
अंब ईस आधीन जगु, काहु न देइअ दोषु।[3]

इस प्रकार जो व्यक्ति दोषी नहीं है, यदि वह सौजन्यवश स्वयं को दोषी मानकर आत्मग्लानि और प्रताड़ना में डूब जाता है जैसे कि भरत, और जो व्यक्ति दोषी है, यदि वह अपराध बोध के कारण अंतःकरण से ग्लानि अनुभव कर पश्चाताप कर, आत्म-प्रताड़ना करता है जैसे कैकेयी, तो दोनों को ही उक्त मनःस्थिति से मुक्त करने के लिए शिष्टता एवं मानसिकोपचार हेतु किसी अलौकिक शक्ति को, उनके ही कर्मों के लिए नहीं अपितु जीवमात्र की प्रत्येक गति के लिए दोषी, उत्तरदायी या नियामक ठहराया गया है। इससे यह ध्वनि नहीं निकलती कि वास्तव में दोषी व्यक्ति को दोष मुक्त करके उसके अवांछनीय कर्मों के फल से मुक्त करने के लिए विधाता को उत्तरदायी माना गया है। विचारणीय तथ्य यह है कि कैकेयी से तभी यह बात कही गयी है जब अपराध बोध से उत्पन्न आत्मग्लानि वश उसका अंतःकरण शुद्ध हो जाता है, इससे पहले नहीं। इस तथ्य को भी उपेक्षित नहीं किया गया है कि इस सारे कांड में मंथरा को दोषमुक्त नहीं किया गया और न ही उसकी करतूतों के लिए विधाता को दोषी या उत्तरदायी ठहराया गया क्योंकि उसने अपराध करने पर भी आत्मग्लानि या आत्म-प्रताड़ना व्यक्त नहीं की।

---

१. मानस २।१७१ २. मानस २।२६३।३

३. मानस २।२४४।४

अतः ऐसे प्रसंगों में विधि को नियामक मानते हुए भी, कुकर्मों के लिए उत्तरदायी मनुष्यों को क्षमा नहीं किया गया और केवल आत्मशुद्धि कर लेने वाले पात्रों को ही क्षमादान करने के लिए विधि को नियामक ठहराया है। इससे कर्मानुसार फलभोग के सिद्धांत अर्थात् पुरुषार्थवादी दृष्टिकोण का खंडन नहीं होता।

आ. व्यक्ति के नियामक राम :

उपर्युक्त प्रसंगों में अलौकिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करने वाले विधाता को व्यक्ति का नियामक मानने के अतिरिक्त राम के प्रति अगाध भक्तिभाव से परिचालित और उनकी सर्वकर्तृत्व शक्ति के प्रति श्रद्धावनत होते हुए तुलसी ने राम को जीवमात्र के सभी क्रियाकलापों का नियामक माना है। निम्नलिखित अंशों में काल, कर्म, गुण-दोष, जग-जीवादि सभी को राम के हाथ में माना गया है :

काल करम गुन दोष जग जीव तिहारे हाथ।[1]

गीतावली में अंगद रावण से राम के विषय में कहता है :

काल करम दिगपाल सकल जगजाल जासु करतलु तो।[2]

राम के ईश्वरत्व से पूर्णतः परिचित होते हुए उनके सर्वकर्तृत्व के प्रति रावण को प्रबुद्ध करते हुए मंदोदरी उसे हित सम्मति देती है :

तासु बिरोध न कीजिअ नाथा। काल करम जिव जाके हाथा।[3]

मंदोदरी की भाँति विभीषण भी रावण को राम के सर्वकर्तृत्व से परिचित कराता है :

माया जीव जग जाल सुभाउ करम काल
सबको सासक सबमैं सब जामैं।[4]

रामकृपा से काल-कर्म-गुण स्वभाव के फलभोग से मुक्त हुआ जा सकता है, ऐसी धारणा विनयपत्रिका के निम्नोद्धृत पदांश में व्यक्त हुई है :

काल, करम, गुन सुभाउ सबके सीस तपत।
रामनाम-महिमा की चरचा चले चपत।[5]

---

१. दोहावली १७७
२. गीतावली ५।१३
३. मानस ६।६।५
४. गीतावली ५।२५
५. विनयपत्रिका १३०

राम-सुग्रीव मैत्री प्रसंग पर टिप्पणी करते हुए काकभुशुंडि ने सारे विश्व के संचालक नियामक के रूप में राम को प्रतिष्ठित किया है :

नट मरकट इव सबहिं नचावत । राम खगेस बेद अस गावत ।[1]

तथा बालि को मनोवांछित फल देने एवं तारा को भक्ति का वरदान देने वाले राम के सर्वकर्तृत्व पर श्रद्धाभिभूत होकर शिव-पार्वती से कहते हैं :

उमा दारु जोषित की नाईं । सबहिं नचावत राम गोसाईं ।[2]

मानस में अहिल्योद्धार पर तुलसी की यह टिप्पणी राम की निजी स्वार्थ रहित दयालुता की सूचक है :

अस प्रभु दीनबंधु हरि, कारन रहित दयाल ।
तुलसिदास सठ तेहि भजु, छाँड़ि कपट जंजाल ।[3]

एक अन्य प्रसंग में भी यही आभासित होता है कि राम प्राणी कर्म निरपेक्ष फल देते हैं । मानस के बालकांड में पार्वती के मन में, नारद द्वारा राम को शाप दिए जाने की बात सुनकर जो आश्चर्य होता है, उसका शंकर द्वारा प्रस्तुत यह समाधान राम के प्राणी कर्म निरपेक्ष कर्तृत्व को व्यक्त करता है :

बोले बिहसि महेस तब, ग्यानी मूढ़ न कोइ ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ ।[4]

प्रश्न उठता है कि नारद-शाप राम के तर्कातीत (या तर्क विरुद्ध) कर्तृत्व से हुआ ? नहीं । नारद का अज्ञान ही इसका कारण है । संभवतः पार्वती को कार्य-कारण के इस सूक्ष्म और जटिल जाल में न उलझाने के कारण, शंकर ने यह सीधा-सा भक्त द्वारा ग्राह्य समाधान प्रस्तुत कर दिया । एक अन्य प्रसंग में, नारद द्वारा काम-विजय-गर्व के कारण उनके पतन पर टिप्पणी करते हुए याज्ञवल्क्य भरद्वाज से राम के सर्वकर्तृत्व अर्थात प्राणी कर्म निरपेक्ष कर्तृव्य को प्रतिपादित करते हैं :

संभु दीन्ह उपदेस हित नहिं नारदहि सोहान ।
भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान ।[5]

---

१. मानस ४।७।१२
२. मानस ४।११।४
३. मानस १।२११
४. मानस १।१२४ (क)
५. मानस १।१२७

लेकिन नारद की दुर्गति का कारण तो उनका अहंकार ही माना जाएगा। ऐसे ही शंकर के समाधान पर भी जब सती का राम के विषय में संदेह दूर नहीं होता, तब भी राम के सर्वकर्तृत्व को प्रतिपादित करने वाला कथन शंकर प्रस्तुत करते हैं :

मोरेहु कहें न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं।
होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा।[1]

उत्तरार्द्ध अर्द्धाली के आधार पर यह प्रतिपादित किया जाता है कि तुलसी समग्र कर्मचक्र का प्रवर्तक राम को मानकर जीव को अपने कर्मों के फलभोग के सिद्धांत से मुक्त कर देते हैं। लेकिन प्रसंगानुकूल अर्थ पर विचार करने पर ऐसा कुछ भी तो प्रतिपादित नहीं होता। शंकर द्वारा सती के भ्रम-निवारण का पूरा प्रयास करने पर भी जब भ्रम बना ही रहता है, तब उसके फलभोग से सती कैसे बच सकती हैं? पूरा प्रयत्न करने पर भी जब वांछनीय सफलता नहीं मिली तब उसके आगामी फल की अनिवार्यता या अपरिहार्यता को दृष्टि में रखकर ही शंकर ने यह कहा है। अतः इस घटनाचक्र के लिए उत्तरदायी सती का अज्ञान ही है जैसाकि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है :

मैं संकर कर कहा न माना। निज अग्यानु राम पर आना।[2]

निज अज्ञान के कारण तथा शंकर के स्पष्टीकरण को न मानकर ही यह अनिष्ट सती ने स्वयं आमंत्रित किया अतः इस अनिष्ट का मूल कारण सती का अपना ही कर्म है। सती ने स्वयं स्वीकार भी किया है :

मैं जौ कीन्ह रघुपति अपमाना। पुनि पति बचनु मृषा करि जाना।
सो फलु मोहि बिधाताँ दीन्हा। जो कछु उचित रहा सोई कीन्हा।[3]

तटस्थ होकर देखने से ही विधि द्वारा प्रदत्त कर्मफल सती को न्यायोचित लगता है। नारद वाले प्रसंग में भी यही होता है। उनका गर्व दूर नहीं होता। तब उसके अपरिहार्य अशुभ परिणाम से वे कैसे बच सकते हैं? अतः कर्मफल से मुक्ति का प्रतिपादन करते हुए दिखाई पड़ने वाले उपर्युक्त दोनों कथनों से कर्मफलानुसार भोग की अपरिहार्यता ही ध्वनित होती है।

अतः राम को नियामक प्रतिपादित करने वाले कथन अधिकांशतः भक्त की

---

१. मानस १।५२।३-४
२. मानस १।५४।१
३. मानस १।५६।१-२

अतर्क्य श्रद्धा और इष्टदेव को सर्वशक्तिमान मानने की भाव-विमुग्धावस्था के कथन हैं, जो कर्मानुसार फल के विरोधी हैं। इनके अतिरिक्त घटना और पात्रों के व्यक्तित्व पर टिप्पणी स्वरूप जो कथन हैं उनके कर्म की निरपेक्षता सिद्ध नहीं होती, वरन् कर्मानुसार फलभोग की अपरिहार्यता ध्वनित होती है।

इ. विधिगति की अज्ञेयता :

जब समस्त विद्या बुद्धि के द्वारा भी कार्य-कारण संबंध नहीं जुड़ पाता और प्रत्यक्षतः कोई कारण नहीं खोजा जा सकता तब उसे किसी अदृश्य शक्ति का कर्तृव्य समझने के लिए ही मनुष्य विवश होता है और कार्य-कारण संबंध न ढूँढ पाने पर विधिगति की विलक्षणता और अज्ञेयता को ही मानना पड़ता है, विशेषकर उस समय जब किसी के अपराध का दंड दूसरे को भोगना पड़ता है। आस्तिक बुद्धि वाले इसे भगवान की लीला, विधाता का ज्ञानगोतीत विधान कहते हैं और इसको न मानने वाले प्रत्यक्षदर्शी इसे जीवन की फूहड़ता, विडंबना, विद्रूपता। इसी मनःस्थिति में विधिगति अज्ञेय लगती है। वन जाने को उद्यत राम को सामने पाकर वात्सल्याधिक्य से अभिभूत दशरथ निगमनीति के अर्थात् कर्मानुसार फल देने की नीति के उल्लंघन को—विधाता की इस विचित्र लीला को—असहाय द्रष्टा की भाँति देखते हैं :

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईसु देइ फलु हृदयँ बिचारी।
करइ जो करम पाव फल सोई। निगमनीति असि कह सबु कोई।
और करै अपराधु कोउ, और पाव फल भोगु।
अति बिचित्र भगवंत गति, को जग जानै जोगु।[1]

शोक संतप्त दशरथ यह नहीं समझ पाते हैं कि उनके किए का फल राम क्यों भोग रहे हैं? लेकिन यदि घटनाक्रम को देखा जाए तो ज्ञात होगा कि कैकेयी राम-वनवास माँगकर दशरथ को ही दंडित करना चाहती है क्योंकि सर्वाधिक प्रिय राम के दुःखी होने से दशरथ जितना संतप्त हो सकेंगे, उतना स्वयं दुःख भोगने से नहीं। फिर कौशल्या भी दुःखी होंगी। कौशल्या का दुःख भी अंततः दशरथ को ही संतप्त करेगा। अतः राम तो निमित्त बनते हैं दशरथ को दंड देने के। इसलिए अपराध दशरथ का ही है और मुख्य रूप से फल वही पा रहे हैं। उनसे संबद्ध होने के कारण रामादि का दंड पाना सहज ही है। संतप्तमना होने के कारण दशरथ कार्य-कारण के इस संबंध को न समझ पाने

---

१. २।७७।४, दोहा

से तथा राम के प्रति वात्सल्याधिक्य से परिचालित होकर अपने दुःखी मन का यह उद्‌गार व्यक्त करते हैं—और करै अपराधु कोउ, और पाव फल भोगु।

ई. विधाता पर दोषारोपण :

सामान्यतः मनोनुकूल न होने पर और प्रयास करने पर भी जब वांछित सफलता नहीं मिलती या असफलता ही हाथ लगती है तब किसी अदृश्य शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करने का प्रश्न उठता है और मनुष्य सामान्य बुद्धि से प्रत्यक्षतः कार्य-कारण संबंध न बैठा पाने के कारण राग, दुःख और मोह से आविष्ट होकर विधाता को निर्दय, दारुण और विपरीत पाकर उसे दोष देने लगता है जैसा कि रामाज्ञा प्रश्न के प्रस्तुत उद्धरण से सिद्ध होता है :

खेती बनिज न भीख भलि, अफल उपाय कदंब।
कुसमय जानब बाम बिधि, राम नाम अवलंब।[1]

कुसमय अर्थात् मनोकूल परिस्थितियों के अभाव को ही सामान्यतः भाग्य की विपरीतता या विधि की वामता माना जाता है। तुलसी के पात्र भी विभिन्न धटना प्रसंगों में विधाता को प्रतिकूल पाकर उसे दोष देते हैं।

मानस के बालकांड में कपटी मुनि द्वारा प्रतापभानु को प्रवंचित किए जाने पर तथा ब्राह्मणों द्वारा कठोर शाप दिए जाने पर राजा की निर्दोषिता से द्रवित होकर भरद्वाज से याज्ञवल्क्य कहते हैं :

भरद्वाज सुनु जाहि जब होइ बिधाता बाम।
धूरि मेरुसम जनक जम, ताहि ब्यालसम दाम।[2]

लेकिन प्रतापभानु का अज्ञात कुल, शील मुनि पर विश्वास करना, उसके अज्ञान का द्योतक है जो इस कांड के मूल कारणों में से एक है। राज्य संचालन के लिए अपेक्षित जागरुकता के अभाव के लिए प्रतापभानु को क्षमा नहीं किया जा सकता। तो भी इतने बड़े दंड का पात्र न होने के कारण तथा अनजाने में हो जाने वाले इस निर्दोष अपराधी के प्रति द्रवीभूत होकर, भले आदमी के लिए इसे अन्याय समझकर ही अपनी सहानुभूति के पात्र के प्रति यह प्रतिकूल विधान याज्ञवल्क्य को अच्छा नहीं लगता। इसीलिए उन्होंने विधाता को वाम बताया।

विधाता की वामता की तिलमिलाने वाली अनुभूति तो राम वनवास के

१. रामाज्ञा प्रश्न ७।५।३ २. मानस १।१७५

कारण होती है। राम के शील-सौंदर्य एवं दोष राहित्य से प्रभावित अनेक पात्र वाम विधाता की विपरीत गति को ही इसके लिए उत्तरदायी समझते हैं। जिस भावमुग्ध हृदय को जितनी गहरी चोट इस प्रसंग से लगी है, वह उतने ही रोष की प्रचंडता और अवसाद की गहराई से विधाता को कोसता है।[१]

कौशल्या भी भरत की आत्मग्लानि को अनुचित बताती हुई काल कर्म गति को अगम्य जानकर किसी भी व्यक्ति को इसके लिए दोषी न समझते हुए इस सारे कांड के मूल प्रवर्तक वाम विधाता पर ही दोषारोपण करती है :

जनि मानहु हियँ हानि गलानी। काल करम गति अघटित जानी।
काहुहि दोसु देहु जनि ताता। भा मोहि सब बिधि बाम बिधाता।[२]

इसी प्रकार दुखातिरेक से विचलित होकर आत्मदाह के लिए सीता द्वारा याचना करने पर भी जब अशोक आग नहीं डालता, तब मनोनुकूल वस्तु न पाकर उनका व्याकुल मन विधाता की प्रतिकूलता को ही इसके लिए उत्तर-दायी मानता है :

कह सीता बिधि भा प्रतिकूला। मिलहि न पावक मिटिहि न सूला।[३]

ऐसे ही राम के बाणों से कटकर भी रावण के सिर बार-बार उग आते हैं तो रावण-बध के मनोनुकूल कार्य में विधाता द्वारा किया जाने वाला व्याघात सीता को विचलित कर देता है, तब वे इस प्रतिकूल परिस्थिति के लिए दुःखी होकर विधाता की विपरीतता को ही इसके लिए उत्तरदायी ठहराती हैं। साथ ही मायामृग, लक्ष्मण से कटु वचन, अपने हरण और रघुवीर विछोह के लिए भी सीता का व्याकुल मन विधाता को ही इसके लिए दोषी मानता है।[४]

राम के द्वारा सीता को वनवास दिये जाने पर गीतावली में वाल्मीकि जैसे धीर ज्ञानी भी विधाता की वामता को ही दोषी मानते हैं :

बाल्मीकि बिलोकि ब्याकुल लषन गरत गलानि।
सरबबिद बूझत न, बिधि की बामता पहिचानि।[५]

---

१. गीतावली २।६७, मानस २।५५।१ २. मानस २।१६५।३-४
३. मानस ५।१२।४ ४. मानस ६।६६।३
५. गीतावली ७।२८

अतः विधि गति को क्रूर, कुटिल, विपरीत, बलवान और दारुण कहने के पीछे पात्रों का अपना राग-द्वेषपूर्ण दृष्टिकोण है।

उ. विधि का लेख :

विधिगति की अपरिहार्यता को ही जनभाषा में विधि का लेख माना जाता है। प्रायः इसके विषय में यह धारणा है कि यह अमिट है अर्थात् पूर्व-कर्मों के फलानुसार विधि का लेख लिखा जाता है क्योंकि मीमांसकों के अनुसार 'पूर्वजन्म कृतकर्म तद्दैवमिति कथ्यते' (मानस पीयूष अयोध्याकांड पृ० ६८ के आधार पर) है। अतः इससे छुटकारा कैसे हो सकता है ? परंतु पुरुषार्थ से इसके प्रभाव को क्षीण या नष्ट किया जा सकता है। तुलसी ने दोनों प्रकार के विचार विभिन्न पात्रों के घटना प्रसंगों में व्यक्त किए हैं। नारद दक्ष से इसी तथ्य को व्यक्त करते हैं :

कह मुनीस हिमवंत सुनु, जो विधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटनिहार।[1]

परंतु वर्तमान कर्म पिछले कर्मों के फल को निष्प्रभ कर सकते हैं। वर्तमान कर्म—पुरुषार्थ—इतना फलदायक सिद्ध हो सकता है कि उसके सामने पिछले कर्म, जिनके फलस्वरूप विधिलेख बना है, नगण्य हो जाएँ। इसी तथ्य को नारद हिमवंत से कहते हैं :

जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी।[2]

तप अर्थात् कर्म—पुरुषार्थ—के द्वारा भावी विधि—पूर्वजन्मों के फल—को मिटाया जा सकता है। पुरुषार्थ और भाग्य में द्वंद्व होता है, जो शक्तिशाली सिद्ध होगा, वही जीतेगा।

अतः कर्मों ने जो भाग्य निर्धारित किया है अर्थात् कर्मों के अनुसार जो भाग्य लिखा गया है, उसके लिए किसी को भी दोषी समझना मतिभ्रम है क्योंकि विधाता तो कर्मानुसार निर्णय भर देता है। अतः प्रतिकूल निर्णय के लिए निजी कर्मों को दोष न देकर निर्णायक को दोषी मानना मोहग्रस्त मन का अविवेक ही है। लेकिन निर्णायक या उससे बड़ी शक्ति कर्मों के ही आधार पर निर्णय को बदल सकती है। राम के प्रति श्रद्धाभिभूत होकर तुलसी ने इसी तथ्य को वाणी दी है कि 'मेटत कठिन कुअंक भाल के'।[3]

---

१. मानस १।६८ २. मानस १।७०।३
३. मानस १।३२।५

यहाँ भाग्य मिटाने में अर्थात् पुनर्निर्धारण करने में राम की सामर्थ्य एवं कृपा का बखान है । लेकिन इस पुनर्निर्धारण का कारण क्या है, इसका संकेत नहीं है । फिर भी यह अकारण न होकर शरणागत निश्छल भक्त के सौजन्य से द्रवीभूत होना ही हो सकता है । कर्म की अवहेलना यहाँ भी ध्वनित नहीं होती ।

अतः पूर्वकर्मों के अनुसार भाग्य—विधिलेख—अमिट है परंतु वर्तमान कर्मों—पुरुषार्थ—के आधार पर वह अनुकूल दिशा में परिवर्तनीय है, यह उपर्युक्त अंशों से सिद्ध होता है ।

ए. विधिलेख का पूर्वज्ञान या अनुमान : भविष्यवाणी :

जिस व्यक्ति को व्यतीत-घटना का पूरा पता होता है वह इस प्रकार बात करता लगता है कि मानों कर्म से पहले ही उसका फल निर्धारित हो गया हो । तुलसी ने भी कुछ इस प्रकार के प्रसंग उपस्थित किए हैं। प्रतापभानु और कपटी मुनि के प्रसंग में समग्र घटनाचक्र को पहले से ही जानने वाले तुलसी प्रतापभानु के प्रति द्रवीभूत होकर अपरिहार्य फलभोग की बात सहानुभूतिपूर्वक स्वीकार करते हैं :

तुलसी जसि भवतब्यता, तैसी मिलइ सहाइ ।
आपुनु आवइ ताहि पहिं, ताहि तहाँ लै जाइ ।[1]

प्रतापभानु का समस्त घटनाचक्र कार्य-कारण के तर्क संगत आधार पर घूम रहा है । पूर्व ज्ञान होने के कारण कवि भविष्यवक्ता के रूप में यहाँ प्रस्तुत होता है । कर्म करने से पहले ही फल निर्धारित नहीं होता । यद्यपि इन कथनों से ऐसा लगता है ।

विधि या भाग्य विषयक उपर्युक्त कथनों की समीक्षा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पारलौकिक एवं श्रद्धाभिभूत दृष्टि से समस्त जगत काल-कर्म-गुण की नियामक कोई अलौकिक, अदृश्य, तर्कातीत पर अतर्क्य शक्ति है जो विधाता, ईश एवं राम की संज्ञा से अभिहित की गयी है । लेकिन व्यावहारिक एवं तर्कसंगत दृष्टि से कर्म का नियमन व्यक्ति ही करता है, जिसके अनुसार भाग्य या विधि-लेख का विधान होता है । कारण भले ही सूक्ष्म, गूढ़ अथवा अदृश्य हो, लेकिन कार्य से उसका प्रत्यक्ष-परोक्ष संबंध रहता ही है । अतः

---

१. मानस १।१५९ (ख)

भाग्य-विधि विधायक इन प्रसंगों में कर्म या कर्मफल की अवहेलना प्रतिपादित नहीं की गयी है।

कर्मफल भोग में अलौकिक शक्ति का, जिसे विधि, विधाता, ईश्वर या राम कहा गया है, कृतित्व मात्र निर्णायक का है जो सामान्यतः मोहग्रस्त व्यक्तियों के द्वारा शुभकर्मों का शुभ फल देने पर प्रशंसित होती है और अशुभ कर्मों के अशुभ फल देने पर अभिशप्त या निंदित होती है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि स्वयं दोषी न होते हुए भी दंड भुगतना पड़ता है लेकिन यह या तो किसी दोषी व्यक्ति से संबद्ध होने के कारण होता है या कर्मों की सूक्ष्म, गूढ़ और विवादास्पद स्थिति होने के कारण प्रत्याशित फल न मिलने पर ऐसा लगता है। दैवी आपदाओं के कारण कष्ट भोग को भी पूर्व जन्मों का फल माना जा सकता है। यद्यपि यह पर्याप्त विवाद का विषय है। तुलसी ने प्रायः कहीं भी कर्म फल की उपेक्षा करके किसी अलौकिक शक्ति को अविवेकी या कारण विरुद्ध कार्य करते हुए नहीं माना है। अतः यदि तुलसी का पुरुषार्थ भाग्य दृष्टि को निष्कर्ष रूप में समेटना चाहें तो यह अर्द्धाली प्रस्तुत की जा सकती है :

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईसु देई फल हृदयँ बिचारी।[1]

---

१. मानस २।७७।४

प्रो० भगवानशरण भारद्वाज 'प्रदीप'

तुलसी-काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

भारतीय-संस्कृति चिंतन अथवा साधना के क्षेत्र में अधिनायकवाद की विरोधी रही है। साधना-जगत् में प्रजातंत्र ही उसका आदर्श रहा है। 'सर्वदेव नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति' और 'वादे-वादे जायते तत्व-बोधः' कह कर भारतीय मनीषियों ने प्रजातांत्रिक आदर्शों के प्रति अपनी निष्कंप आस्था का प्रकाशन किया है। इस मौलिक वैशिष्ट्य को हृदयंगम न कर सकने के कारण कुछ लोगों को संप्रदाय-बाहुल्य एवं चिंतन-वैभिन्य पर आश्चर्य होता है। उन्हें यह अवगत नहीं कि मनुष्य को सदैव जकड़ कर नहीं रखा जा सकता। वृक्ष में अगर प्राण है, जीवन है तो सहस्रों शाखाएँ फूटेंगी ही। यह शाखाएँ वृक्ष के ह्रास की नहीं अपितु विकास की प्रतीक हैं। विभिन्न मत, पंथ और संप्रदाय मानव-जाति की सत्त्व-संपन्नता के प्रमाण हैं। साम्य अभीष्ट है किंतु एकरूपता न स्वाभाविक है और न काम्य। साधनागत प्रजातंत्र से उद्भूत संप्रदाय-बाहुल्य केंद्रयोजक नेतृत्व के अभाव में सामाजिक विघटन और बिखराव का जनक भी सिद्ध हो सकता है। तुलसी ने युग की माँग को समझा और मध्ययुगीन साधना-संसार में केंद्रयोजक नेता की भूमिका का निर्वाह विलक्षण योग्यता से किया। तुलसीकाव्य भारत की सांस्कृतिक-साधना के अंतर्योग का दर्पण है।

तुलसी-युग वैयक्तिक एवं सामाजिक–दोनों दृष्टियों से उत्कट विप्लव का काल है। चमत्कारतृष्ण दिङ्मूढ़ जनता का मनःप्रवाह द्विमुखी था—परंपरा-निगड़ित तथा परंपरा-भंजक। परंपरा और परिवर्तन की शक्तियाँ शक्ति

परीक्षण कर रही थीं। यह था अंतःसंकट। बाहर से छद्म-धर्मावेशी मुस्लिम साम्राज्यवाद चुनौती दे रहा था। हिंदू राज्य-सत्ता की दीप-शिखा क्षीणकांति हो रही थी। स्वाधीनता-कामी शक्तियाँ संघर्षरत थीं जिसकी अभिव्यक्ति दिल्ली की सत्ता के विरुद्ध विद्रोह के रूप में हो रही थी। इस प्रकार जहाँ एक ओर आदर्शों का शून्य उभर रहा था वहीं, दूसरी ओर यह भी संकट था कि आदर्शविहीन जनगण विजिगीषा-शून्य होकर सत्ताधीशों का मुखापेक्षी न बन जाए। जनता में स्वाधीनता की अग्नि सुलगाने के साथ ही सत्ता-निरपेक्षता जगाना एक दुष्करकार्य था। सत्ता-पूजकता की वृत्ति के बलवती होने पर अभारतीयकरण की राष्ट्रघाती दुरभिसंधि का सबल होना अवश्यंभावी था। 'संतन को कहा सीकरी सों काम' के द्वारा सत्ता-पूजा की भावना पर प्रचंड प्रहार किया जा रहा था और आदर्शों के शून्य को भरने के लिए तद्युगीन कवि-चेतना ने मर्यादापुरुषोत्तम राम के चरित और चरित्र को लोक-लोचन के सम्मुख प्रस्तुत किया। तुलसी ने रामराज्य का विधेयात्मक आदर्श सनातन भारत के राजनैतिक संकल्प अथवा राष्ट्रीय उपलब्धि के रूप में जनता के सामने रखा।

लोकनायक कवि निर्विवाद रूप से कुछ मूर्तियों का भंजन करता है। यह मूर्तियाँ हैं अज्ञान, अश्रद्धा, अविवेक, अन्याय, पाखंड, अधर्म, अंधकार, असत् और अपवित्रता की। इन्हें धराशायी करते समय उसका साहस, प्रतिभा एवं उत्साह दर्शनीय होता है। किंतु जहाँ वह कुछ मूर्तियों को भग्न करता है वहाँ उससे अधिक तत्परता से सत्, शिव सुंदर की मूर्तियों का प्रतिष्ठापन करता है। मानव-आदर्शों की विधेयात्मक परिकल्पना दिए बिना मूर्ति-भंजन की निषेधात्मक अथवा ऋणात्मक साहसिकता केवल एक विराट् रिक्तता को जन्म देती है। तदयुगीन जीवन को ऑक्टोपस की तरह क्रूर पंजों में दबोचने वाले रावणत्व की प्रतिमा को तोड़ने में तुलसी ने अपनी शक्ति का जितना अंश व्यय किया है उतना ही अंश रामत्व की विधेयात्मक अथवा धनात्मक मूर्ति प्रतिष्ठित करने में भी। रावण-राज्य के विनाश की सार्थकता रामराज्य के संस्थापन में है। तुलसी दानवता के अंधकार को अपशब्द कहने में क्रांति-कर्म की संपूर्णता नहीं मान लेते, रामत्व की वर्तिका को ज्योतिर्मय करके ही तृप्त होते हैं। यहीं पर तुलसी कबीर प्रभृति संत-कवियों से ऊपर उठ कर एक विशिष्ट भूमिका पर आरूढ़ होते दिखाई देते हैं। संत-कवियों में केवल आकार-विरोध है, सगुण कवियों के स्वप्नों में आकार द्रोह के साथ ही साकार-अनुरोध भी

है । तुलसी ने उनमें से केवल वही आकृति चुनी जो भारत के सनातन तेजोमय व्यक्तित्व को उजागर कर सके, जिसमें रंजकता के साथ ही प्रखरता भी हो, जिसमें द्रवणशीलता के साथ कठोरता हो, जिसमें आवेश के साथ संयम हो। तुलसी ने रामलीला का प्रचलन कर स्वाधीनताकांक्षी और शत्रु के प्रतिकूल संघर्षरत जन-गण को एक सशक्त उत्प्रेरक प्रदान किया। शत्रु दिल्ली की गद्दी पर बैठने में भले सफल हुआ हो, किंतु दिल की गद्दी पर राम ही आसीन रहे। शत्रु की आँखों के सामने राष्ट्र-जागरण के महान् अभियान को सर्वत्र लोकप्रिय बनाने में तुलसी को असाधारण सफलता मिली। हनुमत्मंदिरों की व्यापक शृंखला स्थापित करने में लोकनायक कवि का उद्देश्य व्यायाम-केंद्र एवं अखाड़ों के रूप में शक्ति-संवर्धन-पीठों की स्थापना करना था।

तुलसी की राजनीति मानवता-मूलक है। वह जन-शोषण का यंत्र नहीं अपितु लोक-रक्षण एवं संवर्धन का माध्यम है। उसका आधार जन-मंगल है। राज-शक्ति का नियंता ऋषि है जो सर्वस्वत्यागी और अरण्यवासी है। उसमें शस्त्र का एकांतिक तिरस्कार नहीं। हाँ, कम से कम उपयोग भर की स्वीकृति अवश्य है। वह दीनों के दलन पर अधिष्ठित नहीं है वरन् उन्हें सविशेष प्रश्रय प्रदान करती है--'जिन्हहि परमप्रिय खिन्न।' वह भौतिक बल के सम्मुख घुटने टेकने को तत्पर नहीं क्योंकि वह धर्मरथ पर चिरारूढ़ है किंतु बाह्य उपादानों और भौतिक उपकरणों के प्रति उसे घृणा नहीं। तुलसी-काव्य के नायक धर्म-संपादन के लिए 'बाप को राज' 'बटाऊ की नाईं' छोड़ देते हैं। राम और भरत के बीच राज्य फुटबाल-सदृश निरुपाय दृष्टिगत होता है। जनता ने राज्य के लिए भाई को भाई का और पुत्र को पिता का गला काटते देखा था। राजनीति मानवता-शून्य होकर श्मशान की वीभत्सता प्रचारित कर रही थी। ऐसे दारुण काल में मनुष्य के घायल मन पर तुलसी ने प्रेम का शीतल लेप किया और छीना-झपटी के तुमुल कोलाहल में त्याग और अपरिग्रह का दीपक राग छेड़ा। जनता 'जमन महा महिपालों' के 'दंड कराल' का लक्ष्य बन कर पिस रही थी, ऐसे में तुलसी के राम-राज्य ने दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापों को दूर कर वैषम्य-उन्मूलन और धर्म-संस्थापन का उज्ज्वल उदाहरण रखा :

(क) बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई।[1]

---

१. मानस ७।२०।४

(ख) दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज्य नहिं काहुहिं ब्यापा।[१]

(ग) अल्पमृत्यु नहिं कबनिउ पीरा।
सब सुंदर सब बिरुज सरीरा।
नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना।
नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना।[२]

वैसे स्पष्ट बात यह है कि तुलसी जिस राष्ट्र को अपनी वाणी का विषय बनाने उद्यत हुए हैं उसकी आत्मा राजनीति में बसती ही नहीं। भारत का प्राण संस्कृति में सन्निहित है। यदि राजनीति उसका सर्वस्व रही होती तो भारत महाकाल के चरणों के नीचे कभी का मसला जा चुका होता और अजायबघर की संग्रहणीय वस्तुओं में परिगणित हो रहा होता। यदि राजनीति में ही उसका प्राण होता तो वह काल-कवल बनने के स्थान पर कालजयी न बना होता। उसकी नियति वही होती जो यूनान, मिस्र और रोम की हुई। पश्चिमी देशों का जीवन राजनीति में है। यही कारण है कि राजनैतिक पराधीनता उनका दम तोड़ देती है। भारत ने अगणित आक्रमणों को झेला है किंतु या तो वह स्वाधीन रहा है या स्वाधीनता के लिए प्रयत्नशील परंतु पराधीन कभी नहीं रहा क्योंकि उसने आक्रांता के विरुद्ध अपनी विरोधाग्नि को किसी काल-खंड में भी बुझने नहीं दिया। तथापि उसका जीवन-तरु निरंतर हरा-भरा रहा, झंझावात उसे उखाड़ न सके। वह राजनीति पर हावी रहा, राजनीति उस पर नहीं। तुलसी के कलियुग-वर्णन में तत्कालीन मुगलवंश के शासन की प्रतिच्छाया अनायास मिल सकती है और वन-वन भटकते राम में मुगल-साम्राज्य के विरोधी महाराणा प्रताप का प्रतिबिंब। तुलसी पश्चिम के अर्थ में राजनीति के प्रवक्ता न होकर राष्ट्रनीति के दिग्दर्शक हैं।

हमारे सांप्रतिक साहित्य के क्षणजीवी होने का कारण यह है कि उसकी जड़ें संस्कृति में नहीं, मनुष्य-जाति की अब तक की जीवन-साधना को वह निरर्थक मानता है और प्रयत्नपूर्वक उससे अपनी विच्छिन्नता की दंभपूर्ण घोषणा करता है। यह आत्मघात है। मानव जाति ने अब तक जो कुछ अर्जित किया है उसका नये सिरे से मूल्यांकन करना और वर्तमान एवं अतीत के बीच सार्थक संबंध की खोज करना एक सच्चे साहित्यकार के लिए अपरिहार्य है। अतीत को पुनः जीना आवश्यक भी नहीं और न संभव ही है किंतु अतीत

---

१. मानस ७।२१।१　　२. मानस ७।२१।३

से जुड़ना निहायत जरूरी है। तुलसी ने भारतीय परंपराओं का पुनरन्वेषण, पुनराख्यान और पुनर्मूल्यांकन किया। यही नहीं, उन्होंने पुरातन को युगमानस की अभिनव आशा, आकांक्षा, आवश्यकता और संकल्प के अनुसार ढालने की विलक्षण रचनात्मक क्षमता भी प्रकट की।

समाज में सभी व्यक्तियों की क्षमताएँ अलग-अलग हैं और कार्य भी। कुछ लोग ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में नूतन अन्वेषण करते हैं और, कुछ लोग उससे असंग रह कर कर्म-चक्र को गतिशील बनाए रहते हैं। वस्तुतः समाज उन्हीं लोगों से बना है जो ज्ञान-विज्ञान में कोई गति न रखते हुए भी दैनंदिन कार्यों में यंत्रों के समान रत रहते हैं। चिंतकों का प्रतिशत किसी भी समाज में अधिक नहीं होता किंतु उनके निष्कर्षों की उपेक्षा कर कोई भी समाज स्वस्थ और अग्रगामी नहीं रह सकता। समाज की जीवन-यात्रा में गतिरोध तभी उपस्थित होता है जब चिंतकों और कर्मियों का संबंध छूट जाता है, बीच की खाई चौड़ी हो जाती है और ज्ञान-विज्ञान मुट्ठी-भर लोगों की संपत्ति बन कर रह जाता है। तुलसी के युग में यह अंतर बहुत स्पष्ट था। संस्कृतज्ञ विद्वान शास्त्रज्ञान का दंभ पाल रहे थे और लोक की ओर उपेक्षा-भरी दृष्टि से देखा करते थे। इसके विपरीत साधारण जनता अज्ञान को ही आभूषण मान रही थी और संस्कृति के नाम पर विकृति की उपासना में मग्न थी। गोस्वामी तुलसीदास ने भारत की जनता को उसके अतीत जीवन की सांस्कृतिक साधना का गीत उसी की भाषा में सुनाया। तुलसी का काव्य लोक और शास्त्र के बीच सेतु बना।

महाकवि ने जिस संस्कृति की आख्या-व्याख्या की वह आदमी को मझधार में निस्सहाय नहीं छोड़ती। जब जीवन के सारे सहारे झूठे पड़ जाते हैं, चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा छा जाता है, उस समय आस्तिकता ही हमें आत्महत्या करने से बचाती है। भौतिकता को जीवन की, चरम वास्तविकता और सार्थकता मानने वाला व्यक्ति ऐसे में आत्म-घात के अतिरिक्त और क्या कर सकता है क्योंकि उसके सामने कोई वृहत्तर मूल्य नहीं। मानस ने आत्मा, अथवा 'ईश्वर' के रूप में मानवीय आस्था को ज्योतिष्क प्रदान किया है जो हमारे अस्तित्व को अर्थवान बनाता है। वह परम सत्ता हमसे भिन्न नहीं और न हमसे दूर। हम उसे पाकर अपने अस्तित्व की समग्रता का साक्षात्कार करते हैं। तुलसी का नारायण लोक के सुख-दुःख से एक रूप है और मनुष्यों का

जन्म ग्रहण कर मनुष्यों की भाँति हँसता-रोता है। इस तरह तुलसी का मानव कभी सारे द्वारों को बन्द नहीं पाता। जीवन-पथ पर आशा और विश्वास की कोई-न-कोई किरण बच रहती है। तुलसी मनुष्य का बहुत सम्मान करते हैं और उसके बारे में कभी निराश नहीं होते। उनके पात्र शूर हैं, क्रूर नहीं, योद्धा हैं, कसाई नहीं। तुलसी राक्षसों तक के प्रति उदार हैं और उन्हें मुक्ति दिलाते हैं। असुरों में भी यदि कोई गुण है तो तुलसी उनकी प्रशंसा करना नहीं भूलते। यह उदारहृदयता महाकवि के अनुरूप ही है।

भारतीय संस्कृति के विरुद्ध छेड़े गए शीतयुद्ध में तुलसी का काव्य अमोघ रामबाण सिद्ध हुआ है। भारत के इतिहास में काव्य का अभेद्यरक्षा-कवच देकर तुलसी ने अपना असाधारण स्थान बना लिया है। जनता उन्हें भारतीय-संस्कृति के पुरस्कर्ता, समुद्धर्ता और संरक्षक के रूप में सदैव स्मरण करेगी।

डॉ० (श्रीमती) स्नेहलता प्रकाश

तुलसी का समन्वयवाद

समन्वय भारतीय संस्कृति की मूल आधार-शिला है। इस देश में प्रारंभ से लेकर आज तक विभिन्न संस्कृतियों का आगम और आविर्भाव हुआ; परंतु क्रमशः सभी संस्कृतियाँ परस्पर समन्वित होकर एकाकार हो गईं। यहाँ नाना प्रकार की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक और साहित्यिक विचारधाराओं का उद्‌भव और विकास हुआ किंतु अंततोगत्वा सबकी परिणति संगम के पवित्र जल की तरह, सबके लिए संग्रहणीय बन गई।

जब शब्द और अर्थ, भाषा और भाव, ब्राह्मण और शूद्र आदि के समन्वय की बात की जाती है तब समन्वय का अर्थ होता है—उसके पारस्परिक संबंध का निर्वाह। यह उसका व्यापक अर्थ है। उसका एक विशिष्ट अर्थ भी है—परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली वस्तुओं या बातों का विरोध परिहारपूर्वक सामंजस्य।[1] भारतीय विद्वानों तथा मनीषियों ने इसी प्रकार के समन्वय को अपनाया है। उन्होंने आपस में विरोधी तत्वों के सार को ग्रहण करके एक ऐसे रसायन को प्रस्तुत किया, जो सबके लिए ग्राह्य बन सका। संतों और महात्माओं की सारग्राहिणी प्रतिभा ने दूसरों के ग्राह्य-गुणों को बिना किसी हिचक के अपनाया और उनका प्रयोग अपनी शिक्षाओं में किया। यही कारण है कि ईश्वरीय अस्तित्व को न मानने वाले बौद्धों ने कुछ समय पश्चात् राम को बोधिसत्व मान लिया और वैष्णवों ने गौतम बुद्ध को अवतारवादी माना। इस प्रकार

१. तुलसी-काव्य-मीमांसा, डॉ० उदयभानु सिंह, पृ० ३२३

स्पष्ट होता है कि समन्वयात्मक विचारधारा ही सर्वोपरि है जो व्यक्ति, देश, समाज और हर काल के लिए कल्याणकारिणी सिद्ध होती है।

जिस समय संत तुलसीदासजी का आविर्भाव हुआ उस समय चारों ओर धार्मिक विषमताओं का तांडव-नर्तन हो रहा था। एक धर्मवाला दूसरे धर्म की मीन-मेष निकालकर उसकी जड़ उखाड़ फेंकना चाहता था। विभिन्न धार्मिक संप्रदायों को अपनी-अपनी ढपली और अपना-अपना राग अलापते देखकर भोली-भाली जनता समझ नहीं पा रही थी कि वह किस धर्म का आश्रय ग्रहण करे। ऐसी दिग्भ्रमित जनता का मार्ग-दर्शन करने के लिए संत तुलसीदासजी ने सभी प्रचलित धर्मों की परस्पर विषमताओं को दूर करके समन्वय स्थापित किया। यह समन्वय क्रमशः निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है—(१) धार्मिक और दार्शनिक समन्वय (२) सामाजिक समन्वय, (३) साहित्यिक समन्वय और (४) सांस्कृतिक समन्वय।

1. धार्मिक और दार्शनिक समन्वय :

क. द्वैत-अद्वैत का समन्वय : तुलसीदास ने रामचरितमानस में तीन भिन्न प्रतीत होने वाली बातों का उल्लेख किया है :

१. ब्रह्म और जीव एक ही है। प्राणी केवल माया के कारण अपने को अलग मानता है।

२. जीव स्वयं ब्रह्म नहीं है केवल उसका अंश मात्र है।

३. ईश्वर और जीव दोनों एक दूसरे से अलग हैं।

तुलसीदास ने इन परस्पर विरोधी विचारों में सामंजस्य स्थापित करके यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि भक्तों के हित के लिए निर्गुणब्रह्म माया के गुणों से आवेष्ठित होकर अवतार लेता है।

ख. निर्गुण-सगुण का समन्वय : भगवान के सगुण और निर्गुण रूप का विवाद दर्शन और भक्ति दोनों ही क्षेत्रों में व्यापक रूप से चल रहा था। शंकराचार्य के निर्गुणवाद के विरोध में रामानुजाचार्य और वल्लभाचार्य ने ब्रह्म के सगुण रूप की अवतारणा बड़े ही सबल रूप में की। आगे चलकर संत तुलसीदास ने ब्रह्म के दोनों ही रूपों को स्वीकार करते हुए कहा :

(क) सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा।
गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।[1]

---

१. मानस १।११६।१

(ख) अगुन सगुन दुई ब्रह्म सरूपा ।
अकथ अगाध अनादि अनूपा ।[१]

(ग) जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने ।[२]

इस प्रकार तुलसी की समन्वयवादी दृष्टि में वस्तुतः राम ही सब कुछ हैं। निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, अव्यक्त-व्यक्त, गुणातीत और गुणयुक्त। निराकार ब्रह्म ही भक्तों के उद्धार हेतु साकाररूप धारण करता है :

जब जब होइ धरम कै हानी ।
बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ।
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा ।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ।[३]

परंतु तुलसीदास इतना अवश्य कहते हैं कि राम का सगुण रूप ही भक्तों की निरीह बुद्धि को अधिक आकर्षित करता है क्योंकि वह राम के विशिष्ट स्वरूप को स्मरण करके ही अपनी भक्ति-भावना के प्रसून अर्पित करना चाहता है।

ग. वैष्णव, शाक्त और शैव का समन्वय : तुलसी-युग में विष्णु, शिव और शक्ति (पार्वती) की पूजा का बहुत प्रचार था। तीनों ही संप्रदायों से संबंधित व्यक्ति एक-दूसरे के विरोधी थे, जिसकी स्पष्ट झलक रामचरितमानस के उत्तरकांड में मिलती है। तुलसीदास जी की कुशाग्र बुद्धि ने इन सभी में समन्वय स्थापित किया। रामचरितमानस के अंतर्गत शिव-पार्वती के प्रश्न-उत्तर के माध्यम से तीनों मतों में समन्वय किया गया है। विनय-पत्रिका में 'हरिशंकरी' स्तुति में भी यही भावना प्रतिफलित हुई है। राम को केंद्र-बिंदु मानकर सभी देवी-देवताओं का उन्हीं में आरोपण किया गया है। इन्हीं विचारों से उद्बुद्ध होकर तुलसीदासजी ने कहा भी है :

संकर प्रिय मम द्रोही, सिव द्रोही मम दास ।
ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महुँ बास ।[४]

घ. सर्वदेव समन्वय : भारतीय धार्मिक-संस्कृति की प्रमुख विशेषता है कि यहाँ विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना की जाती है, यहाँ तक कि जल,

१. मानस २३।१
२. मानस ७।१३।१
३. मानस १।१२१।३-४
४. मानस ६।२

पत्थर, पेड़ आदि में भी ईश्वरीय-सत्ता का आरोपण कर सबको समान स्थान दिया जाता रहा है। तुलसीदास जी ने भी अपने सभी ग्रंथों में प्रत्येक देवी-देवता की स्तुति की है और अंत में सभी से राम की अविरल भक्ति का वरदान माँगा है। विनय-पत्रिका में सभी देवी-देवताओं की स्तुति की गई है। राम का शिव-पूजन तथा सीता का पार्वती-पूजन आदि सर्वदेव-समन्वय का अनूठा उदाहरण है।

ङ. कर्म, ज्ञान और भक्ति का समन्वय : कर्म, ज्ञान और भक्ति का समन्वित रूप ही जीवन की पूर्णता है। सत्कर्म के बिना चित्त विकार रहित नहीं हो सकता और विकारों (माया, मोह, अहंकार, मद और मत्सर) से युक्त जीवन में ज्ञान और भक्ति का प्रकाश विकीर्ण होना असंभव ही है। बिना ज्ञान और भक्ति के सत्कर्मों का करना भी असंभव है।[१] इसलिए तुलसी ने तीनों का समन्वय प्रस्तुत किया है।[२]

तुलसी ने ज्ञान और भक्ति को मुक्ति का साधन कहा है और वैराग्य, योग आदि को साधनों का साधन माना है।[३]

तुलसी ने ज्ञान और भक्ति में कोई भेद नहीं माना है पर भक्ति का मार्ग ज्ञान के मार्ग से सरल अवश्य है :

(क) भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भव संभव खेदा।[४]

(ख) ग्यान पंथ कृपान कै धारा।
परत खगेस होई नहिं बारा।[५]

इसीलिए उन्होंने ज्ञान और भक्ति के धागे में राम नाम का मोती पिरो दिया है जो सबके लिए मान्य है :

(क) हियँ निर्गुन नयनन्हि सगुन रसना राम सुनाम।
मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम।[६]

---

१. विनयपत्रिका ८८।३, २४५।३, मानस ७।४६।३

२. मानस ३।१६।१-३, विनयपत्रिका २०३, दोहावली ८६

३. दोहावली ५५५, मानस ७।१००; १।२२।४

४. मानस ७।११५।७ ५. मानस ७।११७।१

६. दोहावली ७

(ख) अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी ।
उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी ।[1]

च. युग-धर्म-समन्वय : हरि-भक्ति की उपलब्धि के लिए नाना-प्रकार के वाह्य तथा आंतरिक साधनों की आवश्यकता होती है । ये साधन प्रत्येक युग के अनुसार बदलते रहते हैं और इन्हीं को युगधर्म की संज्ञा दी जाती है। तुलसी ने इनका भी समन्वय प्रस्तुत किया है :

कृत युग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग ।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग ।[2]

काकभुशुंडि के चरित्र में इन चारों युगों का समन्वय मिलता है ।

(२) सामाजिक समन्वय :

तुलसी के समय में भारतीय समाज विषमताओं, आपसी भेदभावों तथा नाना प्रकार की कुरीतियों से आतंकित था । चारों ओर ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष, गृहस्थ-त्यागी आदि के बीच बड़ी गहरी खाई बनी हुई थी जिसे पाटे बिना समाज में सुख और शांति की कल्पना करना असंभव था । इसलिए तुलसी ने सारी विषमताओं को दूर हटा कर सबमें समन्वय स्थापित करके समाज का एक बड़ा ही स्वस्थ, सुदृढ़ एवं निष्कलुष रूप प्रस्तुत किया ।

क. संत-असंत का समन्वय : समाज में दो प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं । एक तो साधु-प्रकृति के लोग, जो दूसरों की भलाई में तथा ईश्वर-भक्ति में ही अपना सब कुछ अर्पित किए रहते हैं । दूसरे निशाचरी-प्रकृति के लोग । ये दूसरों को ढकेलकर ही अपना मार्ग प्रशस्त करना जानते हैं । ईश्वर आदि से उन्हें कोई सरोकार नहीं होता । तुलसीदास ने संत-असंत का विशद विवेचन मानस में किया है और दोनों की ही वंदना की है । उनके विचार से ईश्वर-कृपा से दुष्ट-जन भी सज्जन बन जाते हैं ।

ख. व्यक्ति और समाज का समन्वय : तुलसीदास ने 'स्वांतः सुखाय' पर विशेष बल देकर भी सबके हित की बात कही है । मनुष्य समाज की एक इकाई है । इसलिए समाज के प्रति भी उसके कर्त्तव्य हैं । तुलसी का मत है कि व्यक्ति को अपनी उदात्त-वृत्तियों, सात्विक-भावनाओं एवं निष्काम कर्त्तव्य-परायणता के माध्यम से समाज का उन्नयन करना चाहिए । इस प्रकार से

१. मानस २।१।४ २. मानस ७।१०२ ख

तुलसीदास ने भक्ति और समाज में समन्वय स्थापित करके धर्म की सर्वतोन्मुखी रक्षा की है।

ग. व्यक्ति और परिवार का समन्वय : व्यक्ति और परिवार परस्पर सबसे अधिक संबंधित होते हैं। इसलिए परस्पर समन्वय ही परिवार की दृढ़ आधार-शिला है। एक भी कड़ी के विश्रृंखलित होने पर सारा परिवार अस्त-व्यस्त हो जाता है। रामचरितमानस में दशरथ-परिवार के सभी सदस्य कर्त्तव्य-परायणता एवं निष्ठा के ज्वलंत प्रतीक हैं। इसके विपरीत रावण-परिवार तथा अन्य परिवार इसी के अभाव में ध्वस्त होगये। लक्षमण और भरत की भ्रातृ-प्रीति तो अतुलनीय ही है। भरत की भ्रातृ-निष्ठा को देखकर सुग्रीव और विभीषण आत्मग्लानि से भर जाते हैं :

राम सराहे भरत उठि मिले राम सम जानि।
तदपि बिभीषन कीसपति तुलसी गरत गलानि।[1]

घ. ज्ञानी और अज्ञानी का समन्वय : तुलसी ने रामचरितमानस में एक ओर बड़े-बड़े ज्ञानी विद्वानों तथा पंडितों का उल्लेख किया है तो दूसरी ओर शबरी, अहिल्या, निषादराज कोल-भील आदि वन्य जातियों का वर्णन भी किया है। तुलसी ने दोनों में ही समन्वय स्थापित करके सभी के लिए भक्ति का मार्ग दर्शाया है।

ङ. ब्राह्मण और शूद्र का समन्वय : समाज में ब्राह्मण उच्चतम माना जाता था और शूद्र निम्नतम। तुलसीदास ने भक्ति के माध्यम से दोनों को एक स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया है। सूर्यवंशीय भरत तथा ब्राह्मण-शिरोमणि वशिष्ठ ने प्रेम-विभोर होकर नीच-कुल में उत्पन्न निषाद तथा केवट आदि को गले से लगाया :

(क) भेंटत भरतु ताहि अति प्रीती। लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती।
तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता।[2]

(ख) प्रेम पुलक केवट कहि नामू। कीन्ह दूर तें दंड प्रनामू।
राम सखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा।[3]

च. सती और कामिनी का समन्वय तुलसीदास ने नारी के दो

१. दोहावली, २०८ २. मानस २।१९४।१-२
३. मानस २।२४३।३

रूपों का चित्रण किया है--एक पतिपरायणा, पतिव्रता नारी का, जो समाज में गार्हस्थ्य जीवन की केंद्र बिंदु है, जिसका एक मात्र धर्म पति सेवा ही है :

(क) एकइ धर्म एक ब्रत नेमा । कायँ बचन मन पतिपद प्रेमा ।[1]

(ख) सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ ।[2]

इसके साथ ही तुलसी ने कामिनी या व्यभिचारिणी नारियों का रूप भी अंकित किया है । सूर्पणखा इसका स्पष्ट उदाहरण है :

सूपनखा रावन कै बहिनी । दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी ।
पंचवटी सो गइ एक बारा । देखि बिकल भई जुगल कुमारा ।
रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई । बोली बचन बहुत मुसुकाई ।
तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी । यह सँजोग बिधि रचा बिचारी ।[3]

तुलसीदास ने दोनों प्रकार की नारियों में समन्वय स्थापित करते हुए चार प्रकार की सती-नारियों का रूप चित्रित किया है :

जग पतिव्रता चारि बिधि अहहीं । बेद पुरान संत सब कहहीं ।
उत्तम के अस बस मन माहीं । सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं ।
मध्यम पर पति देखे कैसे । भ्राता पिता पुत्र निज जैसे ।
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई । सो निकिष्ट त्रिय श्रुति अस कहई ।
बिनु अवसर भय तें रह जोई । जानेहु अधम नारि जग सोई ।[4]

छ. संतमत और लोकमत का समन्वय : संतों के अनुसार व्यक्तिगत धर्म-साधना अर्थात् चरित्र-विकास तथा धार्मिक-नियमों का पालन ही साधु-मत है । लेकिन व्यक्ति समाज में रहता है तथा उसी में सत्पुरुषों का भी जन्म होता है । इसलिए केवल आत्मिक विकास के लिए अथवा मुक्ति के लिए ही कार्य करना समीचीन नहीं है, वरन् लोक-मान-मर्यादा का भी ध्यान रखना आवश्यक है । इसीसे मर्यादा-पुरुषोत्तम राम ने अपनी प्राण-प्रिया, अग्नि-परीक्षिता, साध्वी नारी सीता को लोकापवाद के कारण पुनः वनवास दे दिया । दूसरी ओर संत-प्रकृति-नारी सीता एवं आज्ञाकारी लक्ष्मण ने बिना किसी वाद-विवाद के उस आज्ञा को शिरोधार्य किया ।[5] काकभुशुंडि ने अपने गुरु

---

१. मानस ३।५।५
२. मानस ३।५
३. मानस ३।१७।२,४
४. ३।५।६-८
५. गीतावली, ७।२७-२९

का घोर अपमान किया पर गुरु ने अपनी शांत एवं साधु-प्रकृति के कारण किंचित भी क्रोध नहीं किया पर शिव यह अपमान देखकर चुप न रह सके क्योंकि समाज में गुरु ईश्वर-तुल्य पूज्य थे और उन्होंने शाप दे ही डाला।[1] यदि शिव ऐसा न करते तो सामाजिक नियमों का खंडन हो जाता और समाज में विशृंखलता उत्पन्न होजाती। यह तुलसीदास की समन्वयवादिता का अतुलनीय उदाहरण है।

ज. राजा और प्रजा का समन्वय : तुलसी के समय में राजा और प्रजा दोनों ही कर्त्तव्य-विमुख थे। 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार सब लोग व्यभिचारी, धर्म-विमुख और पाखंडी होगये थे।[2] दोनों ही अपनी-अपनी स्वार्थ-सिद्धि में रत थे। ऐसी स्थिति में तुलसीदास की समन्वयवादी दृष्टि ने आदर्श राम-राज्य का विधान किया जिसमें राजा और प्रजा परस्पर प्रेम से रह कर एक-दूसरे के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करते थे। राजा बिना प्रजा की सम्मति के कोई कार्य नहीं करता था :

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उरआनी।
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई।
जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई।[3]

(३) साहित्यिक-समन्वय :

साहित्यिक-क्षेत्र में भाषा, छंद, सामग्री, रस, अलंकार आदि की दृष्टि से भी तुलसी ने अद्भुत-अनुपम समन्वय स्थापित किया। उस समय साहित्यिक-क्षेत्र में विभिन्न भाषाएँ विद्यमान थीं, विभिन्न छंदों में रचनाएँ की जाती थीं। तुलसी ने अपने काव्य में संस्कृत, अवधी तथा ब्रज का अद्भुत समन्वय किया।

क. सामग्री समन्वय : तुलसीदास की रचनाओं का वर्ण्य-विषय पुराण-निगम आदि विविध पौराणिक ग्रंथों से अनुमोदित है। उसमें वाल्मीकि रामायण की कथा का आधार ग्रहण किया गया है। साथ ही कल्पना-शक्ति के साथ-साथ लोक में प्रचलित राम-कथा के तत्वों का भी समन्वय मिलता है, जिसका उल्लेख तुलसीदास जी ने स्वयं किया है :

१. मानस ७।१०५-१०७
२. विनयपत्रिका १३९।३-४, दोहावली, ५५९
३. मानस ७।४३।२-३

नानापुराण निगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।[१]

'क्वचिदन्योऽपि' में ही उनकी समन्वय-दृष्टि दिखायी देती है ।

ख. भावपक्ष और कला-पक्ष का समन्वय : उसी साहित्य में वास्तविक रसानुभूति होती है, जिसके बाह्य (अभिव्यक्ति) एवं आंतरिक (अनुभूति) पक्ष संतुलित रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं । संत तुलसीदास के साहित्य में दोनों पक्षों का अद्भुत समन्वय मिलता है । उनकी रचनाओं में कोई भी अंश ऐसा नहीं है, जिसमें एकांगी दृष्टिकोण अपनाया गया हो । तुलसी की काव्य-प्रतिभा अवर्णनीय है । इसलिए उनके काव्य में शब्द और अर्थ, भाषा और भाव, शैली और अलंकार आदि विविध साहित्यिक उपादानों की अतुलनीय छटा देखने को मिलती है ।

ग. स्वानुभूति और बाह्यार्थ : तुलसी की रचनाएँ जहाँ एक ओर स्वतः अनुभूति प्रधान हैं वहीं दूसरी ओर बाह्य निरूपक भी हैं । रामचरित-मानस, रामलला नहछू, जानकी-मंगल, पार्वती-मंगल उनकी चरित्र-प्रधान रचनाएँ हैं । इसलिए उनकी संरचना में स्वानुभूति के साथ ही साथ बाह्य साधनों का प्रयोग प्रचलित कथाओं रामायण आदि के आधार पर किया गया है । गीतावली, कवितावली तथा विनयपत्रिका में वर्णित आत्मनिवेदन स्वानुभूतिपरक है ।

घ. छंद-समन्वय : तुलसीदास जी ने अपनी रचनाओं को केवल एक ही प्रकार के छंद में अनुबंधित नहीं किया है । उन्होंने अपने युग में प्रचलित सभी छंदों में रचनाएँ की हैं । जैसे—दोहा, दोहा-चौपाई, कवित्त, बरवै, गीत, सोहर ।

ङ. भाषा-समन्वय : तुलसी ने भाषाओं में भी समन्वय स्थापित किया । उनकी रचनाओं में हिंदी की उपबोलियों तथा संस्कृत, अरबी, फारसी की शब्दावली का भी प्रचुर-मात्रा में प्रयोग किया गया है । रामचरितमानस अवधी का बहुमूल्य रत्न है तो कवितावली में ब्रज-भाषा की छटा देखने को मिलती है ।

च. रस-समन्वय : तुलसी साहित्य में सभी रसों की अद्भुत छटा देखने

---

१. मानस १।७ श्लोक

को मिलती है। लंकाकांड में यदि रौद्र और वीर-रस प्राप्त होता है, तो उत्तर-कांड में शांत-रस। बालकांड में वात्सल्य-रस एवं-श्रृंगार-रस की अपूर्व छटा देखने को मिलती है। साथ ही अयोध्या-कांड में विप्रलंभ श्रृंगार की करुण झांकी प्रस्तुत की गई है। इसी प्रकार से तुलसी की प्रत्येक रचना में सभी रसों का आस्वादन किया जा सकता है।

छ. अलंकार-समन्वय : तुलसी-साहित्य विभिन्न अलंकारों का अपूर्व भंडार है। उनकी कल्पना-शक्ति का चमत्कार रूपक, उत्प्रेक्षा, उदाहरण, उपमा आदि अलंकारों में देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त अतिशयोक्ति, अपह्नुति, अप्रस्तुत-प्रशंसा, उल्लेख, तुल्ययोगिता, लोकोक्ति, विभावना, विशेषोक्ति, व्याजस्तुति, विरोधाभास, भ्रम आदि का सौंदर्य भी दर्शनीय है।[२]

४. सांस्कृतिक-समन्वय :

तुलसी ने अपनी रचनाओं में पांच भिन्न प्रकृति वाले पात्रों का चित्रण किया है : देवता, राक्षस, नर, वानर, आदिम जाति। इन सभी लोगों की अपनी अलग-अलग संस्कृति है। अधिकांशतः समुदाय की सौंदर्यमूलक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और दार्शनिक विचारधारा का द्योतक शब्द 'संस्कृति' मनुष्य से ही संबंधित होता है, परंतु तुलसी की समन्वयात्मक प्रतिभा ने कोल-भील, वानर तथा पक्षियों की संस्कृति की भी परोक्ष रूप में झाँकी प्रस्तुत की है। सुग्रीव और हनुमान अथवा काकभुशुंडि और गरुड़ साधारण पक्षी नहीं हैं वरन् उनमें ज्ञान और भक्ति की अपूर्व प्रतिभा है। उनके आचरण मनुष्यों की भाँति विकसित हैं। तुलसीदास ने देवताओं, मनुष्यों और राक्षसों की संस्कृति का समन्वय करते हुए अंत में राम-राज्य की स्थापना करके मानव-संस्कृति को ही सर्वश्रेष्ठ उद्घोषित किया है।

मानव-संस्कृति में भी विभिन्न कोटि के लोगों की संस्कृति का समन्वय प्रस्तुत किया है। मनुष्यों में भी कई वर्ग के लोग आये हैं, जिनकी अपनी अलग-अलग संस्कृति है, जैसे राज-वर्ग, वनपथ में मिलने वाली साधारण ग्रामीण जनता तथा कोल-भील-निषाद आदि जिनके रहन-सहन, रीति-रिवाज, परंपरा,

---

१. विनयपत्रिका १०२।४, गीतावली १।२६, मानस ४।१०

२. कवितावली ७।१४५, मानस ४।८।२, दोहावली ५६४, वैराग्य संदीपनी ३, गीतावली २।५३।२, विनयपत्रिका ५

विचारों आदि में पर्याप्त भिन्नता मिलती है। इन सबका सांस्कृतिक समन्वय तुलसी ने प्रस्तुत किया है।

इसके अतिरिक्त हिंदू तथा मुस्लिम संस्कृति का भी समन्वय स्थापित किया है। राम के दरबार में प्रेषित विनयपत्रिका का विधान मुगल सम्राट को भेजी जाने वाली अरजी की रीति पर किया गया है। 'उमरदराज महाराज तोरी चाहिए'[1] अथवा 'भइ बड़ि भीर भूप दरबारा'[2] में दरबारी संस्कृति का परिचय मिलता है। अरबी-फारसी की शब्दावली का प्रयोग भी मुगल-कालीन संस्कृति का ही परिचायक है।

१. कवितावली ७।७९ २. मानस २।७६।३

डॉ० सूर्यप्रसाद दीक्षित

तुलसी का स्वांतः सुखाय

मानस के प्रस्तावना प्रकरण में तुलसी के कुछ आत्मकथ्य बड़े विचारोत्तेजक हैं। उन्होंने काव्यारंभ में, विनयखंड के अंतर्गत, इस कृति का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए लिखा है—'स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबंधमति मंजुलमातनोति।' इससे स्पष्ट है कि कवि अपने अंतःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त अहंकार की सुख-शांति हेतु इस रचना में प्रवृत्त हुआ है। निश्चय ही काव्य-सर्जना द्वारा अंतरात्मा को परितृप्ति मिलती है, क्योंकि वह अंतःकरण का ही उद्गीथ है। सृजन की इस भूमिका पर पहुँचकर स्रष्टा ब्रह्मानंद सहोदर काव्यानंद की अनुभूति प्राप्त करता है और आत्म-विभोर हो उठता है, चाहे उसका स्तर कैसा भी हो। स्वयं गोस्वामी जी के कथनानुसार :

निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका।[1]

तुलसी का कवि इस सिसृक्षा-जनित आस्वाद के कारण उस मधुमति भूमिका की ओर संचरण करता है जहाँ 'तन्मयीभवन योग्यता' द्वारा प्रमाता एवं प्रमेय में तादात्म्य स्थापित हो जाता है, जहाँ विषय एवं विषयी साधारणीकृत हो जाते हैं और जहाँ रसानुभूति की प्रक्रिया द्वारा चित्त-वृत्तियों का अध्यात्मीकरण होता है। गोस्वामीजी ने इसीलिए ग्रंथ के अंत में, स्वांतस्तमःशांतये' का संकेत किया है। इस स्तर तक ऊर्ध्वोन्मुख होकर उनके अंतःकरण का मोहांधकार शमित हो गया है और शाश्वत सुख-शांति प्राप्त हुई है। उनके ही शब्दों में 'पायो परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।'

१. मानस १।८।६

स्वांतः सुखाय का दूसरा अर्थ मनोरंजन है, जो साहित्याध्यात्म से भिन्न है। उपदेश और मनोरंजन काव्य के दो प्रमुख लक्ष्य माने गए हैं किंतु इस उक्ति में एक विरोधाभास है। गोस्वामीजी ने काव्य का मूलोद्देश्य मनोरंजन न मानकर लोकमंगल माना है :

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।[1]

उनकी दृष्टि में परहित सदृश दूसरा कोई धर्म नहीं है। वे 'परोपकाराय हि सतां विभूतयः' मत के विश्वासी हैं। ऐसी स्थिति में केवल कला-कौतुक या आचार्यत्व प्रदर्शन उनका अभिप्रेत नहीं हो सकता। स्मरणीय है कि तुलसी ने किसी प्राकृतजन या शाहे वक्त के सम्मानार्थ काव्य-रचना नहीं की। उन्होंने कभी राजाश्रय भी नहीं ग्रहण किया। आजन्म निराश्रित होने के कारण उन्होंने केवल राजाराम को अपना आश्रयदाता स्वीकार किया है और 'स्वांतः सुखाय' उनका गुणगान किया है। इस आत्मसुख में परमात्म सुख सन्निहित है।

इस उक्ति का एक और अर्थांतर किया जा सकता है। तुलसी को 'स्वांतः सुखाय' तभी प्राप्त होगा, जब इस कृति द्वारा व्यापक रूप में जनहित या लोकमंगल की प्राप्ति हो। इस प्रकार 'स्वांतः सुखाय' शब्द में 'जनहिताय या परांतः सुखाय' की भावना भी झंकृत हो रही है, फिर भी यह क्लिष्ट कल्पना है।

तुलसी की 'स्वांतः सुखाय' उक्ति बड़ी गूढ़ार्थ व्यंजक है। इसकी एक लंबी पृष्ठभूमि है और इसमें बहुत बड़ी दूरदर्शिता भी अंतर्निहित है। देखा जाए तो इस कथन में तुलसी की व्यावहारिकता का अद्‌भुत प्रमाण प्राप्त होता है।

वस्तुतः गोस्वामी जी क्रांतद्रष्टा कवि हैं और मानस एक क्रांतिकारी कृति। इसका निर्माण विपरीत परिस्थितियों में हुआ है। यद्यपि इसने युग को नयी दिशा, नई गति और नवीन प्रेरणा दी है, फिर भी इसे अपने समकालीन जीवन में भयंकर विरोध सहना पड़ा है। गोस्वामीजी ने सगुण-निर्गुण, भक्ति-ज्ञान, वैष्णव, शैव आदि मार्गों को लेकर जिस प्रकार सगुणोपासना भक्ति, भावना तथा वैष्णवता की पुष्टि की है, उससे उक्त मत-मतांतर अपेक्षाकृत श्रेष्ठतर सिद्ध हुए हैं। इन स्थापनाओं से अनेक प्रतिवादों की सृष्टि हुई किंतु तुलसीदासजी इन प्रतिक्रियाओं के प्रति न तो समर्पित हुए और न उन्होंने समझौता परक नीति ही अपनाई। इतना अवश्य है कि उन्होंने कबीर जैसी अटपटी बानी का

१. मानस १।१४क।५

प्रयोग नहीं किया बलिक युग-जीवन के उस कटु सत्य को अन्यथा रूप में प्रियकर (सत्यं प्रियं हितं च यत्) बनाकर प्रस्तुत किया। ऐसी स्थिति में इस वैचारिक क्रांति के लिए तुलसी को बहुत सतर्क रहना पड़ा होगा। मानस के रचना-विधान में गोस्वामीजी ने कुछ विचित्र स्थापनाएँ की हैं। उन्होंने रामकथा को निगमागम सम्मत घोषित किया है। प्राप्त प्रमाणों के आधार पर वेदों में राम की सगुणोपासना और दशरथ पुत्र राम की भक्ति को अंतर्घटित कर सकना दुष्कर है। मध्ययुग में इस राम-भक्ति को लेकर संतों ने आपत्ति भी प्रकट की थी। कबीर ने स्पष्ट घोषित किया था––दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम कर मरम है आना। तुलसी इस सैद्धांतिक विरोध से परिचित थे। अपनी मत-पुष्टि के लिए उन्होंने एक स्थल पर शिव-पार्वती-संवाद के अंतर्गत कबीर की इस धारणा का खंडन भी किया है। राम विषयक इस शंका का खंडन करते हुए शिवजी कह रहे हैं: 'तुम जो कहेउ राम कोउ आना'।

इस पंक्ति में निश्चय ही 'राम नाम कर मरम है आना' उक्ति झंकृत हो रही है। कबीर के इस कथन का उन्होंने इस संदर्भ में तीव्र विरोध किया है और अपने सगुण-भक्ति-सिद्धांत की पुष्टि की है। तात्पर्य यह कि अपनी समकालीन धर्म-साधना, उसके मत-मतांतरों और उनसे संभावित सांप्रदायिक संघर्षों से गोस्वामीजी अवगत थे, साथ ही अपनी प्रतिरक्षा के लिए वे सचेष्ट भी थे। ऐसी स्थिति में बहुत आवश्यक था कि वे राम-भक्ति और रामकथा को सर्वोपरि सिद्ध करते। अपने भक्ति-मार्ग का माहात्म्य प्रतिपादित करने हेतु उन्होंने यथा-संदर्भ अनेक सूक्तियाँ प्रस्तुत की हैं:

क. मुनि दुर्लभ हरि भगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरंतर सुनहिं मानि बिस्वास।[1]

ख. रामकथा कलि कलुष बिभंजनि।[2]

ग. बरनऊँ रामचरित भव मोचन।[3]

घ. जे ऐहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता।
होइहहिं रामचरन अनुरागी।
कलिमल रहित सुमंगल भागी।[4]

---

१. मानस ७।१२६

२. मानस १।३१।२

३. मानस १।२।१

४. मानस १।१५।५-६

च. सुनत नसाहिं काम मद दंभा ।[१]
छ. सुनत श्रवन पाइय बिश्रामा ।[२]

मानस में इस प्रकार की अनेक उक्तियाँ हैं, जिनके द्वारा कवि ने राम-भक्ति एवं रामकथा को सर्वोपयोगी सिद्ध किया है और इस प्रकार विरोधी संप्रदायों को पहले ही से निरुत्तर या निरूपाय कर दिया है ।

राम-कथा की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए गोस्वामीजी ने एक और उपपत्ति प्रस्तुत की है । उन्होंने भगवान शिव को इसका मूल रचयिता सिद्ध किया है :

क. संभु कीन्ह यह चरित सुहावा ।
बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा ।[३]
ख. रचि महेस निज मानस राखा ।[४]
ग. बिरचेउ संभु सुहावन पावन ।[५]

वस्तुतः शिव ही मानस के आदि व्याख्याता है । उनके द्वारा ही मानस का नामकरण हुआ है । उन्हीं की प्रेरणा से तुलसी ने इसका पुनर्प्रस्तुतीकरण किया है :

संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी । रामचरितमानस कबि तुलसी ।[६]

शिव की कृपा से उन्हें रामभक्ति प्राप्त हुई, इस चरित के प्रति जिज्ञासा जाग्रत हुई और उनके मन में सिसृक्षा भी उत्पन्न हुई :

भयउ हृदयँ आनंद उछाहू । उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू ।
चली सुभग कबिता सरिता सो ।
राम बिमल जस जल भरिता सो ।[७]

अस्तु, कवि शिव-पार्वती का स्मरण करता हुआ यह कथा कहता चलता है :

सुमिरि भवानी संकरहिं कह कबि कथा सुहाइ ।[८]

प्रस्तुत कथा को सर्व स्वीकार्य बनाने के लिए गोस्वामीजी ने अनेक तर्क दिए हैं । उन्होंने इसे वेद-पुराणों से उद्धृत घोषित किया है कि 'बेद पुरान

१. मानस १।३५।३
२. मानस १।३५।४
३. मानस १।३०।२
४. मानस १।३५।६
५. मानस १।३५।५
६. मानस १।३६।१
७. मानस १।३९।५-६
८. मानस १।४३क

उदधि घन साधू।[१] उनके मतानुसार मानस लोक-वेद का समन्वयकर्ता है—'लोक बेद मत मंजुल कूला।'[२] वेद को क्योंकि हमने ईश्वरोच्छ्वसित, अपौरुषेय, अतर्क्य और अशंकनीय मान रखा है, इसलिए गोस्वामीजी द्वारा मानस की कथा की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए वेद का साक्ष्य देना स्वाभाविक था। वेदों के द्वारा उसकी पुष्टि करने के पश्चात् तुलसी ने उन-उन तत्वों द्वारा इस कृति को समर्थित सिद्ध किया है, जो हमारी श्रद्धा-भक्ति के लक्ष्य हैं। इस उद्देश्य से उन्होंने शिव, हनुमान और अन्यान्य देवों का उल्लेख किया है। यहाँ तक कि उन्होंने ऋषि-मुनियों को इस कथा का आदि गायक सिद्ध घोषित किया है :

मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई।
तेहिं मग चलत सुगम मोहि भाई।[३]

इस राम-कथा के स्रोतों का विवरण देते हुए उन्होंने 'नर रूप हर' अर्थात् शिव रूप अपने गुरुदेव की कथा का भी संकेत दिया है :

मैं पुनि निज गुर सन सुनि कथा सो सूकर खेत।
समुझि नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत।[४]

कवि की स्वीकारोक्ति है कि मैं उसी कथा को अपने प्रबोध के अनुसार पुनः प्रस्तुत कर रहा हूँ—'मोरें मन प्रबोध जेहिं होई।'[५] इस प्रबोध शब्द में उनके मौलिक परिवर्तन-परिवर्धन का भाव ध्वनित है। निष्कर्ष यह है कि तुलसीदासजी रामचरित की पुरातनता और प्रामाणिकता को संसिद्ध करके समस्त आक्षेपों, शंकाओं और तर्कों को निर्मूल कर देना चाहते हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि 'जेहिं यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरजु करै सुनि सोई।'[६] अर्थात् यह कथा अभूतपूर्व और विलक्षण अवश्य है पर संदिग्ध नहीं—'एहि बिधि सब संसय करि दूरी।'[७] सुनि आचरजु न मानिहहिं जिन्हकें बिमल बिचार।'[८]

अस्तु, संक्षेप में यह स्पष्ट किया जा सकता है कि गोस्वामीजी ने इस राम-कथा की वस्तु-योजना, चरित्र-परिकल्पना, निर्गुण-सगुण, शिव, विष्णु

१. मानस १।३६।२
२. मानस १।३९।६
३. मानस १।१३।५
४. मानस १।३०क
५. मानस १।३१।१
६. मानस १।३३।२
७. मानस १।३४।१
८. मानस १।३३

विषयक क्रांतिकारी स्थापना को समसामयिक युग में संभावित प्रतिवादों से सुरक्षित रखने के लिए ये तर्क दिए हैं। मानस की लंबी भूमिका इसी उद्देश्य की पूरक है। कवि ने संपूर्ण स्थिति का सतर्क स्पष्टीकरण किया है। यहाँ तक कि अनुनय विनय भी की है :

क. पुनि पुनि करउँ निहोरि।[1]

ख. समुझि बिबिधि बिधि बिनती मोरी।
कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी।[2]

यद्यपि कवि का यह दावा है कि मैं ईश्वरीय प्रेरणावश कथा प्रस्तुत कर रहा हूँ : 'तस कहिहउँ हियँ हरि के प्रेरे'। तथापि इस अनुनय-विनय, स्पष्टीकरण आदि का उद्देश्य मात्र इतना है कि कवि की यह कृति निर्विवाद तथा असंदिग्ध मानी जाय। यही कारण है कि उसने इस कृति का प्रयोजन 'स्वांतः सुखाय' घोषित किया है न कि कोई मिशनरी प्रचार। स्वांतः सुखाय घोषित करने के पीछे एक और निहित उद्देश्य है। तुलसी को यह आशंका है कि यह राम-कथा ग्राम्यगिरा (अवधी) में लिखी जाने के कारण कहीं विद्वानों द्वारा अनादृत नहीं की जाए :

क. राम-सुकीरति भनिति भदेसा। असमंजस अस मोहि अँदेशा।[3]

ख. भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी।[4]

फिर भी कवि यह विश्वास प्रकट करता है कि यह ग्राम्य गिरा राम-कथा के संस्पर्श के कारण अवश्य सर्व स्वीकार्य होगी :

क. प्रभु सुजस संगति भनिति भलि,
होइहिं सुजन मन भावनी।[5]

ख. प्रिय लागहिं अति सबहिं मम, भनिति राम जस संग।[6]

ग. गिरा ग्राम्य सिय राम जस गावहिं सुनहिं सुजान।[7]

इन उक्तियों द्वारा श्रदालु जनता को प्रतिश्रुत कर लिया गया है और

---

१. मनस १।१४ ख
२. मानस १।१२।४
३. मानस १।१४।५
४. मानस १।१०।५
५. मानस १।१०। छंद
६. मानस १।१०क
७. मानस १।१०ख

काव्यभाषा के रूप में अवधी को प्रतिष्ठित कर दिया गया है। तुलसी के पूर्ववर्ती समकालीन कवि जिस कला-कौशल और आचार्यत्व-प्रदर्शन के उद्देश्य से काव्य-सृजन में प्रवृत्त रहते थे, गोस्वामीजी ने उनकी विगर्हणा की है :

भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ।
राम नाम बिनु सोह न साऊ।[1]

मानसकार एक ओर प्रकृत कवियों की निंदा करता है, दूसरी ओर 'कवि-वंदना-प्रसंग' में कलि के कवियों की स्तुति भी करता है ताकि उसकी रचना उपेक्षणीय न रहे। क्योंकि उनके अनुसार :

जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बालकबि करहीं।[2]

गोस्वामीजी ने यद्यपि अपने कवित्व का दंभ नहीं किया है बल्कि 'कवित्त बिबेक एक नहिं मोरें' 'कवि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू' आदि उक्तियों द्वारा अपनी विनय-भावना ही प्रकट की है, फिर भी वह अपने कवि रूप के लिए बहुत सतर्क हैं। एक स्थल पर वे स्पष्ट कहते हैं कि 'कुकबि कहाय अजसु को लेई'। वे कुकवि होने के अपयश से बहुत सावधान हैं। इसके अतिरिक्त अनेक अवसरों पर उन्होंने आत्म-विश्वास के साथ स्वयं को कवि घोषित किया है। मानस रूपक में सप्त सोपानों का वर्णन करते हुए उन्होंने 'अरथ अनूप सुभाव सुभाषा' का उद्घोष किया है। स्पष्ट है कि कवित्त-विवेक से तुलसी का तात्पर्य मात्र कलात्मक चमत्कार है जो उन्हें अभीष्ट नहीं है। वे 'सरल कबित्त कीरति बिमल' सिद्धांत के समर्थक हैं और प्रयोक्ता भी। यदि मानस की इस काव्य-संपदा से कोई अभिभूत न हो तो चिंता की बात नहीं क्योंकि कवि ने उसकी 'रचना स्वांतः सुखाय' की है दूसरों की मनः तृप्ति के लिए नहीं।

उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में यह निष्कर्ष निरूपित किया जा सकता है कि तुलसी का 'स्वांतः सुखाय' शब्द अनेकार्थ व्यंजक है। वे इस कथन द्वारा तत्कालीन सांप्रदायिक प्रचार से दूर रहकर अपनी एकांत भक्ति का प्रयोजन प्रकट करना चाहते हैं। दूसरी ओर व्याज रूप से वे अपना स्पष्टीकरण भी प्रस्तुत कर रहे हैं। कवि ने राम के चरित्र की जो परिकल्पना की है, उसने कथा को जिस प्रकार संगठित किया है और कतिपय अन्य सिद्धांतों का जैसा प्रतिपादन किया है, वह

---

१. मानस १।१०।२ २. मानस १।१४।४

यदि असिद्ध और अस्वीकार्य हो जाय तो भी यह कृति निरर्थक सिद्ध नहीं होगी क्योंकि यह उसके लिए तो 'स्वांतः सुखाय' अर्थात् सुख-शांति प्रदायिनी बनी ही रहेगी। तुलसीदासजी ने निर्गुण-सगुण, ज्ञान-भक्ति, शैव एवं वैष्णव मत के प्रति जो निर्णायक निष्कर्ष दिए हैं वे यदि अमान्य हो जाएँ तो कवि को कोई आघात नहीं लगेगा क्योंकि उसने मानस की सृष्टि किसी मिशन से प्रेरित होकर नहीं की वरन 'स्वांतः सुखाय' की है। इसके अतिरिक्त परंपराबद्ध कवि ग्राम्य गिरा के कारण इस कृति को यदि स्थान न दें तो भी कवि हताश नहीं होगा। गोस्वामीजी का विश्वास है कि इस काव्य में रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। यदि कोई और रस न मिले तो हास्यरस तो प्रकट होगा ही। उन्होंने इस काव्य के पारायण के लिए आस्थावान रामभक्तों का आह्वान किया है और कुतर्कियों की अवहेलना की है। उनकी अंतर्प्रतीति है कि यह रामकथा 'कुपथ कुतरक कुचालि कलि कपट दंभ पाखंड' पूर्ण व्यक्तियों को भी प्रभावित करेगी। यदि उनपर अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ता है तो इसका कारण है, व्यक्ति की अपात्रता। गोस्वामीजी के इन आत्मसाक्ष्यों के अनंतर भी यदि कोई इस कृति के संबंध में शंका प्रकट करता है तो वह निश्चय ही अज्ञ है :

एतेहु पर करिहहिं जे असंका। मोहि ते अधिक ते जड़ मति रंका।[1]

इन कथनों द्वारा तुलसी ने परछिद्रान्वेशियों को प्रतिबद्ध कर लिया है। इस आत्म-निवेदन द्वारा उन्होंने हर प्रकार के विरोधभाव को शमित कर दिया है और किसी को अपने सिद्धांतों के प्रत्याख्यान का कदाचित अवसर नहीं दिया है। तुलसी ने अपने कथ्य तथा शिल्प की महत्ता प्रमाणित करने के लिए ऐसे अनेक तर्क प्रस्तुत किए हैं किंतु यदि उनका अनुमोदन नहीं किया जाता तो वे स्वांतः सुखाय कहकर अपने इस स्वत्वाधिकार या विशेषाधिकार की घोषणा करते हैं ताकि किसी कुतर्की को इस व्यक्तिगत प्रश्न पर हस्तक्षेप करने का साहस न हो। स्पष्ट है कि यह स्वांतः सुखाय कथन उनकी व्यावहारिकता, दूरदर्शिता और सम्यक् आत्म-संरक्षा का द्योतक है, साथ ही इस काव्य की प्रख्याति तथा प्रतिष्ठा का एक हेतु भी। निश्चय ही यह उक्ति बड़ी गूढ़ार्थ व्यंजक है।

---

१. मानस १।१२।४

डॉ० हरिदत्त शर्मा 'सुधांशु'

तुलसीदास और नारी जाति

भारतीय स्वातंत्र्य के स्वर्ण-विहान से भी बहुत पूर्व महिला-जागृति अपने समाज में आयी। नारी के पुरातन आदर्शों को उसके शोषण का शस्त्र (माध्यम) सिद्ध करने की चेष्टाएँ की गयीं। किसी भी व्यवस्था में, चाहे वह प्राचीन हो या अर्वाचीन, न तो सारी बातें ग्राह्य होती हैं, न ही सारी बातें त्याज्य, किंतु जब कोई बात आंदोलन का स्वरूप ग्रहण करती है, तब सदसद्-विवेक, ग्राह्य-त्याज्य विवेक तिरोहित हो जाता है और एक उग्र नारेबाजी स्थानापन्न हो जाती है। यही कारण था कि नारी के प्राचीन-आदर्शों में सर्वांशतः अनास्था प्रकट की गयी। इन्हीं दिनों गोस्वामी तुलसीदासजी को भी नहीं छोड़ा गया। दो एक चौपाइयाँ 'मानस' में से इधर-उधर से उठायीं, आव देखा न ताव और गोस्वामीजी पर भी पिल पड़े। नारी हो या नर, जहाँ गुणों के कारण प्रशंसित होता है, वहाँ अवगुणों के कारण गर्हित भी होता है। तब यदि गोस्वामीजी ने नारी के अवगुणों पर स्पष्ट रूप से कहीं लिख दिया, तो अन्यत्र नारी के गुणों का गायन भी किया है, यह क्यों नहीं सोचा गया? उन अवगुणों को लेकर पर्याप्त कीचड़ उछाली गयी। ऐसा प्रतीत होता है कि ये आलोचक बंधु एक विशेष वाद के प्रतिबद्ध रूप में स्वयं को प्रस्तुत कर रहे हैं और उस वाद के चौखटे में 'फिट' न बैठने वाला कोई भी व्यक्ति उनकी दृष्टि में प्रतिक्रियावादी है।

गोस्वामी तुलसीदास ने नारी-जाति के विषय में क्या कुछ कहा है और किस प्रसंग में कहा है? इस बात का विचार किए बिना एकाएक कुछ भी

कहना बुद्धिमत्ता नहीं होगी। विशेष परिस्थिति में विशेष पात्र द्वारा कहलाए गए वाक्य उन पात्रों के चरित्रोद्घाटक भी होते हैं, सर्वत्र ही उन्हें कवि-मान्यता के रूप में उद्घोषित करना ठीक नहीं। कवि की मान्यता या तो स्वतंत्रोक्ति के रूप में प्रकट होती है या कवि के आदर्शों के प्रत्यक्ष स्वरूप पात्रों के कथन के रूप में। सर्वप्रथम, रामचरितमानस में एतत्संबंधी उक्तियों का अन्वेषण और विवेचन समीचीन होगा।

'मानस' के बालकांड में नारी के संशयशील और दुरावपूर्ण स्वभाव की बात कही गयी है :

(क) सुनहि सती तव नारि सुभाऊ।
संसय अस न धरिअ उर काऊ।[1]

(ख) सती कीन्ह चह तहँहुँ दुराऊ।
देखहु नारि सुभाव प्रभाऊ।[2]

(ग) ....।
भय बस सिव सन कीन्ह दुराऊ।
कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं।
कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहि नाईं।
जो तुम्ह कहा सो मृषा न होई।
मोरें मन प्रतीति अति सोई।
बहुरि राम-मायहि सिरु नावा।
प्रेरि सतिहिं जेहिं झूठ कहावा।[3]

(घ) सती हृदयँ अनुमान किय, सब जानेउ सर्वग्य।
कीन्ह कपटु मैं संभु-सन, नारि सहज जड़ अग्य।[4]

इस अंतिम दोहे में नारी की सहज जड़ता का वर्णन है। प्रसंग सर्वविदित है। सती की श्रीराम के ब्रह्मत्व के विषय में शंका, भगवान् शंकर द्वारा शंकालुता का निषेध, सती द्वारा परीक्षा, श्रीराम-विषयक ब्रह्मत्व-ज्ञान, सती की आत्मग्लानि, आत्म-निंदा, भगवान् शंकर से दुराव—इस समग्र प्रसंग में संशय हुआ श्रीराम के नर-चरित्र को देखकर, दुख हुआ भयवश कि कहीं प्रभु मेरे

---

१. मानस १।५१।३
२. मानस १।५३।३
३. मानस १।५६।१-३
४. मानस १।५७क

परीक्षण साहस को बुरा न मानें, 'नारि सहज जड़ अग्य' यह कथन किसी अन्य का नहीं, सती की आत्मग्लानि है। संशय का कारण है शिव के समान परिपक्व भक्ति का अभाव। दुराव, असत्य भाषण का कारण है आराध्य पर अविश्वास के कारण पति-हृदय पर अनुकूल प्रभाव की आशंका। भगवान् शंकर ने भी श्रीराम की सर्वातिशायिनी माया को सिर नवाया जिसके कारण सती ने झूठ बोला। नारी के स्वभाव में उपर्युक्त दुर्गुणों की चर्चा कोई असत्य नहीं, कटु अवश्य है। सती जैसी परमोच्च कोटि की नारी भी माया-प्रभाव के कारण दुराव करती है। पति (शिव) से दुराव सती का स्वभाव नहीं है, यह स्पष्ट ही है, और आत्म ग्लानि पूर्ण आत्म-कथन कवि की मान्यता कैसे हो सकता है ? यही आत्म ग्लानि और साथ ही पत्नी का आदर्श-चरित्र इन पंक्तियों में प्रकट होता है :

(क) कृपा सिंधु सिव परम अगाधा।
प्रगट न कहेउ मोर अपराधा।
निज अघ समुझि न कछु कहि जाई।
तपै अवाँ-इव उर अधिकाई।[1]
(ख) मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना।
पुनि पति-बचन मृषा करि जाना।[2]

दक्ष यज्ञ में प्राण-त्याग के समय भगवान् विष्णु से शिवपदानुराग का वर मांगना :

सती मरत हरि-सन बरु माँगा। जनम-जनम सिव पद अनुरागा।[3]

और फिर पार्वती के रूप में पति-प्राप्ति-निमित्त अति घोर तपस्या, नारी के अति समुज्जवल गौरवपूर्ण रूप का यशोगायन है। समग्र प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी का पातिव्रत्य के आदर्श का स्वरूप चिर-प्रशस्त और चिर-नमस्य माना गया है। नारद द्वारा निर्दिष्ट और मातृ-पितृ-अनुमोदित भावी पति (शिव) की प्राप्ति के निमित्त पार्वती ने तपस्या की और उस घोर तपस्या से विरत करने वाले सप्तर्षियों को जो उत्तर दिया वह ध्यान देने योग्य है :

जनम कोटि-लगि रगरि हमारी। बसैं संभु नतु रहउँ कुँआरी।
तजौं न नारद-कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू।[4]

१. मानस १।५८।१-२ २. मानस १।५६।१
३. मानस १।६५।३ ४. १।८१।३

उपर्युक्त पंक्तियाँ पार्वतीजी की प्रतिज्ञा की अटलता की परिचायिका हैं।

नारी की पराधीनता और दुःखपूर्ण स्थिति के विषय में ये पंक्तियाँ मननीय हैं :

कत बिधि सृजीं नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।[1]

नारी की पराधीनता का मुंह बोलता चित्र है वह और सत्य भी है, किंतु यह पंक्तियाँ पार्वती की माता द्वारा पार्वती के स्वगृह-त्याग और पति-गृह-गमन के समय पर कही गयीं है। अतः उसी संदर्भ में इन चौपाइयों का महत्त्व और काव्य-सौंदर्य प्रस्फुटित होता है। किन्हीं भी भुक्तभोगी माता-पिता द्वारा पुत्री के गृह-त्याग संबंधी हृदय-द्रावक अनुभूतियों की स्वीकृति ली जा सकती है। पति-गृह-गमन और पितृ-गृह-त्याग यही क्या कम पराधीनता है नारी के भाग्य में ?

सामान्य रूप से नारी को गूढ़ तत्त्व-ज्ञान की अनधिकारिणी माने जाने की सामाजिक मान्यता का उल्लेख भी तुलसीदासजी ने किया है, किंतु साथ ही आर्त्त और अधिकारी (विद्या की सत्पात्र) पाये जाने पर उसे विद्या-दान की बात भी पार्वतीजी के मुख से (शिव से रामकथा विषयक जिज्ञासा करते हुए, इस विषय में कहलवायी है :

जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन-क्रम बचन तुम्हारी।
गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं।[2]

उपर्युक्त पंक्तियों में से केवल प्रथम अर्धपंक्ति को उद्धृत कर कोई उसे सामाजिक मान्यता की उद्धृति न समझ कर तुलसी पर दोषारोपण करे कि तुलसी ने नारी-मात्र को अनधिकारिणी बना दिया, तो उसकी मति को क्या कहा जाए ?

नारी के सुंदर से सुंदर, मधुर से मधुर रूप की झाँकी 'मानस' में मिलती है। नारी के वात्सल्यमय हृदय का वर्णन तीनों भाइयों सहित श्रीराम के शैशव वर्णन में उपलब्ध होता है।[3] नारी के सौंदर्यमय और प्रेम-मय रूप के दर्शन सीताजी के गौरी-पूजन-प्रसंग तथा स्वयंवर-प्रसंग के अंतर्गत होते हैं।[4] नारी

१. मानस १।१०२।३ २. मानस १।११०।१
३. मानस १।१९७-२०३
४. मानस १।२२७, २२८, २३१, २३२, २४६, २४७,

के सुकुमार, सुकोमल रूप में कितनी चारित्रिक दृढ़ता प्रकट हो सकती है इसका निदर्शन तुलसीदासजी ने आलंकारिक ढंग से किया है :

उगै न संभु सरासन कैसे। कामी बचन सती मन जैसे।[1]

नारी-जीवन के दो पहलू (मातृ-पितृ-अधीनता, पति-अधीनता) कथा-प्रसंग में कितने मार्मिक बन पड़े हैं :

(क) गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी।
भयउ बिलंब मातु-भय मानी।
धरि बड़ि धीर राम उर आने।
फिरी अपनपउ पितु-बस जाने।[2]

(ख) अति-सनेह-बस सखी सयानी।
नारि धरम सिखवहिं मृदु बानी।
बहुरि-बहुरि भेंटहिं महतारी।
कहहिं, बिरंचि रची कत नारी।[3]

एक उद्धरण में सीताजी की गौरी-पूजन से शीघ्र गृह-गमन की चिंता का चित्रण है, तो दूसरे में विवाहोपरांत विदा लेती हुई सीता को श्वसुरालय में जीवन-यापन की उचित विधि की शिक्षा है। दोनों में मर्यादा, वेदना और करुणा का कितना सुंदर चित्रण है, यह अवलोकनीय है। विवाह की सभी लोकरीतियों में नारी के प्राधान्य की चर्चा तो पिष्टपेषण मात्र होगी।

अयोध्याकांड में मंथरा-कैकेयी-संवाद-प्रसंग में मंथरा और कैकेयी दोनों की क्रूरता, कुटिलता और कुचाली स्वभाव का चित्रण उपस्थित किया गया है। महाराज दशरथ पर कैकेयी का, कैकेयी पर मंथरा का मानसिक प्रभुत्व कितने बड़े कुचक्र का सृजन करता है। वरदान माँगने के समय राम-प्रेम में दशरथ की दुर्दशा, दशरथ द्वारा विनय, कैकेयी की क्रूरता और अयोध्या के सिंहासन के स्वामित्व को लेकर दुःखी अयोध्या-वासियों के मुख से नारी स्वभाव पर एक सामान्य उक्ति कहलायी गयी है :

सत्य कहहिं कबि नारि सुभाऊ। सब बिधि अगह, अगाध दुराऊ।
निज प्रतिबिंब बरुकु गहि जाई। जानि न जाइ नारि-गत भाई।

१. मानस १।२५१।१
२. मानस १।२३४।४
३. मानस १।३३४।३-४

काह न पावक जारि सक, का न समुद्र समाइ ।
का न करइ अबला प्रबल, केहि जग काल न खाइ ।[1]

परंतु इन पंक्तियों को लेकर यदि यह कहा जाए कि तुलसीदासजी नारी के प्रति समुचित दृष्टिकोण नहीं रखते थे, या ये पंक्तियाँ नारीमात्र के प्रति घृणा या द्वेष का ही विषवमन करती हैं, तो निवेदन है कि कौशल्या, सुमित्रा, सीता, मंदोदरी आदि के उज्जवल रूप-चित्रण के विषय में वे क्या कहेंगे ? उपर्युक्त प्रसंग में इन पंक्तियों का औचित्य स्वतः सिद्ध है और नारी का एक स्वरूप भी ऐसा है। चाहे यह स्वरूप उज्जवल नहीं है, परंतु क्या इसकी सत्यता से इंकार किया जा सकता है ? इसे नारी का समग्र रूप मानकर चलना भी गलत होगा।

मंथरा के द्वारा सिखाए जाने पर कैकेयी में कौशल्या के प्रति सौतिया-डाह भी जागता है :

नैहर जनमु भरब बरु जाई। जियत न करब सबत सेवकाई।
अरि-बस दैउ जियावत जाही। मरन नीक, तेहि जीवन चाही।[2]

नारी का यह स्वरूप भी कोई गौरवपूर्ण तो नहीं है, किंतु क्या यह नारी-स्वभाव-चित्रण मिथ्या है और क्या यह द्वेषपूर्ण लेखनी का परिचायक है ? जब आधुनिक मनीषी यथार्थ-चित्रण का सर्वाधिक महत्व स्थापित करते हैं, तो फिर उपर्युक्त पंक्तियों में (जो यथार्थ चित्रण है) क्या दोष है ?

रामवन-गमन-समाचार-दुःखिता कौशल्या के मर्यादा-धर्मपूर्ण सार-गर्भित वचन क्या नारी का उदात्त चित्रण नहीं है ?[3] सीताजी का वन-गमन संबंधी हठ, पति-प्राणा नारी के पातिवृत्य का एक समुज्ज्वल रूप प्रस्तुत करता है। समस्त सुख-वैभव-भोगों को पति-साहचर्य के समकक्ष तुच्छ मानकर वह वन चल देती हैं।[4] लक्ष्मण जी को श्रीराम के साथ वन जाने की आज्ञा देते समय सुमित्रा का चरित्र कितना उदात्त है, इसकी अनुपम झाँकी 'मानस' एवं 'गीतावली' (अयोध्याकांड पद ११, पृ० १८३) में उपलब्ध होती है। ग्रामीण-नारियों का सीता-राम-लक्ष्मण के प्रति स्नेह-वैकल्य (सुकुमार स्वरूप और

---

१. मानस २।४७
२. मानस २।२१।१
३. मानस २।५३-५६
४. मानस २।६३-६७

कठोर वन-जीवन को देखते हुए) उनके निष्कलुष हृदय की कैसी मार्मिक झाँकी उपस्थित करता है, यह पढ़ते ही बनता है ।[1]

राम-वन-गमन समाचार से अत्यंत मर्माहत भरत अपनी माता कैकेयी को अति कठोर वाक्य कहते हैं, यथा—'बर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा।' उसी संदर्भ में नारी-मात्र के स्वभाव पर कुछ कटूक्ति कह जाते हैं :

बिधिहुँ न नारि-हृदय गति जानी । सकल कपट-अघ-अवगुन खानी ।
सरल, सुसील, धरम रत राऊ। सो किमि जानइ-तीय सुभाऊ ।[2]

और इसी प्रकार शत्रुघ्न भी अत्यंत शोकित स्थिति में खड़े हैं कि मंथरा आती है, भरतादि से पुरस्कार की आशा में और शत्रुघ्न उसे शारीरिक दंड दे डालते हैं, फिर भरत उसे छुड़ाते हैं ।[3]

उपर्युक्त घटनाओं को यदि मंथरा के राम-विरोधी भयंकर कुचक्र, कैकेयी का तदनुसरण, राम-वन-गमन, सिंहासन-रिक्तता, अयोध्या-वासियों का दुःख, दशरथ-मरण आदि के संदर्भ में देखा जाए तो प्रतीत होगा कि भरत के कठोर वचन और शत्रुघ्न का एतादृश व्यवहार अत्याचार की संज्ञा नहीं पा सकता। उपर्युक्त पंक्तियाँ नारी-स्वभाव पर व्यंग्य होते हुए एक पक्ष (कुपक्ष) का उद्घाटन करती हैं और वह पक्ष कैकेयी में उदाहृत हुआ है। फिर शोकित और मर्माहत व्यक्तियों की कथनी और करनी विशेष परिस्थिति में विशेष धर्म ही है। सामान्य धर्म की दृष्टि से विचारणीय नहीं है।

अरण्यकांड में शूर्पणखा का जैसा व्यभिचारी चरित्र अंकित है, वह प्रसिद्ध रामाण्यक कथा है उसके लिये तुलसी को दोष देना व्यर्थ है। वह बारंबार राम और लक्ष्मण के बीच पतिवरणेच्छा लिये घूमती है जिससे प्रेम-भावना का उपहास ही अधिक दिखाई देता है।[4]

नारी (सीता) के रक्षणार्थ जटायु का रावण से युद्ध और मरण-वरण, जहाँ पुरुष के पराक्रम का प्रदर्शन है, वहाँ नारी के महत्व का भी प्रतिपादन हैं।[5] शबरी श्रीराम के प्रति भक्ति पूर्ण विनय करती है :

---

१. मानस २।१२०-१२१
२. मानस २।१६२।२-३
३. मानस २।१६३।१-४
४. मानस ३।१६-१७
५. मानस ३।२८-२९

अधम ते अधम, अधम अति नारी।
तिन्ह-महँ मैं मति मंद अघारी।[1]

इस पंक्ति में भी नारी-पात्र को अधम कहा गया प्रतीत होता है और शबरी अपने आपको नारियों में भी अति अधम, अति मंद मानती है। यहाँ शबरी वास्तव में चरित्र में वैसी नहीं है, जैसा अपने आपको कहती है। उसका चरित्र भक्ति-पुनीत है, किंतु यह उक्ति आत्म-निवेदन है जिसमें स्व-लघुत्व-प्रतिपादन निरहंकारिता का एक अनिवार्य अंग है और निरहंकारिता भक्ति का एक आवश्यक गुण है। इन सब संदर्भों में देखने पर उपर्युक्त पंक्ति का मर्म खुलता है। दूसरी ओर, शबरी अपनी जाति की अधमता की ओर भी संकेत करती है, जो हिंदू समाज में वर्ण-व्यवस्था का एक चित्र है।

लक्ष्मण के साथ विरही राम एक वन से दूसरे वन में भ्रमण करते हुए शोभाशाली प्रकृति का अपने हृदय पर व्यथाकारक प्रभाव कहते चले आ रहे हैं, उसी प्रसंग में यह पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं :

संग लाइ करिनी, करि लेहीं। मानहु मोहिं सिखाबन देहीं।
सास्त्र सुचिंतित पुनि-पुनि देखिय। भूप सुसेवित बस नहिं लेखिय।
राखिय नारि जदपि उर माहीं। जुवती, सास्त्र, नृपति बस नाहीं।[2]

इन पंक्तियों में अवश्य ही नारी को 'अवश' कहा गया है और अविश्वास्यता का व्यंग्य भी है। वहाँ भी इन पंक्तियों के कथन-कर्त्ता (श्रीराम) विरहालोड़ित चित्त हैं। अतः यह कथन भी आर्त्त-कथन की कोटि में विशेष परिस्थिति में ही समालोच्य है। यद्यपि यह कहने में कोई बाधा नहीं कि नारी के चंचल स्वभाव पर यह एक सामान्य उक्ति भी है जो कि किसी भी अनुभवी के लिये अस्वीकार्य शायद ही हो।

इससे आगे, नारद मुनि अपने मोह प्रसंग की चर्चा छेड़ते हैं और कहते हैं कि मुझे विवाह क्यों नहीं करने दिया, तब श्रीराम कहते हैं, 'नारी मोह, काम, क्रोध, लोभ, मद मत्सर, दुर्वासना, ममता, पाप आदि की अभिवृद्धि और जप, तप, नियम, धर्म, बल, शील, सत्य आदि की क्षीणता करने वाली है।'[3] यह भी नारी-मात्र की प्रत्यक्ष ही निंदा है, किंतु इसमें नारी के 'प्रयदा' स्वरूप की निंदा है और वह भी नारद जैसे संन्यासी के लिये जो बिलकुल

१. मानस ३।३५।२ २. मानस ३।३७।४-५
३. मानस ३।४३-४४

उचित है। नारी के तपोमय, ज्ञानमय स्वरूप की चर्चा नहीं है। नारी का यह भी एक रूप है, जो सत्य ही है, किंतु समग्र रूप नहीं है।

प्रकृति-वर्णन के अंतर्गत नीति-वाक्यों की जहाँ अवतारणा तुलसीदासजी ने की है वहाँ विरही श्रीराम के मुख से यह भी कहलवाया है :

महावृष्टि चलि फूटि कियारी।
जिमि सुतंत्र भइ बिगरहिं नारी।[1]

नारी के स्वतंत्र होने पर बिगड़ जाने की बात का अर्थ केवल इतना ही है कि समाज में दुष्टों की संख्या को देखते हुए, नारी की सम्मान-रक्षा किसी पुरुष के साथ रहने में ही है वह पुरुष पिता हो, पति हो या पुत्र हो, अन्यथा आधुनिकता के नाम पर भ्रम भी कम फैले हुए नहीं हैं। यही बात इस श्लोक से प्रतिपादित होती है :

पिता रक्षति कौमारे, भर्त्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थाविरे पुत्राः, न स्त्री स्वातन्त्यमर्हति।

इसके एक अंश 'न स्त्री स्वातन्त्यमर्हति' को लेकर भी बहुत विवाद चला है। बात यह है कि प्रसंग से काटकर अलग किए हुए उद्धरण कथ्य की अभिव्यक्ति में सर्वत्र समर्थ नहीं हो पाते।

एक और अर्द्धाली है जिसके कारण तुलसीदासजी पर अनेकानेक आक्षेप हुए हैं, वह है :

ढोल, गँवार, सूद्र, पशु, नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी।[2]

एक ओर तो 'पशु और नारी', दूसरी ओर 'पशु-नारी' (पशु स्वभाव की नारी) अर्थ किया गया है। इस दूसरे अर्थ में दोष-मार्जन हो जाता है, किंतु पहले ही अर्थ को लें, तो भी यह विचार आवश्यक है कि समुद्र मानस का एक महत्व-हीन पात्र है वह स्वयं को जड़ एवं माया-प्रेरित कहता है, और जड़ को मर्यादा का ज्ञान नहीं रहता। अतः वह स्वयं को दंडनीय मानते हुए भी क्षमा याचना करता है।[3] उपर्युक्त पंक्ति भी एक सामान्य उक्ति है, किंतु जड़-पात्र की उक्ति है और यहाँ नारी के कद्रूप को ही ताड़ना का अधिकारी माना

---

१. मानस ४।१५।४ ३. मानस ५।५६।३
४. मानस ५।५८-५६

गया है। सामान्यतः अर्द्धाली की ध्वनि यही है। नारी के आदर्श स्वरूप को सर्वदा ही स्तुत्य माना गया है।

नर के लिए नारी (पत्नी) की अधीनता का कुपरिणामकारी प्रभाव कैकेयी द्वारा वरद्वय-याचना और दशरथ तथा समस्त प्रजाजन के शोक में परिलक्षित होता है। इसके विपरीत नारी की हितकारक बात को ध्यान न देने वाले पौरुषाभिमान-ग्रस्त लोगों का भी परिणाम अच्छा नहीं होता, उदाहरणार्थ बालि का सुग्रीव से युद्ध करने के समय तारा की बात पर ध्यान न देना, मंदोदरी द्वारा श्रीराम का सर्वगुण संपन्न, सर्वशक्तिशाली भगवत्स्वरूप समझाए जाने पर भी रावण का ध्यान न देना[1] तथा दुराभिमान वश नारी-निंदा करना:

नारि सुभाउ सत्य कबि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं।
साहस, अनृत, चपलता, माया। भय, अबिबेक, असौच, अदाया।[2]

रावण के कथन में कवि-कथन के माध्यम से एक सत्यांश उद्धृत किया गया है, किंतु इसके-पीछे दुरभिमान भी अवश्य ही स्पष्ट परिलक्षित होता है। इस प्रकार रामचरितमानस से ही ये परिणाम निकलते हैं कि नर-नारी के अधीन नहीं रहें, किंतु नारी की उचित बात को दुरभिमान वश ठुकराये भी नहीं।

सीताजी की अग्नि-परीक्षा के विषय में तुलसीदासजी ने स्पष्ट लिखा है कि:

सीता प्रथम अनल महुँ राखी। प्रगट कीन्हि चह अंतर साखी।[3]

ऊपरी कठोरता तो लीला-मात्र थी। दूसरे लौकिक दृष्टि से भी समाज की अपवाद-प्रियता की प्रकृति का यह सुचिंतित उत्तर था जो श्रीराम द्वारा प्रजा-रंजनार्थ प्रिया-परिव्याज के अनंतर भी सीता की निष्कलंकता का प्रमाण बना रहा।

उत्तरकांड में तुलसीदासजी ने अपने समकालीन समाज का मुँह बोलता चित्र उपस्थित किया है जिसमें पतन की पराकाष्ठा का द्योतन है। इसी चित्रण में नारी और नर के द्वारा पारिवारिक और सामाजिक मर्यादाओं के परित्याग एवं पतन का चित्र भी उपलब्ध होता है।[4]

---

१. मानस ५।३६।३-५,६।१४-१५,६।३६-३७

२. मानस ६।१६।१-२

३. मानस ६।१०८।१४

४. मानस ७।९९।१-३, ७।१०।२, ७।१०२।३

ग्रामीण नारियों द्वारा लक्ष्मण, सीता और राम की शोभा का वर्णन तथा उनकी उन वन-पथिकों के प्रति अत्यंत उत्सुकता[1] के विशद वर्णन में नारी-जाति के निष्कलुष भाव का मार्मिक दर्शन तुलसीदास जी ने कराया है। पुत्र-जन्म-संबंधी[2] तथा विवाह-संबंधी[3] आवश्यकता तुलसीदास जी ने स्पष्टतः वर्णित की है। राम-राज्य में फाग खेलने के अवसर पर स्त्रियों का मधुर-गायन, उज्ज्वल भवनों से निकलते, वासंती साड़ी पहने, कुंकुमों में अबीर भरे स्त्रियों के झुंड, जानकी जी के साथ रंग-बिरंगे वस्त्राभूषण पहने चाचर और झूमक गाते हुए स्त्रियों के झुंड वर्णित हैं।[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि श्री तुलसीदास जी ने नारी के उज्ज्वल और निष्कृष्ट दोनों स्वरूपों का समर्थ चित्रण किया है। नारी की उज्ज्वलता पार्वती, कौशल्या, सुमित्रा, सीता, शबरी, मंदोदरी आदि में सफलतया अंकित हुयी है। नारी के निकृष्ट रूप के दर्शन हमें मंथरा, ताड़का, शूर्पणखा आदि में होते हैं। कैकेयी का चरित्र मूलतः सामान्यकोटि का चित्रित है, किंतु मंथरा के कुचक्र प्रभाव में आने पर वह स्वयं भी क्रूरता की प्रतिरूप बनकर निंद्य हो जाती है। नारी-विषयक सामान्य उक्तियाँ अवश्य ही बहुत चिंत्य प्रतीत होती हैं, किंतु वे प्रसंग, पात्र, परिस्थिति, चरित्र आदि के संदर्भ में रखकर विचारणीय हैं। इन सामान्य उक्तियों में एक ओर तो नारी का पतनोन्मुख सामान्य चरित्र अंकित हुआ है, दूसरी ओर स्वभावगत सत्यांश की अभिव्यक्ति भी हुई हैं, भले ही वह शास्त्रोक्त अथवा आप्तोक्त वचन के रूप में उद्धृत है। जहाँ तद्युगीन समाज में नारी के प्रति मान्यता हीन-कोटि की थी, वहाँ नारी का सामाजिक-मांगलिक-कार्यों में अनिवार्यतया आवश्यक योगदान एवं आदरणीय स्थान था।

---

१. कवितावली २।१८–२३
   गीतावली २।१६–४२
२. गीतावली १।६, २१, २२
३. मानस का स्वयंवर प्रसंग, जानकी-मंगल तथा पार्वती-मंगल
४. गीतावली ७।१९, २२; ७।४–७

डा० (श्रीमती) गिरिजासिंह

तुलसी के नारी पात्र

प्रबंध कुशल कवि तुलसीदास का आविर्भाव ऐसे युग में हुआ था जब देश की दशा संतोषजनक नहीं थी । पुरुषों में कामुकता इस सीमा तक वढ़ गई थी कि वे अपनी सभ्यता तथा संस्कृति को प्रायः विस्मृत कर चुके थे । नारी और सुरा की चर्चा के मध्य तत्कालीन कवि भी प्रायः शृंगार रस में सरावोर होरहे थे । कृष्ण-भक्त-कवियों के काव्य में भी शृंगार विलास को ही प्रमुखता मिली ।[1] शील और मर्यादा का ध्यान रखने वाले तुलसीदास ने लोगों का ध्यान इस ओर से हटाने के लिए षट् गुणों से युक्त राम जैसे उदात्त पात्र से संबंधित कथा को अपने प्रबंध का विषय चुना ।

नारी समाज और परिवार का प्रमुख अंग है । इस अंग का मर्यादितरूप ही परिवार तथा लोक के लिए कल्याणकारी हो सकता है, इसको कवि ने नारी-पात्रों के चरित्रांकन के द्वारा सिद्ध किया । कसौटी के रूप में खल नारी पात्रों को स्थान देकर और असत् प्रवृत्तियों को प्रकाश में लाकर तथा उनके परिणामों की भयंकरता दिखा कर असत् के प्रति घृणा पैदा की । नारी पात्रों के चरित्र चित्रण में भी कवि की लोक-मंगल की भावना स्पष्टतः अभिव्यंजित होती है ।

आदर्श नारी पात्र :

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार हर व्यक्ति में श्याम और श्वेत भावों का मिश्रण कम या अधिक मात्रा में होता ही है । किंतु भक्त कवि तुलसीदास

१. हितहरिवंश आदि

राम और सीता को विष्णु और लक्ष्मी का साक्षात् अवतार मानकर चले। प्रारंभ में ही सीता और कौशल्या की वंदना में कवि ने अपनी असीम श्रद्धा प्रकट की है। ऐसे नारी पात्रों के चरित्र-चित्रण में कवि को अवश्य ही सदैव सतर्क रहना पड़ा होगा। तुलसी की सीता, कौशल्या और सुमित्रा के जीवन में अनेक विषम परिस्थितियाँ आईं किंतु वे इन्हें अपने आदर्श से डिगा न सकीं। विरोधी परिस्थितियों के मध्य अपना सुपथ चुन लेने में ये तीनों ही नारी पात्र कुशल थीं। इनका चरित्र हर एक परिस्थिति में एक सा रहा। कौशल्या का पुत्र राजगद्दी पाते-पाते चौदह वर्षों का वनवास पा गया और उस माँ ने उद्विग्न होकर न दशरथ को कुछ कहा, न कैकेयी को। हृदय पर बाण के समान चोट खाकर भी धैर्य के साथ उन्होंने राम से वन भेजे जाने के कारणों के प्रति जिज्ञासा प्रकट की :

राजु देन कहुँ सुभ दिन साधा। कहेउ जान बन केहिं अपराधा।[१]

राम ने माँ से वन जाने की आज्ञा माँगी। थोड़ी देर के लिए वह धर्म और स्नेह के मध्य झूलने लगी। पुत्र को वन जाने से रोकने का अर्थ राजा के आदेश का उल्लंघन होता और परोक्ष में भरत का विरोध भी होता।[२] धर्म की जीत हुई। कौशल्या ने राम और भरत में भेद न मानकर राम को वन जाने की अनुमति दे दी। उन्हें दुःख केवल इतना ही था कि राजा और प्रजा को तो राम के बिना क्लेश होगा ही, भरत भी क्लेश पायेंगे। अपना दुःख वह मानो भूल गईं। कौशल्या के आदर्श भावों को जानकर चित्त उनके प्रति श्रद्धा से भर उठता है :

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।
जौं पितु मातु कहेऊ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना।[३]

मातृत्व का आदर्श रूप हम कौशल्या में पाते हैं। उनकी समझदारी का दूसरा उदाहरण है कि उन्होंने एक सामान्य नारी की भाँति स्वयं भी पुत्र के साथ वन जाने की उत्सुकता एक बार भी प्रकट नहीं की क्योंकि ऐसा करने से राम को वन जाने में संकोच हो सकता था अथवा वह राम के सामने संकट उपस्थित करने वाली बन सकती थीं। पुत्र वियोग की असह्य पीड़ा को धर्म

---

१. मानस २।५४।४ २. मानस २।५५।२
३. मानस २।५६।१

और नीतिपरायण इस नारी ने धैर्य और संतोष के साथ सहा। संघर्ष की हर विषम घड़ी में वह खरी उतरीं।

कौशल्या ने नारीजाति को आदर्श सास बनने का पाठ पढ़ाया। सीता को सास के सामने पति की अनुगामिनी बनकर वन जाने के लिए कहने में संकोच हो रहा था। सास ने बहू के मन के भावों को पहचान कर तदनुरूप कार्य किया। वन जाने की तीव्र इच्छा देखकर सास ने बहू को आशीर्वाद देकर विदा किया। ऐसी सास से किस बहू का विरोध हो सकता है? कौशल्या का आशीर्वाद सीता को कितना प्रिय लगा होगा :

अचल होउ अहिवातु तुम्हारा। जब लगि गंग जमुन जल धारा।[1]

तुलसीदास जी ने कौशल्या से राजा दशरथ के प्रति नीति-वचन भी कहलाए :

धीरजु धरिअ त पाइअ पारू। नाहिं त बूड़िहि सबु परिवारू।
जौं जियँ धरिअ बिनय पिय मोरी। रामु लखनु सिय मिलहिं बहोरी।[2]

पिता की मृत्यु और राम-लक्ष्मण-सीता के वन-गमन के पश्चात् भरत के ननिहाल से लौटने पर कौशल्या ने उनके साथ जैसा पुत्रवत् व्यवहार किया, उसका कोई सानी नहीं। भरत को छाती से लगा लेना, उनके आँसू पोछना, फिर गोद में बैठाकर अनेक प्रकार से धैर्य बँधाना, स्नेहवश स्तनों से दूध बहना आदि प्रकट करता है कि कौशल्या के मन में न कैकेयी के प्रति मैल था, न उस भरत के प्रति जिसके कारण कैकेयी ने उनके पुत्र को वन जाने को वाध्य किया था। कौशल्या के लिए चारों पुत्र समान थे।[3] क्षमा कौशल्या की निजि निधि थी।

तुलसी की सुमित्रा का भोलापन तथा कर्तव्य की वेदी पर स्नेह का बलिदान परिवार की सुशृंखलता के लिए महत्वपूर्ण है। इस नारीपात्र के मातृत्व में वात्सल्य मोह की दुर्बलता बनकर नहीं बल्कि कर्तव्य की शाश्वत शक्ति बनकर आया।[4] राम सीता के साथ, उन्होंने अपने पुत्र लक्ष्मण को द्वेष, मद, मोह और लोभ स्वप्न में भी न आने का उपदेश देकर, वन जाने की आज्ञा दी :

---

१. मानस २।६८।४ २. मानस २।१५४।४
३. मानस २।१६४-१६६ ४. मानस २।७३-७५

जौ पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं।[1]

आगे चलकर राम-रावण युद्ध में लक्षमण के आहत होने तथा मूर्छित होने की सूचना हनुमान से पाकर भी वह सामान्य नारी के समान विलाप नहीं कर उठीं बलिक वीर माता सुमित्रा अपने दूसरे पुत्र को भी राम की सहायता के लिए भेजने को उतावली हो उठीं :

'रघुनंदन बिनु बंधु कुअवसर जद्यपि धनु दुसरे हैं।
तात ! जाहु कपि संग' रिपुसूदन उठि कर जोर खरे हैं।[2]

तुलसी ने सुमित्रा और कौशल्या का जैसा ऊँचा आदर्श चरित्र अंकित किया, वह उनकी मौलिक उदभावना है जो पारिवारिक मर्यादा तथा भारतीय संस्कृति की रक्षा का सूचक है। कवि ने इन दोनों पात्रों का आदर्श कहीं गिरने नहीं दिया।

तीसरी आदर्शनारी-पात्र सीता है जो राम की अतीव सुंदरी, सर्वगुण संपन्न पतिव्रता पत्नी थीं। जिन्होंने 'धीरज धर्म मित्र अरु नारी, आपत काल परखिए चारी' के सिद्धांत को व्यवहाररूप दिया। राजसुख को ठोकर मारकर वन-वन पैदल यात्रा की तथा अनेक दुःख सहे। तुलसीदास ने प्रारंभ से अंत तक सीता में कहीं खोट नहीं आने दिया। सीता ने अपनी कुशलता से जंगल में भी सुख-चैन का वातावरण अपने साथ-साथ राम-लक्ष्मण के जीवन में भी ला दिया किंतु काल की कठोर गति ने उसे भी छीन लिया। छद्मवेशी रावण अतिथि के रूप में आकर सीता को उठा ले गया। राम-लक्ष्मण को मार्ग दिखाने के लिए सीता अपने वस्त्र मार्ग में गिराती गई, इससे उनकी सूझ-बूझ का परिचय मिलता है।[3]

सीता की चारित्रिक दृढ़ता अद्वितीय थी। सीता के एक बार दृष्टिपात करने पर रावण अपनी संपूर्ण संपति बदले में देने को तैयार था किंतु सीता शत्रु के घर में भी सिंहनी के समान गरज उठीं :

सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा।[4]

सीता ने रावण के घर में ही रावण को जुगनू और राम को सूर्य कहने में मृत्यु का भय भी नहीं माना। इस नारीपात्र की सहन-शीलता का परिचय हमें तब मिलता है जब लंका-विजय के उपरांत वह राम के सम्मुख लाई गई। राम ने निर्दोष पत्नी के प्रति प्रिय-वचनों के स्थान पर दुर्वचनों

१. मानस २।७४।२
२. गीतावली ६।१३
३. मानस ४।५।३
४. मानस ५।६।४

का प्रयोग किया तथा सीता की अग्नि परीक्षा ली किंतु तुलसी की सीता का मुँह तक विकृत नहीं हुआ। सीता में आत्मविश्वास प्रबल रूप में था।[1] कवि ने उन्हें सदैव देवी पात्र के रूप में देखा। अग्नि का चंदन के समान शीतल हो जाना, प्रतिबिंब जल जाना और सीता का सुरक्षित रह जाना आदि दिव्य चमत्कार हो सकता है, मानवी नहीं। क्षेमेंद्र कृत 'रामायण मंजरी' में सीता इस अवसर पर लज्जा, विस्मय, क्रोध, अपमान का अनुभव करती है[2] जो पूर्णतया स्वाभाविक है। किंतु तुलसी ने दो सीताओं, असली-नकली, को अपने प्रबंध में स्थान दिया। सीता-हरण आदि सब कुछ नकली सीता का ही हुआ। सीताहरण के पूर्व राम सीता को नरलीला करने का निर्देश करके राक्षसों का नाश करने के लिए तत्पर हुए और पत्नी को अग्नि में प्रवेश करा दिया। रह गई सीता की छाया मूर्ति।[3]

जो भी हो, सीता का आदर्श अद्वितीय है। चौदह वर्ष कठिन अवधि पूरी करके सीता राजरानी बनीं। अनेक दास-दासियों के होते हुए भी वह पति तथा सासों की सेवा स्वयं करती थीं। यह सीता के उज्ज्वल चरित्र का परिचायक है किंतु ऐसी निर्दोष और भली नारी सीता का, जो गर्भवती भी थीं, पति के द्वारा अचानक निर्वासन क्या नारी की सहनशीलता का अनुचित लाभ नहीं कहा जायेगा। यद्यपि मानस में सीता वनवास की कथा नहीं है किंतु गीतावली के अनुसार राम ने सीता को त्याग देना ही उचित समझा क्योंकि राम तब तक अपनी आयु भोग चुके थे और दशरथ की शेष आयु भोगने की बारी आगई थी।[4] कवितावली में संकेत रूप में सीता वनवास की बात मिलती है:

'तीय सिरोमनि सीय तजी जेंहि पावक की कलुषाई दही है।'[5]

राम के वंश की रक्षा में प्राण त्याग को मन से हटाकर सीता ने अद्भुत धैर्य और विवेक का परिचय दिया। तुलसी की सीता ने एक भी कटुशब्द न पति के लिए, न परिवार के लिए कहीं प्रयोग किया। ये पात्र आदर्श हैं किंतु मानवोचित नहीं। इनका चरित्र लचीला नहीं है। अथवा यों कहें कि इनके संस्कार इतने प्रबल हैं कि परिस्थितियाँ उन्हें दबाने में असमर्थ हैं।

---

१. मानस ६।१०९।३-४

२. रामायण मंजरी काव्यमाला ८३, १९०३ ई० क्षेमेंद्र, युद्धकांड के पश्चात् उत्तरकांड के पूर्व, पृ० ३९८–९९

३. मानस ६।१०८।७

४. गीतावली ७।२५

५. कवितावली ७।६

परिस्थितियों से प्रभावित पात्र :

तुलसी के नारी-पात्रों में कैकेयी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है क्योंकि मानस तथा तुलसी के अन्य काव्यों में भी कथा को विकसित करने में इस पात्र का सर्वाधिक हाथ है। कैकेयी माता-विमाता, पत्नी-सपत्नी अनेक रूपों में कौशल्या और सुमित्रा के समान आई किंतु प्रारंभ से ही कैकेयी की मनोवैज्ञानिक स्थिति अन्यों से भिन्न थी। नारी ममता की मूर्ति कही जाती है। कैकेयी में ममत्व अन्य माताओं से कुछ अधिक ही था। उसे राम भरत से तनिक भी कम प्यारे नहीं थे :

'प्रान तें अधिक रामु प्रिय मोरें। तिन्ह कें तिलक छोभु कस तोरें।'[1]

दशरथ के साथ संग्राम में जाने वाली कैकेयी की चितवृत्ति में आवेग तथा मनमौजीपन था। उसकी इस प्रकृति को सदा साथ रहने वाली जालसाज नारी मंथरा बहुत अच्छी तरह पहचानती थी। उसने उसी का अनुचित लाभ उठाया। कैकेयी-मंथरा-संवाद प्रारंभ में कैकेयी की राम पर अत्यधिक प्रीति का संकेत करता है किंतु आवेग और मनमौजीपन भी दुर्बल संस्कार के ही प्रतिफल हैं। ऐसे संस्कार में स्थिरता नहीं होती। अब कौन और क्यों उचित अथवा अनुचित हो जायेगा, कहा नहीं जा सकता। मंथरा ने अपनी कुटिल-कपटी बुद्धि का प्रयोग कर कैकेयी में सपत्नी भाव जताया और सुमति को कुमति में परिवर्तित करने में सफल हुई। कौशल्या और सुमित्रा संस्कार प्रधान नारियाँ थीं। उन्होंने प्रतिवाद नहीं किया। यदि कैकेयी के समान उन्होंने भी अपना आवेग दिखाया होता तो गृह-कलह का एक दूसरा ही शर्मनाक दृश्य उपस्थित हो जाता। कैकेयी का संस्कार नारी की दुर्बलता मात्र था जो मंथरा के भुलावे में आ गया और जिस प्रकार पहले उसने मंथरा को फटकार बताई उस पर वह दृढ़ न रह सकी। मंथरा जानती थी कि कैकेयी का स्वाभिमान जगाने से ही उसका कुछ काम बन सकता था :

नैहर जनम भरब बरु जाई। जिअत न करबि सवति सेवकाई।[2]

कैकेयी का चरित्र फिसलता ही गया। वह देखते ही देखते राम की कठोर विमाता, कौशल्या की ईर्ष्यालु सपत्नी बन गई। राम और कौशल्या को शत्रु मान बैठी जबकि राजतिलक की घटना के पूर्व ऐसा कुछ भी नहीं था :

अरि बस दैउ जिआवत जाही। मरनु नीक तेहि जीवन चाही।[3]

१. मानस २।१५।४ २. मानस २।२१।१ ३. मानस, २।२१।१

दशरथ की सर्वाधिक प्रिय तेजस्विनी पत्नी कैकेयी थी। वह किसी के अधीनस्थ होकर रहना स्वीकार न कर सकी। 'अध्यात्मरामायण' में यही भाव संस्कृत पदों में व्यंजित है :

त्वंतुदासीव कौसल्यां नित्य परिचरिष्यसि
ततोऽपि मरणं श्रेयो, यत्सपत्न्याः पराभवः।[1]

स्वाभिमान के प्रबल होते ही कैकेयी ने पति के साथ जैसा व्यवहार किया वह किसी प्रकार भी सहानुभूतिपूर्ण नहीं है। तुलसी की कैकेयी ने ऐसे समय में अपना विवेक पूर्णतया खो दिया। विवेक पर स्वाभिमान हावी हो गया। दशरथ के द्वारा भरत को राजपद देने की स्वीकारोक्ति के अनंतर भी कैकेयी राम को मुनिवेश में निर्वासन के लिए कटिबद्ध थी। जैसे-जैसे वह दशरथ की राम पर अत्यधिक प्रीति का अनुभव करती गई, उसकी क्रूरता बढ़ती ही गई।[2] यह पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है। किंतु कवि ने भी उस स्वाभिमानिनी नारी को ग्लानि, लज्जा, संकोच तथा पश्चाताप की ऐसी स्थिति में लाकर छोड़ दिया कि वह नितांत मौन हो गई। जिस पुत्र के लिए उसने सारे कांड खड़े किए, पति की मृत्यु का शोक न मानकर ननिहाल से लौटे हुए भरत से प्रसन्न होकर मिली, उसी पुत्र के मुख से अपने लिए पापिन, कुमति, जीभ गलने, मुँह में कीड़े पड़ने आदि जैसी कटु उक्तियों को सुनकर कैकेयी की कैसी दशा हुई होगी, यह समझा जा सकता है ? साधु भरत ने माँ को कटूक्तियों से भर दिया किंतु उसके पश्चात् तुलसी की कैकेयी ने सिर नहीं उठाया। तुलसी ने उसके इस कृत्य के लिए कैकेयी को जी भर कर दोषी ठहराया किंतु अंतराल में देवताओं की निशाचर नाश की इच्छा तथा मंथरा आदि को दिखाकर उसे भी सतही बना दिया।[3] कवि ने इस कृत्य की जी भर कर निंदा की क्योंकि उसे ऐसा चरित्र अभीष्ट नहीं था। राम-भरत का चरित्र वैसा न होता तो यह सचमुच ही पारिवारिक विश्रृंखलता का कारण बनता। कैकेयी की हठधर्मिता को उन्होंने सदैव दोषी ठहराया।

अविकसित नारी पात्र :

उर्मिला, मांडवी, श्रुतिकीर्ति क्रमशः लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न की पत्नी रूप में कुल वधुएँ थीं। उन्हें जिस प्रकार रखा गया, उस प्रकार रहीं। वस्तुतः

१. अध्यात्मरामायण, २।६३
२. मानस २।२७-३७
३. मानस, २।११-१२

कवि ने इनके चरित्र को उभारा ही नहीं जिससे इनके भावों का स्पष्ट पता नहीं चलता। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यदि कवि को उनके दूषित मनोभावों को प्रदर्शित करना होता तो कहीं न कहीं संकेत कर देता किंतु सीता की बहनों में सीता के अनुरूप गुण, शील, शोभा आदि की चर्चा विवाह के समय करके वह उनके प्रति मौन हो गया।

अंशत: विकसित नारी पात्र :

सूर्पणखा, मंदोदरी, सुलोचना, त्रिजटा लंका के नारी पात्र हैं। इनमें से सूर्पणखा राम-रावण युद्ध का प्रमुख कारण बनी। इसी नारी पात्र ने भारत के उत्तर से दक्षिण तक के भाग को मथ दिया। इसकी उच्छृंखल प्रवृत्तियों के परिणाम को प्रकाश में लाकर कवि ने नारी-जाति ही नहीं पुरुष जाति को भी चैतन्य किया। वह विलासिनी, कामी, दुराचारिणी तथा प्रतिशोध लेने वाली नारी के रूप में चित्रित की गई है जिससे तुलसीदास ने सबको सचेत होने की प्रेरणा दी। सोने की लंका के विध्वंस तथा रावण के परिवार, बंधु-बांधवों के नाश का कारण यही तो थी। तुलसीदास ने सुंदरी सूर्पणखा के नाक-कान राम के संकेत पर लक्ष्मण द्वारा कटवा कर सौंदर्य की आसक्ति पर कुठाराघात किया।[1]

महाकवि ने राक्षसराज रावण की पत्नी मंदोदरी तक की चारित्रिक दृढ़ता की खुले शब्दों में प्रशंसा की। उसे विदुषी के रूप में चित्रित किया। उसने रावण को नीति की बातें भी बताई हैं :

नाथ बयरु कीजे ताही सों। बुधि बल सकिअ जीति जाही सों।[2]

वह बार-बार पति को समझाती है कि जानकी को राम को सौंप दो क्योंकि यह अनुचित है। मंदोदरी के मुख से कवि ने रावण के लिए कटु-शब्दों का प्रयोग कराया जो राक्षसी परिवार के सदस्य के लिए सर्वथा स्वाभाविक था। तुलसी जैसे स्वयं राम के भक्त थे वैसे ही उन्होंने शत्रु-मित्र दोनों पक्ष के पात्रों में राम की भक्ति किसी न किसी रूप में दिखाई। मंदोदरी भी मन ही मन राम भक्त थी।

सुलोचना के चरित्र का उल्लेख क्षेपक अंश में है। अतः प्रामाणिक नहीं है। त्रिजटा लंका की एक राक्षसी थी जो अशोक वाटिका में सीता को युद्ध के सब

१. मानस ३।१७ २. मानस ६।६।३

वृतांत देती थी। वह भी राम-भक्त थी। जितनी देर के लिए वह महाकाव्य में आई है, उससे यही पता चलता है कि वह राक्षसों के मध्य रहती हुई भी सद्प्रवृत्तियों से युक्त थी। उसने अत्याचारी रावण की मृत्यु का राज सीता को बताया तथा अनेक प्रकार से समझाकर शांत किया।[१]

नारी पात्र तारा, शबरी तथा अहिल्या रामभक्त थी। बालि की पत्नी तारा एक विदुषी के रूप में हमारे सामने आई है। पति की मृत्यु पर वह व्याकुल हुई किंतु राम ने पंचतत्व से रचित इस शरीर को अधम बताकर आत्मा की नित्यता का ज्ञान दिया तब वह चैतन्य हुई।[२] तत्पश्चात तारा के चरित्र की कोई चर्चा ही नहीं आई।

गौतम मुनि की पत्नी अहिल्या पति-भक्त और राम-भक्त के रूप में आई[३] और विलीन हो गई। आगे पीछे उनकी कोई चर्चा नहीं मिलती। शूद्र भीलनी शबरी के घर एक दिन राम सीता को खोजते-खोजते पहुँच गए। अपनी जाति के कारण उसमें हीन भाव स्पष्ट परलक्षित होता है। राम के सामने वह विनीत भाव के कारण कह उठती है :

केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी।
अधम जाति मैं जड़मति भारी।[४]

किंतु आगे भी वह कहती है :

अधम ते अधम अधम अति नारी।
तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी।[५]

शबरी के व्यवहार से पता चलता है कि वह शीलवती, शिष्ट, सभ्य नारी थी। उसने स्वादिष्ट कंद-मूल-फल से राम-लक्ष्मण का अतिथि सत्कार किया। उसके सात्विक भावों से राम बहुत प्रभावित हुए थे।

तुलसी ने अत्रि पत्नी अनुसूया से चार प्रकार की पतिव्रता स्त्रियों की चर्चा कराई। वह स्वयं एक आदर्श पतिव्रता नारी थीं। मुनि पत्नियों का उनके प्रति माँ सदृश भाव था। वह एक विदुषी के समान सार्वजनिक हित की बातें करने की योग्यता रखती थीं। नारी धर्म पर बड़ा प्रभावपूर्ण उपदेश अनुसूया ने सीता के बहाने सरल और मृदु वाणी में नारी समाज को देकर सचेत किया।[६]

---

१. मानस ५।११।१-४
२. मानस ४।११।२-३
३. मानस १।२११ का छंद
४. मानस ३।३५।१
५. मानस ३।३५।२
६. मानस ३।५।१-१०

सीता की माँ सुनयना जनक की पत्नी थीं। चित्रकूट में जनक के साथ सीतादि से मिलने गई हैं तभी प्रबंध में इनका समावेश दूसरी बार हुआ है। वहाँ उन्होंने मानव सुलभ ज्ञान के अनुसार ब्रह्मा की टेढ़ी करतूत को दोष दिया। प्रथम बार वह सीता के विवाह के संदर्भ में धनुष-यज्ञ के अवसर पर राम-लक्ष्मण के कोमल शरीर को देखकर धनुष तोड़ने में शंका प्रकट करती हुई चित्रित की गयी हैं किंतु समझाने पर अति शीघ्र उनकी शंका दूर भी होगई है। सीता की विदाई के अवसर पर उन्होंने राम से सीता को उनके शीलगुण तथा स्नेह के अनुसार दासी बनाकर रखने की बात कही।[1]

तुच्छ संस्कार युक्त नारी पात्र :

तुलसी के नारी पात्रों में मंथरा एक ऐसी नारी पात्र है जिसके संस्कार ही अत्यंत तुच्छ थे। वह एक मूर्ख बुद्धि वाली, कैकेयी के मैके से भेजी गई दासी थी जो अपनी कपटी प्रकृति को बड़ी कुशलता से प्रयोग में ला सकती थी। इस संस्कार वाले पात्रों में मानव मनोविज्ञान की बड़ी सूक्ष्म पहचान होती है, क्योंकि उनका प्रत्येक क्षण अवसर को पहचान कर तथा दाँव समझकर कार्य करने में व्यतीत होता है। मंथरा कुबड़ी थी। ऐबी लोग सदैव से खुराफाती करार दिये गए हैं जिसको मंथरा ने पूरा-पूरा चरितार्थ किया। कैकेयी ने स्वयं ही मंथरा को कुटिल कुचाली कहा है :

काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि।[2]

मंथरा में हीन भावों को वहन करने योग्य अनेक असामान्यताएँ थीं। प्रथमतः उसका कूबड़ी होना और दूसरा उसका दासी होना, तीसरा स्थान परिवर्तन। वह किसी न किसी प्रकार अपना महत्व स्थापित करना चाहती थी। उसके सामने राम-राज्याभिषेक का अवसर आ खड़ा हुआ और उसने इस अवसर को हाथ से निकलने न दिया। उसका कैकेयी के पास बिलखते हुए जाना, उदास होकर लंबी-लंबी साँसें खींचना, स्वयं को बलहीन बताना, भरत की अनुपस्थिति में राज्याभिषेक करने की बात करके कैकेयी के सद्‌भावों को विकृत करना आदि मंथरा जैसे संस्कारवाली नारी के लिए ही संभव था। जीभ खींच लेने जैसी कड़वी बात कहने के बाद कैकेयी के मुस्कराने से उसे बढ़ावा मिल गया। तुलसी ने मंथरा का बड़ा स्वाभाविक चित्र खींचा है।

---

१. मानस १।३३६। छंद   २. मानस २।१४

कैकेयी को अपने अनुकूल बनाने में उसने अपनी कुरूपता और परवशता की चर्चा भी की :

करि कुरूप बिधि परबस कीन्हा। बवा सो लुनिअ लहिअ जो दीन्हा।[1]

नारी पात्रों की मनोवैज्ञानिक स्थिति :

यद्यपि तुलसी ने अन्य पात्रों के समान नारी पात्रों पर भी आदर्श का आवरण चढ़ाया किंतु इन पात्रों में मनोवैज्ञानिक स्थिति का पूर्णतया अभाव हो यह मान्य नहीं। मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्ति में श्याम और श्वेत दोनों ही रेखाएँ होती हैं। किसी व्यक्ति में श्याम की मात्रा अधिक हो सकती है, किसी में श्वेत की। मात्रा के अंतर से ही कोई अच्छा कहलाने का पात्र बन जाता है, कोई बुरा। जिनके संस्कार गहरे तथा उत्तम होते हैं उन पर परिस्थितियों के घात-प्रतिघात का प्रभाव नहीं होता है और जिनके संस्कार दुर्बल होते हैं उन पर इनका प्रभाव होते देर भी नहीं लगती।

मानस में एक ओर विमाता कैकेयी ने अपने पुत्र के सुख के लिए तथा स्वयं राजमाता के पद पर आसीन होने के लिए राम को चोदह वर्षों का वनवास दे दिया, दूसरी ओर विमाता सुमित्रा ने अपने पुत्र लक्ष्मण को राम की सेवा में सहर्ष भेज दिया, तीसरी ओर विमाता कौशल्या ने विषम घड़ी में भी चारों पुत्रों को समान स्नेह तथा स्थान देकर नारीजाति को गौरव प्रदान किया।

भरत के ननिहाल से लौटने पर तथा उनकी मानसिक अवस्था देखकर कौशल्या ने जिस प्रकार उन्हें संभाला वह उत्तम संस्कारों वाली नारी के लिए सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। नासमझ नारी ही भरत के भाव की उपेक्षा करके कटु व्यवहार कर सकती थी। कौशल्या की मनोवैज्ञानिक स्थिति सर्वथा भिन्न थी। भरत के भाव को देखकर उन्होंने उन्हें सांत्वना दी। हो सकता है, भरत विपरीत होते तो कौशल्या भी विपरीत होतीं। कौशल्या ने भरत से कहा भी :

मोहि न लाज निज नेहु निहारी। राम सरिस सुत मैं महतारी।
जिऐ मरै भल भूपति जाना। मोर हृदय सत कुलिस समाना।[2]

राम-वियोग में दशरथ की मृत्यु के पश्चात् अपना जीवित रहना कौशल्या में लज्जा का भाव लाता है। राम के मुख से वनगमन के आदेश को सुनकर

१. मानस २।१६।३ २. मानस २।१६६।४

कौशल्या का सूख जाना, नेत्रों में जल भर जाना, थर-थर काँपना, व्याकुल होना आदि माँ के व्यथित मनोभावों को प्रकट करता है। वह झटपट बरस पड़ने वाली नारी प्रारंभ से ही नहीं थी। उनकी स्वाभाविकता कर्तव्यपालन में थी।

कैकेयी में असत-सत् का घुलमिल जाना बड़ा मनोवैज्ञानिक है। मथरा के अनेक कपट-प्रयासों के बाद उसका सपत्नी तथा सपत्नी-पुत्र के प्रति जैसा भाव कवि ने प्रदर्शित किया है, वह उस संस्कारवाली नारी के लिए स्वाभाविक है। ननिहाल से लौटने पर भरत को अपने अनुकूल बनाने का प्रयास उस स्थिति में कम स्वाभाविक नही है।[1] भरत के विपरीत व्यवहार से उसका मौन हो जाना एक स्वाभिमानी नारी के सर्वथा अनुकूल है क्योंकि पुत्र को बल मानकर ही उसने सारे कांड उपस्थिति किए थे, और वही पुत्र उसका विरोधी हो गया। अब वह किसके सहारे एक शब्द भी निकालती। कैकेयी का सपत्नी भाव, मातृत्व तथा मैके पर गर्व आदि नारी मनोविज्ञान के पूर्णतया अनुकूल है। चित्रकूट में राम, लक्ष्मण, सीता के सरल व्यवहार से जी भर कर उसका पश्चाताप करना उचित ही है :

लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई।
अवनि जमहि जाचति कैकेई। महि न बीचु बिधि मीचु न देई।[2]

भक्त कवि तुलसी ने सीता को अलौकिक नारी के रूप में देखा किंतु मारीच के कपट पूर्ण शब्द 'हा लक्ष्मण' पर सीता के कहने पर भी लक्ष्मण जब राम की सहायता के लिए नहीं दौड़े, तो सीता ने लक्ष्मण को जैसे कटु वचन कहे, उसमें नारी का पति के संकट में उद्विग्न हो जाने की सहज स्वाभाविक मनःस्थिति परिलक्षित होती है।[3]

अंत में, हम कह सकते हैं कि तुलसीदास मानवी और राक्षसी दोनों संस्कृतियों के नारी पात्रों का भिन्न वातावरण में अंतर दिखाने में पूर्णरूप से सफल हुए हैं। मानवी-संस्कृति में प्रेम-वेदना दोनों को अंतर्मन में अनुभूत करने के साथ ही बदला न ले पाने की विवशता या संकेत भी हो सकता था किंतु कौशल्या, सुमित्रा, सीता को तुलसी ने मानवी के रूप नहीं बल्कि देवी के रूप में देखा अतः उन्हें कहीं भी अंतर्द्वंद्व से पीड़ित नहीं दिखाया। ऐसा

१. मानस २।१६०।१
२. मानस २।२५२।३
३. मानस ३।२८।१-२

लगता है कि तुलसीदास की नारी विषयक विचारा-धारा में तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक स्थितियों का महत्वपूर्ण हाथ है। धर्म के नष्ट हो जाने के भय से नारी को चहार दीवारी के अंदर बंद कर देने की प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक है। तुलसी ने समाज की ओर देखकर ही नारी को ऐसा सेट-अप दिया ।

वस्तुतः तुलसीदास एक आदर्श समाज के निर्माण की आकांक्षा रखते थे। आदर्श-समाज की कल्पना आदर्श-परिवारों के आधार पर ही की जा सकती है। नारी परिवार का प्रमुख अंग है। कवि को कौशल्या, सुमित्रा और सीता जैसी नारी की अपेक्षा थी अतः उन्होंने उन्हें सर्वगुण संपन्न, खोट रहित, अपनी कल्पना के आधार पर चित्रित किया और कैकेयी जैसी चंचल चित्त वाली नारी से भारतीय परिवारों को बचाने का प्रयत्न किया। तुलसीदास ने स्वयं स्वीकार किया है कि "कुमति सुमति सबके उर रहहीं, नाथ पुरान निगम अस कहहीं।" कवि ने सुमति में संपत्ति और कुमति में विपत्ति देखी।

जो भी हो, तुलसी के नारी पात्रों के चरित्र चित्रण में मौलिक भावनाएँ जिस रूप में पायी जाती हैं, वैसी अन्यत्र नहीं।

डा० रामाभिलाष त्रिपाठी

तुलसी-काव्य में प्रकृति

प्रकृति और मानव अनादि काल से ही एक दूसरे के सर्वदा सहयोगी अथवा विरोधी के रूप में रहते चले आए हैं। वे आज भी परस्पर संघर्षरत होते हुए एकता का अनुभव अवश्य करते हैं। इस प्रकार मानव-जीवन में प्रकृति का सर्वाधिक महत्व है। सृष्टि के उषा-काल में जब मानव ने सर्व प्रथम अपने नेत्र खोले होंगे तो चतुर्दिक् प्रकृति की अनोखी एवं अलौकिक छटा के ही दर्शन किये होंगे। मानव उत्पन्न होकर सर्वप्रथम प्रकृति की गोद में ही श्वास लेता है, आरंभिक कालयापन प्रकृति के अंक में ही खेलते-कूदते करता है और अंतिम अवस्था तक अपने जीवन में प्रकृति के अंग-प्रत्यंग से ही आत्मिक तृप्ति का अनुभव करता है। यही कारण है कि प्रकृति के विविध कोमल-परुष, सुंदर-विरूप, व्यक्त-रहस्यमय रूपों के आकर्षण-विकर्षण ने मानव को इस ओर जाने के लिये सर्वदा प्रेरणा दी है; उसकी बुद्धि, विचारधारा तथा कल्पना इस प्रकृति का लेखा-जोखा करने को सदा लालायित रहते हैं, छटपटा उठते हैं और जब भी उसको समय मिलता है अपने सांसारिक बंधनों को तोड़ कर ममता-मयी प्रकृति की गोद में जाने को उतावले हो उठते हैं।

कविता मानव की निसर्गजात अभिव्यक्ति है। यही कारण है कि कविता और प्रकृति का अन्योन्याश्रित संबंध है। आरंभ से ही मानव प्रकृति की छाया में गुनगुनाया होगा और वे स्वर प्रकृति में मुखरित होकर काव्य-रचना के प्रेरक बने होंगे। तभी प्रकृति के विभिन्न अंगों—सूर्य, चंद्र, सांध्य, प्रातः,

रात्रि, उषा, वन, पर्वत, सर-सरिता आदि का वर्णन मानव स्वभावतः ही कर उठा होगा। वही परंपरा आज भी अक्षुण्ण रूप से निर्बाध प्रवाहित होती चली आ रही है।

ज्ञान एवं विज्ञान एक-दूसरे के अभिन्न मित्र की भाँति दिखाई पड़ते हैं। पर जहाँ वैज्ञानिक प्रकृति के मूल में व्याप्त चेतना का अनुभव करता हुआ उसके रहस्य को समझने का प्रयत्न करता है वहीं ज्ञानवान एवं भावुक प्राणी कवि इस प्रकार के वैज्ञानिक विश्लेषण एवं संघर्ष से दूर ही रहता है तथा काव्य के माध्यम से अपने मन पर पड़े हुये प्रकृति के विभिन्न प्रभावों को व्यक्त करता है।

काव्य में प्रकृति-चित्रण कितने रूपों में किया जाता है इस पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति का जो प्रभाव मानव के मानस पटल पर पड़ता है उसकी अभिव्यक्ति कभी आलंबन के रूपों में, कभी उपदेश और नीति के रूप में, कभी आध्यात्मिक तत्त्व-निरूपण के रूप में और कभी मानवीकरण के रूप में होती है एवं कभी कवि छायावाद-रहस्यवाद की अभिव्यक्ति द्वारा उसका आनंद उठाता है। इसी से मिलते-जुलते रूप प्रायः कवियों ने निर्धारित कर दिये। वे सभी एक दूसरे से अत्यधिक मेल रखते हैं।

जिसे लोकनायक, समन्वयकारक, प्रतिनिधि कवि आदि के रूप में प्रतिष्ठापित करने में किसी भी साहित्यकार ने कसर उठा नहीं रखी, क्या वे गोस्वामी तुलसीदास प्रकृति की ओर से बिल्कुल ही विमुख रहे? वाल्मीकि एवं कालिदास जैसे कवियों की श्रेणी में गिने जाने वाले महाकवि गोस्वामी तुलसीदास ने प्रकृति के क्षेत्र में विचार न किया हो, ऐसी बात नहीं। अतः प्रकृति के किन-किन रूपों को उन्होंने अपनाया है, हम इस पर विचार करेंगे।

महाकवि तुलसीदास वैष्णव भक्त थे। उनके द्वारा प्रकृति का वर्णन न्यून ही होगा—क्योंकि वे तो सीयराममय के रूप में संपूर्ण विश्व में 'सीयाराम' का ही रूप देखते थे। इस संबंध में डॉ० रामरतन भटनागर कामत है :

"इस वैष्णव भाव-जगत में प्रकृति का स्थान कहाँ? प्रकृति जड़ात्मक है, अतः केवल प्रकृति के लिये आकर्षण हमें वैष्णव भाव-जगत में नहीं मिलेगा। वह चैतन्य का प्रतीक होकर या उसके प्रति इंगित बन कर ही सार्थक है। तुलसी के भावकल्प में हमें यही दृष्टि मिलती है और अपनी सीमा में यह दृष्टि

काफी संपन्न है, क्योंकि तुलसी के साहित्य में उपमानों, प्रतिमानों एवं प्रतीकों के रूप में प्रकृति का विशद् उपयोग हुआ है·········। उन्होंने धर्म और नीति के भीतर से ही प्रकृति के संपूर्ण वैभव को देखा है ।[1]

उद्दीपन रूप में : उद्दीपन के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का चित्रण 'मानस' में उपलब्ध है। जनक-वाटिका में पूर्वानुराग के समय संयोग का चित्रण अवलोकनीय है :

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन रामु हृदय-गुनि।
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही।
अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा। सिय मुख ससि भए नयन चकोरा।
भए बिलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजे दिगंचल।[2]

यहाँ पर सीता को देख कर राम की कैसी अवस्था हो जाती है उसका चित्रण अलंकार के माध्यम से किया है जो अत्यंत स्पृहणीय एवं दर्शनीय है।

प्रवास जन्य विरह—तुलसी के राम सीता-विरह से व्याकुल होकर पशु-पक्षियों से पूछते फिरते हैं :

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम देखी सीता मृगनैनी।
खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना।
कुंदकली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहि भामिनी।
बरुन पास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा।[3]

सीता को याद करते हुए राम कहते हैं :

घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा।
दामिनि दमक रही घन माहीं। खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं।[4]

यहाँ पर किस प्रकार प्राकृतिक वातावरण में राम जैसे संयमी पुरुषोत्तम व्यक्ति को भी उद्दीपन शक्ति से व्याकुल होना पड़ा और सीता को याद करना पड़ा।

'सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी'[5] के

---

१. काव्य कला और दर्शन-(संपादक) डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश', पृष्ठ ३१
२. मानस १।२३०।१-२ ३. मानस ३।३०।५-६
४. मानस ४।१४।१ ५. मानस १।८।१

अनुसार चित्रकूट की रम्यस्थली के प्रति उनके हृदय में अनुराग किस प्रकार उत्पन्न हो जाता है। इसकी एक झाँकी विशेष रूप से अवलोकनीय है :

आइ रहे जबतें दोउ भाई।
तबतें चित्रकूट-कानन-छवि दिनदिन अधिक अधिक अधिकाई।
सीता-राम-लखन-पद-अंकित अवनि सोहावनि बरनि न जाई।
मंदाकिनि मज्जत अवलोकत त्रिविध पाप, त्रयताप नसाई।
उकठेउ हरित भए जल-थलरुह, नित नूतन राजीव सुहाई।
फूलत, फलत, पल्लवत, पलुहत बिटप बेलि अभिमत सुखदाई।
सरित-सरनि सरसीरुह-संकुल, सदन सँवारि रमा जनुछाई।
कूजत बिहँग, मंजु गुंजत अलि, जात पथिक जनु लेत बुलाई।[1]

तुलसीदास जी ने चित्रकूट की रम्यस्थली के सुंदर चित्रण के साथ ही संश्लिष्ट योजना और बिंब-प्रतिबिंब-योजना का भी सुंदर वर्णन किया है :

सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु-रँगभगे सृंगनि।
मनहु आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर-मुनि-भृंगनि।
सिखर-परस घन-घटहि, मिलति बग पाँति सो छबि कबि बरनी।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसनधरि धरनी।
जल-जुत बिमल सिलनि झलकत नभ-बन-प्रतिबिंब तरंग।
मानहुँ जग-रचना बिचित्र बिलसति बिराट अँग अंग।
मंदाकिनिहि मिलत झरना झरि झरि भरि भरि जल आछे।
तुलसी सकल सुकृत सुख लागे मानौ राम-भगति के पाछे।[2]

इस दृश्य में संश्लिष्ट योजना इतनी सुंदर बन पड़ी है जिसका रसास्वादन सहृदय विज्ञ जन ही कर सकते हैं। यहाँ पर केवल जलद के छा जाने और वक पंक्ति के उड़ने का ही वर्णन नहीं किया गया है अपितु वर्ण और ध्वनि का भी विन्यास किया गया है। इस प्रकार वर्ण के विश्लेषण से 'जलद' पद में बिंबग्रहण-योजना को जो सफलता प्राप्त हुई है उसमें रक्ताभ शृंग के योग से वह और भी महत्वपूर्ण बन गई है। साथ ही वक श्वेत पंक्ति ने पूरा चित्र ही उपस्थित कर दिया है। इसी प्रकार काली शिलाओं पर फैले हुये जल के भीतर आकाश और वनस्थली का प्रतिबिंब भी दर्शनीय है। इस प्रकार संश्लिष्ट-योजना का चित्रण अत्यंत महत्वपूर्ण है।

---

४. गीतावली २।४६।१-४ २. गीतावली २।५०।३-६

आलंकारिक रूप में : गोस्वामी तुलसीदास ने आलंकारिक वर्णनों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, उन्हें तो मर्यादा-पुरुषोत्तम राम का गुणगान करना ही अभीष्ट था। फिर भी प्रकृति वर्णन में अलंकारों का आजाना स्वाभाविक ही था। यहाँ पर कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

कामद गिरि के प्रदेश का वर्णन करते हुये वहाँ के स्थल को एक पवित्र राज्य माना गया है और वहाँ के पदार्थों का वर्णन रूपक द्वारा इस प्रकार किया गया है :

बिपुल बिचित्र बिहग मृगनाना। प्रजा समाजु न जाइ बखाना।
खगहा करि हरि बाघ बराहा। देखि महिष वृष साजु सराहा।
बयरु बिहाइ चरहिं एक संगा। जहँ तहँ मनहुँ सेन चतुरंगा।
झरना झरहिं मत्त गज गार्जहिं। मनहुँ निसान बिविध बिधि बाजहिं।
चक चकोर चातक सुक पिक गन। कूजत मंजु मराल मुदित मन।
अलिगन गावत नाचत मोरा। जनु सुराज मंगल चहु ओरा।
बेलि बिटप तृन सकल सफूला। सब समाजु मुद मंगल मूला।[1]

पदार्थों के वर्णन के साथ ही शब्द-सौंदर्य-विधान को और भी सुंदर एवं महत्वपूर्ण अनुप्रास अलंकार द्वारा बना दिया है।

'उपमा' और 'उत्प्रेक्षा' अलंकार से पूर्ण एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है :

संत हृदय जस निर्मल बारी। बाँधे घाट मनोहर चारी।
जहँ तहँ पियहि बिबिध मृगनीरा। जनु उदारगृह जाचक भीरा।[2]

परोपकार प्रवृत्ति रखने वाले व्यक्ति सर्वदा उत्कर्ष को प्राप्त करते हैं। ऐसे सज्जनों को गोस्वामी जी ने उदधि के समान माना है :

जग बहु नर सर सरि सम भाई। जे निज बाढ़ बढ़हिं जल पाई।
सज्जन सकृत सिंधु सम कोई। देखि पूर बिधु बाढ़इ जोई।[3]

तुलसीदास ने उदधि के साथ ही तड़ाग, सरिता आदि का भी बिंब उपस्थित किया है। वे नदियों में गंगा से अत्यधिक प्रभावित हैं। यही कारण है कि काव्य, भक्ति आदि के साथ में 'सरिता' का प्रयोग अधिकांश रूप

---

१. मानस २।२३६।१-४ २. मानस ३।३९।४
३. मानस १।८।७

में प्राप्त होता है। सुर-सरिता, काव्य-सरिता, भक्ति-सरिता आदि में तुलसी ने बार-बार अवगाहन कराया है :

जिति सुरसरि कीरति सरि तोरी। गवनु कीन्ह बिधि अंड करोरी।
गंग अवनि थल तीनि बड़ेरे। एहिं किए साधु समाज घनेरे।[१]

तुलसीदास ने उपमान के रूप में कमल का अत्यधिक प्रयोग किया है : नेत्र-कमल, मुख-कमल, हृदय-कमल, कर-कमल, चरण-कमल आदि के रूप में तो मानस भरा पड़ा है। वर्ण-साम्य, गुण-साम्य तथा प्रभाव-साम्य प्रकट करने के लिये भी नील-कमल, अरुण-कमल आदि का प्रयोग किया है। यहाँ पर कोमलता, पवित्रता एवं निर्मलता के लिये तो शतधा कमल का प्रयोग है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

(क) कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं। जोजन सत प्रमान लै धावौं।[२]
(ख) सोक मगन सब सभाँ खभारू। मनहुँ कमल बन परेउ तुसारू।[३]
(ग) नयन कमल कल कुंडल काना। बदनु सकल सौंदर्ज निधाना।[४]
(घ) अनुराग-तड़ाग में भानु उदैं बिगसी मनो मंजुल कंज कली।[५]
(ङ) अरबिंद सो आननु रूप मरंदु अनंदित लोचन भृंग पिये।[६]
(च) कर पद मुख चरण कमल लसत लखि लोचन-भँवर भुलावौं।[७]

कमल की ही भाँति सूर्य के तेज, प्रभाव, प्रकाश आदि का भी उपमान के रूप में स्थान-स्थान पर वर्णन किया गया है। तुलसी ने राम को सूर्य के समान तेजस्वी, प्रभाकर के समान प्रभावशाली एवं संशय शोक रूप अज्ञान को नष्ट करने वाले सूर्य के समान प्रकाशमान माना है :

(क) संसय सोक निबिड़ तम भानुहि। दनुज गहन घन दहन कृसानुहि।[८]
(ख) जरठाइ दिसाँ रवि कालु उग्यो अजहूं जड़जीव ! न जागहि रे।[९]

वर्षा और शरद ऋतुओं का वर्णन उत्प्रेक्षाओं से पूर्ण है :

---

१. मानस २।२८७।२
२. मानस १।२५३।४
३. मानस २।२६३।१
४. मानस १।३२७।४
५. कवितावली २।२२।४
६. कवितावली १।२।३
७. गीतावली १।१८।२
८. मानस ७।३०।४
९. कवितावली ७।३१।४

(क) भूमि परत भा ढाबर पानी । जनु जीवहि माया लपटानी ।
समिटि समिटि जल भरहिं तलाबा । जिमि सद्गुन सज्जन पहिं आवा ।
सरिता जल जलनिधि महुँ जाई । होइ अचल जिमि जिव हरि पाई ।
हरित भूमितृन संकुल समुझि परहिं नहिं पंथ ।
जिमि पाखंड बिवाद तें गुप्त होइ सद्ग्रंथ ।[1]

(ख) बरषा बिगत सरद रितु आई । लछिमन देखहु परम सुहाई ।
फूलें कास सकल महि छाई । जनु बरषाँ कृत प्रगट बुढ़ाई ।
उदित अगस्ति पंथ जल सोषा । जिमि लोभहिं सोषइ संतोषा ।
सरिता सर निर्मल जल सोहा । संत हृदय जस गत मद मोहा ।
रस रस सूख सरित सर पानी । ममता त्याग करहिं जिमि ग्यानी ।
जानि सरद् रितु खंजन आए । पाइ समय जिमि सुकृत सुहाए ।
पंक न रेनु सोह असि धरनी । नीति निपुन नृप कै जसि करनी ।[2]
उपमा अलंकार :

दामिनि दमक रह न घन माही । खल की प्रीति जथा थिर नाहीं ।[3]
रूपक-अलंकार :

रामकथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु ।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुवीर बिहारु ।[4]

तुलसी ने वात्सल्य से अनुप्राणित होकर श्रीराम के दाँतों, अधरों, आभूषणों की चमक एवं बोलने आदि को कुंद कलियाँ, पल्लव, चपलाएँ आदि की उपमाओं से अलंकृत किया है । इससे उनके सहज सौंदर्य की अनुभूति का आभास मिलता है :

बरदंत की पंगति कुंदकली अधराधर पल्लव खोलन की ।
चपला चमकैं घन बीच जगै छवि मोतिन माल अमोलन की ।
घुंघरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की ।
नेवछावरि प्रान करैं तुलसी बलि जाउँ लला इन बोलन की ।[5]

---

१. मानस ४।१४।३-४
२. मानस ४।१६।१-४
३. मानस ४।१४।१
४. मानस १।३१
५. कवितावली १।५

भ्रांतिमान-अलंकार :

रावण को देख कर राम को भ्रम होता है :

देखु बिभीषन दच्छिन आसा । घन घमंड दामिनी बिलासा ।
मधुर मधुर गरजइ घन घोरा । होइ बृष्टि जनि उपल कठोरा ।[1]

दृष्टांत-अलंकार :

(क) भरतहि होहि न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ ।[2]

(ख) सरितासर निर्मल जल सोहा । संत हृदय जस गत मदमोहा ।[3]

(ग) अर्क जवास पात बिन भयऊ । जस सुराज खल उद्यम गयऊ ।[4]

इस प्रकार आलंकारिक वर्णनों द्वारा प्रकृति के विभिन्न कार्य संपन्न होते हैं । अन्य अनेक अलंकारों का वर्णन भी तुलसीदास के ग्रंथों में अत्यधिक मात्रा में मिलता है ।

नीति उपदेशिका के रूप में :

महाकवि तुलसीदास ने जहाँ आलंबन, उद्दीपन तथा अलंकारों आदि द्वारा प्रकृति के नाना मनोरम दृश्यों का वर्णन किया है वहाँ सर्वाधिक स्थलों पर उनको प्रकृति का प्रत्येक तत्त्व उपदेश देता-सा प्रतीत होता है । नीतिमूलक प्रकृति-दृष्टि को तुलसी ने अपना मानदंड बना लिया है । यहाँ तक कि 'जलद' राम पर छाया करते हुये चलते हैं :

छाँह करहि घन बिबुधगन बरषहि सुमन सिहाहि ।
देखत गिरि बन बिहग मृग रामु चले मग जाहि ।[5]

चित्रकूट तो तुलसीदास को धर्म के समान ही दिखाई पड़ता है :

नदी पनच सर सम दम दाना । सकल कलुष कलि साउज नाना ।
चित्रकूट जनु अचल अहेरी । चुकइ न घात मार मुठ भेरी ।[6]

गोस्वामी जी ने बसंत, वर्षा और शरद ऋतुओं का वर्णन उपदेशों के रूप में भी किया है । किष्किंधा कांड के तेरहवें दोहे से लेकर सत्रहवें दोहे पर्यंत

---

१. मानस ६।१३।१
२. मानस २।२३१
३. मानस ४।१६।२
४. मानस ४।१५।२
५. मानस २।११३
६. मानस २।१३३।२

जितना ऋतु-वर्णन है उसमें नीति-परक उपदेशों की झड़ी-सी लग गई है। साथ ही इन ऋतु-वर्णनों में दार्शनिकता कूट-कूट कर भरी पड़ी है :

प्रकति का मानवीकरण : तुलसी के प्रकृति-वर्णन में मानवीकरण के भी दर्शन होते हैं। राम कहते हैं कि हे लक्ष्मण ! देखो मुझे विरह से व्याकुल देखकर बसंत राजा ने मुझ पर आक्रमण करने के लिये पड़ाव डाल दिया है। उनके अनुसार लता गुल्म वितान है, केला और ताड़ ध्वजा पताका है, फूले हुए अनेक वृक्ष धनुर्धारी योद्धा हैं, कोयलों की कूक, हाथियों की चिंघाड़ है, टेक और महोख पक्षी ऊँट खच्चर हैं, मोर, चकोर, तोते, कबूतर और हंस मानो ताजी घोड़े हैं, तीतर-बटेर पैदल सिपाही हैं, पर्वतों की शिलायें रथ और झरने नगाड़े हैं, भौरों की गंजार भेरी और शहनाई है तथा शीतल-मंद-सुगंध वायु-दूत है।[1]

एक अन्य उदाहरण जिसमें मानवीकरण का आभास अवलोकनीय है:

पूरब दिसा बिलोकि प्रभु देखा उदित मयंक।
कहत सबहि देखहु ससिहि मृगपति सरिस असंक।
पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी। परम प्रताप तेज बल रासी।
मत्त नाग तम कुंभ बिदारी। ससि केसरी गगन बनचारी।[2]

यहाँ पर चंद्रमा की निडरता का वर्णन कितने सुंदर रूप में प्रस्तुत किया है। पूर्व दिशा रूपी पर्वत की गुहा में रहने वाला, अत्यंत प्रताप तेज और बल की राशि यह चंद्र रूपी सिंह तम रूप मत्त नाग के कुंभस्थल को विदीर्ण करके आकाश रूपी बन में विचरण कर रहा है।

मूर्त से मूर्त की अभिव्यक्ति करते हुए तुलसी ने रक्त से युक्त घायल वीरों के मध्य खड़े राम को फूले हुए पलाश वृक्षों के मध्य में स्थित तमाल तरु माना है, जो द्रष्टव्य है :

घायल बीर बिराजत चहुँ दिसि, हरषित सकल रिच्छ अरु बनचर।
कुसुमित किसुक-तरु समूह महँ तरुन तमाल बिसाल बिटप बर।[3]

मूर्त उपमानों द्वारा एक अमूर्त विषय को कितने सुंदर रूप में व्यक्त किया गया है। विरह को हिम ऋतु के एक दृश्य के समान बताया गया है :

लोग नलिन भए मलिन अवध सर, बिरह बिषय हिम पाई।[4]

---

१. मानस ३।३७,३८।१-५
२. मानस ६।११,१२।१
३. गीतावली ६।१६।५-६
४. गीतावली २।१२।८

अभिधा द्वारा तुलसी ने वर्ण, नाद, स्पर्श एवं गंध आदि से युक्त दृश्य को समग्रतः उपस्थित किया है :

फटिक-सिला मृदु बिसाल, संकुल सुर तरु तमाल।
ललित लता-जाल हरति छबि बितान की।
मंदाकिनि-तटिनि-तीर, मंजुल मृग-बिहग-भीर।
धीर मुनिगिरा गभीर सामगान की।
मधुकर-पिक-बरहि मुखर, सुंदर गिरि निरझर झर।
जल-कन घन-छाँह, छन प्रभा न भान की।
सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, संतत बहै त्रिबिध बाउ।
जनु बिहार-बाटिका नृप पंचबान की।[1]

लक्षणा का एक उदाहरण द्रष्टव्य है जिसमें तुलसी ने रूपक अलंकार द्वारा भाव, रूप, स्थिति आदि तत्वों को उपस्थित किया है :

बिपति बीजु बरषा रितु चेरी। भुइँ भइ कुमति कैकई केरी।
पाइ कपट जलु अंकुर जामा। बर दोउ दल दुख फल परिनामा।[2]

यहाँ पर बिपत्ति रूपी बीज, चेरी (मंथरा) रूपी वर्षा ऋतु के द्वारा कपट रूपी जल से अभिसिंचित होकर कैकेयी की कुमति रूपी भूमि में अंकुरित हुआ है, जिसके परिणामस्वरूप दो वर-रूपी दलों एवं दुख रूपी फल की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार कवि बीज के फलित होने की घटना से संपूर्ण घटना स्थिति का पुनर्विश्लेषण प्रस्तुत करने में सफल हुआ है।

इस प्रकार गोस्वामी जी की रचनाओं को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने प्रकृति-प्रेम को स्वीकार कर अपने काव्य में उसका एक नवीन प्रकार से प्रयोग किया है। विशेष रूप से संश्लिष्ट योजना, बिंब प्रतिबिंब-विधान, मानवीकरण आदि का प्रयोग दार्शनिक पृष्ठभूमि से युक्त होकर परवर्ती साहित्यकारों के लिये पथ-प्रदर्शक सिद्ध हुआ है। प्रकृति के चित्रण द्वारा नीति-परक उपदेश की तो भरमार ही है। उनके वर्णनों में परंपरा का पालन मात्र ही नहीं अपितु सीधा-सादा और सूक्ष्म दर्शन प्राप्त होता है। विशेष रूप से मानस, गीतावली, कवितावली में प्रकृति का बड़ा ही सुंदर चित्रण हुआ है। परंतु वे प्रथम भक्त हैं इसलिए अध्यात्मतत्व उनकी आँखों से कहीं भी ओझल नहीं हो पाता।

---

१. गीतावली २।४४।१-२ २. मानस २।२३।३

श्रीमती मीना अग्रवाल

तुलसी और संगीत

मानव का संगीत से निकटतम संबंध है। बालक के जन्म लेते ही चारों ओर खुशी और उल्लास के गीत गाए-बजाए जाते हैं। ढोलक की ध्वनि के साथ गीतों की मृदु ध्वनि उसके कर्ण-छिद्रों में प्रवेश करती है। उसके बाद विवाह के मंगलमय गीतों के साथ वह एक नवीन विश्व में पदार्पण करता है। उसकी साँस का प्रत्येक तार संगीत-लहरी से झंकृत होता रहता है। जीवन की अंतिम साँस लेते समय उसे गीता के मंत्र सुनाए जाते हैं और अंत में घंटा-घड़ियालों की ध्वनि के मध्य उसके शरीर को पंचतत्व में मिला दिया जाता है। यह तो रही सामान्य मानव की बात, परंतु महान् व्यक्तित्व की तो प्रत्येक बात ही महानता से परिपूर्ण होती है। भारत के अमर कवि, भक्त, संत और गायक (जयदेव, विद्यापति, सूर, तुलसी, कबीर, मीरा, रसखान आदि) ने संगीत की इस झंकार को सुना, और भली-भाँति सुना। उसमें अपनी प्रतिभा का समावेश भी किया, जिससे संगीत स्वर्गीय आनंद प्रदान करने वाला बन गया। इन महान् प्रतिभाओं ने अपने काव्य को संगीत के अलंकारों से अलंकृत किया।

काव्य और संगीत परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। काव्य से भावों की गतिशीलता प्रकट होती है और संगीत से स्वरों की चंचलता एवं उनका उतार-चढ़ाव। लेकिन दोनों का आधार नाद ही है। अंतर केवल इतना है कि काव्य का नाद संगीत के नाद की अपेक्षा स्थूल होता है, किंतु दोनों में ही ध्वनि और लय को महत्व दिया जाता है। 'दि न्यू डिक्शनरी आफ थौट्स' के अनुसार–

'कविता शब्दमय संगीत है और संगीत ध्वनिमय कविता।' (Poetry is music in words and music is poetry in sound.)[१] श्री बी० एन० भट्ट ने आकाशवाणी, दिल्ली से वार्ता प्रसारित करते हुए इसी भाव की पुष्टि करते हुए कहा—"काव्य और संगीत परस्पर इतने अन्योन्याश्रित हैं कि काव्य को शब्दों में 'संगीत' और संगीत को स्वरों में 'कविता' कहा जा सकता है।"[२] संगीत और काव्य का यह संबंध अटूट और अमर है। गायनाचार्य पं० विष्णुदिगंबर जी ने भी कहा है—'संगीत और काव्य का जब मेल होता है, तब 'सोने में सुगंध' आ जाती है। सरस्वती की वीणा-पुस्तक-धारिणी का मेल इसी का निदर्शन है।"[३] दोनों के परस्पर संयोग और एकता में ही दोनों की उन्नति, प्रगति और उत्कर्ष निहित है।

काव्य में संगीत का समावेश हृदय के भावों की मधुरतम अभिव्यक्ति के साथ होता है। अतः अनुभूति की कोमलता के साथ भाषा की सुकुमारता भी उसके लिए अनिवार्य हो जाती है। यही कारण है कि काव्य का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप गीत माना गया है, क्योंकि गीति-काव्य में बाह्य अभिव्यंजना संगीत का आधार लेकर ही प्रकट होती है। गीति-काव्य का घनिष्ठ संबंध मानव-हृदय की रागात्मिका वृत्ति से और संगीत का अटूट संबंध मानव-भावनाओं से है। भाव के अभाव में गीति-काव्य की रक्षा असंभव है, उसी प्रकार भाव-रहित संगीत भी प्राणों के स्पंदन से दूर, बहुत दूर होगा। अतः भाव, काव्य और संगीत, दोनों का प्राण है। जब भाव संगीतात्मकता से परिपूर्ण होकर शब्दों में फूट निकलते हैं, तब वे 'गीति-काव्य' बन जाते हैं। 'गीति-काव्य' का आदि-स्वरूप संगीतमय ही था, जो आज भी है।

भारतीय साहित्य में गीत की परंपरा बहुत प्राचीन है। 'सामवेद' गान-विद्या का ही वेद है। संस्कृत-साहित्य में महर्षि वाल्मीकि के पश्चात् गीतों की एक दीर्घ परंपरा मिलती है। कालिदास आदि श्रेष्ठ कवियों के काव्य एवं नाटक गीति-तत्व से युक्त मिलते हैं। जयदेव का 'गीत-गोविंद' गीति-काव्य-संबंधी अत्यंत लोकप्रिय ग्रंथ है। हिंदी का भक्ति-काल गीति-तत्त्व स्वीकार करने में सबसे आगे है। तुलसी अपने युग की इस गीतोन्मुख प्रकृति की उपेक्षा नहीं कर सके।

---

१. The New Dictionary of Thoughts, Page 470.
२. 'संगीत' जून, १९५०, पृष्ठ ४०६
३. 'माधुरी', दिसंबर—मुकुटधर पांडेय, पृष्ठ ७०२

तुलसी एक ओर भावुक भक्त कवि हैं, तो दूसरी ओर संगीतज्ञ भी। उन्होंने अपने आराध्य की आराधना गाकर की थी। 'विनयपत्रिका' का प्रारंभ भी गाकर ही किया :

गाइए गनपति जगबंदन, संकर-सुवन भवानी-नंदन।
सिद्धि-सदन गज-वदन विनायक, कृपा-सिंधु सुंदर सब लायक।[1]

उनका 'रामचरितमानस' तो पूर्णरूपेण संगीतमय रचना है। जब इसकी चौपाइयाँ विभिन्न राग-रागिनियों में गाई जाती हैं, तो हृदय-तंत्री झंकृत हो उठती है। इन्हें केवल शिक्षित वर्ग गाता है, ऐसा नहीं, वरन् अशिक्षित वर्ग भी इन चौपाइयों को गाकर पूर्ण आनंद लेता है। यह 'मानस' की महानता का रहस्य है। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में संगीत को महत्त्व देकर भगवान् राम के पावन चरित्र को यत्र-तत्र-सर्वत्र विकीर्ण कर दिया है।

तुलसीदास ने संगीत को जीवन से भिन्न रूप में नहीं देखा, क्योंकि जीवन की पावनता संगीत की पावनता है और संगीत की पावनता जीवन की। इसी विश्वास को मानते हुए तुलसीदास ने जीवन को संगीत का सहारा देकर उसे विस्तार दिया है और महान् बनाया है। उन्होंने मानव-जीवन के अज्ञानांधकार को दूर करने के लिए संगीतरूपी प्रकाश-स्तंभ का सहारा लिया है और उसके दिव्य प्रकाश को विश्व के कोने-कोने में फैलाया है। उस प्रकाश को अपनाकर ही मानव पावन हुआ, उसके जीवन का अज्ञान और अंधकार कहीं दूर जाकर छिप गया। इसी विशिष्टता के कारण 'मानस' सत्य, शिव और सुंदर, तीनों तत्त्वों से अलंकृत है।

जब काव्य और संगीत अभिन्न हैं, उनमें कोई अंतर नहीं, तो कवि और संगीतज्ञ भी भिन्न-भिन्न नहीं हैं। यद्यपि सभी कवि गायक नहीं होते और सभी गायक कवि नहीं बन सकते, फिर भी कवि संगीत के तत्वों (छंद, लय आदि) से अवश्य अपना परिचय रखता होगा और संगीतज्ञ गायन का पूर्ण आनंद लेने के लिए काव्य से भी अपना लगाव और जानकारी रखता होगा। परंतु तुलसी के व्यक्तित्व में कवि और संगीतज्ञ, दोनों रूप प्रकट हुए हैं। यदि कवि तुलसी में संगीतज्ञ का व्यक्तित्व न होता, तो उनका काव्य उतना लोकप्रिय न बन पाता, जितना आज बन गया है।

---

१. विनयपत्रिका १

'दि सौंग ऑफ तुलसीदास' नामक ग्रंथ में विद्वान लेखक सर आइजिन विंग ने तुलसीदास की इतनी अधिक लोकप्रियता का कारण संगीत बताते हुए कहा है—"तुलसीदास का काव्य क्यों इतना मानव-मात्र में लोकप्रिय हुआ, जब हम इस तथ्य का विश्लेषण करते हैं, तो हम इसी निश्चय पर पहुँचते हैं कि उनके काव्य की नींव संगीत की पावन पृष्ठभूमि पर दृढ़ता से रखी हुई है। उनके ग्रंथों में जहाँ हमें एक ओर काव्य का अद्वितीय सौंदर्य प्राप्त होता है, वहाँ दूसरी ओर संगीत का उत्कृष्ट रूप भी मिलता है। उनके शब्द-शब्द में संगीत की मधुरिमा बिखर गई है। हम उस मधुरिमा को उनके काव्य से पृथक् नहीं कर सकते।'

एक प्रसिद्ध रूसी लेखिका कु० नियोन्धा ने 'व्हाट आई रिसीव्ड फ्रॉम तुलसीदास' निबंध में कहा है—"मानव-जीवन को उन्होंने पूर्ण संगीतमय बना दिया है। उनके काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह पूर्ण संगीतमय है। उनके सुंदर काव्य की नींव संगीत पर रखी है। मैं समझती हूँ कि अकबर के काल में जितना संगीत का प्रचार इस महान् कवि ने किया होगा उतना शायद तानसेन भी न कर पाया होगा, क्योंकि इस महान् कवि की दृष्टि में संगीत और काव्य का एक ही-रूप था। इसी एक रूप की दीप्त आभा फैलाने में वह पूर्ण सफल हुए।"

इसी कथन की पुष्टि यूरोपियन इतिहासकार थोमस आस्टर ने 'दि हिस्ट्री ऑफ़ मुग़ल्स एज' नामक अपनी पुस्तक में की है—"मुगलकाल में तुलसीदास जी सूर्य के समान चमकते हैं। उनकी कृतियों में हमें काव्य और संगीत, दोनों का आनंद मिलता है। काव्य का रंग संगीत पर चढ़ा हुआ है और संगीत का रंग काव्य पर चढ़ा हुआ है; और ये दोनों रंग इतनी सुंदरता एवं कलात्मकता से एक-दूसरे में समन्वित हो गए हैं कि उनका सौंदर्य देखते ही बनता है। तुलसीदास के काव्य में हमें मानव-जीवन की गहराइयाँ मिलती हैं, और मिलती है मानव-लक्ष्य की उत्कृष्टता। उनके काव्य ने मानवता का स्तर काफी ऊँचा उठा दिया था। प्रसुप्त मानव को उन्होंने झकझोरकर जगा दिया था। उनकी नींद इतनी गहरी हो चुकी थी कि यदि तुलसी का संगीतमय काव्य प्रस्तुत न होता, तो न मालूम मानवता का क्या रूप होता?"[1]

अमेरिकन विद्वान् श्री किलजेडीन ने तुलसीदास के संगीत के संबंध में

१. The History of Mogul's Age, Page 55

अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं--"भारत के इस संत और विचारक ने हमें जीवन का सुलझा हुआ दृष्टिकोण प्रदान किया है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि उनके प्रकाश डालने का ढंग पूर्ण संगीतमय है, इसलिए वह गहन विषय इतना मधुरिमा से प्लावित हो गया है कि वह जीवन की प्रत्येक तह में स्वाभाविक ढंग से प्रविष्ट हो जाता है। वास्तव में उनके काव्य का आविर्भाव संगीत की विशाल पृष्ठभूमि पर हुआ है। आपको संगीत का पूरा-पूरा सात्त्विक आनंद उनकी रचनाओं में मिलेगा। तुलसीदास का जन्म मुगल-काल में हुआ था और उस समय सामाजिक स्थिति को संगीतमय बनाने में इस महान् कवि का विशेष हाथ रहा।"[1]

तुलसीदास जी ने अपने काव्य में बीस से अधिक रागों का प्रयोग किया है; जैसे—आसावरी, जैतश्री, बिलावल, केदारा, सोरठ, धनाश्री, कान्हरा, कल्याण, ललित, विभास, नट, टोड़ी, सारंग, सूहो, मलार, गौरी, मारू, भैरव, भैरवी, चंचरी, बसंत, रामकली, दंडक आदि। परंतु केदार, आसावरी, सोरठ, कान्हरा, धनाश्री, बिलावल और जैतश्री के प्रति उनकी विशेष रुचि रही है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह पता चलता है कि तुलसी ने प्रत्येक भाव के उपयुक्त राग में अपने पदों की रक्षा की है अर्थात् उन्होंने बड़ी सफलता से विभिन्न रागों के माध्यम से अपने भावों को व्यक्त किया है। करुण भाव की सृष्टि जैतश्री, नट, मलार, सोरठ, केदार, आसावरी आदि रागों में की गई है। मारू, बिलावल, कान्हरा, धनाश्री में वीर-भावों के पदों की रचना हुई है। शृंगार के पद विभास, सूहो-विलास, आसावरी, गौरी और बसंत में है। वर्णनसंबंधी पद रामकली, दंडक, विभास और टोड़ी में सृजित हैं। उपदेश-संबंधी पदों की रचना भैरव, धनाश्री और भैरवी में की गई है। ललित, नट और सारंग में समर्पण-संबंधी पद हैं।

संगीत के क्षेत्र में रस-कल्पना काव्य के क्षेत्र से भिन्न होती है। काव्य का एक पद एक ही भाव की सृष्टि करता है, किंतु संगीत में एक राग करुणा, उल्लास, निर्वेद आदि अनेक भावों की सृष्टि करने में सफल हो सकता है। तुलसीदास जी ने भी एक ही राग का प्रयोग अनेक स्थलों पर अनेक भावों को स्पष्ट करने के लिए किया है। 'श्रीकृष्ण गीतावली' में उन्होंने मलार राग का प्रयोग तीन बार भिन्न-भिन्न अनुभूतियों को व्यक्त करते हुए किया है :

१. Tulsidas and his Literature.

(क) व्रज पर घन घमंडि करि आए ।[१]
(ख) कोउ सखि नई बात सुन आई ।[२]
(ग) जौ पै अलि ! अंत इहै करिबो हो ।[३]

प्रथम पद में भयंकर वातावरण का, दूसरे में सामान्य अनुभूति का और तीसरे में विरहजन्य अनुभूति का चित्रण किया गया है । यहाँ काव्य के प्रत्येक शब्द में संगीत के क्षेत्र में स्वर के प्रति आत्म-समर्पण करके स्वानुभूति को मार्मिक बना दिया है ।

तुलसी ने रागों की भावानुकूल योजना की है, यह बात हम पहले ही कह चुके हैं । सोरठ राग में अभिव्यक्त करुण भाव देखिए

ऐसो को उदार जग माहीं ।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर, राम सरिस कोउ नाहीं ।
जो गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि-ग्यानी ।
सो गति देत गीध-सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी ।[४]

शरण-कामना की अभिव्यक्ति ललित, सारंग आदि रागों में की गई है । राग ललित में अभिव्यक्त शरण-कामना :

खोटो खरो राबरो हौं, रावरे सौं झूठ क्यों
कहौंगो, जानो सब ही के मन की ।
करम बचन हिये, कहौं न कपट किये,
ऐसी हठ जैसी गाँठि, पानी परे सन की ।[५]

उपदेश-भावना की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने प्रायः भैरवी, धनाश्री तथा भैरव आदि रागों को अपनाया है । राग भैरव में उपदेश-भावना :

राम जपु, राम जपु, राम जपु बावरे ।
घोर-भव-नीर-निधि नाम निज नाव रे ।
एक ही साधन सब रिद्धि सिद्धि साधि रे ।
ग्रसे कलि-रोग जो संजम समाधि रे ।
भलो जो है, पोच जो है, दाहिनो जो बाम रे ।
राम-नाम ही सो अंत सभी को काम रे ।[६]

---

१. श्रीकृष्ण-गीतावली १८
२. श्रीकृष्ण-गीतावली ३२
३. श्रीकृष्ण-गीतावली ३६
४. विनयपत्रिका १६२
५. विनयपत्रिका ७५
६. विनयपत्रिका ६६

अन्य स्थान पर राग भैरवी में उपदेश देते हुए तुलसी कहते हैं :

मन पछितैहै अवसर बीते।
दुर्लभ देह पाइ हरि-पद भजु, करम बचन अरु ही ते।[1]

भावानुकूल रागों की योजना के साथ-साथ तुलसी ने अवसरानुकूल पदों के लिए समयानुकूल रागों को चुना है। भैरव ठाठ से उत्पन्न राग विभास प्रातःकाल में गाया-बजाया जाने वाला राग है। तभी तो माता कौशल्या विभास के स्वरों में अपने नन्हे राम को जगाने आई हैं :

प्रात भयो तात, बलि मातु विधु-बदन पर,
मदन वारौं कोटि, उठौ प्रान-प्यारे।
सूत-मागध बंदि बदत बिरुदावली,
द्वार सिसु अनुज प्रियतम तिहारे।[2]

दिन के दूसरे प्रहर में चारों भाई कंदुक-क्रीड़ा-हेतु सरयू-तट पर पहुँच गए और वहाँ की सुखदायक समतल भूमि में खेलने के लिए अपने साथी बाँट लिए। खेल में रीझे हुए चारों भाई सधे हुए घोड़ों पर चढ़कर चौगान खेलने लगे। राग टोड़ी में इस स्थल का चित्रण कितनी मनोहारिता से किया है :

राम-लषन इक ओर, भरत-रिपुदवन लाल इक ओर भये।
सरजु-तीर सम सुखद भूमि थल, गनि-गनि गोइयाँ बाँटि लये।
कंदुक-केलि-कुसल हय चढ़ि-चढ़ि, मन कसि-कसि ठोंकि-ठोंकि खये।
कर-कमलनि बिचित्र चौगानैं, खेलन लगे खेल रिझये।[3]

समय-विशेष के अनुरूप गाए जाने वाले रागों में तुलसीदास ने संधिप्रकाश रागों का प्रयोग किया है। भैरव एवं ललित प्रातःकालीन संधिप्रकाश राग हैं। संधिप्रकाश रागों का समय प्रातः और सायं होता है। उस समय प्रकाश और अंधकार की उत्तम-संधि होने के कारण उन्हें 'संधिप्रकाश राग' कहा जाता है। प्रातःकालीन रागों में शुद्ध, मध्यम और उत्तरांग की प्रबलता के कारण ऐसे ध्वनिपरक वातावरण का सृजन होता है, जिसमें प्रातःप्रकृति की नैसर्गिक शोभा व्यंजित होती है। अतः ललित, भैरवी, रामकली आदि रागों में भगवत्-स्मरण और प्रातःकालीन शोभा का वर्णन हुआ है। सांध्यकालीन संधिप्रकाश

१. विनयपत्रिका १९८ २. गीतावली १।३७
३. गीतावली १।४५

रागों में खिन्नता, करुणा आदि का वर्णन है। इसलिए सायंकाल का वर्णन और भगवत्-भजन राग गौरी में बाँधा गया है :

रामु कहत, रामु कहत, रामु कहत चलु भाई रे।
नाहीं तो भव-बेगारि महँ परिहौ, छूटत अति कठिनाई रे।[1]

तुलसीदास ने रसानुकूल पद और राग का समन्वय भी बड़े ही सुंदर ढंग से किया है। देवराज इंद्र ने ब्रज में यज्ञ बंद कर दिए जाने पर अपना अपमान समझा। फलस्वरूप ब्रज को नष्ट करने की धमकी के रूप में घोर गर्जना करते हुए बादल चारों ओर छा गए। दसों दिशाओं में दुःसह बिजली चमकने लगी। एक ओर बड़ी-बड़ी बूंदें बरसकर ब्रज को जलमग्न करने लगीं और दूसरी ओर तुलसी का संगीत मलार राग में रसज्ञों को रसमग्न करने लगा :

ब्रज पर घन घमंड करि आए।
बार-बार पबिपात, उपल घन बरसत बूंद बिसाल।
सीत सभीत पुकारत आरत गोसुत-गोपी-ग्वाल।[2]

वसंत-ऋतु आ गई है। भगवान् राम फाग खेल रहे हैं। उनकी झोली में अबीर है और हाथों में पिचकारी। तुलसी ने अपने प्रभु की होली का वर्णन राग वसंत में इस प्रकार किया है :

खेलत बसंत राजाधिराज। देखत नभ कौतुक सुर-समाज।
सोहें सखा अनुज रघुनाथ साथ। झोलिन्ह अबीर पिचकारि हाथ।[3]

राग मारू वीर-रस की सृष्टि करने में सक्षम होता है। जिस समय राम ने वानर सेना-सहित लंका को प्रयाण किया, उस समय तुलसीदास ने राग मारू में ही अपने पद की रचना की है। समुद्र क्षुभित हो गया, पर्वत डगमगाने लगे। जैसे ही राम ने अपना धनुष हाथ में उठाया, उसकी कठोर और भयंकर टंकार से देवता चौंक गए, दिग्पाल व्याकुल हो गए, चौदहों भुवन भय से भर गए, लंका में खलबली मच गई :

जब रघुवीर पयानो कीन्हों।
क्षुभित सिंधु, डगमगत महीधर, सजि सारंग कर लीन्हों।
सुनि कठोर टंकोर घोर अति, चौंके विधि त्रिपुरारि।
जटापटल ते चली सुरसरी, सकत न संभु सँभारि।[4]

---

१. विनयपत्रिका १८९
२. श्रीकृष्ण-गीतावली, १८
३. गीतावली ७।२२
४. गीतावली ५।२२

शास्त्रीय राग-रागनियों के अतिरिक्त तुलसीदास ने स्त्री-समाज में विवाह आदि के समय गाए जाने वाले गीतों का भी अच्छी तरह से अध्ययन किया था। उनके 'जानकी-मंगल', 'पार्वती-मंगल' और 'रामलला नहछू' के पद लोक-गीतों पर ही आधारित हैं। ये पुस्तकें ठेठ अवधी भाषा में लिखी गई हैं और इनमें ग्रामीण गीतों के ढंग की रचनाएँ हैं। विवाह आदि संस्कारों के अवसर पर गाए जाने वाले गीतों में प्रायः अश्लीलता रहती थी। इसीलिए उन गंदे गीतों के स्थान पर गाने के लिए 'नहछू', 'पार्वती-मंगल' एवं 'जानकी-मंगल' पुस्तकों की रचना की गई।

काव्य को माधुर्य प्रदान करने के लिए कवि भाषा को संगीत से अलंकृत करता है। भाषा ही भावों को प्रकट करने का एकमात्र साधन है। तुलसी ने सांगीतिक माधुर्य के लिए भाषा को अनुरणात्मकता प्रदान की है। उसमें ध्वन्यात्मकता है और सचिक्कण शब्दों का प्रयोग है। शब्दों के चयन में भाव की प्रकृति का पूरा ध्यान रखा गया है। भाव की कोमल-प्राणता और मधुर संवेदनशीलता के अनुरूप ही 'ट'-वर्ग को छोड़ शेष सभी स्पर्शी (क आदि), लोड़ित (र); पार्श्विक (ल) और 'व', 'स' आदि वर्ण-ध्वनियों, सजातीय अथवा विशुद्ध अनुस्वारों तथा समास-रहित अनुप्रासयुक्त पदावली का प्रयोग हुआ है। भाषा की सांगीतिकता को प्रकट करने के लिए दो उद्धरण पर्याप्त होंगे :

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदयँ गुनि।
मानहु मदन दुंदुभी दीन्हीं। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्हीं।[1]
ललित आँगन खेलें, ठुमुकु-ठुमुकु चलैं।
झुंझुनु-झुंझुनु पायँ पैंजनी मृदु मुखर।
किंकिनी कलित कटि हाटक जटित मनि।
मंजु-कर-कंजनि पहुंचियाँ रुचिरतर।[2]

तुलसी के अनेक पदों में अंतरे की अंतिम पंक्ति का स्थायी से संबंध बना रहता है, जो संगीतात्मकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है; यथा :

अबलौं नसानी, अब न नसैहौं।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे पुनि न डसैहौं।
पायो नाम चारु चिंतामनि, उर-कर ते न खसैहौं।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसैहौं।[3]

१. मानस १।२३०।१ २. गीतावली १।३३
३. विनयपत्रिका १०५

गायन, वादन और नृत्य, तीनों के समन्वय का नाम ही संगीत है। तुलसी के काव्य में कुछ स्थलों पर इन तीनों के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं, परंतु बहुत कम स्थलों पर। फिर भी ये उल्लेख तुलसी की संगीत-संबंधी जानकारी के द्योतक तो हैं ही। उन्होंने मुरली, दुंदुभी, मृदंग, डफ, वेणु, झाँझ, शंख, शहनाई, भेरी, करताल, ढोल, निसान, नफीरी आदि वाद्य-यंत्रों का उल्लेख किया है। यथा :

बाजहिं मृदंग, डफ, ताल, वेणु। छिरकैं सुगंध भरै मलय-रेनु।[1]
मुरली तान तरँग, मोहे कुरँग बिहँग।[2]
गह-गह गगन दुंदुभी बाजी।[3]
बाजहिं ढोल निसान जुझाऊ। सुनि धुनि होइ भटन्हि मन चाऊ।[4]
बाजहिं भेरि, नफीरि अपारा। सुनि कादर उर जाहिं दरारा।[5]
झांझि, मृदंग, संख, सहनाई। भेरि ढोल, दुंदुभी, सुहाई।[6]

तुलसी ने कुछ अवसरों पर नृत्य का भी आयोजन किया है। बाल-क्रीड़ा के प्रसंग में बालक राम का नृत्य-वर्णन अत्यधिक हृदय-ग्राही है। राम अभी छोटे हैं। नृत्य का उन्हें विधिवत् ज्ञान नहीं, परंतु जीवन की उमंग स्वतः ही स्वाभाविक नृत्य के रूप में अवतरित होती है और राम माता कौशल्या की चुटकी की ताल पर थिरकने लगते हैं :

चुटकी बजावती, नचावती कौसल्या माता,
बालकेलि गावति मल्हावति सुप्रेम भर।[7]

भयंकर युद्ध के पश्चात् राम की विजय हुई। अग्नि द्वारा पवित्र सीता पुनः राम की वामांगिनी बनीं। राम सिंहासनारूढ़ हुए। ऐसे अवसर पर किन्नरियों और अप्सराओं का नृत्य स्वाभाविक था :

नभ दुंदुभी बाजहिं बिपुल गंधर्व-किन्नर गावहीं।
नाचहिं अपछरा-बृंद परमानंद सुर-मुनि पावहीं।[8]

नृत्य से नूपुर का पार्थक्य कैसे हो सकता है :

नूपुर किंकिनि धुनि अति सोहाइ। ललना-गन जब जेहि धरइँ धाइ।[9]

---

१. गीतावली ७।२२
२. श्रीकृष्ण-गीतावली २०।२
३. श्रीकृष्ण-गीतावली ६१।१
४. मानस ६।४१।१
५. मानस ६।४१।२
६. मानस १।२६३।१
७. गीतावली १।३३।४
८. मानस ७।१२। छंद १
९. गीतावली ७।२२।७

तुलसीदास जी के पदों में कुछ पिंगलशास्त्रवेत्ताओं ने यतिभंग दोष भी खोज निकाले हैं। परंतु गाते समय ये दोष तनिक भी खटकते नहीं। वियोगी हरि के शब्दों में—"हम तो यह भी कहेंगे कि यदि यतिभंग दोष दूर करने की चेष्टा की जाएगी, तो साहित्यिक सौंदर्य भी नष्ट हो जाएगा। अच्छा हो, यदि इन पदों का पिंगलशास्त्रवेत्ता-पारखी संगीत-कला का भी पूर्ण मर्मज्ञ हो। हमने प्रायः प्राचीन महात्माओं की बानियों में पिंगल-विशारदों को दोष निकालते देखा है। यदि ये सज्जन संगीत के पंडित हों, तो उन्हें उन बानियों में एक भी छंद-दोष दिखाई न दे, क्योंकि उनकी रचना केवल पिंगल के नियमों पर ही नहीं, किंतु 'स्वर-ताल' के अनुरूप हुई है।"[1]

वास्तव में तुलसीदास जी ने भी आत्म-कल्याण की दृष्टि से ही संगीत अपनाया था। यद्यपि सूर, मीराँ आदि की परिस्थितियाँ तुलसी से भिन्न थीं, परंतु संगीत उनके लिए भी आत्म-कल्याण का साधन था। मीरा पग घुंघरू-बाँधकर 'गिरधर नागर' को रिझाने में मस्त थी और सूर तो श्रीनाथ जी के मंदिर में संगीत के द्वारा ही उपासना कर रहे थे, इसलिए क्रियात्मक संगीत में सूर और मीराँ का जितना समय व्यतीत होता होगा, उतना तुलसी का नहीं। तुलसी का संगीताभ्यास सूर और मीराँ की अपेक्षा कम था, इसलिए उनमें संगीतात्मक प्रवाह अपेक्षाकृत कम है। यही कारण है कि आज भी गायक तुलसी के पदों की अपेक्षा सूर और मीराँ के पदों को अधिक पसंद करते हैं। इसका कारण है तुलसी का भक्त जितना सबल है, उतना उनका संगीतज्ञ-रूप नहीं। इतना होते हुए भी तुलसी अपने भक्ति-संगीत से जन-मानस के अत्यधिक समीप पहुँचे हैं। आज भी 'रामचरितमानस' की प्रत्येक चौपाई और उनके पदों में निहित संगीत काव्य-रसज्ञों और संगीतज्ञों के हृदयों को झंकृत कर रहा है, करता रहेगा।

---

१. विनयपत्रिका (भूमिका), वियोगी हरि-कृत टीका, पृष्ठ ३४

डॉ० (श्रीमती) हर्षनंदिनी भाटिया

तुलसी के काव्य में संस्कृति : शृंगार-प्रसाधन

गोस्वामी तुलसीदास रामकाव्य-धारा के प्रख्यात कवि हैं। तुलसीकृत रामचरितमानस, गीतावली, कवितावली, जानकी-मंगल, पार्वती-मंगल, बरवै-रामायण तथा रामलला नहछू कृतियों में शृंगार-प्रसाधन संबंधी सामग्री मिलती है। तुलसीदास जी के इष्ट राम और सीता हैं। उनकी दृष्टि में सारा संसार ही सीयराम मय है। भक्त-हृदय तुलसी का मन शृंगार-प्रसाधन के वर्णन में नहीं रमा। दूसरे उनकी भक्ति दासभाव की थी, वे सीता को माता के रूप में मानते थे। अतः उन्होंने माता के शृंगार का वर्णन मर्यादा का ध्यान रखकर ही किया। फिर भी यत्र-तत्र स्वाभाविक रूप से उन्होंने तत्कालीन प्रचलित शृंगारों का उल्लेख किया है।

तुलसीदास ने सीता को माता के रूप में मानकर विशेष तो नहीं, कहीं-कहीं पर शृंगार-प्रसाधन के संकेत-मात्र दिये हैं।

'नवसत' अर्थात् सोलह शृंगार का तो केवल उल्लेख मिलता है :

जहँ तहँ जूथ-जूथ मिलि भामिनि। सजिनवसप्त सकल दुति-दामिनि।[1]

सीता जी नवसत शृंगार किए हुए हैं। सखियाँ उनको सजाकर लाती हैं। मंथर गति से चलने पर उनके नूपुर बज उठते हैं :

चलि ल्याइ सीतहि सखी सादर सजि सुमंगल भामिनी।
नवसप्त साजे सुंदरी सब मत्त-कुंजर-गामिनी।

१. मानस १।२६७।१

कल गान सुनि, मुनि ध्यान त्यागहिं, काम-कोकिल लाजहीं।
मंजीर, नूपुर, कलित कंकन, ताल-गति बर बाजहीं।[१]

इसी प्रकार भूषन और बिभूषन का उल्लेख रामचरितमानस में अधिक स्थलों पर आया है। मणि और बसन भी इसमें सम्मिलित कर दिये गये हैं :

मनि, बसन, भूषन भूरि बारहिं नारि मंगल गावहीं।[२]

तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में ध्वनि करने वाले तीन प्रमुख आभूषणों का सुंदर उल्लेख किया है :

कंकन-किंकिनि-नूपुर-धुनि सुनि। कहत लखन-सन राम हृदय गुनि।[३]

प्रमुख आभूषणों के साथ सुंदर चंद्रबदनी नारियाँ सीता जी के विवाह पर अपने अंगों को सजाकर तथा सँवारकर आती हैं :

बिधुबदनी सब, सब मृगलोचनि। सब निज तन-छबि रति-मदमोचनि।
सकल सुमंगल अंग बनाए। करहिं गान, कल-कंठि लजाए।
कंकन, किंकिनि, नूपुर बाजहिं। चाल बिलोकि काम-गज लाजहिं।[४]

ऐसे विशाल और संपन्न राजमहल में प्रत्येक शुभ अवसर पर भूषन तथा वस्त्र बाँटना तो एक साधारण बात थी, वहाँ तो मणियों की राशि भी न्यौछावर करके दे दी जाती थी। तुलसीदास जी ने यह वर्णन स्थान-स्थान पर किया है।

करहिं निछावरि मनिगन, चीरा। बारि बिलोचन, पुलक सरीरा।[५]
भूषन, मनि, पट नाना जाती। करहिं निछावरि अगनित भाँती।[६]

राजा द्वारा शुभ अवसर पर ब्राह्मणों की स्त्रियों को बुलाकर भूषण और वस्त्र पहिराये जाते थे :

बिप्र-बधू सब भूप बोलाई। चैल चारु भूषन पहिराई।[७]

इसी प्रकार सुआसिनि को बुलाकर 'पहिरावनी' दी जाती थी।

बहुरि बोलाइ सुआसिनि लीन्हीं। रुचि बिचारि पहिरावनि दीन्ही।[८]

१. मानस १।३२२। छंद ४१
२. मानस १।३१९। छंद ३८
३. मानस १।२३०।१
४. मानस १।३१८।१-२
५. मानस १।३४८।१
६. मानस १।३४९।१
७. मानस १।३५३।२
८. मानस २।२६

रामचंद्र जी जनकपुर जाते हैं। जनकपुर की सुंदर नारियाँ रामचंद्र जी की अपूर्व सुंदरता को निहार कर उनको कुदृष्टि न लग जाय, इस कारण तिनका तोड़कर फेंकती हैं तथा मनि, बसन, भूषन न्यौछावर करती हैं। वे नाना भाँति के मंगल गान करती हैं :

पुर-नारि, सुर-सुंदरी, बरहिं बिलोकि, सब तिन तोरहीं।
मनि-बसन-भूषन बारि, आरति करहिं, मंगल गावहीं।[1]

किंतु जब परिस्थिति बदल जाती है तो वही वस्त्राभूषण अप्रिय लगने लगते हैं। समयानुकूल सभी वस्तुएँ शोभा देती हैं :

मंगल सकल सोहाहिं न कैसे। सहगामिनिहि बिभूषन जैसे।[2]

वन जाते समय श्रीराम और सीता आभूषण और बहुमूल्य वस्त्र उतार कर मुनियों के समान वस्त्र धारण कर लेते हैं। वे भूषन रहित ही रहते हैं :

जौ ए-मुनिपट धर जटिल सुंदर, सुठि सुकुमार।
बिबिध भाँति भूषन-बसन, बादि किये करतार।[3]

जब भरत और शत्रुघ्न अपनी ननिहाल से अवधपुर पहुँचे तो कुबरी मंथरा उनके सामने आई। उस समय वह विविध प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित थी, किंतु तब वहाँ की स्थिति भिन्न होगई थी :

तेहि अबसर, कुबरी तहँ आई। बसन-बिभूषन बिबिध बनाई।[4]

रामचरितमानस में कहीं-कहीं उपमान रूप में भी बसन-भूषण का वर्णन प्राप्त होता है। जिस प्रकार वैराग्य हुए बिना ब्रह्म पर विचार करना व्यर्थ है, उसी प्रकार बिना भूषण के वस्त्र मात्र से ही पूर्णता नहीं आ पाती :

बादि बसन-बिनु भूषन-भारू। बादि बिरति-बिनु ब्रह्म-बिचारू।[5]

श्री रामचंद्र जी के वन जाने का समाचार सुनकर सीता जी व्याकुल हो उठीं, वे यह सोचती हैं कि पति उन्हें साथ ले जायेंगे या नहीं। कहीं अवधपुरी में रहने की आज्ञा ही न दे बैठें। उदास बैठी हुई सीता विचार कर रही हैं, मुख से बोल नहीं पा रही हैं। कुछ न कहते हुए अपने ही सुंदर चरणों को, नख और धरती को एकटक देखे जारही हैं, तभी उनके नूपुर ही बोलने लगते हैं :

१. मानस १।३२७।५६
२. मानस २।३७।४
३. मानस २।११६
४. मानस २।१६३।१
५. मानस २।१७८।२

चारु चरन नख लेखति धरनी। नूपुर मुखर मधुर कबि बरनी।
मनहुँ प्रेम बस बिनती करहीं। हमहि सीय पद जनि परिहरहीं।[1]

श्री रामचंद्र जी के वन-गमन के पश्चात् अवधपुर के नर-नारी उनके दर्शन पाने की आशा में अधिक नियम और व्रत करके रहने लगे। अवधि के पूर्ण होने की प्रतिक्षा में नगरवासियों ने अपने-अपने आभूषण, सुख और आनंद त्याग दिए :

राम दरस लगि लोग सब करत नेम उपवास।
तजि तजि भूषन भोग सुख, जिअत अवधि की आस।[2]

वन जाने के उपरांत कुटिया में सीता जी को अकेली देखकर, रावण साधु का वेष बनाकर उनका हरण कर लेता है। पर्वत पर बानरों को बैठा हुआ देखकर सीता हरि-नाम लेकर अपने कुछ वस्त्र डाल देती हैं :

गिरि पर बैठे कपिन्ह निहारी। कहि हरि नाम दीन्ह पट डारी।[3]

एक बार वन में रामचंद्र जी ने अपने कर-कमलों से पुष्प तोड़कर और स्वयं फूलों के आभूषण बनाकर सीता जी का शृंगार किया था :

एक बार चुनि कुसुम सुहाए। निज कर भूषन राम बनाए।
सीतहि पहिराए प्रभु सादर। बैठे फटिक सिला पर सुंदर।[4]

तुलसीदास जी ने रामचरित के महत्व को बतलाते हुए 'शृंगार' शब्द का प्रयोग भी प्रकारांतर से उपमान रूप में किया है :

रामचरित चिंतामनि चारू। संत सुमति तिय सुभग सिंगारू।[5]

तुलसीदास ने शिव और पार्वती के चरित्र का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। रामचरितमानस में शिव जी का विशेष और स्थायी महत्व निश्चित किया गया है। पार्वती जी ने शिव जी को प्राप्त करने के लिए सहस्र वर्षों तक घोर तपस्या की, तब सबको सुख देने के लिए शिव और पार्वती का विवाह हुआ था। शिव और पार्वती को संसार के माता-पिता मानने के कारण ही तुलसीदास जी ने विवाह के अवसर पर भी पार्वती जी के शृंगार का वर्णन किंचित मात्र भी नहीं किया। रामचरितमानस में उन्होंने स्पष्ट रूप से इसका उल्लेख किया है :

---

१. मानस २।५८।३
२. मानस २।३२२
३. मानस ३।२९क।१३
४. मानस ३।१।२
५. मानस १।३२।१

जगत मातु पितु संभु भवानी। तेहिं सिंगारु न कहउँ बखानी।[1]

कवितावली में भी प्रसंगवश शृंगार की सामग्री मिलती है—अंजन युक्त नयनों की निराली शोभा तो देखिये :

तुलसी मन-रंजन रंजित अंजन नैन सुखंजन जातक से।[2]

तुलसी ने रामचंद्र जी के बाल रूप का भी शृंगार-वर्णन किया है। उनके इष्ट ही राम थे फिर उनका वर्णन कैसे न होता ? राम के चरणों में 'नूपुर' और कर-कमलों में 'पहुँची' तथा हृदय पर 'मणियों की माला' सुशोभित हो रही है :

पग नूपुर औ पहुँची कर कंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिए।[3]

मोतियों की माला और घुँघराले बालों की शोभा भी द्रष्टव्य है :

चपला चमकैं घन बीच जगैं, छबि मोतिन माल अमोलन की।
घुंघरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर, कुंडल लोल कपोलन की।[4]

राम और सीता का विवाह-वर्णन तुलसीदास जी ने अद्भुत कुशलता से प्रस्तुत किया है। रामचंद्र दूल्हा बने हैं और सीता जी दुलहिन बनी हुई बैठी हैं। सब सुंदरियाँ मांगलिक गीत गा रही हैं, विप्र-गण वेद पाठ कर रहे हैं। सीता जी अपने पास ही बैठे हुए रामचंद्र की शोभा यदि घूँघट उठाकर नहीं देख सकतीं, तो अपने 'कंकन' के नग (आरसी) में तो एकटक निहार कर देख सकती हैं। उनको इस प्रकार का आनंद लेते हुए केवल तुलसीदास ही देख पा रहे हैं अन्य कोई भी नहीं :

दूलह श्री रघुनाथ बने दुलही सिय सुंदर मंदिर माँही।
गावति गीत सबै मिलि सुंदरि बेद जुवा जुरि बिप्र पढ़ाहीं।
राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं।
यातें सबै सुधि भूल गई कर टेकि रही पल टारत नाहीं।[5]

विवाह के समय श्री रामचंद्र जी सुंदरी सीता जी के सिर में अपने कर-कमलों से सिंदूर लगाते हैं। गोस्वामी जी ने उस समय की शोभा का वर्णन इस प्रकार किया है :

---

१. मानस १।१०३।२ २. कवितावली १।३
३. कवितावली में राम के शृंगार रूप का वर्णन है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब बालक का शृंगार किया जा सकता है, तो ये शृंगार सर्वमान्य रहे होंगे। कवितावली १।२ ४. कवितावली १।५
५. कवितावली १।१७

राम सीय सिर सेंदुर देहीं। सोभा कहि न जात बिधि केही।
अरुन पराग जलजु भरि नीकें। ससिहि भूष अहि लोभ अमी कें।[१]

जब श्री रामचंद्र जानकी की सुधि लेने हनुमान को भेजते हैं तो हनुमान उनकी खोज करके उन्हें स्मृतिचिन्ह के रूप में रामचंद्र जी की अंगूठी देते हैं। उसी प्रकार जानकी जी भी स्मृति-चिह्न के रूप में अपना चूड़ामणि उतार कर हनुमान को देती हैं :

मातु कृपा कीजै सहदानि दीजै, सुनि सीय
दीन्हीं है असीस, चारु चूड़ामनि छोरि कै।[२]

गीतावली में भी शृंगार-संबंधी कुछ सामग्री प्राप्त होती है। गीतावली के बालकांड में यत्र-तत्र चूनरी[३], किंकिनी[४], नूपुर[५] तथा सुंदरकांड में मुद्रिका[६] का विशेष रूप से उल्लेख प्राप्त होता है।

गीतावली में तुलसीदास व्यंजना से ही सभी शृंगारों की ओर संकेत कर देते हैं। विवाह के समय राम और सीता जी दूल्हा और दुलहिन सजे हुए बैठे हैं। तुलसी उनकी सुंदरता, उनके वर्ण, उनके वसन और विभूषण तथा उनके अद्भुत शृंगार का वर्णन अत्यंत चातुर्य से करते हैं :

दूलह राम, सीय दुलही री।
घन-दामिन बर बरन, हरन मन, सुंदरता नखसिख निबही, री।
ब्याह-बिभूषन-बसन, बिभूषित, सखि अवली लखि ठगि सी रही, री।
जीवन-जनम-लाहु, लोचन-फल है इतनोइ, लह्यो आजु सही, री।
सुखमा सुरभि सिंगार-छीर दुहि नयन अमिय मय कियो है दही, री।
मथि माखन सिय-राम सँवारे, सकल भुवन छबि मनहु मही, री।[७]

पार्वती मंगल में भी तुलसी ने वस्त्राभूषण का वर्णन किया है। इसमें उन्होंने पार्वती जी का मंगल-गान किया है। शिव और पार्वती को माता-पिता मानने के कारण उनके मन में संकोच होता है कि वस्त्राभूषण का विस्तृत वर्णन किस प्रकार किया जाय। फिर भी यत्र-तत्र उल्लेख मिल जाता है :

---

१. मानस १।३२५।४-५
२. कवितावली १।२६
३. गीतावली १।१०५
४. गीतावली १।१०८
५. गीतावली १।१०८
६. गीतावली १।१,३,४
७. गीतावली १।१०६

सकुचहिं बसन बिभूषन परसत जो बपु।
तेहिं सरीर हर हेतु अरंभेउ बड़ तपु।[१]

वर्षों के घोर तप के पश्चात् पार्वती का विवाह शिव जी से हुआ। विवाह के शुभ अवसर पर पार्वती को सुंदर आभूषणों और वस्त्रों से सुसज्जित किया गया। उनकी सुषमा और शोभा दर्शनीय थी, जिसका वर्णन तुलसीदास जी ने किया है :

भूषन बसन समय सम सोभा सो भली।
सुषमा बेलि नवल जनु रूप फलनि फली।[२]

विवाह-मंडप में शिव ने पार्वती की माँग में सिंदूर भरा और दोनों का गठबंधन किया गया। जिन नर-नारियों ने यह विवाहोत्सव देखा, उनका जीवन सफल होगया :

बंदन बंदि ग्रंथि बिधि करि ध्रुव देखेउ।
भा बिबाह सब कहहिं जनम फल पेखेउ।[३]

शिव और पार्वती के विवाहोपरांत तुलसीदास जी ने अपनी काव्य-कला से इस विवाह को हार रूप में उपमित किया है :

प्रेम पाट पटडोरि गौरि हर गुन मनि।
मंगल हार रचेउ कबि मति मृगलोचनि।[४]

तुलसी द्वारा निर्मित सुंदर मणियों का यह हार उनकी सम्मति से सुंदर युवतियाँ ही विशेष रूप से धारण करें अर्थात् यदि सब शिव-पार्वती का स्मरण करती रहेंगी तो उनकी भी मनोभिलाषाएँ पूर्ण हो जायेंगी :

मृगनयनी बिधुबदनी रचेउ मनि मंजु मंगलहार सो।
उर धरहुँ जुबती जन बिलोकि तिलोक सोभा सार सो।[५]

जानकी मंगल में तुलसीदास जी ने राम-जानकी जी के विवाह का मंगल-गान किया है, किंतु फिर भी कोई श्रृंगार संबंधी विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं होती। ऋषि के आने पर सभी रानियाँ उनका सम्मान करती हैं। उनके चरण स्पर्श करने आती हैं, उस समय रानियाँ प्रेम और सौभाग्य से परिपूर्ण हैं तथा विविध प्रकार के आभूषणों से विभूषित भी :

---

१. पार्वती मंगल ३५
२. पार्वती मंगल १२५
३. पार्वती मंगल १३२
४. पार्वती मंगल १४८
५. पार्वती मंगल १६

अनुराग, भाग सोहाग, सील, सरूप बहु भूषन भरीं।
हिय हरषि सुतन-समेत रानी आइ रिषि पायँन परीं।[1]

नृप की शोभा के लिए नाक का आभूषण उपमान के रूप में जुटाना कैसा सार्थक बन पड़ा है :

नृप न सोह बिनु बचन, नाक बिनु भूषन।[2]

जानकी-मंगल के इस उद्धरण से सिद्ध होता है कि इस समय तक नाक का आभूषण अन्य अनेक आभूषणों में अपना विशेष महत्व बना चुका था।

शृंगार से सुसज्जित होकर सुंदरियाँ रति के समान जगमगा रही हैं :

जने दमक दामिनि, रूप रति मृदु निदरि सुंदरि सोहहीं।[3]

सुंदरियों के सुंदर शरीर पर सुंदर-सुंदर आभूषण और वस्त्र उनकी सुंदरता में चार चाँद लगा रहे हैं :

मंगल-भूषन-बसन मंजु तन सोहहिं।[4]

श्री राम-जानकी के विवाह पर नाना प्रकार के भूषण-विभूषण से सुशोभित होना तो अत्यंत स्वाभाविक है ही :

ब्याह-बिभूषन-भूषित भूषन-भूषन।[5]

'रामलला नहछू' में तुलसीदास ने रामचंद्र जी की बाल्यावस्था का विशेष रूप से वर्णन किया है। यह ग्रंथ उनकी राम जी में असीम निष्ठा एवं भक्ति का परिचायक है। रामचरितमानस आदि अन्य ग्रंथों में विस्तृत रूप से वर्णन करने पर भी श्री राम का गुणगान बारंबार करना ही तुलसीदास जी को रुचिकर और प्रिय लगता है।

तुलसी ने उस समय वस्त्रों को रखने की विधि पर भी प्रकाश डाला है कि तत्काल पहनने वाले वस्त्र पहले से ही विविध प्रकार की सुगंधों से सुविचारित रूप से सुवासित किये जाते थे और सीनेवाला ही उसको तैयार करके पहनता भी था। यहाँ दरजिनि के संदर्भ में इस प्रकार कहा गया है :

दरजिनि गोरे गात लिहे कर जोरा हो।
केसरि परम लगाइ सुगंधनि बोरा हो।[6]

---

१. जानकी मंगल १०
२. जानकी मंगल ४१
३. जानकी मंगल ४५
४. जानकी मंगल ५१
५. जानकी मंगल ७७
६. रामलला नहछू ६

विवाहोत्सव पर अनेक बहुमूल्य रत्नों तथा मणियों से जड़े हुए सोने के 'मौर' का भी उल्लेख मिलता है :

कनक रतन मनि मौर लिहे मुसुकातहि हो ।[१]

तुलसीदास जी ने 'रामलला नहछू' में नहरनी लिये आई हुई 'नाइन' का रूप-वर्णन चित्रात्मक शैली में प्रस्तुत किया है । शृंगार किए हुए मुस्कुराती हुई नाइन आती है :

करि सिंगार अति लोन तौ विहँसति आई हो ।[२]

इसी प्रकार नाइन के अन्य शृंगार एवं आभूषणों का विस्तार से वर्णन करना वे नहीं भूले । भूलते भी कैसे ? अपने इष्ट और भगवान् की नाइन भी कम सौभाग्यशालिनी नहीं । वे नाइन के कान, गले, कटि और अंगों के आभूषण तथा वस्त्र का संपूर्ण रूप से उल्लेख करते हैं :

काने कनक तरोवन, बेसरि सोहइ हो ।
गज मुकुता कर हार कंठ, मन मोहइ हो ।
कर कंकन, कटि किंकिनि, नूपुर बाजइ हो ।
रानि कै दीन्हीं सारी अधिक बिराजइ हो ।[३]

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त पंक्तियों में कान, नासा, कंठ, कर, कटि तथा पैरों के भूषण क्रम से कहे गये हैं । कान और नासिका के आबंध्य भूषणों को एक साथ कहा गया है । तब हार और कंठमणि लटकाकर पहने जाने वाले आभूषण एक साथ आये हैं और फिर तीनों ध्वनि करने वाले आभूषणों के नाम एक साथ लिये गये हैं । यह तुलसीदास जी के आभूषणों में भी सूक्ष्म ज्ञान का परिचायक है ।

'जावक' का प्रचलन उस समय से आज तक चला आ रहा है । उस समय भी नाइन ही अपनी सुंदर उंगलियों से कलात्मक महावर लगाया करती थीं । तुलसीदास जी ने शृंगार-प्रसाधन का भी उल्लेख किया है :

जावक रचित अँगुरियन्हँ मृदुल सुठारी हो ।[४]

ऐसे शुभ अवसर पर महावर लगाने पर राजा और रानी दोनों ही उसे पारितोषिक के रूप में 'नेग' देते हैं :

---

१. रामलला नहछू ७
२. रामलला नहछू १०
३. रामलला नहछू ११
४. रामलला नहछू १५

राजन दीन्हें हाथी रानिन्ह हारउ हो।
भरिगे रतन-पदारथ सूप हजारउ हो।[1]

तुलसी की एक अन्य कृति 'बरवै रामायण' में भी कहीं-कहीं बसन और आभूषणों का विशेष रूप से वर्णन मिलता है।

नूपुर और किंकिनि तो तुलसीदास जी के प्रिय आभूषण हैं, जिनका उल्लेख उन्होंने अपनी प्रत्येक कृति में किया है। यहाँ साथ ही 'पहुँची' की भी चर्चा कर दी है :

पग नूपुर कटि किंकिनि पहुँची मंजु।
हिए बघनवा नषवन मनिमय गंजु।[2]

विवाहोपलक्ष में सीता जी ने श्री रामचंद्र जी के गले में जयमाल डाली। इससे नर-नारी-बालक ही नहीं देवताओं को भी अपार हर्ष हुआ। यह हर्ष उन्होंने बाजे बजाकर, फूल बरसाकर और स्तुति करके प्रगट किया।

सीता जी को जब रावण आकाश मार्ग से अपहरण करके ले जारहा था, तो मार्ग में उन्होंने कुछ भूषण और बसन गिरा दिए। ऐसा उल्लेख रामायण में भी प्राप्त होता है। श्रीराम ने हनुमान जी और सुग्रीव से मित्रता की। सुग्रीव ने वह भूषण और बसन श्रीराम जी को दिखाए :

मारुत सुत मिलि कीन्हें सुग्रीव मिताय।
भूषन बसन बिलोके सिय के जाय।[3]

हनुमान जी सीता माता की खोज करते हुए लंका जा पहुँचे। उन्होंने श्री रामचंद्र जी द्वारा प्रदत्त अंगूठी सीता जी को स्मृति-चिह्न के रूप में दी :

दै मुंदरी प्रबोध करि आएसु लेइ।[4]

अशोक वाटिका में सीता जी को पूर्ण रूप से हनुमान जी ने विश्वास दिलाया कि श्री रामचंद्र जी शीघ्र ही आततायी रावण को मारकर आपके सब दुःख दूर कर देंगे। हनुमान जी ने सीता जी की स्मृति-चिह्न चूड़ामणि रामचंद्र जी को लाकर दी :

---

१. रामलला नहछू १६
२. बरवै रामायण, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, छंद ४०, पृष्ठ ५६।
३. बरवै रामायण, अ प्रति का पाठ, पृष्ठ ९८।
४. बरवै रामायण पृष्ठ १०२

जनक सुतहि समुझाएउ कपि कर जोरि।
लेइ चूरामनि हरषित चलेउ बहोरि।[१]

बरवै रामायण की कुछ अन्य प्राप्त प्रतियों[२] में तुलसीदास जी ने सीता जी के श्रृंगार का वर्णन विशेष रूप से किया है। केशों के श्रृंगार का भी उल्लेख दिया गया है :

केस मुकुट सखि मरकत मनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत।[३]

सीता जी के सुंदर, शोभामय, सुखद एवं सौरभ युक्त शरीर का भी चित्रण किया है :

सम सुबरन सुखमा कर सुखद न छोर।
सीय अंग, सखि! कोमल, कनक, कठोर![४]

तुलसीदास जी ने सीता जी के गले में पड़े हुए चंपे के हार का व्यतिरेक अलंकार का उदाहरण देते हुए अत्यंत कुशलतापूर्वक उल्लेख कर दिया है। चंपे का हार सीता जी के अंग के वर्ण से मिलता हुआ है, किंतु चंपा का फूल समय पाकर कुम्हला जाता है, और सीता जी का अंग-वर्ण सदा उसी प्रकार का बना रहता है। यह विशेषता अन्य किसी भी कवि के ध्यान में नहीं आयी :

चंपक हरवा अंग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हियरे जब कुंभिलाइ।[५]

वे पुनः चंपे के हार का वर्णन अन्य प्रकार से करते हैं :

सिय तुव अंग रंग मिलि अधिक उदोत।
हार बेलि पहिरावों चंपक होत।[६]

उस समय भाल पर 'कुंकुम का तिलक' लगाया जाता था और कानों के कुंडल अपूर्व शोभा बिखेरते रहते थे :

(क) कुंकुम तिलक भाल प्रति कुंडल लोल।
काक पच्छ मिलि सखि! कस लसत कपोल।[७]

---

१. बरवै रामायण पृष्ठ १०२ २. बरवै रामायण परिशिष्ट भाग
३. ४. बरवै रामायण परिशिष्ट भाग, पृष्ठ १२७
५. ६. बरवै रामायण, पृष्ठ १२७ ७. बरवै रामायण, पृष्ठ १२७

(ख) भाल तिलक सर सोहत भोह कमान।
मुख अनुहरिया केबल चंद समान।[1]

सीता-हरण के पश्चात् श्री रामचंद्र जी मानव की भाँति विरह में कह देते हैं :

सीय बरन सम केतिक अति हिय हारि।
बिहंसि कहेसि भवंर कर हरवा हृदय बिदारि।[2]

सुंदरकांड में सीता जी हनुमान जी से कहती हैं कि अब यदि रामचंद्र जी शीघ्र नहीं आते हैं, तो अब मेरे जीवन की कोई आशा न करें। विरहावस्था में सीता जी की छोटी उँगली की मुंदरी कंकन के समान होगई है। यहां तुलसीदास जी ने विरह की चरम सीमा का आभास एक पंक्ति में ही दे दिया है :

अब जीवन के है कपि आस कोई।
कनगुरिया के मुंदरी कंकन होई।[3]

इस प्रकार राम-काव्य-धारा के प्रतिनिधि कवि तुलसीदास के साहित्य में नारी के सहज, स्वाभाविक और सरल सौंदर्य का चित्रण तो मिलता ही है पर उसके सभी बाह्य अलंकारों का उतना वर्णन नहीं है। वस्त्रों में चूनरी, कुसुंभी रंग की साड़ी, हाथों में नग जटित कंगन, चूड़ामणि तथा मुद्रिका और पैरों में नूपुर का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। कटि में किंकिनि और कंठ में पुष्पहार का सुंदर वर्णन किया गया है। केश-रचना का विवरण भी मिलता है। केशों में मोतियों को गूँथने की भी चर्चा की गई है।

---

१. बरवै रामायण, पृष्ठ १२७-२६ २. ३. बरवै रामायण, पृष्ठ १३०

डॉ० शिवबालक शुक्ल

तुलसी का व्यंजना-कौशल

सांप्रतिक युग में जब पुस्तकारंभ में ग्रंथ-प्रणेता अवतरणिका, प्राक्कथन या प्रवेशिका प्रभृति कोई शीर्षक देकर अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर देता है तो हमें उसकी रचना के समझने में आयास-विशेष की उपेक्षा नहीं रहती। अतएव गोस्वामी जी के काव्य का अनुशीलन करते समय हमें उनकी काव्य-विषयक मान्यताओं पर दृष्टि रखनी ही पड़ेगी। यह सत्य है कि :

कविः करोति काव्यानि स्वादं जानाति पण्डितः

परंतु यह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण सत्य है कि 'तसनीफ रा मुसन्निफ नेको कुनद बयाँ।' तब तुलसी ने कविता का प्रतिमान क्या रखा है, यह देखना उचित है। 'मानस' की भूमिका में उन्होंने लिखा है :

कीरति, भनिति, भूति भलि सोई। सुरसरि-सम सब कहँ हित होई।[1]
जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो स्रम बादि बाल-कवि करहीं।[2]
मनि-मानिक-मुकुता-छबि जैसी। अहि-गिरि-गज-सिर सोह न तैसी।
नृप-किरीट तरुनी-तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई।
तैसेहि सुकबि कबित बुध कहहीं। उपजहिं अनत, अनत छबि लहहीं।[3]

उद्धृत अर्द्धालियों से तीन निष्कर्ष निकलते हैं। प्रथम यह कि कविता से सभी का हित उसी प्रकार होना चाहिए जिस प्रकार गंगा-स्नान से प्राप्त

१. मनस १।१४।५ २. मानस १।१४।५
३. मानस १।११।१-२

फल । स्पष्ट है कि गंगा में स्नान करने वाले रुचि-अनुसार वांछा रखते हैं। बंध्या अपत्य की कामना करती है, कुमारियाँ सुपत्याशंसिनी होती हैं और रोगी स्वास्थ्य-लाभ का अभिलाषुक होता है। 'सब कहँ हित' का आशय सभी का कल्याण समान रूप से नहीं है। कल्याण होगा उनके निजी ढंग का।

कविता के प्रमेयोपाद्यसाध्य की यह तो हुई साधारण प्रतिज्ञा। अब दूसरा निष्कर्ष लीजिए। जिस प्रबंध का आदर विद्वान न करें उसके रचयिता का बाल-प्रयास व्यर्थ है। हितकारी होने पर भी बहुत-सी बातें आदरणीय प्रतीत नहीं होतीं। अन्यथा हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः का फतवा क्यों दिया जाता? विपश्चितों द्वारा समादृत होने के हेतु उसमें किसी अन्य गुण का सन्निहन समपेक्षित है। यह हुई मुख्य प्रतिज्ञा। अब तृतीय निष्कर्ष अथवा रचना पर आइए। कविता के प्रादुर्भाव और प्रभाव के स्थल अलग-अलग हैं। कविता निकले तो कवि-हृदय से परंतु रसार्द्र करे जन-मानस। भले ही कवि को लोग गंधक की उस खान की भाँति भूल जायँ, जहाँ से गंगाजी का रोग-कीटाणु नाशक जल स्रवित होकर आता है परंतु (जल को नहीं) कविता को नहीं। तुलसी आज से प्रायः ४०० वर्ष पूर्व अपनी मुक्त-हृदयता का परिचय दे चुके हैं। आज का आलोचक उसे 'विशुद्ध अनुभूति' मात्र कहता है। अज्ञेयजी उसे अपने भावों का निर्व्यक्तीकरण (depersonalization) कहते हुए कवि के मन को वह भट्ठी समझते हैं जिसकी ऊष्मा से विविध तत्त्व-निर्मित धातुएँ मिलकर एक रस हो जाती हैं, किंतु भट्ठी अपने स्वामी तथा उन धातुओं से कोई संबंध नहीं रख पाती। इलियट का प्लेटिनम का तंतु (जो सल्फर डायोक्साइड तथा ऑक्सीजन गैसों को सलफ्यूरस एसिड में परिवर्तित कर देता है) अज्ञेयजी की भट्ठी, शुक्लजी की हृदय की मुक्तावस्था तुलसी के 'अनत अनत' के मेल में है।

तथाकथित विद्वानों की विनम्रता का गांधीवाद उनके खोखलेपन पर पर्दा डाल देता है किंतु तुलसी ने अपनी प्रकृत शालीनता की लपेट में जो विद्या-विवेक-विनम्रता प्रकट की है उसे वाच्यार्थ रूप में ग्रहण करना अनुचित होगा। लिखते हैं:

आखर, अरथ, अलंकृति नाना। छंद, प्रबंध अनेक बिधाना।
भाव-भेद रस-भेद अपारा। कबित-दोष-गुन बिबिध प्रकारा।
कवित-बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे।[1]

---

१. मानस १।६।५-६

कोरे कागजों पर सत्य लिख रहे हैं, यह सत्य है। परंतु 'कोरे कागद लिखि' सौगंध खाना कि 'कवित विवेक·······मोरे' बाबा जी का सफेद झूठ है कारण कि ध्वनि और वक्रोक्ति की बारीकियों की ओर संकेत करने का लोभ उन्होंने संवरण नहीं किया :

धुनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती।[1]

और फिर

अरथ अनूप, सुभाव, सुभाषा। सोइ पराग, मकरंद सुबासा।[2]

इससे दो बातें प्रकट होती हैं। एक तो 'कवित·······मोरे' का मिथ्यात्व। सत्य कहने से 'सब कहँ हित' की बात और धुनि, अवरेब, अरथ, सुभाव, और सुभाषा आदि से आलोचना के मान्य सिद्धांत का समर्थन।

गोस्वामी जी ने कहा, 'रामकथा जग मंगल करनी' तो है परंतु मेर क्या है उसमें ? कहीं रसवादी नंदिकेश्वर या भरत का संप्रदाय कुछ प्रश्न कर बैठा, या भामह और उद्‍भट की परंपरा के अलंकारवादी बिगड़े, 'मेरे लिए रामचरित चिंतामणि कैसे है ?' वामन की रीति और कुंतक की वक्रोक्ति के अनुगामी पूछ सकते हैं, 'हमारे लिए तुम्हारे मानस में कौन सा घाट है, जहाँ विश्राम मिलेगा ? आनंद वर्द्धनाचार्य के मतानुयायी मुँह बनाकर बोल उठें, 'सुना तुम्हारा राँझा भई।' 'संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी' परंतु सुमति में हमारी ध्वनि भी तुम भर सकते हो ? आदि और तुलसी ने सभी को उन्हीं के मत में उत्तर दिया है। ध्वनि को मीन बताकर फिर यथासंख्य द्वारा अर्थ, भाव के पूर्व 'सु' सार्थक शब्द जोड़कर उसे क्रमशः पराग, मकरंद, सुवास माना है। इस प्रकार तुलसी ने काव्य के आभ्यंतर, अभिव्यक्ति दोनों पक्षों का अथवा स्वरूपाधायक तथा उत्कर्षाधायक विधानों का सामंजस्य दिखा दिया है।

जैसे सागर में उसका अपना जल विद्यमान रहता है फिर भी अनेक सरिताएँ विभिन्न स्थानों से बहकर सहज ही उसमें मिल जाती हैं वैसे ही कवि के व्यक्तित्व का अपना महत्त्व तो होता है फिर भी विश्व के नाना कार्य-व्यापार, जागतिक अनुभूतियाँ, आसक्तियाँ, वैयक्तिक मूल-भावनाएँ तथा अरूप संवेदनाएँ, जीवन के प्रयोग तथा लोकनिपुणता भी उससे संघटित होती

१. मानस १।३७।४ २. मानस १।३७।३

हैं। और जैसे लूता अपने जाल में फँसा रहकर भी मकड़ी तथा अन्य पतिंगों को उसमें फाँस लेता है वैसे ही प्रत्येक कलाकृति में उसके सृष्टा का व्यक्तित्व (निःसंदेह ऊर्णनाभ की भाँति) के अतिरिक्त प्रातिभ प्रयासों के परिणाम-स्वरूप संसार की सारी विधाएँ, कलाएँ सहज ही आ उपस्थित होती हैं। तुलसी ऐसे ही कलाकार हैं।

(२)

पहले उनकी 'सुभासा' को लीजिए। उनकी भाषा में कितने शब्द अवधी के हैं, कितने ब्रजी, बुंदेलखंडी, बघेली, अरबी, फारसी, मराठी, पंजाबी और राजस्थानी के हैं, ऐसी तालिका के हेतु न यहाँ अवकाश है और न अपेक्षा ही। हाँ, इस संबंध में इतना कहना संगत है कि तुलसी ने उत्तरप्रदेश के निवासियों के वैविध्यपूर्ण वेश-विन्यास की भाँति अनेक भाषाओं के शब्द निःसंदेह ग्रहण किये हैं। मृगराज के वजन पर 'बाज' को संस्कृत की विभक्ति सहित प्रयुक्त करने में आर्यसमाजी बुद्धिसंवंधिनी उदारता दृष्टिगोचर होती है और 'शरीक' से शिरकत के स्थान पर 'सरीकता' का प्रयोग अपश्रुत्यपेक्षी को संस्कृत-प्रत्यय से विभूषित करना हुआ। पंजाबी का 'सिखर' मराठी का 'फोकट' और फारसी का 'दरिया' शब्द देखिए :

खाँहि मधुर फल विटप हलावहिं। लंका सम्मुख सिखर चलावहिं।[1]

नित्य पाठ करनेवाले 'मानस' के इस सिखर का अर्थ पर्वत-शिखर ही करते हैं। ठीक भी है। बलवान बंदर पर्वतों की चोटियाँ (पर्वत-शिला अधिक ठीक रहेगा) चलाते होंगे तो आश्चर्य क्या है ? किंतु फल खाकर गुठलियों को दूसरे के समक्ष आज भी विकसित रूप वाले बानर कर दिया करते हैं। फिर बंदर का मनुष्य को खिझाना, डराना, कपड़ों को उठाकर ले आना और शीशे को ले जाकर उसमें मुहर्मुह अपना मुँह देखना आदि नैत्यिक कार्य हैं। तब रावण को चिढ़ाने के हेतु फल खाकर जूठन को लंका की ओर फेंकने में उनका लक्ष्य स्पष्ट है। 'फोकट' का मराठीपन तो न जाने कब का समाप्त हो गया है। 'कवितावली' उत्तराकांड में 'सब फोकट साटक है तुलसी' कहा गया है। तुलसी ने इसे निस्सारता के अर्थ में प्रयोग किया है। प्रायः यह मुफ्त के रूप में प्रयुक्त होता है। उसी कांड के ४६ वें सवैये का अंतिम चरण है :

तजि आस भो दासु रघुप्पति को दशरथ्थ को दानि दया दरिया।[2]

चूँकि प्रत्येक शब्द अपने साथ अपनी भाषा के संस्कार तथा विशिष्ट

१. मानस ६।५३ २. कवितावली ६।४६

पर्यावरण से युक्त रहता है अतः तुलसी के इस 'दरिया' शब्द के साथ राम की दरियादिली प्रकट है। तुलसी के 'कु' और 'सु' एकाक्षरी शब्दों का भी कम महत्व नहीं है। गायक माधुर्य लाने के हेतु अपने स्वर को नासिका से निकालते हैं। 'कवितावली' के सहज माधुर्यपूर्ण सवैये का एक चरण लीजिए :

तुलसी मन-रंजन रंजित अंजन नैन सुखंजन जातक से।[1]

'तु' से लेकर 'से' तक यह चरण कई बार उठा और पाठक की रसना-रसा पर रखा गया। आनंदोल्लास और भावाह्लाद के क्षणों में शब्द रुक-रुक कर निकलते हैं और इसके हेतु चौपय्या, त्रिभंगी आदि छंद प्रयुक्त हुआ करते हैं। परंतु यहाँ दुर्मिल में सगण की अंतिम मात्रा के साथ पैर की वायु में उठान द्योतित है तथा मध्यवर्ती सानुप्रासिक मन, जन (तीन बार) के प्रयोग नर्तकी के पद-नूपुरों की छम के समान उच्चरित होते हैं। बात 'सु' की चल रही थी। नेत्र खंजरीट से नहीं जातक से हैं। और वह भी जातक जिसके माता-पिता अच्छे हों। कौसल्या तथा दशरथ जैसे पितरों की संतान के नेत्र सुखंजन-जातक से ही होंगे। 'सु' की सार्थकता स्पष्ट है।

वन-गमन-वेला में तुलसी लक्ष्मण के हेतु सुबंधु और सीता के लिए पुनीत विशेषण प्रयोग में लाये हैं। सुमित्रा ने पुत्र से कहा, 'तुम्हारे ही भाग्य से राम वन को जा रहे हैं, किसी अन्य कारण से नहीं, हमारी सपत्नी का दुराग्रह भी इसमें नहीं है।' लक्ष्मण शेषावतार थे और पृथ्वी अनाचार-दृप्त राक्षसों के अत्याचारों से बोझिल थी जो शेष-फन पर टिकी है। अतः लक्ष्मण के कष्ट का परिहार राक्षस-संहार में ही सन्निहित था और राम थे लक्ष्मण के एक स्वामी जिनके आगे उन्हें 'कीरति, भूति, सुमति' कुछ भी प्रिय न थी। तभी तो वे उस नवोढ़ा को बागुर-विषम तोड़कर मृग-सदृश भाग गये। संसार एक ओर और लक्ष्मण की अविवेकी पुरुषों की शरीर-सेवा जैसी राम के प्रति अंधभक्ति, हाँ अंधभक्ति ही (राम के लिए ही तो वे पिता और भरत से भाई पर टूट पड़े थे, यह विवेकांधता ही थी न !) दूसरी ओर थी। उन्हें राम प्यारे थे, 'कामिहि नारि पियारि जिमि'।[2] हाँ तो यह 'सु' किसी राजगीर के हाथ से आवश्यकता-

१. कवितावली १।१

२. आचार्य शुक्ल अथवा अन्य समीक्षकों की उठाई हुई आपत्ति का इस विवेचन से बहुत अंशों में समाधान हो जाता है। 'कामिहि नारि पियारि जिमि' तथा 'जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहिं' से राम के प्रति निष्ठा की तीव्रता का द्योतन है। पूर्वापर प्रसंग इनकी उपमाओं के संबंध में सदा मननीय है—लेखक

नुसार काटी गई ईंट का भाग नहीं है, अपने छोटे साँचे में ढली हुई ईंट है, अपने में पूर्ण अपनी लघुता में महान्। यह छंद की पूरक रबड़ की टाँग नहीं उसी का अंग है।

तुलसी बड़े समवधान कलाकार हैं। उन्हें अंग्रेजी के Handsome और Beautiful शब्दों के भेद की भाँति रूप और छवि के सूक्ष्म अंतर का ज्ञान है। लिखा है :

राम-रूप अरू सिय-छवि देखी। नर नारिन्ह परिहरी निमेखी।[1]

राम ने सीता तथा रूप ने छवि का वरण किया। शब्द-शोधन ने इस सटीक कल्पना में प्राण डाल दिये हैं।

तुलसी के शब्दों में टीकाकार तथा कथावाचक प्रायः चमत्कार दिखाते हैं। नीर, अंबु, जल और पानी के प्रयोग की सार्थकता पर बल देते हैं। इस संबंध में सबका दृष्टिकोण एक कैसे हो सकता है? फिर भी उनके शब्दों का महत्त्व है। तुलसी की भाषा में पंडितों की सुखद संस्कृत के तत्सम शब्दों का वैपुल्य है। विनयपत्रिका इसका उदाहरण है परंतु लोक-जीवन में वह श्वासोच्छ्वास लेना नहीं चूकती। भावानुरूप भाषा उनकी प्रमुख विशेषता है। अब तुलसी के केवट को देखिए। बड़ा चतुर है। राम के चरणों को प्रक्षालित करना उसका लक्ष्य है। किंतु उसकी एक आशंका इस प्रकार है, 'यदि मैंने इनको नाव न दी तो जो पाषाणी को स्त्री बना सकने की क्षमता रखते हैं वे किसी प्रकार (मेरे घाट को छोड़कर ही सही) गंगा पार कर ही लेंगे अतः 'कवितावली' में उसकी पूर्व बंदिश देखिए :

ऐहि घाट तें थोरिक दूरि अहै, कटि लौं जल, थाह दिखाइहौं जू।[2]

'सरकार! इस समय एक मेरी ही नाव यहाँ है और आपको पार जाना ही है। तो जो मैं चाहता हूँ वह आप करेंगे ही। यदि पैर बिना धोये नाव पर चढ़े तो आप पर भी आ बनेगी। नाव यदि स्त्री बन गई तो मेरी रोजी का साधन तो चला ही जायगा आपका भी मार्ग अवरुद्ध हो जायगा :

तुलसी जनि पग धरहु गङ्ग महँ साँच,
निगानांग करि नितहिं नचाइहि नाच।[3]

गंगाजल में खड़े होकर केवट ने सौगंध खाई, 'मेरे मालिक यदि नाव स्त्री बन गई तो मेरी अध्यूढ़ा, दूसरी स्त्री को मेरे साथ देखकर, मुझे नंगा करके

---

१. मानस १।२४६।१ २. कवितावली २।६ ३. बरवै रामायण २।२४

नित्य नचायेगी। दो स्त्रियों वाले पतियों की क्या दशा होती है, क्या इसे अंतर्यामी राम नहीं जानते थे।[1] तीन माताओं के कारण ही तो राम नाविक से गंगा उतरने के हेतु मनुहार कर रहे हैं। दूसरी पंक्ति की यह ध्वनि ध्वनि-अध्वनीनों को विशेष आनंद देगी। आखिर वह धीवर ही था।

पात्र और प्रसंगानुकूल भाषा का एक उदाहरण 'श्रीकृष्ण गीतावली' से लीजिए :

अब ब्रजवास महरि किमि कीबो।
दूध दह्यो माखन ढारत हैं, हुतो पोसात दान दिन दीबो।
अब तौ कठिन कान्ह के करतब, तुम हौ हँसति कहा कहि लीबो।
लीजै गाउँ, नाउँ लै रावरो, हैं जग ठाउँ कहूँ ह्वै जीबो।
ग्वालि बचन सुनि कहति जसोमति, भलो न भूमि पर बादल छीबो।
दैअहि लागि कहौं तुलसी प्रभु, अजहुँ न तजत पयोधर पीबो।[2]

'नंदरानी जी ! तुम्हारा कन्हैया जब तक दान माँगता रहा, ठीक था, जो दिल में आता था, दे देती थीं। 'पोसातु' देशज अपरिवृत्तिसह प्रयुक्त होने के कारण कितना मनोहर है ? किंतु 'अब तौ कठिन कान्ह के करतब'। बेचारी अहीरिन ने अभी गोल-मोल ही बात कही थी कि नंदरानी उसकी बारीकी को (सूक्ष्म अलंकार है न यहाँ ?) ताड़कर हँस दीं। बेचारी ने जो यह देखा कि उपालंभ सुनकर ये हँस रही हैं तो मोनोलॉग से प्रभावित विवशतापूर्ण क्रोध और झुँझलाहट के स्वर में बोल उठीं, 'संसार में तुम्हारे नाम पर अन्यत्र जीवन काट लूँगी' यशोदा जी ने कहा, 'भलीमानस ! तू क्या राँझा पूर रही है, धरती पर बादल न उतार। यह तो अब भी मेरे स्तनों को मुँह में डाल लेता है। मेरे दुध मुँहे पर यह आरोप।

सुनु अदभ्र करुना-बारिज लोचन मोचन भय भारी।[3] और
तुलसिदास हरि-गुरु करुना बिनु बिमल बिवेक न होई।[4]

करुणा रसमय है, जलरूप है। अतः विवेक पर जमी मैल की पर्तें तभी छूटेंगी जब उसका प्रयोग होगा। साधारण तालाब के जल से धुले हुए वस्त्र साफ तो क्या और अधिक गंदे हो जाते हैं, अतः विवेक को हरि-गुरु के पाताल-तोड़ कुएँ के करुणाजल से धोना संगत है।

१. कइसे जियँइ राम जिनके दुइ दुइ नारी (अवधी)
दो दो मेहरिया का मारा हो कैसे जियला विचारा (भोजपुरी)
२. श्रीकृष्ण गीतावली ६ ३. विनयपत्रिका ११३
४. विनयपत्रिका ११५

स्थित्यनुसार शब्द स्वतः स्फूर्त्त प्रेरणा से फूट पड़ते हैं।[1] राम, सीता को अवध में किसी प्रकार रह जाने के लिए फुसला रहे थे। उनके पर स्वयं मिथ्या दर्प (Vanity) का आरोप कर उसे सहला रहे थे :

राजकुमारि सिखावन सुनहू। आन भाँति जियँ जनि कछु गुनहू।[2]

राजकुमारि ! तुम्हें यहाँ अकेली छोड़ रहा हूँ। कुछ अन्यथा मत सोचना कि तुम्हारी उपेक्षा कर रहा हूँ। वन में स्वतंत्र हो जाऊँगा। आज के राम समुद्र-पार करके यदि पूर्ण स्वच्छंद न हो सकें, तो उनकी घोर पराजय है। पर सीता राम की शिक्षा को प्रतिकूल ही समझ रही थीं फलतः सर्वांतर्यामी राम ने सीता को स्त्री के अवसरोचित पर्याय से संबोधित किया :

जौं हठ करहु प्रेम बस बामा। तौ तुम्ह दुख पाउब परिनामा।[3]

राम ने हँसी में भी सत्य ही कहा है। यहाँ भावी घटनाओं का पूर्वाभास पाठक को मिल गया। वामा की परिकरांकुरता सीता की स्थिति के गले की चंपकमाल बन गई।

(३)

ग्रियर्सन का एक पुराना वाक्य 'Tulsi is a tactful writer' आपको स्मरण होगा। वाणी उनकी अनुगामिनी है, वे वश्यवाक् हैं। किंतु स्वयं तुलसी के मत में राम कवि के उर-अजिर में दारु-नारि के समान वाणी को नचाते हैं। देखिए मरणासन्न दशरथ की छाया तुलसी की प्रतिभा के लेंस से होकर हृदय के पत्रक पर बहुत साफ पड़ी है। मानस की चित्रशाला के इस चित्र की परछाई कौन छू सकता है :

इंद्री सकल बिकल भइँ भारी। जनु सर सरसिज बनु बिनु बारी।
कौसल्याँ नृप दीख मलाना। रबि कुल रबि अँथयउ जियँ जाना।[4]

इंद्रियों की विकलता उत्प्रेक्षा की क्लांत और विषण्ण रेखाओं द्वारा उरेह दी गई है। इंद्रियों के हेतु सरसिज उपमान प्रयुक्त है। पानी तो वहाँ था नहीं। सुमंत राम को न लाकर दशरथ-चीता 'मरन-अमिअ' ही ले आये। शरीर के सभी अंगों से प्राण छूट चुका है। वह मृत्यु की संध्या-बेला में कंठ-तरुशिखा पर विराज रहा है। वदन-वारिज, नयन-नीरज, शय-कुशेशय, अंघ्रि-अंबुज सभी मलिन पड़ गये।

---

१. गोस्वामी तुलसीदास की भावुकता, साहित्य संदेश, अक्टूबर १९५२, पृष्ठ १४६
२. मानस २।६१।१ ३. मानस २।६२।२ ४. मानस २।१५४।१-२

भरत जी ने राम के समकक्ष चित्रकूट में चार विकल्प रखे हैं। यद्यपि उनके उन विकल्पों में आपाततः कोई विशेषता भासित नहीं होती। किंतु गहराई से विचार करने पर भरत के प्रत्येक विकल्प से तुलसी की सजगता प्रकट होती है। वसिष्ठजी ने राम से कहा :

भरत बिनय सादर सुनिअ, करिअ बिचारु बहोरि।
करब साधुमत, लोकमत, नृपनय निगम निचोरि।[1]

और भरत की विनय साधुमत-परक, लोकरीतिपूर्ण, राजनीतियुक्त तथा निगमागम-सम्मत थी :

सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ।[2]

यह साधुमत था। कारण कि वसिष्ठ जैसे साधु ने इस प्रस्ताव का मसौदा तैयार किया था :

तुम कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिअहि लखन सीय रघुराई।

लोकरीति कहती है कि छोटे घर में रहें, बड़े बाहर जायँ। कवितावली में सीताजी ने इस प्रसंग के पूर्व 'लक्खन' को लरिका होने का सर्टिफिकेट दे दिया था, अब भरत उसी को इंडोर्स कर रहे हैं, 'घर फेरिए लखन लरिका हैं।' और मानस में कहा है :

न तरु फेरिअहिं बंधु दोउ, नाथ चलौं मैं साथ।[3]

यह 'निषेध' आक्षेपपूर्ण है जिसमें अपने वन-गमन की बात वे नहीं भूलते। वसिष्ठ-द्वारा इंगित-नृप-नय भी भरत की गिरा में अंतर्हित है :

नतरु जाहिं बन तीनिहु भाई। बहुरिअ सीय सहित रघुराई।[4]

इस नृप-नय पर राम को क्षोभ हुआ कि बड़ा राज्य करे। इस प्रकार की राजनीति के संबंध में मानस में उन्होंने कहा है :

बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बन्धु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू।[5]

और अंतिम विनय वेद-सम्मत है कि भगवान जो चाहते हैं, करते हैं। वे 'जग पेखनि देखनि हारे हैं।' अतः भरत ने कहा :

जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई। करुना सागर कीजिअ सोई।[6]

इतनी विचार गर्भ बातें 'प्रबंधोदुरुदाहर': का ध्यान रखने वाले तुलसी के भरत कर सकते थे। 'आक्षेप' का मात्र प्रश्रय है यहाँ और न अन्य अलंकार

---

१. मानस २।२५८ २. मानस २।२६८ ३. मानस २।२६८
४. मानस २।२६९।१ ५. मानस २।१०।४ ६. मानस २।२६९।१

हैं, न ध्वनि, न रीति, न वक्रोक्ति ही। मुनि वसिष्ठ तथा हनुमान मौन हो गये हैं। व्यतिरेक के पुट द्वारा भरत-महिमा-महार्णव अधिक महान् है :

यह जलनिधि खन्यो, मथ्यो, लँघ्यो, बाँध्यो अँचयो है,
'तुलसिदास' रघुवीर-बंधु महिमा को सिंधु तरि को कवि पार गयो है।[१]

(४)

थोड़े में अधिक बात कह कर तुलसी ने शब्दों का सद्व्यय किया है। फलतः उनके साथ पाठकों को भी पुत्र-जन्म-जन्य आनंद का अनुभव होता है। क्या और कितना कहना है, इसका ध्यान गोस्वामी जी को बराबर रहता है। सीता से भेंट करके लौटे हुए हनुमान से राम ने पूछा :

कहहु तात केहि भाँति जानकी। रहति करति रच्छा स्वप्रान की।[२]

उत्तर था :

नाम पाहरू दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कपाट,
लोचन निज पद जंत्रित, जाहिं प्रान केहिं बाट ?[३]

जानकी के रहने की शैली, प्राणरक्षा का ढंग इन दोनों प्रश्नों के उत्तर कितने संक्षेप में दिये गये हैं ? यद्यपि हनुमान ने वियोगिनी सीता को उस रूप में देख लिया था जिसको श्रृंगार युगीन कवियों ने ऊहात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है, परंतु तुलसी का लुहार 'दीनदयाला' और 'करुणानिधि' की चोट से प्रेमाख्यानकारों श्रृंगारियों के सौ-सौ सुनारों की सौ-सौ चोटों को मात कर देता है।

राम, अंगद को रावण के पास भेज रहे हैं। वैसे दूतों को सिखा दिया जाता है कि उन्हें क्या कहना है किंतु राम अंगद से कहते हैं :

बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहऊँ। परम चतुर मैं जानत अहऊँ।
काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेउ बतकही सोई।[४]

अंगद और रावण के बीच केवल बतकही हुई है। पादारोपण हुआ है, 'समुझ राम-प्रताप'। आखिर बतकही की कहीं समाप्ति भी तो होनी चाहिए थी। बतकही शिरोबिंदु पर पहुँच चुकी थी अतः वाग्मिता के बाद पद रोप कर सेवक की शक्ति की परिचिति देकर स्वामी के अद्भुत पराक्रम की ओर संकेत किया गया। इस व्यंजना में मात्रा बोध के साथ प्रसंग-संगति का भी

---

१. गीतावली ६।११।५ २. मानस ५।३०।४ ३. मानस ५।३०
४. मानस ६।१७।४

अच्छा निर्वाह है। ठीक इसी प्रकार अंगार माँगने की अशोक से सीता की मनुहार पर महावीर ने मुद्रिका गिराई है।

(५)

सौंदर्यानुभूति के व्यंजक उपकरणों का भी महत्त्व देख लीजिए। आराध्य दंपती के रूप पर रीझे हुए कवि ने लिखा :

दूलह राम सीय दुलही री।
× × × ×
सुषमा-सुरभि सिंगार-छीर दुहि मयन अमिय मय कियो दही, री।
मथि माखन सिय-राम सँवारे, सकल भुवन-छबि मनहुँ मही, री।
'तुलसीदास' जोरी देखत, सुख, सोभा अतुल, न जाति कही, री।
रूपरासि बिरची बिरंचि मनु, सिला-लवनि रति-काम लही, री।[२]

उदाहृत पद में टेक के बाद की दो पंक्तियों के सौंदर्य को 'मानस' में अवगाहन करने वाले निरख-परख चुके हैं। कितने अलंकार रूप-वर्णना में प्रयुक्त हैं और उत्प्रेक्षण इस बात का है कि संसार मट्ठा है। रेखागणित के अवाध्योपक्रम[३] की भाँति इसे सत्य मानना होगा। आधुनिक भाषा में और खुलकर कहें तो राम और सीता के रूप को क्रीम और चौदह भुवनों के सौंदर्य को स्यपरेटा समझिए और जब इससे संतुष्टि न हुई तो सुंदरता के प्रसिद्ध उपमानों की खबर ली। ब्रह्मा की सृष्टि में सीता तथा राम का सौंदर्य किसी कृषक के खेत की अन्नराशि है। खेत-काटते समय जो दाने खेत में गिर गये हैं वे रति को तथा कटाई की मजदूरी कुछ मुट्ठे (गेहूँ आदि के सवाल बाल) काम को मिले हैं। सिला (विशेष-कर गेहूँ, जौ आदि की कटाई के समय की गिरी हुई बालें) चुनने का काम गाँवों में छोटी जाति की दीन स्त्रियाँ किया करती हैं और कटाई के कार्य में नियुक्त मजदूरों का विशेष नाम 'होरिहार' की भाँति लौनिहार होता है। इन अनाजों के प्रति बीस मुट्ठे पर एक मुट्ठा लौनिहार को दिया जाता है, यही लवनि है। पद में युग-युग प्रथित उपमानों रति, काम को क्रमशः सिला, लवनि मिली है। कवि-निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति सिद्ध अलंकार से अलंकार व्यंग्य है। सखी कवि-निबद्ध पात्र है। उत्प्रेक्षा द्वारा भुवन छवि को मही तथा रति, काम को सिला, लवनि पाने वाला बताना

२. गीतावली २।१०६
३. वे क्रियाएँ जिनके हेतु मान लिया जाता है कि इनकी सही शुद्ध रचना हो सकती है भले ही पारिभाषिक दृष्टिकोण से यह रचना संतोषप्रद न हो।

प्रोढ़ोक्ति है। अर्थापत्ति अलंकार की ध्वनि है कि जब मजदूरिन तथा मजदूर इतने सुंदर हैं तब रूपराशि-संपन्न कितने सुंदर होंगे।

कृषक-जीवन के साधारण दृश्यों से गृहीत उपमानों द्वारा तुलसी का यह सौंदर्य-निरूपण काव्यात्मकता का जीवंत तथा रसार्द्र स्पंदन करता है। कहना न होगा कि तुलसी की ये उपमाएँ—हाँ उपमाएँ ही—(उपमा चित्र मीमांसाकार अप्यय दीक्षित के अनुसार काव्यमंच की शैलूषी है न) परंपरागत उपमानों से न विलसित होकर साधारण लोक-जीवन से ली गई है।

प्रसंगवश इतना कहना असंगत न होगा कि तुलसी अपनी उपमाओं को लोक-जीवन से ऐसे उठा लेते हैं जैसे सुर्ती खाने वाले निकटस्थ व्यक्ति द्वारा मली गई तंबाकू को बेतकल्लुफी के साथ उठा लेते हैं।

(६)

तुलसी का काव्य-कौशल रसों, ध्वनियों, शब्द शक्तियों, छंदों तथा अलंकारों के समुचित प्रयोग से निखर उठा है। कुछ उदाहरणों द्वारा इन उपकरणों के सुंदर प्रयोग की ओर संकेत किया जायगा। कवितावली का एक छंद पठनीय है :

जल को गये लक्खन हैं लरिका, परिखौ, पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ, बयारि करौं, अरु पाँय पखारिहौं भूभुरि-डाढ़े।
तुलसी रघुबीर, प्रिया-स्रम जानि कै, बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।
जानकी, नाह को नेह लख्यौ, पुलको तनु बारि बिलोचन बाढ़े।[1]

इस छंद में, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में, 'क्या नहीं है ?' 'लक्खनु', 'घरीक' 'भूभुरि' आदि से तुलसी की शब्द संहिति ही नहीं, प्रसंग, भावानुकूल भाषा का प्रयोग लक्षित है। 'लरिका' लक्खनु नाम का सुंदर पूरक है। सीता का श्रम, पुलकोतन, 'बारि बाढ़े बिलोचन' में सात्विक अनुभाव विद्यमान हैं। रसवादियों को पुलक विह्वल हो जाना चाहिए। आभ्यंतरिक भावों के उद्गीरण में कैसी भाषा अपेक्षित रहती है, कलावादी इसे पढ़कर आवेगाकुल हो उठता है। और पिहित अलंकार तो संयोग शृंगार की प्रमोद वनिका में रति स्थायी भाव; श्रम, आनंदाश्रु आदि सात्विक अनुभावों तथा खीझ और प्रसाद आदि नये संचारियों के रंग बिरंगे उत्फुल्ल प्रसूतों में तितली बन गया है। अपने अभिप्रेत को प्रकट करते के हेतु स्वभावज अनुभावों में १९ वाँ बोधक अलंकार (इसे साधारण अलंकार में न समझिएगा)

---

१. कवितावली २।१२

प्रयुक्त है। काँटे की बात कहने के लिए यहाँ स्थान कम है।[1] तारा का रोदन, मंदोदरि का विलाप तो आपने सुना है। लक्ष्मण वियुक्त राम की स्थिति भी देख लीजिए :

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
बिपति बटावन बंधु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको।
सुनु, सुग्रीव! साँचेहू मोपर फेलो बदन बिधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यौ लखन सो भ्राता।
गिरि, कानन जैहैं साखा मृग, हौं पुनि अनुज सँघाती।
ह्वै है कहा विभीषन की गति, रही सोच भरि छाती।[2]

लक्ष्मण आलंबन है। उनका शक्ति-हत शरीर, सामरिक विभीषिका, उद्दीपन विभाव हैं। सुग्रीव से कहे हुए शोक-संतप्त शब्द कायिक तथा 'सोच भरि छाती' मानसिक अनुभाव है। निर्वेद, विषाद, चिंता, व्याधि, वितर्क, दैन्य तथा स्मृति प्रभृति संचारी भाव हैं। करुणरस के अंग, उपांग सब ऐसे झलझला रहे हैं, जैसे एक्सरे किया गया हो। राम की भक्तवत्सलता, दयावीरता, शरणागत रक्षण, प्रणतपालन गुण सब स्पष्ट हो गये हैं। 'अनुज सँघाती' से बिरह की दशम दशा का संकेत है और मानस में 'मम हित लागि तजेउ पितु माता'[3] से गुण कथन व्यक्त हैं। प्रलाप की एक-एक स्थिति में लोक-जीवन में यदा-कदा साधारण जन भी शायद कह देंगे :

सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा।[4]

परंतु मिलइ न जगत सहोदर भ्राता।[5]

तुलसी ने अंत में कहा :

उमा एक अखंड रघुराई। नरगति भगत कृपाल देखाई।[6]

कवि की इस बात से करुण रस अभिसिंचित पाठक-हृदय को एकदम धक्का लगता है। मैं सोचता हूँ कि दूसरे के शोक-शमन की सामर्थ्य रखने वाले राम के लोचन, जो सदैव पानी से ऊपर रहने वाले राजीव के समान हैं, आज जल गिरा रहे हैं बस काम इतने से भी भली भाँति चल सकता

---

१. देखिए मेरा लेख : गोस्वामी तुलसीदास कीभावुकता साहित्य संदेश, अक्टूबर १९५२
२. गीतावली ६।७।१-३ ३. मानस ६।६१।२ ४. मानस ६।६१।४
५. मानस ६।६१।४ ६. मानस ६।६१।६

था। राम की अलौकिकता सुरक्षित थी और जमा रस फटने से बच रहा था। अस्तु

कपि-आकृति नारद को विशेष हरि (बंदर) रूप में देखकर बरबस हँसी फूट पड़ती है और विंध्य के वासी तपोव्रतधारियों की प्रसन्नता पर हमें हँसी आये बिना नहीं रहती। अर्थशास्त्रियों के अनुसार उत्पत्ति और उपभोग में संतुलन अपेक्षित होता है। बस शिलाएँ ही जब चंद्र मुखियाँ हो रही थीं और समानधर्मा 'गौतम खसम भये' थे, तब तो शास्त्रीय और नैतिक सभी नियमों तथा उत्पत्ति की आकस्मिक स्थिति के अनुसार एक-एक विधु-बदनी सबको मिलनी ही चाहिए थी। 'गीतावली' के विश्वामित्र का शिष्ट परिहास देखिए :

राम क प्रसाद गुर गौतम खसम भये
रावरेहू सतानंद पूत भये मायके।[1]

आपके सतानंद को माँ मिल गयी और आपको…………………।

'विनय पत्रिका' के पदों से शांतरस छलका पड़ता है ?

परबस जान हँस्यो इन इंद्रिन निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन-मधुकर पन करि तुलसी रघुपति पद-कमल बसैहौं।[2]

में निर्वेद स्थायी भाव है। 'हरि गुरु कृपा' आलंबन है। विभिन्न देवता, काशी, चित्रकूट, नदियाँ उद्दीपन विभाव हैं। कम्प, पुलक, रोमांच अनुभाव हैं। तुलसी की पद-पद में व्यक्त दीनता, ग्लानि, मोह, विषाद तथा गर्व आदि संचारी हैं। वीभत्स-रस के बड़े प्रख्यात छंद 'कवितावली' के लंकाकांड के छंद सं० ४६, ५० हैं।

आगे वात्सल्य-रस की आपगा में तुलसी ने बाल-मनोविज्ञान का एक उडुप छोड़ दिया है :

छाँड़ो मेरे ललन ! ललित लरिकाई।
ऐहैं सुत ! देखुवार कालि तेरे, बबै ब्याह की बात चलाई।
डरि हैं सासु ससुर चोरी सुनि, हँसिहैं नई दुलहिया सुहाई।
उबटौं न्हाउ, गुहौं चुटिया बलि, देखि भलोबर करिहिं बड़ाई।
मातु कह्यौ करि, कहत बोलि द, 'भय बड़ि बार कालि तौ न आई'।
'जब सोइबो तात' यों 'हाँ' कहि, नयन मीचि रहे पौढ़ि कन्हाई।

१. गीतावली १।६७।३ २. विनयपत्रिका १०५।३

उठि कह्यो, भोर भयो, झँगुली दै, मुदित महरि लखि आतुरताई।
बिहँसी ग्वालि जानि तुलसी प्रभु, सकुच लगे जननी उर धाई।[1]

हास्यरसाभास का एक उदाहरण देखिए। महादेव की विचित्र बारात की की चर्चा सुन-सुन कर विष्णु, इंद्र तथा अन्य देवता किस प्रकार हँस रहे थे :

श्रीपति सुरपति विबुध बात सब सुनि-सुनि।
हँसहिं कमल-कर जोरि, मोरि मुख पुनि-पुनि।[2]

रसाभास का उपर्युक्त उदाहरण देकर मैंने असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य को छेड़ दिया है, इसके अन्य भेदों में देखिए विभिन्न भाव कैसे व्यक्त हुए हैं। शृंगार रसाभास की वानगी लीजिए :

सबके हृदयँ, मदन अभिलाषा। लता निहारि नवहिं तरु शाखा।
नदी उमगि अंबुधि कहुँ जाई। संगम करहिं तलाव तलाई।
जहँ असि दसा जड़न कै बरनी। को कहि सकै सचेतन करनी।[3]

तलाई (छोटा तालाब) छंदों से मिल रही है। तरुवर लताओं को अपनी शाखाओं में लपेट लेना चाहते हैं। जड़ों तथा निरिंद्रियों में यौन संबंध का निदर्शन है यहाँ। रसाभास द्वारा काम की प्रबलता का स्पष्ट द्योतन है। इससे भी बढ़कर कवि प्रौढ़ोक्ति मात्र सिद्ध अलंकार व्यंग्य द्रष्टव्य है। घर जाने की शीघ्रता करने वाले आफिसर से जैसे बाबू लोग हस्ताक्षर कराते हैं और अधिकारी जल्दी में बिना देखे-भाले ही हस्ताक्षर भर कर देता है, बस यदि इसी प्रकार इन चौपाइयों का पाठ हुआ तो किसकी काकु वक्रोक्ति और किसकी अर्थापत्ति ? परंतु जब जड़ों की दशा ऐसी है तो कौन (कौ पर बलाघात है) चेतनों की स्थिति जान सकेगा ? बस अर्थापत्ति ध्वनित हो गई। दोनों अलंकारों के सांकर्य से स्वतः संभवी वस्तु ध्वनि भी स्पष्ट हो जाती है और तब इन डेढ़ चौपाइयों में असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि और संलक्ष्यक्रम व्यंग्य दोनों का आनंद मिलता है--

कोटिन्ह मेघनाद सम सुभट उठे हरषाइ।
झपटहिं टरै न कपि चरन पुनि बैठहिं सिर नाइ।[4]

इस दोहे में 'हरषाइ' से हर्ष संचारी समझना ठीक न होगा क्योंकि उसके मूल में गर्व है और 'झपटहिं' औत्सुक्य और गर्व का द्योतक है। 'सिर नाइ' में व्रीड़ा जन्य विषाद है। अतः यहाँ भावोदय है।

---

१. श्रीकृष्ण गीतावली १३ २, पार्वतीमंगल ६८
३. मानस १।८५।१-२ ४, मानस ६।३४ क

भाव शांति का एक मनोहर उदाहरण लीजिए। 'प्रेत बेताल बराती भूत भयानक' और 'बरद चढ़ा बर बाउर' जानकर मैना का हृदय आवेग संचारी से भर गया। उन्होंने जो मन में आया कहना प्रारंभ किया :

घर घाल चालक कलह प्रिय कल्पित परम परमारथी,
तैसी बरेखी कीन्हि पुनि मुनि सात स्वारथ सारथी,
उर लाइ उमहि अनेक बिधि जलपति जननि दुख मानई,
हिमवान कहेउ इसान महिमा अगम निगम न जानई।[1]

मैना की जल्पना ने इंद्र, कष्यप, अत्रि जमदग्नि, विश्वामित्र वसिष्ठ और गौतम सप्त ऋषियों की कड़ी खबर ली है। सारथी शब्द भी अपने ढंग मे प्रयुक्त है यहाँ। मैना का आवेग हर्ष में परिवर्तित हो गया। अतः भावशांति बड़ी 'सुंदर' बन पड़ी है यहाँ।

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि की बात तो यहाँ समाप्त हो जाती है। अब संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि को स्थाली पुलाक न्याय से देखिए :

सीय बरन सम केतकि अति हियँ हारि,
केहसि भँवर कर हरवा हृदय बिदारि।[2]

यहाँ कविनिबद्ध पात्र हैं राम। केतकी कुसुम पर भ्रमर गूँजता ही है किंतु केतकी का सीता के सौंदर्य की समता न कर सकने के कारण हृदय का फाड़ना और हार पहनना यह प्रौढ़ोक्ति है। अतिशय सौंदर्य निरूपण ही यहाँ व्यंग्य है। सुंदरकांड में 'फूल बान ते मनसिज बेधत आनि, से दुःख की व्यंजना तो होती है किंतु तुलसी की जगदंबा के साथ मनसिज की बात अखरती है। यह अलंकार प्रेमी कवि की कृति है, भक्त तुलसी की रामकथा नहीं, जिसमें स्तनों में चोंच मारने के स्थान पर मिलेगा :

सीता चरण चोंच हति भागा।[3]

अब लक्षणामूला ध्वनि के दोनों भेदों की ओर बढ़िए। जहाँ वाच्यार्थ अर्थांतर में संक्रमण करता है वहाँ अर्थांतर संक्रमित वाच्य ध्वनि होती है 'गीतावली' में भरत ने कैकेयी से कहा है :

दिनकर बंस पिता दसरथ से राम-लषन-से भाई,
जननी ! तू जननी ! तौ कहा कहौं ! बिधि केहि खोरि न लाई।[4]

निष्कलंक सूर्यवंश, इंद्र के मित्र दशरथ से पिता, जिन्होंने पुत्र से वियुक्त

---

१. पार्वती मंगल २. बरवै रामायण ३।३२ ३. मानस ३।१।४
४. गीतावली २।६०।२

होकर तुरन्त प्राण दे दिये तथा भाई के हेतु परंपरागत राज्यसत्ता को 'बटाऊ की नाईं' छोड़कर वन जाने वाले राम और उनके अनुगत लक्ष्मण सदृश बंधु जिस कुल में हुए हैं उसमें तेरी-सी माँ कलंक है। प्रथम 'जननी' साधारण मातृवाचक है जो संबोधनार्थ प्रयुक्त है। परंतु 'तू जननी' के आगे प्रश्नवाचक चिह्न लगाकर वत्सलभावहीना कैकेयी के प्रति घृणा तथा आत्मग्लानि का भाव निर्दशित है। बच्चे को नौ मास पेट में रखने वाली तूने माँ का हृदय कैसे पाया ? प्रयोजनवती लक्षणा के अंतर्गत यहाँ अजहत स्वार्था ने प्रयोजन रूप में व्यंग्यार्थ प्रकट किया है। मात्र प्रसू होकर जननी नाम पाने वाली री जड़ ! तू न समझ पाई कि तेरे बेटे की श्रद्धा राम के प्रति कितनी है ?

अत्यंत तिरष्कृत वाच्यध्वनि में प्रयोजनवती लक्षणा (जहत् स्वार्थी) रहती है। विपरीत लक्षणा और व्याजस्तुति अलंकार से इस ध्वनि का अस्तित्व निखर उठा है :

(१) कीन्ह कैकेयी सब कर काजू।[1] (विपरीत लक्षणा के मेल में)
(२) कह कपि धर्म सीलता तोरी। हमहुँ सुनी कृत परत्रिय चोरी।
कान नाक बिनु भगिनि निहारी। छमा कीन्हि तुम धर्म बिचारी।
धर्मसीलता तब जग जागी। पावा दरसु हमहुँ बड़भागी।[2]
(व्याज निंदा से)

(३) बावरो, रावरो नाह भवानी[3] (व्याज स्तुति परक)

'सबकर काजू' से सबके अनिष्ट की, धर्मसीलता से अधार्मिकता तथा अनाचार की क्षमा से अपमान को निगल कर निर्लज्ज रहने की, बावरो से आगे के प्रसग के साथ शंकर के अवढर दानी रूप की व्यंजना होती है।

व्यंग्य जहाँ वाच्य से गौण हो वहाँ गुणीभूत व्यंग्य होता है। काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य का यह प्रसंग आपने पढ़ा ही होगा :

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू।[4]

सुकुमारि में अंतर्हित जो काकु वैशिष्ट्य है उससे अर्थ स्पष्ट हो जाता है। संशयास्पद संकर ध्वनि का उदाहरण पर्यायोक्ति अलंकार (भाव की विवर्तनमूला अभिव्यक्ति जहाँ होती है) तथा संभावना सम्मिलित सहायता से कैसी शोभा पा रहा है :

१. मानस २।१८०।३ २. मानस ६।२२।३-४ ३. मानस ५।१
४. मानस २।६७।४

सीता-हरन तात ! जनि, कहेहु पिता-सन जाइ,
जों मैं राम त कुल-सहित, कहहि दसानन आइ।[1]

मरणासन्न जटायु से कहे गये 'जो मैं राम' शब्द यदि मैं सूर्यवंशी दाशरथि हूँ, परम पराक्रमी हूँ। इस अर्थांतर में संक्रमण करते हैं अत स्पष्ट ही यहाँ अविवक्षित वाच्य अर्थांतर संक्रमित ध्वनि है। फिर यदि मैं राम हूँ तो सीता के हर्त्ता रावण का शीघ्र ही वध करूँगा। यह अनुरणन रूप व्यंग्य सूचित होने से विवक्षित वाच्य ध्वनि अर्थशक्ति मूलक है। वस्तुतः एक के स्वीकार करने के हेतु साधक तथा दूसरे के हेतु बाधक प्रमाणों का अभाव है। अतः यहाँ दोनों के अनुग्राह्य-अनुग्राहक संबंध से संकर ध्वनि फब रही है।

ध्वनि के प्रसंग में ही शब्द-शक्तियों का उल्लेख हो गया है। यों तो ध्वनि के ५१ भेदों, उपभेदों के भी दर्शन हमें तुलसी के काव्यों में मिल जायेंगे। परंतु हमारा अभिप्रेत है व्यंजना-शिल्प देखना। अतः व्यंजना में सहायक उपकरणों की यथेष्ट चर्चा होनी अपेक्षित है।

(७)

अब छंद पर आइए। व्यंजना के हेतु छंद का उन्होंने बड़ा ध्यान रखा है। छंद क्या है, यह जानना संगत है :

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्भयीं विद्यां प्राविशूंस्ते छन्दोभिरच्छादयन्यदेभिरच्छादयूंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्।[2]

एक बार मृत्यु से भीत देवों ने भयो विद्या में प्रवेश कर अपने को छंदों से आच्छादित कर लिया। इस प्रकार का आच्छादन ही छंदों का छंदपन है।

तुलसी के भाव-देवता विविध छंदों में छिपे हैं। इसमें भी उनकी कला अपने निखार पर है। स्तुतियों में छंदों का प्रयोग है। किसी देवता के व्यक्तित्व के सम्यक् प्रकाशन के हेतु शार्दूल विक्रीड़ित का प्रयोग हुआ है। 'तोमर' छंद का प्रयोग रण प्रांगण में, जहाँ संहत संग्राम मचा है, हुआ है :

धरु-मारु बोलहिं घोर। रहि पूरि धुनि चहुँ ओर।
मुख बाइ धावहिं खान। तब लगे कीस परान।
जहँ जाति मर्कट भागि। तहँ बरत देखहिं आगि।
भये बिकल बानर-भालु। पुनि लाग बरषै बालु।[3]

आज के सामरिक साधनों तथा रण की शैली को इस तोमर में व्यक्त

१. मानस ३।३१ २. छांदोग्योपनिषद् १।४।२
३. मानस ६।१०१। छंद ३, ४

युद्ध-शैली से मिलाइए । युद्ध-विभीषिका सामने आ खड़ी होगी । सोहर में यज्ञोपवीत अथवा विवाह संस्कारों के समय का दृश्य खिंच गया है । यह छंद और यों कहिए तुलसी के ही छंद यदा-कदा अवध में उपर्युक्त अवसरों पर सुनाई देते हैं :

नैन बिसाल नउनियाँ भौं चमकावइ हो,
देइ गारि रनिवासहिं प्रमुदित गावइ हो ।[1]

'सोहर' छंद में नारी-सुलभ भावनाओं को भरने का संयोग बराबर विद्यमान है । स्वर्ण-कलश में गंगाजल भरा है । भाव की वर्द्धमान स्थिति अथवा विचार की उत्तेजना में उनकी चौपाइयाँ दोहों के शीघ्र पड़नेवाले घत्तों का उल्लंघन कर जाती हैं । सवैया छंद के प्रयोग में पं० नाथूराम शर्मा 'शंकर' जैसी स्वतंत्रता बरतने की दागबेल ही तुलसी लगा गये हैं । 'मत्तगयंद' के सात भगणों में कभी पहले तो कभी दूसरे या तीसरे में दो लघु और जोड़ दिये गये हैं । पीछे उद्धृत 'जल को गये....' से प्रारंभ होने वाला छंद ध्यान से पढ़ लीजिए ।

सबसे मजे की बात यह है कि ग्रंथारंभ अनुष्टुप छंद में हुआ है, जो वर्ण्य विषय के अनुकूल है । क्षेमेंद्र की साक्षिता इस संबंध में ली जा सकती है ।[2] मजे की बात यह है कि ग्रंथ की गंगा संस्कृत की पवित्र गंगोत्री से निकलती है । उत्स में ही मगण विद्यमान है जिसका देवता पृथ्वी और फल श्री है । प्रसंग या प्रबंधानुरूप छंदों का प्रयोग तुलसी ने किया है, इसमें संदेह नहीं ।

(८)

व्यंजना के विविध ढंगों के प्रसंग में यत्र-तत्र अनुषंगतः अलंकारों का उल्लेख हो चुका है । फिर भी व्यंजना को उनसे जो सहयोग मिला है उसका सम्यक् विश्लेषण अभी अपेक्षित है । तुलसी के अलंकार रस के परिपाक में, कथा के उत्तरोत्तर विकास में, भाव की सुष्ठु व्यंजना में, अनुभावों की निदर्शना में पूर्ण योग देते हैं । वे फूहड़ के दृश्योत्पादक आभूषण नहीं, सती सुहागिन के अनुराग सुहाग की इकाई हैं । वे सुंदर स्वस्थ शरीर में (पर नहीं) देशकाल के अनुसार सुशोभित हैं । उनकी रस सिद्ध गिरा में ये अलंकार अहमहमिकया प्रयुक्त होने के हेतु मनुहार करते हैं । मानों कह रहे हों 'मेरी सेवा लीजिए, मैं आपके भाव की समुचित सेवा करने में समर्थ हूँ । ध्वन्यालोककार का कथन है :

---

१. रामलला नहछू ८ २. सुवृत्त विलास
३. द्रष्टव्य, डॉ० राजपति दीक्षित : तुलसीदास और उनका युग पृ० ३७१-७२

रस समाहित चेतसः प्रतिभानवतः कवेः अहंपूर्विकया परापतंति ।

धनुष यज्ञ में गाल बजाने वालों के समक्ष लक्ष्मण के शब्द सुनकर राजा-लोग ऐसे चेतनाहीन हुए मानों मनुष्य के आकार वाले (किसानों द्वारा) खेत में खड़े किये गये धोखे हैं :

कुंवर चढ़ाई भौंहैं, अब को विलोकै सोहैं,
जहँ तहँ भे अचेत खेत के-से धोखे हैं ।[१]

मार्दुनिकों की तनिक असावधानी पर मल्लों या मालिश कराने के अन्य शौकीनों को बालतोड़ का प्रसाद मिल जाता है । धोखे से छू भर जाने पर वहाँ भयंकर पीड़ा होती है । कैकेयी के हृदय की कठोरता, पके बालतोड़ का कड़ापन यहाँ तुलित है :

दलकि उठेउ, सुनि, हृदय कठोरू । जनु छुइ गयउ पाक बरतोरू ।[२]

'जानकी-मंगल' में धनुष को पार्वती मन-सा अचल बताया गया है—

पारवती-मन सरिस अचल धनु-चालक ।[३]

अचल की पुत्री के मन में चल-चलाव कहाँ ? चंचलता कैसी ? और प्रतिवस्तूपमा से अवध के कुछ निवासियों की स्थिति व्यक्त है :

तिनहि सुहाइ न अवध बधावा । चोरहिं चाँदनि रात न भावा ।[४]

एक मजे की बात यहाँ और है । आधेय नगर निवासियों के स्थान पर आधार अवध का प्रयोग किया गया है । यहाँ मेटॉनोमी (Metonomy) को रूढ़ि लक्षणा ने सुंदर स्वरूप प्रदान किया है ।

मानस के इतने बड़े रूपक की सफलता उनकी बादशाहत का प्रमाण है । सीता के संबंध में उनका सौंदर्य-बोध अभूतोपमा और रूपक के प्रश्रय से निखरा है । परंतु इन रूपकों में तुलसी के हृदय पर मानव की स्थिति का सही चित्र उतरा है । मंथरा और कैकेयी के संबंध में जो रूपक प्रयुक्त हैं उनसे भासित होता है कि दशरथ को अब न पृथ्वी पर रहने का स्थान है और न जल में पैरकर बचने की गुंजायश । पृथ्वी पर तेज तलवार उनके शिर पर झूल रही है :

आगें दीखि जरत रिस भारी । मनहु रोष तरवारि उघारी ।

१. गीतावली १।६५।३ २. मानस २।२६।२ ३. जानकी मंगल ५८
४. मानस २।११।४

मूठि कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरी सान बनाई।
लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि जीवन लेइहि मोरा।[१]

बुद्धि में वर्ण का द्वित्व, निठुराई में ठ से परुषावृत्ति ही नहीं निष्ठुरता का द्योतन है। दशरथ किसी प्रकार उस समय तो बच कर भागे पर कूद पड़े नदी में :

दोउ बर कूल कठिन हठ धारा। भँवर कूबरी-बचन प्रचारा।
ढाहत भूप-रूप-तरु मूला। चली बिपति-बारिधि-अनुकूला।
लखी नरेस, बात फुरि साँची। तिय-मिस मीचु सीस-पर नाची।[२]

पहले 'सत्य कि जीवन लेइहि मोरा' में तो बचने की क्षीण आशा-रेखा विद्यमान थी परंतु इस मिस से मिसेज का कैतव (कैतवापह्नुति) प्रकट हो गया। अब तो जल, थल से बचाव रहा नहीं—मित्र (इंद्र) के यहाँ ही पहुँचना होगा।

शत्रु को नीचा दिखाने की भावना सभी के हृदयों में न्यूनाधिक रूप में रहती है। 'प्रतिषेध', 'परिकरांकुर' और 'काव्यलिंग का सांकर्य देखिए :

जीतेहु जो भट संजुग-माहीं। सुनु तापस ! मैं तिन्ह-सम नाही।
रावन-नाम, जगत जस जाना। लोकप जोके बंदीखाना।[३]

प्रथम अर्द्धाली में राम को 'तापस' नाम से संबोधित करके राम के महत्व को कम किया गया है। साथ ही अन्य वीरों पर प्राप्त विजय की अस्वीकृति भी है अतः 'प्रतिषेध' है। 'रावण' नाम में रुलाने वाले भाव के साथ वीरोचित विकक्षन भी द्रष्टव्य है। अतएव परिकरांकुर है। द्वितीय अर्द्धाली के प्रथम चरण में व्यक्त तथ्य का अनुमोदन उत्तरार्द्ध में किया गया है, अतः काव्यलिंग है।

विशेषोक्ति, अवज्ञा और दृष्टांत की द्युति से यह दोहा दीप्त है :

फूलहिं फरहिं न बेत, जदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरख हृदय न चेत, जौ गुरु मिलहिं बिरंचि सम।[४]

कारण के होते हुए कार्य हो नहीं रहा है अतः विशेषोक्ति है। गुरु और जलद के गुण मूर्ख तथा वेत ग्रहण नहीं करते अतएव अवज्ञा है। और मूरख उपमेय तथा वेत उपमान के धर्म अचेत रहना और न फलना, बिंब प्रतिबिंब भाव से कथित है इसलिए यहाँ दृष्टांत है।

---

१. मानस २।३१।१-२ २. २।३४।२-३ ३. मानस ६।६०।२
४. मानस ६।१६ ख

सम और विषम की बहार तुलसी के दैन्य तथा कौसल्या के गमनोद्यत पुत्र के शब्दों में देखिए :

राम सो बड़ो है कौन मो सो कौन छोटो..........आदि [सम][1]
बचन बिनीत मधुर रघुबर-के । सर-सम लगे, मातु-उर करके [विषम][2]

सीताजी गौरी-पूजन में देर लगा रही थीं। उनकी एक सखी ने इस रहस्य को समझ लिया और सीता से सीधे न कहकर सखियों को सुनाकर कह दिया, 'कल भी इस समय आयेंगी । तुम कल भी इन्हें इसी प्रकार देख सकोगी, अब बिलंब न करो । आर्थी व्यंजना के अंतर्गत यह बोधव्य वैशिष्ट्य 'गूढ़ोक्ति' के पुट से छविमान है । सीता की तबियत हरी हो गई होगी :

पुनि आउब एहि बिरिआँ काली । अस कहि मन बिहँसी ऐक आली ।[3]

अचल-सुता के अचल मन की शंकर के प्रति अडोल निष्ठा में दो उपमानों का एक धर्म 'तनुत्याग' बताया गया है। तुल्ययोगिता का यह उदाहरण पार्वती मंगल से लीजिए :

मनि बिनु फनि जलहीन मीन तनु त्यागइ ।[4]

भ्रातृ-स्नेह तथा पत्नीपरायणता के निम्नांकित उद्धरणों में असंगति राजानक सम्यक की उद्भूति 'विकल्प' तथा 'अल्प' के तल्प पर थोड़ा विश्राम कीजिए :

(क) हृदय घाउ मेरे पीर रघुवीरै ।[5] (असंगति)
(ख) की-तनु प्रान, कि केवल प्राना ।[6] (विकल्प)
(ग) कनगुरिया-कै मुँदरी कंगन होइ ।[7] (अल्प)

कनिष्ठिका की मुद्रिका से—आधेय से—हाथ आधार कितना बड़ा है, परंतु मुंदरी राम की दुर्बलता के कारण कंकन बन गई । आधार को कितना छोटा दिखाया गया है यहाँ ।

कौसल्या की साधारण गोद व्यापक ब्रह्म निर्गुण निरंजन से कितनी छोटी है । आधेय की इस विशालता के प्रेमाधिक्य के कारण आधार को उत्कृष्टता दी है । नीचे 'अधिक' की शोभा-शालिमा देखिए :

ब्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन बिगत बिनोद,
सो अज, प्रेम भगति-बस, कौसल्या-कें गोद ।[8]

---

१. विनयपत्रिका ७२।२ २. मानस २।५४।१ ३. मानस १।२३४।३
४. पार्वती मंगल ३७ ५. गीतावली ६।१५ ६. मानस २।५८।२
७. बरवै रामायण ३८ ८. मानस १।१९८

कुछ चमत्कारपूर्ण भी अलंकार तुलसी ने प्रयोग किये हैं। परंतु वहाँ भी भाव की व्यंजना में उनका आतंरिक उल्लास विद्यमान है, आलंकारिकता प्रकट करने के हेतु नहीं। श्लेषाश्रित परिसंख्या देखिए :

दंड जतिन्ह कर, भेद जहँ नर्तक-नृत्य-समाज।[1]

यथासंख्य निबंध के प्रारंभ में आप देख चुके हैं। 'निरुक्ति' में तुलसी के भक्त की उदात्तता की छाया है :

तनु बिचित्र, कायर बचन, अहि अहार, मन घोर,
तुलसी हरि भे पच्छ-धर तातें कह सब मोर।[2]

मोर का अपने ढंग का अर्थ बड़ा सुंदर है।

पिता का आदेश, मातृहित तथा भरत जैसे भाई का सिंहासनारोहण और ऋषिकल्प वाल्मीकि के दर्शन सब एक साथ 'समुच्चय' में फब रहे हैं।

तात-बचन, पुनि मातु-हित, भाइ भरत-अस राउ,
मो-कहँ दरस तुम्हार प्रभु, सब मम पुन्य-प्रभाउ।[3]

उपर्युक्त विवेचन से 'सब कहँ हित' की पुष्टि अशंत: ही सही हो गई होगी। तुलसी के काव्य में क्या नहीं है, वहाँ सबको रुचि के दृष्टिकोण से उनका प्राप्तव्य मिल सकता है। रसज्ञ रस लें, दूसरे विषय देखें, तीसरे पद लालित्य पर रीझें।

मैं मानता हूँ कि पौरस्त्यों ने समीक्षकों को कवियों से अधिक महत्व तक दे डाला है। कवि रचना करता है, रस भोक्ता होता है पाठक और पूर्ण आनंदानुभूति से अभिभूत होता है रसप्रवण समीक्षक। पश्चिमात्य मनीषी पोप ने दोनों को समान महत्त्व दिया है :

Both must alike from heaven derive their light.
Those born to judge, as well as those to write.

परंतु ये समीक्षक शुकवृत्तिसंपन्न समालोचना-सिद्धांत-शास्त्री नहीं काव्य प्रतिभा-उपेत विशिष्ट सहृदय बुध होने चाहिए। 'अद्भुत बानी' को परखने के लिए प्रबंध का आयत आयाम चाहिए और चाहिए सधी लेखनी। बालकों का खिलवाड़ वह नहीं है। बेन जानसन की साक्षिता के साथ तुलसी के अभिव्यंजना शिल्प को समझने के अपने क्षुद्र प्रयत्न को उपसंहरत करना समीचीन समझता हूँ :

To judge of poets is only the faculty of poets, and not of all poets but the best.

---

१. मानस ७।२२ २. दोहावली १०७ ३. मानस २।१२५

डॉ० रामेश्वरलाल खंडेलवाल

तुलसी की कारयित्री प्रतिभा

प्रस्तुत विषय चिंतन की अनेक नयी व गहरी संभावनाओं से भरपूर है। आरंभिक मनन पर विषय के कल्ले इस रूप में फूटते दिखाई पड़ते हैं।

प्रतिभा का मूल स्वरूप क्या है ? उसके कितने भेद व स्तर हैं ? उत्कर्ष की दृष्टि से उसकी क्या कोटियाँ हैं ? क्या प्रतिभा ही मुख्य काव्य-हेतु है ? 'प्रेरणा' नहीं ? प्रतिभा और प्रेरणा का क्या संबंध है ? कारयित्री प्रतिभा क्या है ? क्या कारयित्री प्रतिभा अपने आप में पूर्ण है ? कारयित्री की पूरक अथवा सहयोगिनी (भावयित्री) प्रतिभा क्या है ? उन दोनों का क्या पारस्परिक संबंध है ? उनमें से चेतना के औज्ज्वल्य, प्रखरता, तीक्ष्णता व सूक्ष्मता की दृष्टि से, कौन-सी प्रतिभा उच्चतर है ? उन प्रतिभाओं की विशिष्ट निजी प्रकृति व क्षेत्र-सीमा क्या है ?

क्या तुलसी-साहित्य केवल कारयित्री प्रतिभा का ही प्रकाशन है, अथवा कारयित्री व भावयित्री, दोनों प्रकार की प्रतिभाओं का ? यदि हाँ, तो उनका प्रकाशन तुलसी-साहित्य में किस अनुपात में हुआ है ? तुलसी की कारयित्री प्रतिभा उनके साहित्य के भाव, विचार, दर्शन, कल्पना और शैली, वस्तु-विन्यास व चरित्रांकन में किस रूप में प्रकाशित या प्रतिफलित हुई है ? क्या वह अन्य कवियों की कारयित्री प्रतिभा से किसी रूप में विशिष्ट है ? आदि।

यद्यपि विषय इतनी किरणें फेंकता है तथापि हम मुख्यतः कारयित्री प्रतिभा तक ही सीमित रहकर तुलसी-साहित्य पर एक दृष्टि डालने का प्रयास करेंगे।

यों तो प्रतिभा का प्रच्छन्न या परोक्ष रूप में महत्त्वाकलन सर्जन या समीक्षण के क्षेत्र में होता ही रहा है किंतु सर्जनोपयोगी प्रतिभा के एक विशिष्ट या सर्वोच्च प्रकार को 'कारयित्री प्रतिभा' का अभिधान सर्वप्रथम संभवतः आचार्य राजशेखर (ई० सन ८८०-९२०) ने ही दिया। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ, 'काव्य-मीमांसा' चतुर्थ अध्याय में 'प्रतिभा' का विवेचनात्मक परिचय देते हुआ लिखा :

सा च द्विधा कारियत्री भावयित्री च। कवेरूपकुर्वाणा कारयित्री। साऽपि त्रिविधा सहजाऽऽहार्यौपदेशिकी च। जन्मान्तरसंस्कारापेक्षिणी सहजा। जन्म संस्कारयोनिराहार्या। मंत्रतंत्राद्युपदेशप्रभवा औपदेशिकी। ऐहिकेन कियतापि संस्कारेण प्रथमां तां सहजेति व्यपदिशन्ति। महता पुनराहार्या। औपदेशिक्याः पुनरैहिक एव उपदेशकालः, ऐहिक एव संस्कार कालः।

आचार्य राजशेखर के मंतव्य के विश्लेषण का प्रयत्न इस प्रकार किया जा सकता है :

१. प्रतिभा दो प्रकार की होती है—कारयित्री और भावयित्री।

२. कारयित्री प्रतिभा कवि का उपकार करने वाली होती है।

३. वह (कारयित्री प्रतिभा) भी तीन प्रकार की होती है—सहजा, आहार्या और औपदेशिकी।

४. सहजा प्रतिभा जन्मांतर संस्कारापेक्षिणी (अर्थात् जन्मांतर या पूर्व जन्म के संस्कारों की अपेक्षा करने वाली) होती है ('सहजा' को 'स्वाभाविकी' भी कहते हैं।)

५. इस जन्म के संस्कारों से उत्पन्न प्रतिभा को 'आहार्या' कहते हैं। निश्चय ही इसमें पूर्व जन्म के संस्कारों का योग भी निहित है किंतु मुख्यतः इस जन्म के अर्जित संस्कारों से ही निर्मित होती है।)

६. मंत्र, तंत्र और उपदेश से उत्पन्न होने वाली प्रतिभा को 'औपदेशिकी' कहते हैं।

७. इस जन्म के थोड़े से ही संस्कार से समुद्बुद्ध प्रतिभा को 'सहजा' कहा जाता है।

८. इस जन्म के अधिक संस्कार (मानव-जीवन व प्रकृति का निरीक्षण तथा अनुभव व शास्त्रों का अनुशीलन व अभ्यास) से 'अहार्या' प्रतिभा उत्पन्न होती है।

६. औपदेशिकी प्रतिभा का संबंध इसी जन्म के उपदेश, वरदान आदि से होता है; वह इसी जन्म के संस्कारों से निर्मित होती है, जन्मांतर से उसका कोई संबंध नहीं।

आचार्य ने कारयित्री को प्रथम स्थान देकर भावयित्री (भाव कस्योपकुर्वाणा भावयित्री) को दूसरा स्थान दिया है जो कारयित्री प्रतिभा के विविध भेदों—विशेषत: सहजा—पर विचार करने पर ठीक ही जान पड़ता है। पर भ्रांति न हो संभवत: इसीलिए और दोनों का गौरव अक्षुण्ण रखने के लिए, साथ ही, यह भी कह दिया है कि कवि और भावक या आलोचक में भेद नहीं है :

क: पुनरयोर्भेदो यत्कविर्भावयति भावकश्च कवि: इत्याचार्या :।

यह ऐसा विचार-बिंदु है जिसमें भारतीय और पाश्चात्य आधुनिक खंडनात्मक तुमुल विचारण गर्भित है। इस संबंध में क्रोचे, प्रसाद, ईलियट की चिंतन-स्थितियों का संकेत मात्र दिया जा सकता है।

कारयित्री प्रतिभा को उच्चतर मानने या प्रथम स्थान देने का राजशेखर का दृष्टिकोण कारयित्री शब्द की मूल 'कृ' धातु पर विचार करने से स्पष्ट हो सकता है। 'कृ' अर्थात् 'करना' सामान्य कुछ करना नहीं, वरन् अस्तित्व के मूल का बल लगाकर अंत:चेतना की पूर्ण ऊर्जा के साथ जन्मजात बहुमूल्य शक्ति या प्रतिभा से कुछ नवीन करना ही है अन्यथा कारयित्री या उसके प्रथम भेद 'सहजा' का मर्म या रहस्य हमारे हाथ नहीं लग सकता। जैसे 'य: पश्यति स: पश्यति (गीता ५।५) में 'देखना' कुछ विशिष्ट ही है, वैसे ही कारयित्री के 'कृ' का कुछ करना नवीन, विशिष्ट या मौलिक ही है।

'सहजा' में अपेक्षित जन्मांतर संस्कार पर भी विचार के लिए कुछ रुक जाना पड़ता है। नये वैज्ञानिक चिंतन, घोर वस्तुवाद व प्रयोग के युग में 'जन्मांतर' की व्याख्या कैसे होगी ? योग सूत्र की निर्बीज असंप्रज्ञात समाधि कदाचित् जन्मांतर की ही बात कहती है। गीता (६।४५) शाकुंतलम्, (जननांतर सौहृदानि, ५।२) जायसी के पद्मावत, कबीर के पद और 'प्रसाद' की रचनाओं में खुलकर यह विश्वास व्यक्त किया गया है। वर्ड्सवर्थ ने, Immortality ode में कहा है—"The soul that rises with us... cometh afar; But trailing clouds of glory do we come from God, who is our home." दर्शन के क्षेत्र में जुंग ने व अन्य अनेक मनोविज्ञानवेत्ताओं ने इस प्रकार की आस्था व्यक्त की है। पर बहुत से चिंतकों

ने इस जंजाल से बचने और व्याख्या न कर पाने के भय से प्राक्तन या पारंपरिक (जो रक्त-संस्कार व जैवी परंपरा से ही संबद्ध ठहराये जाते हैं) संस्कारों तक ही अपने को सीमित रख लिया है।

हमें ऐसा लगता है कि तुलसी की प्रतिभा कारयित्री और भावयित्री दोनों ही प्रकार की है। कारयित्री के तीनों भेदों पर विचार करने पर लगता है कि उनमें तीनों ही प्रकार की प्रतिभाएँ हैं। सहजा विपुल परिणाम में है जो अहार्या और औपदेशिका से संतुष्ट है। सहजा विपुल परिमाण में कैसे ? राजशेखर ने काव्य मीमांसा के चतुर्थ अध्याय में ही एक श्लोक उद्धृत किया है :

एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्य-
मन्यस्य गच्छति सुहृद्भवनानि यावत्।
न्यस्याविदग्धवदनेषु पदानि शाश्व-
त्कस्याऽपि संचरति विश्वकुतूहलीव।

सत्कवियों की वाणी लोक जिह्वा पर नृत्य करती रहती है जबकि बहुत से कवियों की वाणी घर की चारदीवारी तक ही रह जाती है। तुलसी-काव्य की लोकप्रियता से हम उनकी कारयित्री प्रतिभा की मौलिकता व गहराई का अनुमान लगा सकते हैं। तुलसी लोकप्रिय कवि हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही प्रमाण है :

[क] कीन्हें प्राकृत-जन-गुण-गाना।
सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।[1]

[ख] कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।[2]

दो प्रकार के लोकप्रिय कवि हो सकते हैं—प्रायः तुक्कड़, लफ्फाज, मन-बहलाव करने वाले हँसोड़ियो, मदारी-टाइप और वे जिनकी रचना चौड़े पाट वाली होती है, हृदयों की भूमियों के गहरे स्तरों को अनुदिन सरस सजल करती हुई पन्ना मणि-सी श्यामल हरियालियाँ पैदा करती जाती हैं, करती रहती हैं। हमारा सुझाव है कि तुलसी की लोकप्रियता के अनुपात में ही उनकी 'सहजा' प्रतिभा की गंभीरता व उत्कर्ष को स्वीकार किया जाय। वे जितने ही लोकप्रिय हैं उतनी ही सहजा प्रतिभा दर्शनीय है।

मूल सहजा में उनकी अहार्या प्रतिभा के समावेश का प्रमाण ढूँढने दूर जाने की जरूरत नहीं। उन्होंने लिखा ही है :

१. मानस १।११।४ २. मानस १।१४।५

नाना पुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।
स्वांतःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
भाषा निबंधमतिमंजुलमातनोति ।[1]

औपदेशिक प्रतिभा का सूत्र भी इसमें गुँथा है। बाबा नरहर्यानंद की शिक्षा का इस संबंध में स्मरण किया जा सकता है। हीरे की कांत कनी-सी उनकी 'रतनावली' की फटकार, उपदेश, वरदान ने कम कमाल नहीं किया। द्रष्टव्य है—'अस्थिचर्ममय देह मम'। तुलसी की कारयित्री प्रतिभा को जाग्रत करने वाली यह इतनी बड़ी बात थी कि बीसवीं सदी में 'निराला' ने रतनावली की उस फटकार का स्मरण दिलाया :

धिक ! धाये तुम यों अनाहूत,
धो दिया श्रेष्ठ कुल-धर्म धूत,
राम के नहीं, काम के सूत कहलाए।
हो बिके जहाँ तुम बिना दाम,
वह नहीं और कुछ-हाड़ चाम।
कैसी शिक्षा, कैसे विराम पर आए।[2]

ऊपर हमने 'सहजा' के साथ नवता या मौलिकता की बात कही है। प्रश्न हो सकता है—तुलसी ने अपने सर्जन के माध्यम से क्या नवता या मौलिकता प्रदर्शित की ? पर साथ ही प्रश्न यह भी है कि समग्र मानव-हृदय के लिए अब कौन-सा अनुभव शेष रह गया ? सृष्टि में बिल्कुल नया है ही क्या ? वही वर्णमाला और उन्हीं अक्षरों से कुछ भी लिखते रहो। वही पंच-तत्व, वही मानव-मन, वे ही इंद्रियाँ-अनुभव करते रहो, रचना करते रहो, अभिव्यक्ति की व्याख्या करते रहो। नया क्या ? ध्वन्यालोककार आनंद वर्द्धन ने इसलिए लिख दिया :

अक्षरादिरचनेव योज्यते यत्र वस्तुरचना पुरातनी।
नूतने स्फुरति काव्यवस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति।[3]

(वृत्ति) न हि वाचस्पतिनाप्यक्षराणि पदानि वा कानिचिद पूर्वाणि घटयितुं शकयन्ते। तानि तु तान्येवोपनिबद्धानि न काव्यादिषु नवतां विरुध्यन्ति।

---

१. मानस १।७ श्लोक २. तुलसीदास, निराला
३. ध्वन्यालोक, चतुर्थ उद्योत कारिका १५।

इसलिए नया स्थायी रूप से कुछ नया नहीं है। संदर्भों के बदलने से मूल तत्त्व ही नानारूप ग्रहण करता है और कला में इसे ही हम 'नया' कह कर संतुष्ट होते हैं, प्रसन्न रहते हैं। पर प्रश्न केवल इतना कह कर ही टाला नहीं जा सकता। तुलसी को कारयित्री-प्रतिभा-संपन्न कवि के रूप में समझने का कुछ हार्दिक प्रयास करना ही होगा।

अंतश्चेतना की सहजात वृत्तियाँ होने के नाते कारयित्री और भावयित्री प्रतिभाएँ परस्पर सर्वथा निरपेक्ष नहीं रह सकतीं—हाँ, यह बात दूसरी है कि व्यक्ति के संस्कार-वैशिष्ट्य् से किसी व्यक्ति में कारयित्री का प्राबल्य हो और किसी में भावयित्री का। अतः तुलसी की कारयित्री प्रतिभा पर विचार करते हुए, विषय की पूर्ण प्रकल्पना की दृष्टि से, प्रस्तुत प्रसंग में इस नवीन निर्दिष्ट आयाम की भी उपेक्षा नहीं हो सकती। वस्तुतः कोरी कारयित्री प्रतिभा तो वायवीय मनोराज्य का रंजक निर्माण मात्र कर सकती है, नाना प्रकार के यथार्थ जीवन-निःसंग मानसी बिंबों की मोहक सृष्टियाँ (क्रोचे ने जिनकी महत्ता शुद्ध कला के नाम पर खूब प्रतिपादित व प्रतिष्ठित की है) कर सकती है, और ललित कल्पना के निकुंजों के साये में हमें लीन कर सकती है। हम उक्त गति-विधि का, शुद्ध कला के क्षेत्र में, अवमूल्यन न तो करेंगे और न करना चाहेंगे। फिर भी इतना तो कहना ही पड़ेगा कि कारयित्री प्रतिभा भावयित्री के संसर्ग या संश्लेष से स्फूर्तिवान, रंगीन, सशक्त व जीवंत अवश्य बनाती है और कला में अधिक सुनियोजित, सुमर्यादित, सुनिर्दिष्ट होकर इसे अधिक उपजाऊ, उपयोगी या उपकारक बनाती है। जब तक कारयित्री भावयित्री से इस रूप में संयुक्त नहीं हो जाती तब तक कलाकार सच्ची प्रेरणा से आस्फूर्त्त भी नहीं हो सकता। कोरी प्रतिभा सच्ची और गहरी प्रेरणा के अभाव में क्या कर लेगी? कई कलाकार कोरी प्रतिभा लिए यों ही कजला जाते हैं। भावयित्री के संस्पर्श से ही वे उच्छ्वसित हो उठते हैं और तभी कुछ कहने योग्य बात कह पाते हैं। यूरोप में प्रेरणा की बात समीक्षा-जगत् में यथास्थान अच्छी उठाई गई है। भारत में संभवतः आचार्य वामन ही थे जिन्होंने प्रेरणा के महत्त्व को सबसे पहले सामने रखा। प्रतिभा बड़ी भारी शक्ति है अवश्य, किंतु प्रेरणा का महत्व भी यथास्थान आँका जाना चाहिए। भावयित्री प्रतिभा के उन्मेष के अनुपात में ही प्रेरणा जीवंत रहती है और कारयित्री को सार्थक करती है। इस नाते तुलसी की भावयित्री प्रतिभा को भी विषय फलक में लाना आवश्यक हुआ।

तुलसी-काव्य में भावयित्री प्रतिभा का क्रिया-कलाप गृहीत विषय की

प्रकृत परिधि से बाह्य है अतः उस ओर अधिक जाना विषयांतर ही होगा। सजग भाव से समीक्षात्मक बौद्धिक विश्लेषण-विवेचन भावयित्री प्रतिभा का क्षेत्र है। तुलसी-साहित्य का अनुशीलन करने पर जान पड़ेगा कि बुद्धि के सभी रूपों और स्तरों का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में यथास्थान व प्रभावशाली ढंग से विनियोग हुआ है। हम मैथ्यूआर्नल्ड के शब्दों में कह सकते हैं कि तुलसी ने 'जीवन की आलोचना' (criticism of life) की है और इस प्रखर, सजग व कलाकारोचित जीवन-समीक्षा में ही उनकी भावयित्री प्रतिभा का वैभव भी उनकी कला में समाया हुआ है। यह उनकी जीवन-समीक्षा का उत्साह ही था जो उनकी सुधामुखी लेखनी से निर्झर के समान सर्जन का अखंड स्रोत बहाता रहा। इस प्रवाह में कोरी अलस मदिरता नहीं थी, उसके मूल में मानव जीवन को सुखी, व्यवस्थित व ऊर्ध्वमुखी बनाने का अखंड व जीवंत बौद्धिक या समीक्षकोचित उत्साह था। यह सजग बुद्धि से प्रेरित था और जीवन की व्याख्या की ओर अभिमुख था। उनकी रामराज्य की कल्पना इस बुद्धि व जीवन-व्याख्या के उत्साह की चरम परिणति है।

इस क्षण हमारा कहने का आशय केवल इतना ही है कि तुलसी की कारयित्री प्रतिभा का विचार भावयित्री प्रतिभा के विचार से कट कर न तो किया जाना चाहिए और न ही किया जा सकता है। भावयित्री से सर्वथा असंमृक्त और निःसंग कारयित्री प्रतिभा का विचार तुलसी की प्रतिभा के वास्तविक मर्म को हाथ न लगने देगा।

तुलसी की कारयित्री प्रतिभा की वास्तविक उपलब्धि व उत्कर्ष को हम दो विधियों से आँक सकते हैं : (१) यह जानकर कि उनमें कितना कुछ रूढ़, परंपरागत, पुनरावृत्त और पिष्टपेषित है, और (२) यह जानकर कि उनकी उक्त प्रतिभा रूपी बीज से कौन से नितांत नवीन पल्लव, प्रसून या फल साहित्य, जीवन व संस्कृति को प्राप्त हुए हैं––पहली विधि की वस्तु दूसरी विधि की वस्तु को उभार कर हमें अपने गंतव्य की प्राप्ति में सहायक होगी। किसी भी लेखक या महाकवि का सब कुछ मूल्यवान् नहीं होता, गाँठ बाँधने लायक नहीं होता, उनमें बहुत कुछ ऐसा होता है जो अभ्यास की अवस्था का सूचक होता है या हो सकता है, उसके आशय या संदेश को समझने के लिए वांछित पृष्ठिभूमिका मात्र प्रदान करता, है स्थूल परिवेश या वातावरण को प्रस्तुत करता है, शृंखलाओं को जोड़ने वाला होता है, अभिधा या तथ्य-कथन होता है, आदि। पर यह भी अपने स्थान पर अपने ढंग से महत्त्वपूर्ण ही होता है।

चाँदी-सोने के कणों की प्राप्ति की दृष्टि से रेत कोई कम मूल्यवान् नहीं होती। वर्ड्सवर्थ, प्रसाद और पंत में बहुत कुछ ऐसा मिल जायगा जो सामान्य है पर जिसके न होने से उनकी वस्तुएँ चाँदी-सोने-सी नहीं उभर उठतीं। सब कुछ उनके साहित्य में चाँदी-सोना-सा ही होता तो उनके रचना-स्तर की तराजू से हमें सभी कुछ सामान्य लगता और फिर सच तो यह है कि उनका महत्त्व हमारी आँखों में उतना उभरता भी नहीं। और फिर सौ बात की एक बात तो यह कि प्रकृति के पास लुटाने को नया इतना है भी कहाँ कि हर एक कवि के लिए वह इतना बंदोवस्त करे। आगे काल का पटल अनंत है, कितने ही महाकवि अपने-अपने पात्र लिये बैठे हैं। इसलिए हर एक महाकवि के पास देने के लिए कोई खास, विरल, छोटी-सी अनमोल आभावान एक किरण होती है जो एक छोटी-सी डिब्बी में आ जावे। परिमाण नहीं, गुण—यही तो महत् उपलब्धियों का वैशिष्ट्य होता है। बस उस उक्त आभावान् किरण से ही साहित्यकार महाकवि अमर हो जाते हैं। पृष्ठों की संख्या, ग्रंथ की पृथुलता या रचना परिमाण तो 'कवर' है, संपुट है;—उसी में ही कहीं छिपी-दबी पड़ी रहती है वह अनूठी दमकती किरण। प्रत्येक कालजयी कवि के लिए भी यह बात लागू हो सकती है। शायद होती है। शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे······। इसलिए परिमाण की चर्चा से घबराने की जरूरत नहीं। इसकी क्षति पूर्ति वास्तविक उपलब्धि पर विचार करने से मधुर व संतोषजनक रूप में हो जाती है।

तुलसी में बहुत कुछ रूढ़ और पुराना है जो आज के पाठक को आकृष्ट नहीं करता; इतना ही नहीं तुलसी-साहित्य पर नाना प्रकार का क्षोभ आज व्यक्त किया जा रहा है। यह क्षोभ कितना वैध है या अवैध, उचित है या अनुचित, साहित्यिक दृष्टि से प्रेरित है या असाहित्यिक दृष्टि से—यह प्रश्न दूसरा है जिसकी शुद्ध सारस्वत दृष्टि से जाँच होनी चाहिए। उस जाँच का परिणाम संभवत: अच्छा ही निकले—तुलसी और प्रामाणिक और भास्वर होकर उभरें।

अस्तु। उनकी कथा पुरानी है। महाकाव्य का ढाँचा बँधा-बँधाया है। वस्तु-निरूपण व शैली प्राकृत-अपभ्रंश की रूढ़ियों से आक्रांत है, उपमान गिने चुने व प्राय: सभी पूर्व-प्रयुक्त हैं। पुनरावृत्तियाँ बहुत हैं। प्रकृति के प्रति दृष्टि रूढ़ है, वह वेदांत या सांख्य की दृष्टियों से बँधी है, एक स्वच्छंदर्यता संवेदन शील कवि की सहज उच्छल आनंदमयी दृष्टि से अनुप्राणित नहीं; उनमें ज्ञानी

कबीर की दृष्टि की सहजता भी नहीं। उनका मर्यादा व आदर्शवाद व नैतिकता का आग्रह, अंकुश बड़ा प्रबल है। उनकी कल्पना बँधी-बँधी है। उनकी जीवन-दृष्टि सामंती युगोचित है। अधिक विचार करने पर इस प्रकार छोटा-मोटा और भी कुछ कहा जा सकता है।

अब उनकी कारयित्री प्रतिभा की मूल भूमि की ओर चलें। उन्होंने जो नया दिया है वह विशेषतः उनके युग, परिवेश व संस्कार को देखते हुए, कम मौलिक व क्रांतिकारी नहीं। कथा रूढ़ है या उसका उन्होंने अपनी रुचि व संस्कार से नवीन विन्यास किया है यह तो साहित्य-चर्चा का सामान्य-सा विषय है। आचार्य शुक्ल ने तुलसी के भाव-चित्रण-कौशल की चर्चा विस्तार से की ही है। सब काव्य रसों के समन्वय के द्वारा उन्होंने एक ओर तो अपने अंतःकरण के वैशद्य व समद्धि का प्रगाढ़ परिचय दिया है और दूसरी ओर उन्होंने काव्य-पाठकों के लिए एक ऐसी विधि खोल दी है जिसके उपभोग से वे अपने अंतःकरण की परिधि के विस्तार का अभ्यास या अनुभव कर सकते हैं। महाकाव्यत्व, विचार-तत्त्व व दर्शन का समावेश, सगुण भावना, जातीय चरित्र-गठन का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अध्यवसाय आदि बातों पर समीक्षा-क्षेत्र में काफी चिंतन-मनन हुआ है। तुलसी की कारयित्री प्रतिभा के जितने भी तत्त्व, उपादान या उपकरण हैं उन पर व्यक्तिशः या समग्र रूप में पर्याप्त बारीक विचार हुआ है और आज भी हो रहा है।

मैं तो यहाँ नमूने के तौर पर या उपलक्षण रूप में तुलसी की कारयित्री प्रतिभा के उन कुछ घनिष्ठतम तत्त्वों की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ जो साहित्यिक होते हुए भी हमारी संस्कृति से और सामान्यतः मानव-संस्कृति से संयुक्त हैं। यों तो भावयित्री (समीक्षा-संबंधी) प्रतिभा से संबंधित क्रिया-कलाप को छोड़कर साहित्य या कविता-क्षेत्र में पड़ने वाला समस्त क्रिया-कलाप प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, कारयित्री प्रतिभा का ही प्रसार है किंतु तुलसी साहित्य के कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो उक्त प्रतिभा से घनिष्ठतम रूप से संबद्ध हैं और प्रस्तुत प्रसंग में वे विशेष रूप से स्मृतव्य और विवेच्य हैं। वे हैं—तुलसी की राम राज्य की कल्पना; गीतिकाव्य में मानव-हृदय की निर्बाध, गंभीर व सशक्त अभिव्यक्ति; तुलसी की काव्य-विषयक अवधारणा; शक्ति, शील और सौंदर्य की अवधारणाओं या मूल्यों की संश्लिष्ट दृष्टि से मानवीय पूर्णता; एक 'सेकुलर' एवं प्रेरक आदर्श की स्थापना, आदि। शेष अन्य बातों का विचार तो

उक्त विचारों के बीच में से हो जाता है या इनसे ही दूर-पास से जुड़ा है, अतः उनका विचार यहाँ सहज ही छोड़ा जा सकता है।

१. मानस के उत्तरकांड में तुलसी ने 'रामराज' का यह चित्र अंकित किया है :

राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका।
बयरू न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई।
बरनाश्रम निज निज धरम, निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय सोक न रोग।
दैहिक, दैविक, भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहि ब्यापा।
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती।
चारिउ चरन धर्म जग-माहीं। पूरि रहा, सपनेहुँ अघ नाहीं।
राम-भगति-रत नर अरु नारी। सकल परम गति-के अधिकारी।
अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा।
नहिं दरिद्र, कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध, न लच्छन हीना।
सब निर्दंभ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर, सब गुनी।
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी।
राम-राज नभगेस सुनु, सचराचर जग-माहिं।
काल-कर्म-सुभाव-गुन-कृत दुख काहुहि नाहिं।
भूमि सप्त सागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला।
भुवन अनेक रोम-प्रति जासू। यह प्रभुता कछु बहुत न तासू।
सो महिमा समुझत प्रभु केरी। यह बरनत हीनता घनेरी।
सोउ महिमा खगेस जिन्ह जानी। फिरि ऐहिं चरित तिन्हहुँ रति मानी।
सोउ जाने-कर फल यह लीला। कहहिं महा मुनिवर दम-सीला।
राम-राज - कर सुख - संपदा। बरनि न सकइ फनीस सारदा।
सब उदार, सब पर-उपकारी। बिप्र - चरन - सेवक नर - नारी।
एक नारि ब्रत-रत सब झारी। ते मन-बच-क्रम पति-हितकारी।
दंड जतिन्ह कर, भेद-जहँ नर्त्तक नृत्य-समाज।
जीतहु मनहि, सुनिय अस, रामचंद्र-कें राज।
फूलहिं-फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज-पंचानन।
खग-मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परसपर प्रीति बढ़ाई।
कूजहिं खग-मृग नाना बृंदा। अभय चरहिं बन, करहिं अनंदा।
सीतल-सुरभि पवन बह मंदा। गुंजत अलि, लै चलि मकरंदा।

लता-विटप माँगे मधु चवहीं। मन-भावतो धेनु पय स्रवहीं।
ससि-संपन्न सदा रह धरनी। त्रेताँ भइ कृत जुग-कै करनी।
प्रगटीं गिरिन्ह बिबिध मनि-खानी। जगदातमा भूप जग जानी।
सरिता सकल बहहिं बर बारी। सीतल, अमल, स्वादु सुखकारी।
सागर निज मरजादा रहहिं। डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं।
सरसिज-संकुल सकल तड़ागा। अति प्रसन्न दस दिसा-बिभागा।
बिधु महि पूर मयूखन्हि, रबि तप, जेतनेहि काज।
माँगे बारिद देहिं जल, रामचंद्र-कें राज।[1]

उक्त पंक्तियों के विश्लेषण के रूप में ये बातें कही जा सकती हैं :

(क) हमारी दृष्टि से यह स्वप्न कविजनोचित कारयित्री प्रतिभा का उल्लासपूर्ण उन्मेष है। मानव-जाति के सुख के लिए ऐसी कल्पना कवि ही न करे तो और कौन करेगा ? किसे फुर्सत है ? ध्यान रहे कि कल्पना की रूढ़ता की जो शिकायत की जाती है या (छायावादी संस्कारों, या अंग्रेजी रोमाण्टिसिज्म के संस्कारों के प्रभाव से) की जारही है या की जा सकती है उसके लिए वांछित क्षतिपूर्ति का स्थल यही है। तुलसी के देश-काल, उस युग के वातावरण व प्रचलित काव्य-शैली पर समग्र रूप में दृष्टिपात करते हुए इस चित्र में निहित क्रांति तथा मौलिक व स्वच्छंद कल्पना को छायावाद युग की क्रांति व कल्पना की स्वच्छंदता से मिलाकर देखने पर पारस्परिक तुलना करने से, हम आश्चर्यजनक परिणामों पर पहुँच सकते हैं। कल्पनामक पुनर्निर्माण की साहित्यिक प्रक्रिया भी इस क्षण स्मृतव्य है।

(ख) इस कल्पना को हम हवाई-कल्पना या खामखयाली कह कर नहीं टाल सकते। ऊपर से भले ही यह अतिशयोक्ति या कोरी कल्पना ही जान पड़े, पर कल्पना-तत्त्व के निष्णात मनीषी चिंतकों (लोंजाइनस, एडिसन, कोलरिज, क्रोचे, रवींद्र आदि) की बात सुनने पर ही समझ पड़ेगा कि यह कल्पना कोरी कल्पना है कि मानव सुख के लिए अधीर उच्चाशयी आत्मा का (उच्चस्तरीय या परिष्कृत मन का सही !) एक मनोहर सौंदर्य-स्वप्न ! कोलरिज ने 'I AM' के द्वारा जो कहा था, 'प्रसाद' के मनु ने "मैं भी कहने लगा, 'मैं रहूँ'.........शाश्वत नभ के गानों में" (कामायनी, आशा सर्ग) के द्वारा जो कहा था, तुलसी की संकल्पात्मक आत्मा ने वही बात इस भव्य रमणीय, महान व उदात्त चित्र में कही है।

---

१. मानस ७।२०-२३

(ग) प्रकृति के चित्रण में वह प्रतीकात्मकता, बिंबात्मकता तो नहीं पर अपनी सत्यहृदयता में इस चित्र में प्रस्तुत प्रकृति बहुत कुछ वैसी ही व्यंजनाएँ दे रही है जैसी कि 'कामायनी' के 'आनंद सर्ग' की प्रकृति। दो युगों की प्रकृति-दृष्टि और वर्णन-शैली का अंतर समझ कर सच्चे सहृदय की दृष्टि से हमें तुलसी को 'एडवांटेज' देना ही होगा। यों भी, अभिधा कभी-कभी अपनी सत्यहृदयता का उतना ही प्रभाव डाल सकती है, जितना कि ध्वनि या व्यंजना। अनेक सहृदय समीक्षक इसके साक्षी हैं।

(घ) 'बरनाश्रम', 'धर्म', 'नीती', 'बिप्र चरन' आदि पदावली से कोई खास घबड़ाने की जरूरत नहीं। प्रत्येक युग की अपनी धारणाएँ, विश्वास व सोचने-समझने के तरीके होते हैं। हमारे-आपके नहीं हैं क्या ? ये चीजें तो तत्त्व के बाहरी छिलके हैं। इनसे इतनी नाराजी क्यों ? हम इस पदावली या उस युग के विचार या व्यवस्था को प्रश्रय दें या न दें, कोई बात नहीं। भीतर जो तत्त्व समाया है मुख्य बात तो वह है। 'राम-राज' में जो निहित है, क्या हम उसे नहीं चाहते ? फिर, अपने-अपने संस्कार, प्रकृति व संवेदना-शक्ति की भी तो बात है। हमारी दृष्टि में 'राम-राज' का स्वप्न तुलसी की कारयित्री-प्रतिभा का एक सुमृदु व सुपक्व फल है।

७. तुलसी की कारयित्री-प्रतिभा के प्रकाश का एक महत्त्वपूर्ण अधिष्ठान उनका गीतिकाव्य है। सर्जन के मूल स्रोतों का आत्मद्रव जितनी प्रखरता व वेग से गीतिकाव्य में फूट कर उसकी नस-नस को झंकृत-अनुप्राणित करता है उतना कदाचित् अन्य रचना-प्रकार में नहीं। हो सकता है हमारा सोचने का तरीका गलत हो, पर अभी तो अपनी संचित आस्था के बल से हम ऐसा ही कह रहे हैं। सर्जन मानो गीतिकाव्य में ही जाकर ही अपने को सर्वोपरि रूप से सार्थक करता है। पर कैसा सर्जन ? इस पर भी बहुत कुछ निर्भर है। 'गीतावली', 'कवितावली' और 'विनय-पत्रिका' के सैकड़ों पदों में जो तीव्रता है, वेग है, गांभीर्य है वह कहाँ मिलेगा ? अपने आराध्य के आगे फटे-चिरे हृदय को खोल कर तुलसी ने ऐसे बिछा दिया मानों आकाश के सामने समुद्र। यहाँ से वहाँ जो चाहो देख लो। 'विनयपत्रिका' में गणितीय फार्मूला, आरोपण, इंचीटेप से नपाई या कटाई-छँटाई कहीं नहीं। दारुण मानवीय पीड़ा का ऐसा अभ्रकंश व तीक्ष्ण हा-हाकार और ऐसी अकृत्रिम महाप्राण अभिव्यक्ति ! हमारी दृष्टि में तुलसी की कारयित्री-प्रतिभा उनके गीतिकाव्य में विशेषतः 'विनय-पत्रिका' में सुरक्षित है। वह सर्जन की मूल ऊर्जा से विशेष रूप से उजागर है।

३. 'तुलसी' ने 'मानस' के बाल-कांड में यत्र-तत्र काव्यविषयक अपने उद्‌गार या विचार व्यक्त किये हैं जिनका समाहार तुलसी के ही इन शब्दों में हमें प्राप्त हो सकता है :

मनि-मानिक-मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी।
नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई।
तैसेहिं सुकबि कबित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं।[1]
कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना।
हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना।
जौं बरषइ बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू।
जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं रामचरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग।[2]

इसके अतिरिक्त 'स्वान्तः सुखाय', 'गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न', 'निज कबित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका' तथा 'कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई' आदि उक्तियों के द्वारा भी उनकी काव्य-धारणा को समझने की सामग्री प्राप्त होती है। सबको मिला कर हम ये तथ्य ग्रहण कर सकते हैं :

तुलसी की काव्य-धारणा इधर-उधर से बटोरी हुई धारणाओं का संग्रह मात्र नहीं था। वह कारयित्री-प्रतिभा से संपन्न एक अनुभूतिशील कवि की एक अपनी दृष्टि थी जिसकी प्रेरणा से रचा गया काव्य स्वयं उस दृष्टि का ही प्रतिफलन था। उनकी इस धारणा में कारयित्री व भावयित्री–दोनों ही प्रकार की प्रतिभाओं का रस समाया हुआ था। कोरे पंडितों की धारणा प्रायः बुद्धि-विलास की ही प्रसूति हुआ करती है किंतु यह धारणा जीवनानुभूति के प्रामाण्य से पुष्ट व रस से भी संसिक्त थी। इस दृष्टि से हम तुलसी की काव्य-धारणा को उनके सर्जनशील व्यक्तित्व की उद्‌भूति मानकर उसे अधिक सजीव व प्रामाणिक कह सकते हैं। अंततः इसे हम तुलसी की कारयित्री-प्रतिभा से ही संबंधित ठहरायेंगे।

४. कारयित्री-प्रतिभा की मूल प्रकृति संश्लेषणात्मक होती है जबकि भावयित्री-प्रतिभा की विश्लेषणात्मक। अपनी संश्लेषणात्मक-प्रकृति से कारयित्री-प्रतिभा वस्तुओं और स्थिति को उनकी सत्ता की समग्रता में और एक कौंध में तपाक से ग्रहण करती है जबकि भावयित्री-प्रतिभा उसे तर्क-बुद्धि-

१. मानस १।११।२ २. मानस १।११।४-५, दोहा

जन्य विश्लेषण के द्वारा खोल-खोल कर देखती-दिखाती है। वास्तविक देखना समग्रता में ही होता है; उसमें भी विश्लेषणात्मक बुद्धि की प्रेरणा व क्रिया समाई रहती है, किंतु अत्यंत सूक्ष्मरूप में या रीति से।

शक्ति, शील और सौंदर्य-तीनों को एक साथ ले कर समग्र जीवन-सौंदर्य की कल्पना, उक्त विवेचन के अनुसार कारयित्री-प्रतिभा का ही विलास है। तुलसी ने इस प्रकार व्यक्ति (उदाहरण रूप में–राम) तथा जीवन के पूर्ण सौंदर्य की जो कल्पना की है उसमें मुख्यतः उनकी कारयित्री-प्रतिभा ही समाई हुई है। चरित्र चित्रांकन-कला में उनकी उक्त प्रतिभा की भूमिका स्पष्ट व निर्विवाद है।

अंत में, स्मरणरूप में एक बात और। कारयित्री व भावयित्री दोनों प्रतिभाएँ प्रतिभा का समग्र रूप खड़ा करने की दृष्टि से एक दूसरे की पूरक ही हैं, विरोधी नहीं। हाँ ऐसा लगता जरूर है कि शुद्ध-कला के चिंतकों ने उत्कृष्ट कला के सर्जन की दृष्टि से कारयित्री को भावयित्री से सदा ही ऊँचा स्थान दिया है। इधर कलिदास, राजशेखर, प्रसाद और तुलसी जैसे कवि संभवतः समन्वय की दृष्टि ही रखते जान पड़ते हैं। उनके व्यापक प्रभाव का रहस्य संभवतः इसी तथ्य में निहित है।

डॉ० वचनदेव कुमार,

तुलसी की अलंकार-योजना

रामचरितमानस एक ऐसी कालजयी और देशजयी रचना है जिसकी प्रशंसा प्रत्येक दृष्टिबिंदु से पौरस्त्य एवं पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा बहुविध की गयी है। रामचरितमानस भक्तिविह्वल चित्त के समाधिस्थ स्तर की अद्भुत कृति है। गोस्वामी तुलसीदास भावोद्वेगों के अनायास आप्लावन को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले मनीषी कवि हैं। वे स्वयंभूकवि अधिक हैं, सुनिर्मित कलाकार कम, किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उनका महाकाव्य कला को सूक्ष्मताओं एवं विशिष्टताओं से विरहित है। वे "नानापुराण निगमागम" को ही समायत्त करने वाले कवि नहीं है, वरन् अलंकारशास्त्र की सारी उपलब्धियों एवं संभावनाओं को आत्मसात् करने वाले अद्वितीय कवि हैं। अलबत्ता यह बात दूसरी है कि उन्होंने अपनी अतिशय विनम्रता प्रकट करने के लिए न तो अपने को कवि माना है और न काव्यविवेक अर्थात् अक्षर, अर्थ, अलंकार तथा छंदादि से अपनी अभिन्नता का ही स्वीकरण किया है।[1]

गोस्वामी जी ने मानस में अपने अलंकार-विषयक सिद्धांत का स्पष्ट उल्लेख किया है :

भनिति बिचित्र सुकवि कृत जोऊ। रामनाम बिनु सोह न सोऊ।
बिधुबदनी सब भाँति सँबारी। सोह न बसन बिना बर नारी।[2]

---

१. आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना।
भावभेद रसभेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा।
कबित बिबेक एक नहीं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे। १।९।५-६

२. मानस १।१०।२

अर्थात् काव्य में विषय महवत्त्वपूर्ण है, रामनाम महत्त्वपूर्ण है, अलंकरण नहीं। इसे प्रतिवस्तूपमा के सहारे वे व्यक्त करते हैं कि चंदानना नारी को लाख प्रकार से सजाइये-सँवारिये किंतु जब तक वह वस्त्र धारण नहीं करती है तब तक सुशोभित हो ही नहीं सकती। वर-नारी तो सर्वदा ही मनभावन लगती है, बारनारी की बात जो कुछ भी हो। ठीक इसी तरह सुकवि द्वारा विरचित सर्वगुणोपेत काव्य को अलंकारों से लाद दीजिये किंतु वह तब तक सुशोभन नहीं होगा, जब तक उसमें उदात्त भक्ति समन्वित विषय न हो। जिस प्रकार निर्वसना नारी को देखने से पाप लगता है, उसी प्रकार भक्तिहीन रामनाम-शून्य काव्य को देखना भी पाप है····ऐसा हम उपप्रमेय निकाल सकते हैं। अतः गोस्वामी जी की दृष्टि में काव्य का कथ्य महत्त्वपूर्ण है, अलंकार नहीं। इतना लिखने पर भी, गोस्वामी जी काव्य के रंगमंच पर शैलूषी की भाँति विभिन्न वेश-विन्यास में उपस्थित होने वाली उपमा निगूढ़ सिद्धांत निरूपित करते हैं :

राम सीय जस सलिल सुधासम। उपमा बीचि बिलास मनोरम।[1]

उनका कथन है कि उपमा भाव-समुद्र में 'बीचि-बिलास' की तरह है। रामचरितमानस महासागर है जिसमें श्रीराम के सुयश का अमृत-तुल्य जल भरा है। महासागर की शोभा के अनेक कारणों में एक प्रमुख कारण है उसके क्रोड़ में हिल्लोल-कल्लोल करने वाली लहरों का नर्तन। क्या हम इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि गोस्वामी जी रामचरित रूपी महासागर की शोभा सादृश्यमूलक अर्थात् समग्र अलंकार (भाग त्याग लक्षणा से) पर आधारित मानते हैं।

रामचरितमानस में भारतीय अलंकारशास्त्र में वर्णित स्यात् ही कोई अलंकार हो जो अपने भेद-प्रभेद के साथ अपनी विमुग्धकारिणी विच्छित्ति का ऊर्मि-नर्तन न दिखलाता हो। चाहे वे सादृश्यगर्भ अलंकार हों अथवा विरोध-मूलक, चाहे वे शृंखलाबद्ध अलंकार हों अथवा न्याममूलक, चाहे वे गूढ़ार्थ-प्रतीतिमूल अलंकार हों या वर्गीकरण-वहिष्कृत अथवा उभयालंकार सभी की बाँकी छटा का भ्रू विलास मानस में देखते ही बनता है। प्रयोगाधिस्थ की दृष्टि से सादृश्यमूलक अलंकारों में क्रम है—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, निदर्शना, दृष्टांत, परिकरांकुर, विनोक्ति, सहोक्ति, दीपक, अपह्नुति, परिकर, अप्रस्तुत प्रशंसा, आक्षेप, पर्यायोक्ति, परिणाम। विरोध-

१. मानस १।३०।२

मूलक अलंकारों में क्रम हैं—विरोधाभास, विभावना, विषम, सम, विशेषोक्ति, असंगति, अधिक, अन्योन्य, व्याघात, विचित्र। इसी प्रकार न्यायमूलक अलंकारों में काव्यलिंग, समुच्चय तथा प्रतीप बहुप्रयुक्त हुए हैं। शृंखलामूलक अलंकारों में सार, गूढ़ार्थ; प्रतीतिमूलक अलंकारों में सूक्ष्म; वर्गीकरण बहिष्कृत अलंकार लोकोक्ति आदि सर्वाधिक प्रयुक्त हुए हैं। सभी अलंकारों पर दृष्टिपात किया जाय तो प्रायः एक दर्जन अलंकार—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, काव्यलिंग, अतिशयोक्ति, लोकोक्ति, अर्थान्तरन्यास, समुच्चय, विरोधाभास, विभावना, विषम, तथा उल्लास क्रमशः प्रयुक्त हुए हैं।

रामचरितमानस में सर्वाधिक प्रयुक्त अलंकार उपमा ही है। मानस का शायद ही कोई पृष्ठ मिले जिसमें एक न एक उपमा हीरक-ज्योति बिखेरती न न मिल जाए। कई विद्वान तो उन्हें अपनी उपमाओं में उपमा के लिए सुविख्यात महाकवि दीपशिखा कालिदास से भी श्रेष्ठ मानते हैं।[1] किंतु रामचरितमानस की अलंकरण-पद्धति पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामी जी ने अपनी उपमाओं के सादृश्य एवं साधर्म्य-निर्वाह के लिए ज्ञान के समग्र स्रोतों एवं प्रकृति के सारे वातायनों का उपयोग तो किया है फिर भी उपमा अलंकार की ही ऐसी सीमा है जिसके द्वारा वे अपने मनोभावों की स्पष्ट एवं पारदर्शी अभिव्यक्ति नहीं प्रदान कर पाये हैं। उन्होंने उपमा, स्पष्टतः रूढ़ उपमा, अलंकार की असमर्थता पर मानस में अनेकत्र अपने विचार व्यक्त किये हैं।[2] समाकर्षक एवं यथार्थ वर्णन के लिए उपमेय के पूर्ण सदृश समकक्षीय उपमान चाहिए—ऐसा गोस्वामी जी भली-भाँति जानते थे। उपमा तो गुणलेश साम्य में हो सकती है। इसीलिए जहाँ साधारण का वर्णन अभिप्रेत

१. Tulsidas, although not averse to using the conventional language of Indian poets 'teems with similies', not from the traditions of schools, but from nature herself, and better than Kalidas at his best.—Akbar the great Mogul—Smith, page 304.

२. (क) उपमा सकल मोहि लघु लागीं। प्राकृत नारि अंग अनुरागीं।
सिय बरनिय तेइ उपमा देई। कुकबि कहाइ अजसु को लेई।
मानस १।२४७।१-२

(ख) सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहिं पटतरौं बिदेहकुमारी।
मानस १।२३०।४

है वहाँ तो उपमा से उनका काम चल जाता है किंतु असाधारण के वर्णन-प्रसंग में उन्हें उपमा की डोर छोड़कर उत्प्रेक्षा का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है।

कालिदास यदि उपमा के कवि हैं, भारवि यदि अर्थांतरन्यास के कवि हैं, सुबंधु यदि श्लेष के विधायक है तो गोस्वामी तुलसीदास उत्प्रेक्षाओं के कवि हैं। वस्तुतः उनका काम अपने अभूतपूर्व अनुपम पात्र के वर्णन के लिए जूठी उपमाओं से चल नहीं सका। 'सर्वालंकारसर्वस्व' तथा 'कविकीर्तिविवर्धिनी' उत्प्रेक्षा के द्वारा ही उनकी लोकोत्तरचमत्कारिणी कवि-प्रतिभा अवनि से अंबर का चक्कर लगा सकी। मानस उत्प्रेक्षाओं का रत्नागार है। कवि-कुलकेतन कालिदास ने इंदुमती को 'संचारिणी दीपशिखेव रात्रो' कहकर जिस सौंदर्य-बोध का परिचय दिया है, उससे कहीं अधिक गोस्वामी तुलसीदास ने परम रूपसी अयोनिजा सीता के लिए 'सुंदरता कहँ सुंदर करई, छबिगृह दीपसिखा जनु बरई' कहकर अपनी सौंदर्य-चेतना का अभिसाक्ष्य प्रस्तुत किया है। एक छोटी अर्द्धाली के द्वारा गोस्वामी जी विश्वविश्रुत कालिदास और शेक्सपियर[1] की सौंदर्य-चेतना को चुनौती देते हुए अलंकार-जगत् पर दिग्विजय प्राप्त कर लेते हैं।

गोस्वामी जी रूपक के भी सम्राट बतलाये जाते हैं। वे अपने प्रलंब सांगरूपकों के द्वारा अपने महाकाव्यात्मक औदात्य का पटहनाद करते हैं। संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिंदी में शायद ही कोई कवि मिले जो इतने दीर्घ सांगरूपकों का कुशलतापूर्वक निर्वाह करता हो। मानस के आदि में 'मानस-सर' रूपक तथा अंत में 'ज्ञान दीपक' रूपक है जो सबसे विशाल हैं। वस्तुतः ये ही मानस-प्रासाद के प्रवेशद्वार एवं निर्गम द्वार के सुदृढ़ हीरक-कपाट हैं। इसके अतिरिक्त 'संकर-चाप जहाज', 'तीर्थराज प्रयाग' 'आश्रम-सागर', 'कर्मरथ,' 'काम कटक', 'मोहविपिन' तथा 'संसारविटप', 'मानस-रोग' आदि रूपक हैं जो हमें सद्यः आकृष्ट तो करते हैं किंतु प्रलंब आरोपण शृंखला के कारण बुद्धि-वितर्क में डाल देते हैं। किंतु उत्प्रेक्षाओं में

---

१. Fraility thy name is woman में स्थूल उपमान के लिए सूक्ष्म उपमेय के कारण शेक्सपियर अपने प्रेमियों के द्वारा विश्व के कवियों में बेजोड़ बतलाए गए हैं किंतु गोस्वामी जी ने 'सुंदरता कहँ सुंदर करई, छबिगृह दीपसिखा जनु बरई' सूक्ष्म उपमेय के लिए सूक्ष्म उपमान देकर शेक्सपियर से भी बाजी मार ली है।

गोस्वामी जी की व्योमविहारिणी कल्पनाशीलता हमें कभी भी उलझन में नहीं डालती है।

मानस में प्रायः अलंकारों के साथ-साथ पाश्चात्य अलंकारों का भी विनियोग हुआ है। उनमें प्रमुख अलंकार हैं मेटानमी[१] (Metonomy), सिनकड्की[२] (Synecdoche), हिपलेज[३] (Hypallage), एल्यूजन[४] (Allusion), एपीग्राम[५] (Epigram), परसोनीफिकेशन[६] (Personification), पेथेटिक फेलेसी[७] (Pathetic fallacy), यूफेमिस्म[८] (Euphemism), ओनोमाटोपोइया[९] (Onomatopoeia), तथा इपानफोरा[१०] (Epanphora)।

किंतु जहाँ भी हमारी दृष्टि जाती है प्रायः सर्वत्र ये अलंकार बाहर से पेबंद की तरह चिपकाये नहीं मिलते वरन् कर्ण के कवच-कुंडल की भाँति तथ्य के अभिन्न अंग बन गये हैं।

किसी भी महाकवि को अलंकार-विधान के लिए अप्रस्तुतों का उपयोग करना पड़ता है। साधारण कवि का काव्य केवल इहलोक के अप्रस्तुतों के

---

१. कौसल्या के बचन सुनि भरत सहित रनिबासु।
व्याकुल बिलपत राजगृह मानहु सोक नेवासु। मानस २।१६६

२. सुंदरता मरजात भवानी। जाइ न कोटिहु बदन बखानी। मानस १।१००।४

३. नौमि तिथि मधुमास पुनीता। सकल पच्छ अभिजित हरिप्रीता।
मानस १।१९१।१

४. जीह जसोमति हरि हलधर से। मानस १।२०।४

५. समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाई। मानस १।६९।४

६. सुनत कठिनता अति अकुलानी। मानस २।४१।१

७. नव पल्लव फल सुमन सुहाए। निज संपति सुर रूख लजाए।
मानस १।२२७।३

८. हमहिं तुम्हहिं सरिबरि कसि नाथा। कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा।
मानस १।२८२।३

९. घन घमंड नभ गर्जत घोरा। प्रियाहीन डरपत मन मोरा। मानस ४।१४।१

१०. तपबल रचइ प्रपंचु बिधाता। तपबल बिस्नु सकल जग त्राता।
तपबल संभु करहिं संघारा। तपबल सेषु धरइ महिभारा।
मानस १।७३।२

सौमित्र-वृत्त में ही घिरकर रह जाता है किंतु गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित-मानस में स्थललोक, आकाशलोक और पाताललोक–तीनों लोकों के अप्रस्तुतों को वामन विराट् की भाँति माप लिया है।[1] उनके अप्रस्तुत रूढ़ भी हैं और मौलिक भी, किंतु रूढ़ उपमानों में न तो बासीपन की गंध आती है और न मौलिक उपमानों में निरर्गल होने का अहसास होता है। उनके उपमान चाहे प्राकृतिक हों या लौकिक, शास्त्रीय हों या सांस्कृतिक, परंपरित हों या काल्पनिक सभी उनके अलंकरण को इंद्रधनुषी वैविध्य एवं सौन्दर्य प्रदान करते हैं।

जिन लोगों ने महाकवि बाणभट्ट की कादंबरी एवं हर्षचरित का पारायण किया है, वे इस बात से सुपरिचित हैं कि जब कभी महाकवि किसी घटना, दृश्य या पात्र का वर्णन प्रारंभ करते हैं तो उपमाओं का ताँता बँध जाता है, उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लग जाती है, अप्रस्तुतों का अंबार लग जाता है। महाकवि तुलसीदास भी जब अपने किसी प्रिय प्रसंग का वर्णन आरंभ करते हैं तो एक उपमा, एक रूपक या एक उत्प्रेक्षा से उन्हें संतृप्ति नहीं होती वरन् उपमाओं, रूपकों एवं उत्प्रेक्षाओं की रेलपेल शुरू हो जाती है। बल्कि ऐसा कहना अधिक समीचीन होगा कि 'उनके प्रिय प्रसंगों के सर्वांगीण रोचक वर्णन के समय उपमाएँ करबद्ध प्रार्थना करने लग जाती हैं, उत्प्रेक्षाएँ शिरसा नमन करती हैं तथा रूपक साक्षात् दंडवत् करते हैं। ऐसे अवसरों पर महाकवि भवभूति की यह सूक्ति 'वाग्वशयेवानुवर्तते' उन पर ही सोलहो आने चरितार्थ हो जाती है। कवि जब रामचरित का वर्णन आरंभ करता है तो रूपक पुष्ट उपमाओं की जो घनघटा उमड़ी है उस दृश्य को देखें :

संत समाज पयोधि रमा सी। बिस्वभार भर अचल क्षमा सो।
जम गन मुँह मसि जग जमुना सी। जोवन मुकुति हेतु जनु कासी।
रामहिं प्रिय पावनि तुलसी सी। तुलसिदास हित हिय हुलसी सी।
स्रिवप्रिय मेकल सैल सुता सी। सकल सिद्ध सुख संपति रासी।
सदगुन सुरगन अंब अदिति सी। रघुबर भगति प्रेम परमिति सी।[2]

अलंकारों–विशेषतः सादृश्यमूलक अलंकारों की सफलता स्वतः सिद्ध है

---

1. The poet's eye in a fine frenzy rolling,
Doth glance from heaven to earth from earth to heaven.
—A mid summar's night dream—Shakespeare

२. मानस १।३१।५-७

यदि उनके द्वारा स्वच्छ बिंब निर्मित होते हों। कहना न होगा कि रामचरित-मानस में गोस्वामी जी ने सादृश्यमूलक अलंकारों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार की बिंब सृष्टि में अभूतपूर्व सफलता पाई है।

काव्य में विनियुक्त अलंकारों से कई प्रकार के कार्य संपादित हो सकते हैं :

(१) भावोत्कर्ष ज्ञापन, (२) रूप-प्रभाव-निदर्शन, (३) गुण-प्रभाव निदर्शन, (४) स्वभाव-चित्रण, (५) क्रिया-चित्रण, (६) परिस्थितिगत अनुकूलकता ज्ञापन, (७) पात्र मनःस्थिति ज्ञापन, (८) चरित्रगत रूपरेखांकन, (९) वस्तु का संक्षिप्त एवं चित्ताकर्षक वर्णन, (१०) दृश्य का चित्ताकर्षण, (११) चल-चित्रात्मक त्वरण और (१२) विचार को हृदयंगम करना। इनमें से सभी का विवेचन एवं उदाहरण यहाँ संभव नहीं है। इसीलिए एक दो स्थलों की पर्यालोचना ही अलम् होगी और स्थायी प्रदायक न्याय से गोस्वामी के अलंकार-कौशल का प्रमाण भी प्राप्त हो जाएगा।

रस काव्य का प्राण माना गया है। भाव एवं रस का अविनाभाव सबंध सुज्ञात है। अतः जो अलंकार रस-भाव का उपस्कार करते हैं, वे बड़े सार्थक हैं। मानस में ऐसे ही अधिकांश अलंकार हैं जो भावों को उत्कर्ष प्रदान करने में पूर्ण सक्षम हैं। श्रीराम का आगमन रंगभूमि में हुआ। विभिन्न राजाओं, जनक तथा सीता ने श्रीराम को किस रूप में देखा, उस भाव का चित्रण कवि को अभिप्रेत है। अनुक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षाओं एवं उपमाओं से गूँथा हुआ उल्लेख का हेम-हार राम की विराटता एवं उदात्तता को अभिव्यक्त करने में पूर्णतः सक्षम हुआ है। पंक्तियाँ देखें :

जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी।
देखहिं रूप महा रनधीरा। मनहुँ बीर रसु धरे सरीरा।
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी।
कहे असुर छल छोनिप बेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा।
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन सुखदाई।
नारि बिलोकहिं हरषि हियँ, निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप।१।२४१

यहाँ अलंकार कितने भावोत्कर्ष विधायक एवं आवेग-सहचर हैं कि उसके लिए 'उर अनुभवति न कहि सक कोऊ' की उक्ति ही पर्याप्त होगी।

गोस्वामी जी ने न केवल भावपक्ष की व्यंजना के लिए वरन् रूपपक्ष के मानस-अंकन के लिए अलंकारों का प्रयोग किया। सीता और राम के अनिद्य

अलौकिक अनाविल सौंदर्य के वर्णन में गोस्वामी जी चाहते तो ऐसे अनेक अवसर निकाल सकते थे किंतु उन्होंने फारसी या रीतिकालीन कवियों की ऊहात्मक शैली का पूर्णतः परित्याग कर बिलकुल भिन्न पद्धति अपनायी है। सीता की सुषमा का निरूपण करते हुए वे कहते हैं :

देखि सीय सोभा सुखु पावा । हृदयँ सराहत बचनु न आवा।
जनु बिरंचि सब निज निपुनाई । बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई।
सुंदरता कहँ सुंदर करई । छविगृहँ दीपशिखा जनु बरई ।
सब उपमा कवि रहे जुठारी । केहि पटतरौं बिदेह कुमारी ।[1]

गोस्वामी भाव तथा रूप के साम्य विचार को भी विस्मृत नहीं कर पाते। कविता की चारु चिंतामणि तभी उत्पन्न हो सकती है जब विचारों की वारि वृष्टि हो। इसलिए उनके अलंकार न केवल भावोत्कर्ष में योग देते हैं वरन् विचारों के विशदीकरण में पूरी सहायता प्रदान करते हैं। न वे कीट्स-शैली की तरह कविता के लिए कविता लिखते हैं, न बिहारी जैसे कवियों की तरह केवल कला-प्रदर्शन के लिए कविता लिखते हैं और न वे अश्वघोष की तरह बौद्ध धर्म के सिद्धांतों को ही काव्यायित करने का प्रयास करते हैं।

गोस्वामी जी का रामचरितमानस ब्रह्मानंद सहोदर काव्यानंद के समान-कांतासम्मित उपदेश एवं सद्यः परिनिवृति प्रदान करता है। अतः उन्होंने अपने भक्त्यात्मक एवं आध्यात्मिक विचारों के सम्यक् संप्रेषण के लिए भी अलंकारों का आशातीत उपयोग किया है। उनके अलंकार चकाचौंध पैदा करने के लिए नहीं हैं वरन् कभी अभिभावक या सुयोग्य शिक्षक की भाँति सत्पथ निर्धारण में भी सहायता प्रदान करते हैं। मानस के अनेक स्थल (विशेषतः बालकांड का आदि और उत्तरकांड का अंत) दुस्प्रवेश ग्रंथों की तरह केवल पुस्तकालयों में दीमक के ग्रास बनते, विद्वानों के शिरः शूल्य बनके, दर्शन के फलाकांक्षी छात्रों के निद्रानाशक बनते यदि अलंकारों के मधुपाक द्वारा उन्हें गोस्वामी जी हमारे समक्ष नहीं उपस्थित करते।

एक अर्द्धाली देखें जिसके द्वारा गोस्वामी जी ने रामनाम की महत्ता बड़ी रमणीयता से इन अलंकारों के द्वारा व्यक्त की है :

राम सिंधु घन सज्जन धीरा । चंदन तरु हरि संत समीरा ।[2]

गोस्वामी जी अपना यह विचार मानस पर प्रस्तर-रेख की भाँति सुस्थिर करना चाहते हैं कि राम से बढ़कर राम के दास हैं। इसी को वे दो वाचक-

१. मानस १।२३०।३-४ २. मानस ७।१२।६

धर्म-लुप्ता उपमाओं द्वारा व्यक्त करते हैं। राम सिंधु की तरह हैं तो संत बादल की तरह। राम चंदन वृक्ष की तरह हैं तो भगवद्‌भक्त समीर की तरह। सिंधु में अपार जल भरा रहता है, किंतु वह स्वयं किसी को जल पहुँचाता नहीं। चंदन वृक्ष तो सुगंधि का अधिष्ठान ही है लेकिन वह भी किसी को सुगंधि बाँटता नहीं। राम-सिंधु और चंदन-तरु की तरह विशाल जलराशि एवं अपार सुगंधि वाले हैं अर्थात् वे ज्ञान और भक्ति के अक्षय आदि हैं। राम की अंतर्हित शक्ति एवं स्थितिक ऊर्जा में किसी प्रकार का प्रश्न चिह्न संभव नहीं। किंतु इनके वितरण का श्रेय तो भक्तों पर ही निर्भर है। सिंधु का जल बादल वितरित करता है। चंदन तरु की सुगंधि पवन सर्वत्र पहुँचाता है। जल से शारीरिक तोष एवं सुगंधि से मानसिक तोष होता है। राम ऐश्वर्य से परिपूर्ण हैं, किंतु उसे परोपकार के लिए जन-जन तक पहुँचाने का श्रेय तो हरिभक्तों को ही है। इसके द्वारा वे अष्टादश पुराणों का व्यासोक्त सारवचन 'परोपकाराय-पुण्याय' भी व्यक्त करते हैं। इस तरह यहाँ अलंकार हमारी आस्था को दृढ़ करने में सहायक बन गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानस अलंकारों का कुबेर-कोष है। किंतु इस कुबेर-कोष को भावों के अक्षय मधु-कोष तथा विचारों के अमर-कोष से अलग करके देखना संभव नहीं है। पृथकता उतनी ही मात्रा में द्रष्टव्य है जितनी मात्रा में जल और उसकी सतह पर तैरती हुई लहरों में। जिस प्रकार जल से उसकी लहरों को अलग करके रखना संभव नहीं है, उसी प्रकार मानस-प्रयुक्त अलंकार के बीचि-विलास सीतारामगुणगान के पावन जल से अलग नहीं हो सकते, होते हैं तो अपना अस्तित्व खो देते हैं। अलंकार्य और अलंकृति का, काव्य और कला का ऐसा अर्धनारीश्वर संबंध, रामचरितमानस, केवल रामचरितमानस का स्ववैशिष्ट्य है।

डॉ० गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र'

तुलसी की छंदोयोजना

छंदोदृष्टि से अध्ययन करने की सुविधा के विचार से हम तुलसी-साहित्य को दो कोटियों में वर्गीकृत कर सकते हैं :

१. पदेतर साहित्य—इसकी रचना एक, दो या अनेक प्रकार के छंदों में हुई है।

२. पद-साहित्य—इसकी रचना पद में हुई है।

विनयपत्रिका, गीतावली और कृष्णगीतावली पद-साहित्य के अंतर्गत आती हैं। शेष सभी ग्रंथ पदेतर साहित्य हैं।

पदेतर साहित्य

१. रामचरितमानस—एक महाकाव्य है। महाकाव्य में संपूर्ण जीवन का चित्रण वांछित होता है। जीवन में अनेक प्रकार की परिस्थितियाँ आती हैं। नाना प्रकार के भाव जगते हैं। महाकाव्यकार को उन सभी परिस्थितियों और भावों को वाणी प्रदान करनी पड़ती है। किसी भाव को अभिव्यक्त करने के लिये कवि तदनुकूलछंद को ग्रहण करता है। या यों कहिये कि रचनाकाल में कवि का भाव अपने अनुकूल छंद में ढल जाता है। यही कारण है कि कवि के काव्य में हम अनेक प्रकार के छंदों को पाते हैं। रामचरितमानस में भी अनेक प्रकार के छंद उपलब्ध होते हैं। सामान्यतः समझा जाता है कि इसकी रचना दोहों और चौपाइयों में हुई है। बात ठीक है, किंतु तुलसीदास ने आवश्यकतानुसार अनेक

तरह के भावों को अभिव्यक्त करने के लिये नाना प्रकार के छंदों का भी उपयोग किया है। प्रत्येक कांड के प्रारंभ में लिखित स्तुति-प्रार्थना-परक संस्कृत पद्यों के अनुष्टुप शार्दूल विक्रीडित, वसंततिलका, वंशस्थ, उपजाति, मालिनी, स्नधरा तथा रथोद्धता छंदों के अतिरिक्त रामचरित के वर्णन में दोहा, दोहरा, स्रग्धरा, चौबोला, चौपाई, हरिगीतिका, चौपैया, त्रिभंगी, पद्मावती, तोमर, प्रमाणिका तोटक तथा भुजंगप्रयात छंदों का प्रयोग तुलसीदास ने किया है। इस प्रकार सब मिलाकर रामचरितमानस में २१ प्रकार के छंद मिलते हैं। हरिगीतिका तो बहुशः प्रयुक्त हुआ है, और तोमर एवं तोटक का प्रयोग भी कई स्थलों पर हुआ है। मानस में हरिगीतिका तुलसी का प्रिय छंद प्रतीत होता है, जिसमें उन्होंने वीर, शृंगार, करुणा, भयानक, वीभत्स सभी रसों की अभिव्यंजना सफलतापूर्वक की है। लंकाकांड के अंतर्गत 'मामभिरक्षय रघुकुलनायक' से प्रारंभ होकर 'तुलसीदास प्रभु पाहि प्रनत जन' तक जो साढ़े चार पद्य हैं, वे छंद कहकर अंकित किये गये हैं,[1] किंतु वे चौपाई ही हैं, किसी प्रकार का अन्य छंद नहीं। भानु के अनुसार चौकल नहीं बनने के कारण न तो वे अरिल्ल कहे जा सकते हैं, और न कोई वर्णवृत्त, क्योंकि इनमें वर्णों की संख्या और क्रम समान नहीं।

२. कवितावली—संग्रह-ग्रंथ है, जिसमें समय-समय पर लिखे पद्य संगृहीत किये गये हैं। कवितावली में ५ प्रकार के छंद प्रयुक्त हुए हैं—मनहरण घनाक्षरी, रूपघनाक्षरी, छप्पय, हंसालझूलना और सवैया। सवैये के अनेक प्रकार होते हैं। तुलसीदास ने स्वतंत्र रूप से चार प्रकार के सवैयों का प्रयोग किया है—मत्तगयंद, दुर्मिल, सुंदरी और किरीट। इनके अतिरिक्त कवितावली में ऐसे भी कतिपय सवैये मिलते हैं, जिनमें दो प्रकार के सवैयों का मिश्रण हुआ है। ऐसे सवैयों को लाला भगवान दीन ने पद्य के ऊपर 'उपजाति सवैया' लिखकर अंकित किया है।[2] विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी 'अंतदर्शन' में ऐसे सवैयों को उपजाति कहा है—'सवैयों में मत्तगयंद और दुर्मिल की प्रचुरता है, स्थान-स्थान पर उपजाति सवैया भी बहुत हैं।'[3] पर दोनों में किसी विद्वान ने यह नहीं बताया कि इस उपजाति सवैये में किस-किस सवैये का मेल हुआ है? उपजाति सवैये का निर्माण तुलसीदास ने निम्नलिखित ढंग से किया है—

---

१. मासस ६।५१।१-५
२. कवितावली : टीका भगवान दीन, २। पद्य ५,१२ आदि
३. कवितावली : टीका भगवान दीन, अंतर्दर्शन, पृ० ६६

(क) मदिरा+दुर्मिल (२।१३,७।३४)
(ख) वाम+सुंदरी (७।४६)
(ग) मत्तगयंद+सुंदरी (६।५,१३)
(घ) मत्तगयंद+वाम (६।१४)

लालाजी ने अयोध्याकाण्ड के १३ वें पद्य के ऊपर उपजाति' चाहे इसलिए नहीं लिखा हो कि इसके ऊपर वाले पद्य के ऊपर ऐसा लिखा गया है। किंतु एकाध स्थल पर उन्होंने सवैये के निर्धारण में भी गलती की है। यथा :

गर्भ के अर्भक काटन को पटुधार कुठार कराल है जाको। २३ अक्षर
लघु आनन उत्तर देत बड़ो, लरिहौं, मरिहै, करिहै कछु साको। २५ अक्षर'

इसे लाला जी ने मत्तगयंद माना है। पर है यह उपजाति सवैया, क्योंकि इसकी २३ अक्षर वाली पंक्ति मत्तगयंद की है और २५ वाली सुंदरी की। सवैया सामान्यतः २२ अक्षर से लेकर २६ अक्षर तक का होता है जिसका प्रारंभ मुख्यतः सगण अथवा भगण से होता है। इन्हीं दोनों गणों को ध्यान में रखकर हम सवैये का निर्धारण कर सकते हैं कि अमुक सवैया स्वतंत्र है या मिश्र (उपजाति)। उपरि-उद्धृत सवैये की प्रथम पंक्ति भगण से प्रारंभ होती है और द्वितीय सगण से। साथ ही एक में २३ अक्षर हैं, तो दूसरी में २५ अक्षर। अतः यह उपजाति सवैया है। सुमुखी और वाम सवैयों का प्रारंभ जगण (।ऽ।) से होता है और इनमें क्रमशः २३ और २४ अक्षर होते हैं। यथा :

सुमुखी (ज ७+लग)
सिया सुमुखी हरि फेरि तिन्हें बहु भाँतिन तें समुझाय कहैं।
वाम (ज ७+य)
बनै महि में शुक शारद शेष गणेश महाबुधि मंत समाने।[२]

तुलसीदास ने संभवतः 'सुमुखी' सवैया तो लिखा नहीं, पर 'वाम' का प्रयोग उपजाति में किया है। यद्यपि यह उतना प्रचलित नहीं।

(३) दोहावली—शब्द से प्रतीत होता है कि इसमें दोहों का संग्रह किया गया है। पर इसमें दोहों के साथ सोरठें भी मिलते हैं। इसमें कुल ५७३ पद्य हैं, जिनमें ५५५ दोहे और १८ सोरठे हैं।

---

१. कवितावली १।२०
२. छंदः प्रभाकर, जगन्नाथ प्रसाद भानु, पृ०२०२,२०५

(४) वैराग्य संदीपनी—में कुल ६२ पद्य हैं, जिनमें ४६ दोहे, २ सोरठे तथा १४ चौपाइयाँ हैं। इन चौपाइयों में कहीं-कहीं चौबोले की पंक्ति भी आ गई है। जैसे :

जहाँ सांति सतगुरु की दई। तहाँ क्रोध की जर जरि गई।

(५+६) पार्वती-मंगल और जानकी-मंगल—की रचना हंसगति और हरिगीतिका छंदों में हुई है। हंसगति के एक पद्य को दो अर्द्धालियों में विभाजित कर संख्या बैठाई गई है। जैसे—

गुरु गनपति गिरिजापति। गौरि गिरापति। (१२-८)
सारद सेष सुकवि श्रुति। संत सरल मति।१। (,,)
हाथ जोरि करि विनय। सबहि सिर नावौं। (११-९)
सिय रघुबीर बिवाहु। यथामति गावौं।२। (,,)

—जानकी मंगल।

रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है—'जानकी-मंगल में १९२ मंगल छंद और २४ अन्य छंद हैं।'[1] पता नहीं यह मंगल कौन-सा छंद है और इसका लक्षण क्या है? फिर अन्य छंद कौन-सा छंद है? इसका नामोल्लेख भी त्रिपाठी जी ने नहीं किया।

(७) रामलला नहछू—में प्रयुक्त छंद में 'हो' के सहित २२ मात्रायें हैं। पार्वती-मंगल और जानकी-मंगल के समान कहीं १२ पर और कहीं ११ पर विश्राम है। यथा :

सोचति बदन सकोचति। हीरा माँगन हो। (१२-१०)
× ×
नख काटत मुसुकाहि। बरनि नहि जातहि हो। (११-११)

यदि हम यति पर जोर दें, तो इसके पद्य को हम सुखदा (१२-१०) और उल्लास (११-११) की पंक्तियों का सम्मिश्रण कहेंगे। सुखदा का उल्लेख भानु ने किया है और इसमें १२-१० पर यति देकर अंत में ऽ का रहना बतलाया है।[2] उल्लास का निर्माण रोला (२४ मा०) की अंतिम दो मात्राओं को निकाल देने से होता है। विद्यापति और सूरदास ने इस छंद का प्रयोग किया है। ऐसे किसी छंद का नामोल्लेख किसी छंद शास्त्र में नहीं होने के कारण इसका नाम मैंने उल्लास रक्खा है।[3] पर मैं समझता हूँ 'हो' शब्द अतिरिक्त सांगीतिकता प्रदान

१. रामचरितमानसः भूमिका, पृ० २१६ २. छंद : प्रभाकर, पृ० ६१
३. देखिये—सूरसाहित्य का छंदः शास्त्रीय अध्ययन, पृ० १३६

करने के लिये जोड़ा गया है, जैसा सूरदास आदि कवियों के अनेक पदों में पाया जाता हैं। यथा :

पहिरे राती चूनरी, सेत उपरना सोहै (हो)
कटि लहंगा नीलो वन्यो, को जो देखि न मोहै (हो)
—सूरसागर, पद ४४

स्वयं तुलसीदास के अनेक पदों में संगीत के लिये कुछ अतिरिक्त शब्द जोड़े गये हैं। अतः सुखदा-उल्लास की बात छोड़कर रामलला नहछू में भी हंसगति (११-९ मा०)[1] का ही प्रयोग मानना युक्तिसंगत है। हंसगति रोला की अंतिम चार मात्राओं को निकाल देने से बना है; और रोला का यतिस्थान बड़ा विवादास्पद है। कोई ११ पर और कोई १२ पर यति मानते हैं। तुलसीदास ने यतिविषयक इस स्वच्छंदता का उपयोग पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल और रामलला नहछू तीनों पुस्तकों में किया है। इसीलिए इनकी पंक्तियों में कहीं ११ पर और कहीं १२ पर यति मिलती है।

(८+९) रामाज्ञाप्रश्न और बरवैरामायण—की रचना क्रमशः दोहा और बरवै छंद में हुई है।

(१०+११) हनुमान बाहुक और तुलसी-सतसई—हनुमान बाहुक को तुलसीदास की रचना मानने के पक्ष में अनेक व्यक्ति हैं। यदि यह तुलसी की ही रचना हो, तो भी यह उनके द्वारा प्रयुक्त छंदों की संख्या में कोई वृद्धि नहीं करता। इसमें भी वही छंद प्रयुक्त हुए हैं. जो कवितावली में अर्थात् छप्पय, झूलना-हंसाल, मनहरण और सवैया (मत्तगयंद)। तुलसी-सतसई की भी यही दशा है, क्योंकि इसकी भी रचना दोहों में हुई है। इस प्रकार तुलसी के पदेतर साहित्य में सब मिलाकर २८ प्रकार के छंदों (मानस में २१ और अन्य ग्रंथों में ७ (झूलना-हंसाल, छप्पय, सवैया, मनहरण, रूपघनाक्षरी, हंसगति और बरवै) का प्रयोग हुआ है।

पद-साहित्य

तुलसी के पद-साहित्य के अंतर्गत तीन ग्रंथ हैं—विनय-पत्रिका, गीतावली और कृष्णगीतावली। ये तीनों ग्रंथ आद्यंत पद में रचे गये हैं, जिसमें अनेक प्रकार के छंद प्रयुक्त हुए हैं। किंतु विद्वानों ने इन ग्रंथों के छंदोनिरूपण का प्रयास इसलिए नहीं किया कि उनकी दृष्टि में पद की रचना गाने के लिए

---

१. छंदः प्रभाकर, पृ० ५७

होती है। संगीत को ध्यान में रखकर चाहे पदों की रचना होती रही हो, पर प्रायः समस्त पद छंदोबद्ध हैं, यह कहने में मुझे जरा भी संकोच नहीं। संगीत और छंद दोनों की आत्मा लय है। अतः दोनों अन्योन्याश्रित हैं। अवश्य छंदःशास्त्री लय के लिये किसी छंद की मात्रा-संख्या और वर्ण-व्यवस्था पर जितना ध्यान देता है, उतना संगीतज्ञ नहीं; क्योंकि यह मात्रा की घट-बढ़ की पूर्त्ति आलाप के द्वारा (किसी स्वर का उच्चारण चढ़ा कर अथवा घटा कर) कर लेता है और वह मात्रा की कमी-बेशी के कारण पद्य का शुद्ध पाठ कर नहीं सकता। पर यह नहीं कहा जा सकता कि संगीत के लिये लिखे गये पदों में छंद की शुद्ध पंक्तियाँ नहीं पाई जातीं। तुलसी के इन तीनों ग्रंथों में अधिक पद ऐसे हैं, जो छंदोदृष्टि से सर्वथा ठीक हैं। उन में न तो मात्रा की घट-बढ़ है और न शब्द का व्यतिक्रम। हाँ, इन पदों को खड़ी बोली के शब्दोच्चारण के अनुसार नहीं पढ़ कर ब्रजभाषा आदि बोलियों की उच्चारण-प्रणाली पर पढ़ना होगा, जिनमें गुरु के ह्रस्वोच्चारण की सदैव छूट है। इस प्रणाली से नहीं पढ़ने के कारण ही विश्वनाथप्रसाद मिश्र को निम्नांकित पंक्ति में :

बीस भुज सीस दस खोस गए तबहिं
जब ईस के ईस सौं बैर कीन्हों।

मात्रा की कमी मिली और प्रवाह नहीं मिला।[1] इस पाठ में मात्रा की कमी नहीं, अधिकता है। यह २०-१७ का हंसाल है, पर 'गए' में तीन मात्रायें मानने पर ३८ मात्रायें हो जाती हैं। यदि 'ए' को लघु मान कर पढ़ें, तो मात्रायें भी ३७ हो जायँगी और प्रवाह भी आ जायगा। लाला भगवानदीन ने 'गए' की जगह 'गे' पाठ रखकर दोनों को ठीक कर दिया है (देखिये, लं० का० पद्य १८) पर 'जब' को दूसरी पंक्ति में रक्खा है, जबकि उसे 'तबहिं' के आगे प्रथम पंक्ति में ही रखना चाहिये था। ब्रजभाषा उच्चारण की इस प्रणाली पर पद-साहित्य को पढ़ने से पता चलेगा कि पद-रचना के समय कवि की दृष्टि केवल संगीत पर ही नहीं थी, छंद पर भी उसने समान रूप से ध्यान रक्खा है। फिर भी इन तीनों ग्रंथों में कुछ ऐसे पद हैं, जिनमें मात्राओं या वर्णों की अधिकता या न्यूनता है। फलतः लय खंडित हो जाती है। छंद-शास्त्री को ऐसी पंक्तियों में अप्रतिहत लय नहीं मिलती, गवैया चाहे स्वर को खींच कर लय ठीक कर ले। अब प्रश्न उठता है कि अन्य पदों में छंद की

१. कवितावली : टीका लाला भगवान दीन : अंतर्दर्शन, पृ० ६४

शुद्धता पर ध्यान रखने वाले तुलसी की लेखनी से ऐसे छंदोभ्रष्ट पद या पंक्तियाँ कैसे लिखी गई ? मैं यह तो नहीं मान सकता कि ऐसी छंदःत्रुटि संगीत के चलते हुई है। यदि ऐसी बात होती, तब तो ऐसी त्रुटि प्रत्येक पद में पाई जाती। अतः मेरा कहना है कि या तो कवि यहाँ चूक गया है या यह लिपि कर्त्ता अथवा संपादक का प्रमाद है। तुलसीदास भी ऐसा दोष कर सकते हैं, इसकी पुष्टि के लिये 'कवितावली' की अनेक पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं, जो संगीत के लिये नहीं छंद को दृष्टि में रखते हुए लिखी गई थीं। यथा :

(क) भूप मंडली प्रचंड चंडीस-कोदंड खंड्यौ
चंड बाहुदंड जाको ताही सों कहतु हौं।[1]

(ख) तापस वेषैं बनाइ, पथिक पथै सुहाइ,
चले लोक-लोचननि सुफल करन है।[2]

(ग) ईस न गनेस न, दिनेस न, धनेस न,
सु रेस। सुर गौरि गिरापति नहिं जपने।[3]

(क) और (ख) में प्रवाह इसलिये नहीं है कि एक में सम विषम विषम का (भूप मंडली प्रचंड) और दूसरे में विषम सम विषम (तापस वेषैं बनाइ) का प्रयोग हुआ है। (ग) में 'सु' पर यति होने के कारण लय बाधित हो गई है। इसी प्रकार मानस में प्रयुक्त हरिगीतिका छंद की अनेक पंक्तियाँ यति-भंग-दोष से पीड़ित हैं। जैसे :

बहु जिनस प्रेत पिसाच जोगि ज। मात बरनत नहिं बनै।[4]

पाद-गत ऐसी त्रुटियों के लिये कवि अवश्य दोषी है, पर पद-साहित्य में पाई जाने वाली अनेक त्रुटियों के लिये लिपिकर्त्ता और संपादक भी कम उत्तरदायी नहीं। लिपिकर्त्ता के प्रमाद और संपादक की असावधानता तथा छंदोविषयक अज्ञान के कारण भी पदों में ऐसी त्रुटियाँ टपक पड़ी हैं। नीचे हम दो-एक पदों को उद्धृत कर यह दिखलाने का प्रयास करेंगे कि किस प्रकार किंचित् परिवर्त्तन से पद छंदोदोष से मुक्त हो जाता है :

दारु सरीर, कीट पहले सुख
सुमिरि सुमिरि बासर निसि धुनिये।

---

१. कवितावली १।१८ २. कवितावली २।१७ ३. कवितावली ७।७८
४. मानस १।६३ छंद

ये सनेह सुचि अधिक अधिक रुचि
बरज्यो न करत कितो सिर धुनिये ।[1]

ये पंक्तियाँ सूरघनाक्षरी छंद की है[2] जिसमें ३० अक्षर होते हैं। यहाँ पहली पंक्ति में ४ और दूसरी में २ अक्षर कम हैं। 'दारु सरीर' के पहले छेद रहे' और 'ये सनेह' के पहले 'नैन' रख देने से अक्षर-संख्या पूरी हो जाती है और प्रवाह भी आ जाता है। टीकाकार ने इसके अर्थ में संगति लाने के लिये उपर्युक्त शब्दों का व्यवहार किया है, पर पद में इन्हें समाविष्ट नहीं किया।[3] कैसे करते ? तुलसीदास की वाणी है न! अवश्य टीकाकार या संपादक को कवि के पाठ में कुछ जोड़ने या घटाने का अधिकार नहीं है। पर आप के पास क्या प्रमाण है कि तुलसी ने ठीक ऐसा ही लिखा था ? क्या लिपिकर्ता के प्रमाद से इन शब्दों का छूट जाना संभव नहीं ?

एक दूसरा उदाहरण लीजिये :

सब बिपरीत भए माधव (के) बिनु (आज)
हित जो करत अनहित की करनि।
तुलसीदास स्याम सुंदर (के) बिरह की (री)
दुसह दसा सो मो पै परति नहीं बरनि।[4]

यहाँ भी सूरघनाक्षरी छंद है। पर प्रथम चरण में तीन और द्वितीय में दो अक्षरों की कमी है। कोष्ठक-गत शब्दों के रख देने से कवि का भाव ज्यों का त्यों रहता है, पर पद छंदो दोष से मुक्त हो जाता है, और मैं समझता हूँ कि गवैये को भी इसे गाने में कोई अड़चन नहीं होगी। इसी प्रकार अनेक पदों की त्रुटि-पूर्ण पंक्तियों का आसानी से सुधार हो सकता है। इसीलिए मेरा कहना है कि पुराने पद्य-ग्रंथों के संपादन-काल में उनकी छंदोदृष्टि से भी परीक्षा अवश्य होनी चाहिये और आसानी से दूर होने वाले दोषों को अवश्य दूर कर देना चाहिये। इससे कवि के काव्यों की भलाई ही होगी, बुराई नहीं।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि तुलसी के पद-साहित्य का संपादन छंदोदृष्टि से नहीं हुआ है। इसीलिए उसमें स्थलविशेष पर छंदोदोष दिखलाई पड़ जाते हैं। पर यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी सृष्टि छंद पर ध्यान रख कर नहीं की गई है और चूँकि उसकी रचना संगीत के नियमानुसार

१. कृष्णगीतावली ३७
२. देखिये—सूरसाहित्य का छंद : शास्त्रीय अध्ययन (परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद) पृ० ४०४
३. श्रीकृष्णगीतावली : गीता प्रेस, पृ० ७१
४. कृष्णगीतावली ३०

हुई है अतः उसमें कोई छंद नहीं है। तुलसी के छंद का विशाल वैभव तो इसी पद-साहित्य में देखने को मिलता है। पर इन तीन ग्रंथों के छंद आज तक नहीं परखे गये। रामनरेश त्रिपाठी ने 'तुलसी के छंद' शीर्षक में स्पष्ट लिख दिया है—'इसमें विनयपत्रिका और गीतावली के छंद नहीं दिये गये हैं।'[1] ठीक है, पर क्या कृष्णगीतावली के छंद दिये गये हैं? रामलला नहछू जैसी साधारण पुस्तक के छंद का उल्लेख किया गया (चाहे वह गलत ही क्यों न हो) पर विनयपत्रिका, गीतावली तथा कृष्णगीतावली जैसे उत्कृष्ट ग्रंथों में प्रयुक्त छंद छोड़ दिये गये। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि विद्वानों ने पद-साहित्य की छांदसीय दृष्टि से सर्वथा उपेक्षा की है। पद-साहित्य छंदों का विपुल भंडार है। सूर-साहित्य में प्रयुक्त छंदों को देखते हुये यह सहज ही कहा जा सकता है कि छायावाद-काव्य में प्रयुक्त नये कहे जाने वाले अनेक छंद पुराने हैं।

वस्तुतः पद में और छंद में टेक (छंदक) के अतिरिक्त कोई अंतर नहीं है। स्वरूप की दृष्टि से हम पद को बहुत दूर तक अनुच्छेद कह सकते हैं, जिसका निर्माण कवि एक छंद से या अनेक छंदों के मिश्रण से करता है। साथ ही जिसमें कवि अपने भावानुसार चाहे जितनी पंक्तियाँ रख सकता है। एक-एक पद एक-एक अनुच्छेद या पद-बंध है, जो अपने में पूर्ण है, साथ ही गीतात्मकता भी लिये हुये हैं। संस्कृत शास्त्रीय परिभाषा में यह पद मुक्तक काव्य की श्रेणी में आता है। तुलसी के पद-साहित्य को भी हम इसी श्रेणी में रख सकते हैं, जिसके पदों के ऊपर सामान्यतः एक टेक है (किसी-किसी में नहीं भी है) और जिनका निर्माण एक छंद या विभिन्न छंदों में हुआ है।

तुलसीदास ने अपने पद-साहित्य में जिन छंदों का स्वतंत्र रूप से प्रयोग किया है। मात्रा-संख्या-क्रम से वे निम्नलिखित हैं :

(क) सममात्रिक साधारण (३२) मात्रा तक के छंद) :

चौपाई, पद्धरि, अरुण, योग-कल्प, प्रणय, कुंडल, उपमित, रास, उपमान, रूपमाला, रोला, विष्णुपद, सरसी, सार, हरिगीतिका, मरहटामाधवी, ताटंक, उत्कंठा, वीर, समान-सवैया = २०

(ख) सममात्रिक दंडक (३२ मात्रा से ऊपर के छंद) :

हंसाल, मानवती, विजया, विनय, हरिप्रिया = ५

(ग) अर्द्धसम मात्रिक :

दोहरा, दोहकीय = २

---

१. रामचरितमानसः भूमिका, पृ० २६३

(घ) वर्णिक मुक्तक साधारण :
पयार, मिताक्षरी, जागरण=३

(ङ) वर्णिक मुक्तक दंडक :
नागर, गोरस, सूरघनाक्षरी, मनहरण घनाक्षरी, रूपघनाक्षरी, जलहरण=४६

इन स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त ३६ छंदों के अतिरिक्त ऐसे ७ छंद और हैं, जिनका प्रयोग स्वतंत्र रूप से न होकर किसी छंद के साथ मिश्रित रूप में हुआ है। वे छंद हैं :

समछंद–सखी, हाकलि, चौपई, नाग, गीता और झूलना=६

अर्द्ध समछंद–दोहा=१

इस प्रकार सब मिलाकर पद-साहित्य में ४३ छंदों का प्रयोग तुलसीदास ने किया है।

उपर्युक्त ४३ छंदों का प्रयोग संपद-रूप में हुआ है। इनके अतिरिक्त जिन छंदों का प्रयोग छंदक (टेक) में हुआ है, वे निम्नलिखित हैं :

शशिवदना, लीला, उल्लाला, सुलक्षण, उज्ज्वलामात्रिक, गोपी, पदपादाकुलक, शृंगार, रूपोज्ज्वला, राम, माली, विजयकरी, पुरारि, राजीवगण, योग, सुखदा=१६

इस प्रकार तुलसी के पद-साहित्य के अंतर्गत संपद और छंदक दोनों में प्रयुक्त छंदः प्रकार की संख्या ५९ होती है।

ऊपर हम कह आये हैं कि तुलसी के पदेतर साहित्य में २८ प्रकार के छंद प्रयुक्त हुये हैं। इन २८ में हंसाल-झूलना, मनहरण, रूपघनाक्षरी, दोहा, दोहरा, चौपाई, और हरिगीतिका—इन ७ छंदों का प्रयोग पद-साहित्य में भी हुआ है। अतः यह कहा जा सकता है कि तुलसीदास ने अपने संपूर्ण साहित्य की रचना ५९+२१=८० प्रकार के छंदों के द्वारा की है। सूरदास द्वारा प्रयुक्त छंदः प्रकार की संख्या १०९ (संपद ७९, छंदक ३०) है। पर जहाँ सूरदास ने मात्रिक और मुक्तक वर्णवृत्त का ही प्रयोग किया है, एक भी गणात्मक वर्णवृत्त का प्रयोग नहीं किया, वहाँ तुलसीदास के मानस में ११ प्रकार के वर्णवृत्त भी प्रयुक्त हुए हैं, जिनमें १० में संस्कृत का और एक (तोटक) में हिंदी भाषा का प्रयोग हुआ है। गणात्मक वर्णवृत्त के रूप में सवैये का भी प्रयोग तुलसीदास ने किया है।

छंदोबद्ध पदों के अतिरिक्त तुलसी के पद-साहित्य में कुछ ऐसे पद भी

उपलब्ध होते हैं, जिनके संबंध में यह कहा जा सकता है कि इन पदों का निर्माण संगीत को ही दृष्टि में रखकर किया गया है। इनमें पाद की असमानता, उसी प्रकार मिलती है, जिस प्रकार हरिदास, सूरदास मनमोहन आदि गवैयों के पदों में। हाँ हरिदास आदि के विपरीत तुलसीदास ने इन पदों में भी एक क्रम रक्खा है। ये पद कुछ छोटी और कुछ बड़ी पंक्तियों से गठित हैं, जिनमें एक छोटी के बाद एक बड़ी पंक्ति नियमानुसार रक्खी गई है। छोटी में प्रायः एक यति-स्थान है और बड़ी में दो। पर इन छोटी और बड़ी पंक्तियों में न तो मात्रा की समानता है और न गति-आधार की। अवश्य कुछ चरण अथवा चरणांश ऐसे हैं, जो किसी छंद के अंतर्गत आ जाते हैं। पर समष्टिगत समानता के अभाव में ऐसे पदों में कोई छंद नहीं बतलाया जा सकता। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भी कुछ ऐसे पदों की रचना की है, जिनके निर्माणोद्देश्य में संगीत ही काम करता है। तुलसीदास के ऐसे २६ पद भी संगीत की ही संपत्ति है।[1] अतः ये पद गीतात्मक पद कहे जा सकते हैं। अमीर खुसरो, गोपाल नायक, हरिदास, बैजूबाबरा, तानसेन के ऐसे पदों को नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ने पद न कह कर ध्रुपद कहा है।[2] इन २६ के अतिरिक्त शेष ६४४ पद छंदोबद्ध हैं।

सूरदास की तरह तुलसीदास ने भी ऐसे छंदकों का प्रयोग किया है, जिनका निर्माण दो छंदों के चरणों को एक इकाई मानकर अथवा किसी छंद के आगे-पीछे कुछ मात्राओं के योग से किया गया है। यथा :

(क) ५ मा० + शशिवदना (१५ मा०)

रणजीति। राम राउ आये।[3]

(ख) २ मा० + चौपाई (१७ मा०)

प्रिय। निठुर बचन कहे कारन कवन।[4]

---

१. विनयपत्रिका पद ४२, २६५ से २७६ तक = १६
गीतावली, बालकांड, पद १२-१५, ३०, ७५, १०३ = ७
अयोध्याकांड, पद २५ = १
सुंदरकांड, पद १५ = १
लंकाकांड, पद ११ = १
२६

२. संगीतज्ञ कवियों की हिंदी रचनायें : विहंगावलोकन, पृष्ठ १२

३. गीतावली ६।२२ ४. गीतावली २।८

(ग) ३ मा० + गोपी (१८ मा०)

तात। विचारो धौं, हौं क्यों आवौं।[1]

(घ) ७ + अहीर (१८ मा०)

केकयी करी। धौं चतुराई कौन।[2]

(ङ) ५ + उल्लाला (१८ मा०)

भरोसो। जाहि दूसरो सो करो।[3]

(च) ५ + हाकलि (१९ मा०)

भरोसो। और आइहै उर ताके।[4]

सोइये। लाल लाडिले रघुराई।[5]

(छ) ३ + चौपाई (१९ मा०)

नाम। राम, रावरोई हित मेरे।[6]

अवधि। आजु किधौं औरो दिन ह्वैहै।[7]

(ज) सुगति + महानुभाव[8] (१९ मा०)

सुनी मैं सखि। मंगल चाह सुहाई।[9]

(झ) सुगति + लीला (१९ मा०)

लेत भरि भरि। नीर कान्ह कमल नैन।[10]

(ञ) अखंड + लीला (२० मा०)

देव, दूसरो। कौन दीन को दयालु।[11]

(ट) उल्लाला + सुगति (२० मा०)

पौठिये लालन पालने। हौं झुलावौं।[12]

(ठ) शशिवदना + ज्योति (२० मा०)

देखे राम पथिक। नाचत मुदित मोर।[13]

(ड) ६ + हाकलि (२० मा०)

ताकी सिख। ब्रज न सुनैगो कोउ भोरें।[14]

---

१. गीतावली २।७२ २. गीतावली २।८३ ३. विनयपत्रिका २२६
४. विनयपत्रिका २२५ ५. गीतावली १।१९
६. विनयपत्रिका २२७ ७. गीतावली ६।१७
८. देखिये—सूरसाहित्य का छंदः शास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ ६३
९. गीतावली २।८९ १०. कृष्णगीतावली १५ ११. विनयपत्रिका १५४
१२. गीतावली १।१८ १३. गीतावली ३।१ १४. कृष्णगीतावली ४४

(ढ) ५+चौपाई (२१ मा०)

आपनो । हित रावरे सों जो पै सूझै ।[१]

(ण) दीप+अहीर (२१ मा०)

रहे ठगि से नृपति । सुनि मुनिवर के बयन ।[२]

(त) शशिवदना+महानुभाव (२२ मा०)

काहू सों काहू । समाचार ऐसे पाए ।[३]

(थ) महानुभाव+अहीर (२३ मा०)

मेरे रावरिये गति । रघुपति है बलि जाउं ।[४]

(द) ६+सुलक्षण (२३ मा०)

सदल सलषन हैं । कुसलकृपालु कोसल-राउ ।[५]

बनतें आइकैं राजा राम भए भुआल ।[६]

(ध) महानुभाव+चौपाई (२८ मा०)

आली री ! राघो के । रुचिर हिंडोलना झूलन जैए ।[७]

तुलसीदास के छंदकों का यह अध्ययन बताता है कि वे छंद के प्रयोग में उतने सतर्क नहीं रहे जितने सूरदास । सूरदास के छंदकों में भी कहीं-कहीं अव्यवस्था है, पर उतनी नहीं, जितनी तुलसी में । सूरदास ने भी उपरिलिखित प्रकार से छंदकों का निर्माण अवश्य किया है, पर ऐसे छंदकों की संख्या सूर-साहित्य में बहुत कम है । तुलसी के छंदक की अस्त-व्यस्तता के लिये निम्न पंक्ति देखी जा सकती है :

गरैगी जीह जो कहौं और कौं हौं ।[८]

यह पंक्ति किसी मात्रिक छंद के अंदर नहीं आ सकती । 'जीह' को 'जिहा' कर देने से यह भुजंग प्रयात (यगण ४) की पंक्ति हो जाती है । इसी प्रकार :

सहेली सुनु सोहिलो रे ।[९]

में यदि 'सोहिलो' की जगह 'सहीलो' पाठ कर दिया जाय, तो यह विजात छंद की पंक्ति बन सकती है ।

तुलसीदास की छंदोयोजना के बाद अब उनके छंद प्रयोग पर भी दृष्टि डाल लेना आवश्यक है । छंद प्रयोग के परीक्षण में सर्व प्रथम हमारी दृष्टि छंद की गति या लय पर जाती है । गति-भंग के कारणों में एक कारण निश्चित स्थान

---

१. विनयपत्रिका २३८   २. गीतावली १।५१   ३. गीतावली २।८८
४. विनयपत्रिका १५३   ५. गीतावली ५।४   ६. गीतावली ७।१
७. गीतावली ७।१८   ८. विनयपत्रिका २२६   ९. गीतावली १।२

पर यति नहीं देना है। पर यह यति-भंग ऐसा दोष है, जिससे शायद ही कोई कवि बच सका हो। तुलसी के पदेतर साहित्य में हम यह दोष दिखला आये हैं। पद-साहित्य के अंदर भी कुछ पंक्तियाँ ऐसी हैं, जो यति-दोष से पीड़ित है। इस यति-गति को छोड़कर छंदः प्रयोग की अन्य विशेषताओं पर जब हम ध्यान देते हैं, तो मुख्यतः तीन बातें हमारे सामने आती हैं :

(क) कवि का भावानुकूल छंद का प्रयोग
(ख) कवि का भावाभिव्यक्ति के लिये नूतन छंद का निर्माण
(ग) कवि का विशेष छंद या छंदों के प्रति रुझान

भावानुकूल छंद पद्य में स्वारस्य ला देता है, इसीलिए कवि भाव के अनुकूल छंद का चयन करता है। भावानुकूलता को दृष्टि में रखकर ही पद-रचयिताओं ने कभी-कभी एक ही पद में कई छंदों का प्रयोग किया है। तुलसीदास ने भी इस स्वतंत्रता का उपयोग अपने पद-साहित्य में किया है। किंतु, अधिकांशतः उन्होंने एक ही छंद में पूरे पद को निबद्ध किया हैं। सार-ताटंक, सार-विष्णुपद, सरसी-सार, दोहा-दोहकीय, हंसाल-मानवती आदि का प्रागाथिक प्रयोग कुछ ही पदों में हुआ है। ऐसा मिश्रण भाव के लिए तो होता ही है, कभी-कभी कवि-प्रयत्न-शैथिल्य-वश भी हो जाता है। अतः तुलसी-साहित्य में मिश्र या प्रागाथिक छंदों की संख्या अपेक्षाकृत कम देखकर यह कहना पड़ता है कि तुलसी-छंद प्रयोग में अन्य पद-रचयिताओं की अपेक्षा अधिक सतर्क थे। इस सतर्कता के अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि भाव की एकनिष्ठता के कारण उन्होंने प्रायः एक पद में एक ही छंद का प्रयोग किया है। पर जहाँ भावों की भिन्नता है, वहाँ दो-तीन छंदों के मिश्रित प्रयोग करने में भी वे नहीं चूके हैं।

एक लयाधार पर चलने वाले दो-तीन छंदों का मिश्रण तो आसानी से हो सकता है। जैसे उपर्युक्त सार-सरसी विष्णुपद आदि छंद इसलिये आसानी से मिल सकते हैं, कि ये सभी समप्रवाही हैं, इनका लायाधार एक हैं। पर कवि लोग कभी-कभी ऐसे दो-तीन छंदों का मिश्रण भी कर देते हैं, जो भिन्न लयाधार पर चलने वाले हैं विद्यापति के द्वारा चौपई और हरिगीतिका[1] का तथा सूरदास-द्वारा चौपाई और हरिगीतिका[2] का मिश्रण ऐसा ही प्रयोग है। तुलसीदास ने भी चौपाई-

१. विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, पद २१५
२. सूरसागर, पद १६६०,४८०५

हरिगीतिका, योग-कल्प-हरिगीतिका, दोहा-दोहरा-हरिगीतिका आदि प्रागाथिक छंद लिखकर इस ओर अपनी रुचि दिखलाई है। इन दोनों भिन्न लयाधारों पर चलने वालों छंदों को एकात्म करने का (चौपाई अथवा योग कल्प की अंतिम पंक्ति के शब्द और भाव की आवृत्ति हरिगीतिका के प्रारंभ में करने का) उनका प्रयास भी वैसा ही है, जैसा सूरदास का।

छंदः शास्त्री प्रस्तार के आधार पर नूतन छंद का निर्माण करता है, और कवि प्रचलित छंद की दो-एक मात्रा को घटा-बढ़ा कर। गोरखनाथ में समान सवैया, विद्यापति में नागा उल्लास, रजनी एवं गीता के दर्शन सबसे पहली बार होते हैं। इन छंदों के अतिरिक्त विद्यापति ने और दो छंदों (१४-६, १४-१० मात्रा वाले) का निर्माण किया है, जिसका नामकरण आजतक नहीं हो सका। जैसे--

(क) विपत अपत तरु पा ओल रे
पुन नव नव पात।[1]
(ख) चानन भेल विषम सर रे
भूषन भेल भारी।[2]

कबीर-काव्य में भी दो नये छंद सर्वप्रथम मिलते हैं, वे हैं मत्त-सवैया (३२ मा०) और वदन सवैया (३३ मा०)[3] सूरदास ने पच्चीसों नूतन छंदों की उद्भावना की। तुलसीदास के पदों में शास्त्रोल्लिखित प्राचीन छंदों के अतिरिक्त विनय, प्रणय, मिताक्षरी, उत्कंठा, उपमित सूरघनाक्षरी, मानवती, नागर, गोरस आदि नूतन छंदों का भी प्रयोग हुआ है। पर ये सारे छंद सूरदास-द्वारा पहले ही आविष्कृत हो चुके थे। अवश्य तुलसीदास ने ऐसे दो छंदों का प्रयोग किया है, जो सूर-द्वारा प्रयुक्त नहीं हुए हैं। वे हैं—१४ अक्षरपादी बँगला का पयार और २६ अक्षरपादी जागरण छंद। पयार का प्रयोग तुलसी के बहुत पूर्व गोरखनाथ कर चुके थे। जागरण अवश्य तुलसी की सृष्टि है। प्रागाथिक छंद के रूप में दोहा-दोहरा-हरिगीतिका और योग-कल्प-हरिगीतिका का मिश्रण तुलसी की अपनी उद्भावना है। साथ ही उन्होंने कुछ ऐसें पदों की भी सृष्टि की है जिन्हें हम गीतात्मक पद कह आये हैं। इस प्रकार नूतन छंद सृष्टि के नाम पर तुलसी की छंदः शास्त्र को देन केवल एक जागरण छंद है।

१. विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, पद २०७
२. विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, पद २०६
३. देखिये—सूरसाहित्य का छंद; शास्त्रीय अध्ययन, पृ० २५६

विद्यापति के विपरीत और सूरदास के समान तुलसीदास ने छोटे-बड़े सभी प्रकार के छंदों के प्रयोग में अपनी रुचि दिखलाई है। उनके साहित्य में जहाँ ४६ मात्रापादी हरिप्रिया का प्रयोग हुआ है वहाँ १२ मात्राओं के तोमर का भी। सार सभी पद-रचयिताओं का प्रिय छंद रहा है। तुलसी के पद-साहित्य में भी सर्वाधिक संख्या सार की ही है। सार में १७७ पद निबद्ध हैं। सार के बाद दूसरा स्थान समान सवैये का है। कबीर की तरह तुलसी ने भी सरसी को वह महत्त्व नहीं दिया, जो महत्त्व उसे सूरदास से मिला था। सप्तक के आधार पर चलने वाले छंदों में गीतिका का प्रयोग तुलसी-साहित्य में नहीं मिलता। ३ पदों की रचना हरिगीतिका में और ४५ पदों की रचना रूपमाला में अवश्य हुई है। पद-साहित्य के आधार पर हरिगीतिका तुलसी का प्रिय नहीं माना जा सकता। रामचरितमानस, जानकी-मंगल तथा पार्वती-मंगल में इस छंद की ओर उनका विशेष झुकाव अवश्य परिलक्षित होता है। मानस की रचना आद्योपांत दोहा-चौपाई में हुई है। दोहावली आदि में केवल दोहे ही हैं। इस आधार पर दोहा-चौपाई तुलसी के प्रिय छंद माने जा सकते हैं। हरिगीतिका, सार का नंबर इनके बाद ही आ सकता है। हिंदी के छंद त्रिकल, चतुष्कल, पंचकल, षट्कल, सप्तक तथा अष्टक के आधार पर चलते हैं। तुलसी-साहित्य में इन सभी आधारों पर चलने वाले छंद मिल जाते हैं।

वर्णिक मुक्तक का प्रयोग तुलसीदास ने सूरदास की अपेक्षा अधिक किया है। जहाँ सूरदास ने ५००० पदों में केवल ७३ पदों में वर्णवृत्त का प्रयोग किया है वहाँ तुलसीदास के पद-साहित्य में ६७० पदों में ही १०० की रचना वर्णवृत्त में हुई है। इसके अतिरिक्त कवितावली और हनुमान-बाहुक में भी इन्होंने कवित्त लिखे हैं। इन दोनों ग्रंथों में सवैये का प्रयोग भी हुआ है। तुलसी के पूर्व विद्यापति और कबीर में न तो कवित्त मिलता है और न सवैया ही। सूरदास में कवित्त तो मिलता है, पर सवैया नहीं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि तुलसीदास ने मात्रिक, गणात्मक वर्णवृत्त तथा वर्णिक मुक्तक—सभी प्रकार के छंद प्रकारों का उपयोग कर अपने साहित्य की सृष्टि की है।

डॉ० कैलाशचंद्र भाटिया :

तुलसी-काव्य का भाषाशास्त्रीय अध्ययन

तत्कालीन लोकभाषा पर असाधारण अधिकार रखने वाले महान् कवि तुलसीदास जी का संस्कृत-ज्ञान भी असाधारण था। तुलसीदास जी ने संस्कृत-भाषा में भी स्तुतिपरक श्लोक एवं प्रार्थनाओं की रचना की, जिनको हिंदी जानने वाले आसानी से समझ सकते हैं। साहित्यिक हिंदी के दो प्रधान रूपों-पश्चिमी तथा पूर्वी हिंदी को आपने समान रूप से अपनाया है। पश्चिमी हिंदी के ब्रज-रूप में आपने अपने प्रौढ़ ग्रंथों की रचना की। ये ग्रंथ हैं–विनयपत्रिका, कवितावली, गीतावली, कृष्ण-गीतावली तथा दोहावली। ये सभी ग्रंथ काव्यत्व की दृष्टि से भी उत्कृष्ट हैं, किंतु सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रंथ रामचरितमानस बैसवाड़ी अवधी में लिखा गया है। अवधी के पूर्वी प्रसिद्धरूप में रामलला-नहछू, बरवै-रामायण तथा पश्चिमी रूप में पार्वती-मंगल और जानकी-मंगल ग्रंथ हैं। इस प्रकार तुलसी का अनेक भाषाओं, उपभाषाओं तथा बोलियों पर अधिकार था। यही कारण है कि दास जी ने तुलसीदास जी के विषय में इस प्रकार कहा था :

तुलसी गंग दुवौ भये, सुकबिन के सरदार।
इनके काव्यन में मिली, भाषा बिविध प्रकार।

तुलसी के समक्ष सबसे प्रधान समस्या थी–'संस्कृत बनाम लोकभाषा' जिसका स्पष्ट उल्लेख उन्होंने दोहावली में किया है :

का भाषा[1] का संसकृत, प्रेम चाहिये साँच ।
काम जु आवै कामरी, का लै करिअ कुमाच ।[2]

अर्थात् क्या भाषा, क्या संस्कृत ? श्री भगवान के गुण गाने के लिये तो सच्चा प्रेम चाहिये । जहाँ कंबल ही से काम चल जाता है, वहाँ बढ़िया दुशाला लेकर क्या करना, तुलसी ने कुछ अन्य स्थानों पर भी इसका उल्लेख किया है :

भाषा बद्ध करबि मैं सोई । मोरे मन प्रबोध जेहिं होई ।[3]

यह लोकभाषा संस्कृत के समक्ष गँवारू समझी जाती होगी :

स्याम सुरभि पय बिसद अति, गुनद करहिं सब पान ।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस, गावहिं सुनहिं सुजान ।[4]

अर्थात् श्याम गौ काली होने पर भी गाय का दूध उज्ज्वल और गुणकारी होता है । यही समझ कर सब लोग दूध पीते हैं । इसी तरह गँवारू भाषा होने पर भी सीताराम के यश को बुद्धिमान लोग बड़े चाव से गाते, सुनते और सुनाते हैं ।

तुलसी की भाषा पर अनेक विद्वानों ने विचार-विमर्श किया है, जिसमें उल्लेखनीय कार्य निम्नांकित हैं :

विदेशी विद्वानों द्वारा :

१. कैलोगहिन्दी—ग्रामर : तुलसीकृत मानस पर आधारित
(The which are treated the high Hindi, Braj and the Eastern Hindi of the Ramayan of Tulsidas)

---

१. 'भाषा' का प्रयोग देशी भाषा के लिये होता आया है । आठवीं शताब्दी में स्वयंभू ने भी अपनी रामायण में लिखा था :

सक्कय-पायय - पुलिणा - लंकिय । संस्कृत - प्राकृत - पुलिनालंकृत ।
देसी - भासा - उभय - तडुज्जल । देशी भाषा दोउ तठ उज्जवल ।
कवि-कुक्कर-घण-सद्द सिलायल । कवि-दुष्कर-घन-शब्द शिलातल ।
—राहुल हिंदी-काव्यधारा से :

तथा

कीर्तिलता में विद्यापति ने भी कहा था :

देसिल बअना सब जन मिट्ठा ।

साथ ही यही भाव कबीर की इस पंक्ति में भी व्याप्त है :

संसकीरत है कूप जल भाषा बहता नीर ।

२. दोहावली, ५७२   ३. मानस १।३१।१   ४. मानस १।७० ख

२. ग्रीव्ज—रामायण के आधार पर व्याकरण।

भारतीय विद्वानों द्वारा :

१. डॉ० बाबूराम सक्सेना—अवधी के विकास। (Evolution of Awadhi)

२. डॉ० सूर्यकांत—तुलसी शब्दानुक्रमणिका।

(Index Verborium of the Ramayan of Tulsidas)

३. डॉ० देवकीनंदन श्रीवास्तव—तुलसी की भाषा

शोध-प्रबंध, सं० २०१४, लखनऊ, वि०वि०।

उपर्युक्त सभी कार्यों में उल्लेखनीय एवं सर्वांगपूर्ण कार्य डा० श्रीवास्तव के शोध-प्रबंध में है। इससे पूर्व तुलसी-संबंधी आलोचनात्मक ग्रंथों एवं निबंधों में यत्र-तत्र मिश्रबंधु, पं० रामचंद्र शुक्ल, बाबू श्यामसुंदरदास, डा० माताप्रसाद गुप्त आदि ने विचार व्यक्त किये हैं। डा० श्रीवास्तव ने समस्त तुलसी-साहित्य के आधार पर भाषा का व्याकरणिक ढाँचा प्रस्तुत किया है, जिसमें ब्रज तथा अवधी को पृथक-पृथक नहीं रखा गया है। इस संबंध में उनके विचार द्रष्टव्य हैं :

"प्रायः सभी रचनाओं में दोनों बोलियों (ब्रज तथा अवधी) का रोचक सम्मिश्रण दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि तुलसी की सभी रचनाओं के आधार पर उनकी भाषा के एक सामंजस्यपूर्ण व्याकरणिक स्वरूप तक पहुँचना अत्यंत कठिन है किंतु उनकी सारी रचनाओं में उपलब्ध व्याकरणिक प्रयोगों को खोजकर किसी बोली विशेष के प्रति पक्षपात न रखते हुए (क्योंकि ऐसा करने पर हमारी दृष्टि कवि की भाषा पर नहीं, वरन् उस बोली के प्रयोगों पर ही बनी रहती है और यह एक भ्रांत्त पद्धति है) हम कुछ ऐसे व्याकरणिक नियमों तक पहुँच सकते हैं, जिनका सहारा प्रायः तुलसी ने अपनी भाषा को व्यवस्थित करने में लिया है।"[1]

इस प्रकार अब तक किए गए कार्यों में या तो छुट-पुट निबंधों के मध्य साहित्यिक विवेचन के अंतर्गत तुलसी की भाषा पर भी कुछ विचार कर लिया गया है या फिर भारी भरकम शोध-प्रबंध हैं, अतएव प्रस्तुत निबंध में 'तुलसी की भाषा' का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है :

स्वर :	ह्रस्व–	अ, इ, उ, ऐ, ओ
	दीर्घ–	आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ
	संध्यक्षर–	अइ, अउ

---

१. तुलसी की भाषा पृष्ठ १३

नोट : १. 'ऋ' का लिखित रूप उच्चारणानुसार 'रि' के रूप में ही अधिक मिलता है।

२. ह्रस्व – ऐ तथा ओ भी मिलते हैं।

ऐ – अवधेस के द्वारे सकारे गई सुत गोद कै भूपति लै निकसे।

३. अनुनासिकता का विशेष महत्त्व है। सभी स्वर अनुनासिक मिलते हैं।

अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, एं, ऐं, ओं, औं

स्वर-संयोग :

	–अ	–आ	–इ	–ई	–उ	–ऊ	–ए	–ऐ	–ओ	–औ
अ–			फिरइ	पठई	करउ	पायऊ	रितए			
आ–			नसाइ	लरिकाई	सुभाउ	उपाऊ				
इ–	कहिअ			काई			किए			
ए।ऐ-			मेइय	मेइ	मांगेउ	जेऊ				
अ।औ			सोइ	होई	दोउ	दोऊ				

व्यंजन : तुलसी की भाषा में हिंदी के सभी व्यंजनों का प्रयोग मिलता है। उच्चारण के अनुरूप ही वर्तनी रखी गई है। यही कारण है कि वर्तनी अपने परंपरागत रूप से भिन्न मिलती है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं

१. नासिक व्यंजनों में 'ण', 'ज' तथा 'ङ' के स्थान पर 'न' का प्रयोग।

२. तालव्य संघर्षी 'श' के स्थान पर 'स', जैसे—सुंदर स्याम सरीरा सैल तें।

३. मूर्द्धन्य संघर्षी 'ष' के स्थान पर 'ख' रूप भी मिलता है, जिसका उच्चारण लोक में प्रचलित है। जैसे—भूषन-भूखन।

४. 'ज्ञ' को लिखित रूप में उच्चारणानुसार 'ग्य' ही लिखा गया है।

५. 'क्ष' के तीन रूप मिलते हैं। जैसे—

१. क्ख - लक्खन

२. च्छ - लच्छन

३. क्ष - अक्षय

६. व्यंजन गुच्छ प्रायः तोड़ दिये गये हैं, कहीं स्वर भक्ति से और कहीं अग्रागम से अक्षर में वृद्धि कर दी गई है : जैसे— र्क - तर्क - तरक

ग्ल - ग्लानि - गलानि

क्त - मुक्ता - मुकुता

उपकार बहुला प्रवृत्ति : संज्ञा रूप अधिकांशतः उकारांत मिलते हैं। ऐसे रूपों में कर्त्ता तथा कर्म दोनों प्रकार के कारक मिलते हैं :

अवनिप अकनि रामु पगु धारे। धरि धीरजु तब नयन उघारे।
सचिवँ सँभारि राउ बैठारे। चरन परत नृप रामु निहारे।[1]

रामु—प्रथम कर्त्ता कारक में। द्वितीय कर्म कारक में।

लिंग : स्त्रीलिंग बनाने के लिए निम्नांकित प्रत्यय प्रयोग में आये हैं–

प्रत्यय	पुंलिग रूप	स्त्रीलिंग रूप	विशेष
–आ	सुत	सुता	
	अनुज	अनुजा	
	बालक	बालिका	–मध्य प्रत्यय –इ के साथ
–इ	कुमार	कुमारि	
	देव	देवि	
–ई	किसोर	किसोरी	
–आनी	ब्रह्मा	ब्रह्मानी	
–इनि	तरंग	तरंगिनि	
–नी	चकोर	चकोरनी	
–आई	लोग	लोगाई	लोक-भाषा में लोगाई या लुगाई शब्द प्रचलित है।

वचन : एकवचन से बहुवचन बनाने के लिए ब्रज तथा अवधी का प्रधान प्रत्यय 'न' है जबकि अवधी का 'न्ह'।

प्रत्यय या रूप मात्र	रूप
शून्य	फूल—क्रिया से स्पष्ट होता है।
अनुनासिकता	नारीं—बिरंचि रचीं कती नारीं
–न	लोकपालन
–न्ह	सुतन्ह, रानिन्ह
–नि	फलनि, भुवननि, भुजनि
–न्हि	कमलन्हि
–ऐं	बाहैं, धारैं
–ए	तारे

कभी–कभी संस्कृत के रूप भी मिलते हैं। जैसे–भुवानी।

१. मानस २।४४।१

सर्वनाम

कारकीय रूप	पुरुषवाचक: उत्तम एक०	उत्तम बहु०	मध्यम एक०	मध्यम बहु०	अन्य एक०	अन्य बहु०	निकटवर्ती निश्चयवाचक एकवचन	बहुवचन	प्रश्न वाचक एक०	बहु०	संबंध वाचक एक०	बहु०	अनिश्चय वाचक एक०	बहु०	निजवाचक
कर्त्ता	मैं,हौं, हम	हम वयं	तैं,तू तू, तुम	तुम्ह	सो, तेइ, तेहि, सोइ वह सोउ,सोऊ	ते,तिन तिन्ह तेहि,उन वे,तेई तेउ	यह यहु एहाँ एहि इह	ये–ए इन्ह	का, को, कौन, कवन	के	जो, जोइ, जेहि, जेहिं,	जे जिन जिन्ह	कोउ कोइ कोय काहु एक	यही	आप आपुन आपु
कर्म	मोहि मोहिं मोही मोको कहुँ हौं	हमहि हमहिं हम माम्	तुमहिं तोहिया तुम्हु तोहिं तोको	तुम्हहि तुम्हहिं रोरेहि	सो सों ताहि ताही तेहि ओही	ते तिन्हहिं तिन्हें तिन्ह कहुँ	यह एहि एही याहि एहु इहँ	ये।ए इन्हें इन्हहिं इनको	का कहा काह काहि	केहि	जो जाहि जेहि जोइ जावहुँ	जे जिन्हहिं	काहू काह केही केहू		आपु आपुहु
करण	मोसन मोहिसन मोपहिं मोपै	हमसौं हमसन	तोसों तुमसो तुमते तुम्हतें तोहि- सन सोंऐ	तुम्हसों तें रावरे	तेहिं तेन तेहिसन	तिनहिं तिन्हतें	एहितें एहिसन	इनते इन्हसन	कासों काते	केहि	जाहि जेहि जाते जेहि- सन जेहितें जाहीसों	जिन्हते	....	....	आपतें

संप्रदान	मोको मोकश मोलगि मोलागि मोको- निति	हमहिं हमकहँ हमकहुँ	तोहि तोही तोको तोकहँ तोकौ तोकहि	तुम्हकौं तुम्हकहँ	ताहि ताही ताको ताकहुँ तालागि	तिन्हहि तिन्हकहँ तिन्हकहुँ	एहिलागि एहिंकहँ	इन्हकहँ इनकेलिए	का हेतु हेतू	केहि- लगि -हेतु -हेतू	जाकहँ जाकहुँ जेहि- कहुँ	जिन्हहिं जिन्हके जिनकहँ जिनको	काहु को	···· ····	आपु
अपादान	मोतें		तुम्हतें	तुम्हतें	जेहिसन जेहितें	तिन्हतें	एहिंते एहितें	इनसे इन्हते	····	····	जाते जेहिते	····	····	····	अपुते
संबंध	मोर मोरा मोरि मोरी मेरी मेरे मेरो मम	हमार हमारा हमारि हमारी हमारे हमारो हमरे हमरि	तुम; तव तोर तोरा तोरि तोरी तोरे तोरें तेरी तेरे तेरो तिहारो	तुम्हार तुम्हारी तुम्हारा तुम्हारे तुम्हरे तुम्हरी राउर तिहारे	ताकी ताकें तासु तासू तेहि तोकर तेहिकें तेहकी वाके उन्हकी तिनकी	ताके तिन्हकी तिन्हके तिन्हकें तिन्हकर तिन्हके लिए तिन्हकरें	एहि याकी याके याकौ एहिकें एहिकर	इनकी इनको इन्हको इन्हकौ इन्हकर	काके काको काकौ कासु	केहिके केहिकैं केहि- कर	जा जिस जासु जाकी जाको जाके जाकिं जाको जाकर जेहिकें जेहिकर	जिनकी जिनकें जिनको जिन्ह- की जिन्हके जिन्हकैं जिन्ह- कइ जिन्ह- कर, जिन्हकेरे	काहू कहिके कहिकैं काहूकौ काहू- केरे		आपन आपनि अपनी आपनी आपनो अपने अपनो अपना
अधिकरण	मोपर मोहिपर मोपे मोहिपाहीं	हमपर	तुम्ह- पर तुममें	तुम्ह- पर	तापर तेहिपर तेहि- माँही	तिन्हपर तिन्हमहँ तिन्हमहुँ	यामहिं ऐहिमहँ एहिमाही	इनमहँ			जेहिपर जेहिपहुँ	जिन्हपर जेन्ह- माहीं			

कारकीय विभक्ति

विभक्ति	वचन	लिंग	कर्त्ता	कर्म	करण	संप्रदान	अपादान	संबंध	अधिकरण
शून्य	एक वचन	पु०	भूप[1]	भगवान[5]	पानि[9]				मन[11]
		स्त्री०	सीता[2]	पत्रिका[6]	कृपा[10]				
	बहु वचन	पु०	वचन[3]	भोग[7]					
		स्त्री०	रानी[4]	सिद्धि[8]					
अनुनासिकता	एक वचन	पु०	रोगीं[12]						हियँ[16]
		स्त्री०	कौसल्या[13]		कृपाँ[14]				गृहाँ[17]
	बहु वचन	पु०			स्नेह[15]				
		स्त्री०							
–हि	एक वचन	पु०		प्रभुहि[18]		पियहि[19]			
		स्त्री०		सतरूपहि[20]				उमहि[21]	
–हिं	एक वचन	पु०		कंचनहिं[22]		चातकहिं[24]			मनहिं[25]
		स्त्री०		गनकहिं[23]					
संस्कृत विभक्तिमय रूप	एकवचन	पु०		रघुबीरहिं[26]	सुखेन[27]		पदात्[28]		उरसि[29]

१. भूप बिलोकि लिए उर लाई। मानस १।३५९।१

२. सो छवि सीता राखि उर रटति रहति हरिनाम। मानस ३।२९ ख

३. ताके बचन बान सम लागे। मानस ६।४९।१

४. पानी ! पानी ! पानी ! सब रानी अकुलानी कहैं। कवितावली ५।१०

५. जो भजै भगवानु सयान सोई। कवितावली ७।३३

६. जनक पत्रिका बाचि सुनाई। मानस १।२९५।१

७. भोग बिभूति भूरि भरि राखे। देखत जिन्हहि अमर अभिलाषे। मानस २।२१४।३

८. हृदयँ सुमिरि सब सिद्धि बोलाईं। मानस १।३०६।४

९. मथे पानि पंकज निज मारू। मानस १।२४७।४

१० जेहि कृपा ब्याध, गज, बिप्र खल नर तरे। विनयपत्रिका २११

११. मन बिहँसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि। मानस १।२६५

१२. अमृतु लहेउ जनु संतत रोगीं। मानस १।३५० क। ३

कारकीय परसर्ग

कर्म	–	को। ब्रजभाषा में प्रयुक्त।
	–	कहँ। ब्रज तथा अवधी में प्रयुक्त।
करण	–	तें, सों, सन।
संप्रदान	–	कहँ, को। कम प्रयुक्त। कहूँ, लगि-लागि, हित, हेतु।
अपादान	–	ते-तें, सों, चाहि।
संबंध	–	क, की, के, कै, कइ, को, कर, केर, केरि, केरे, केरो।
अधिकरण	–	में, मैं, मो, महँ, महुँ, माँह, माझा, मझारी, पर, पहँ।

बलात्मक परसर्ग

किसी भी संज्ञा या सर्वनाम में बल प्रदान करने के लिए निम्नांकित परसर्ग प्रयुक्त हुए हैं :

–हु	–होंहु		–इ	–सोइ	
–हुँ	–हमहुँ,	तिनहुँ	–ई	–सोई	
–हू	–हमहू,	ताहू	–उ	–सोउ,	सोऊ
–हूँ	–महूँ				

१३. कौसल्याँ अब काह बिगारा। मानस २।४९।४
१४. राम कृपाँ नासहिं सब रोगा। मानस ७।१२२।३
१५. अधिक सनेहँ देह भै भोरी। मानस १।२३२।३
१६. हियँ हरषहिं बरषहिं सुमन सुमुखि सुलोचनि बृंद। मानस १।२२३
१७. गिरिबर गुहाँ पैठ सो जाई। मानस ४।६।३
१८. प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि राजत लोचन लोल। मानस १।२५८
१९. होइहि संतत पियहि पिआरी। मानस १।६७।२
२०. सतरूपहि बिलोकि कर जोरें। मानस १।१५०।२
२१. उमहि नामु तब भयउ अपरना। मानस १।७४।४
२२. स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहों। विनयपत्रिका १०५
२३. तौ कत बिप्र, ब्याध गनकहिं तारेउ कछु रही सगाई। विनयपत्रिका ११२
२४. तुलसी के मत चातकहिं केवल प्रेम पिआस। दोहावली ३०८
२५. तदपि मनाग मनहिं नहिं पीरा। मानस १।१४५।२
२६. नौमि निरंतर श्री रघुवीरं। मानस ३।११।२
२७. जाहु सुखेन बनहि बलि जाऊँ। मानस २।५७।२
२८. तैं पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी। मानस ७।१३।२ छंद
२९. मुक्तामाल उरसि मोहिं माई। गीतावली १।१०८

क्रिया : अपने काव्य में काल, रचना तथा प्रयोग की दृष्टि से क्रियाओं में बहुलता के साथ ही तुलसी ने एक ओर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंशादि के स्रोत से क्रियाओं को लिया है और दूसरी ओर तत्कालीन प्रचलित साहित्यिक भाषाओं के क्रिया-रूपों को अपनाया है। डॉ० श्रीवास्तव ने तुलसी द्वारा प्रयुक्त क्रियाओं को निम्नांकित छह भागों में बाँटा है।

क - संस्कृत	- पालति
ख - प्राकृत-अप्रभ्रंश	- बोल्लहिं, जुज्झहिं, अबुज्झि ।
ग - जनभाषा	- निचोरि
घ - संस्कृत तत्सम शब्द से	- आदरहिं, संतोषे
च - विशेषण से	- अधिकाति
झ - नाद के अनुकरण पर	- कटकटान, घुरघुरात

शब्दावली : तुलसी-साहित्य में प्रयुक्त शब्दावली की नामानुक्रमणिका तो बन चुकी है, पर उस पर अभी तक कोई विस्तृत कार्य नहीं किया गया है। तुलसी ने एक ही शब्द के स्थान पर उससे मिलते-जुलते सैकड़ों शब्दों का प्रयोग किया। उनके शब्दों के प्रयोग तथा उनके अर्थों के सूक्ष्म भेदों पर भी कार्य अपेक्षित है। एक ही शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया गया है, जैसे हनुमान शब्द को ले लीजिये। इसके अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं। बानर, मर्कट, कपि, बंदर, मरुत, पवनकुमार, प्रभंजनसुत, पवनसुत आदि शब्द अधिक उल्लेखनीय हैं। ऐसा नहीं है कि तुलसी ने कहीं भी किसी भी पर्यायवाची को रखा हो। इस दिशा में विस्तृत कार्य अपेक्षित है। प्रत्येक शब्द के प्रयोग तथा आवृत्ति पर भी कार्य अपेक्षित है। जहाँ कहीं उत्पात का प्रसंग आया है, तुलसी 'बंदर' शब्द को ले आये हैं। जहाँ हनुमान जी को सम्मान देने का प्रसंग आया है, उन्होंने पवनकुमार या पवनसुत का स्मरण किया है। पराक्रम की पराकाष्ठा दिखाने के लिए 'प्रभंजनसुत' को ही उचित समझा गया है।

मानस तथा तुलसी के अन्य ग्रंथ एक प्रकार से लोकभाषा में लिखे जाने के कारण तत्कालीन भाषा के उत्कृष्ट उदाहरण हैं, जिनमें उत्तर अपभ्रंशकालीन शब्द-रूपों के विकसित रूप सुरक्षित हैं। विनयपत्रिका तथा मानस की स्तुतियों में संस्कृत की तत्समता है तो कवितावली में प्राकृताभास है :

दसन धरि धरनि चिक्करत दिग्गज, कमठु,
सेषु संकुचित संकित पिनाकी।[1]
चरन चोट चटकन चकोट अरि-उससिर बज्जत।
बिकट कटकु बिद्दरत बीरु बीरदु जिमि गज्जत।[2]

ध्वन्यात्मक शब्दावली : अपभ्रंश काल में दित्व, संयुक्त व्यंजन तथा अनुनासिकता की प्रवृत्ति बढ़ती चली गयी थी, जिसका प्रयोग तुलसी ने अपने काव्य में कठोर तथा भयानक दृश्यों को उपस्थित करने में किया है। धनुष-भंग के समय की शब्दावली का प्रयोग तो विशेष रूप से किया गया है। कवितावली में इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग कई स्थलों पर मिलता है। तिक्खन, करक्खत, बिद्दरनि, कठक्कट, खरभरे आदि शब्द तीखे और कठोर हैं साथ ही ऐसे ही प्रसंगों में प्रयुक्त भी हुए हैं।

दूसरी ओर प्रसंगानुसार ध्वन्यात्मक शब्दावली का प्रयोग भी कवि ने किया है। आज इस प्रकार की शब्दावली को एकत्र करने की आवश्यकता है, जैसे-घहरात, कटकटात, हिहिनात, ठेलि-पेलि, रौंदि-खोंदि, डगमगानि, घुरघुरात आदि शब्द लिये जा सकते हैं। भौंरों की गुंजार क्या इन शब्दों से लक्षित नहीं होती है :

बिकसे सरनि बहु कंज, गुंजत पुंज मंजुल मधुकरा।

अरबी-फारसी की शब्दावली : लोकप्रचलित अरबी-फारसी के शब्दों का तुलसीदास जी के साहित्य में पर्याप्त प्रयोग मिलता है। शुद्धता की आड़ में इन शब्दों का बहिष्कार नहीं किया गया है। प्रचलित शब्द-जैसे—सीपर, दील, सवील, ज़हान, कागज, गरीबनिवाज, बख्शीश, रुख, गर्दन, ख्वार, शोर, गुमान, खसम, गनी, साहेब-साहिब, कलई, खलक, हलक, कहरी, दिरमानी, हबूब, मसीत आदि। इस संबंध में उल्लेखनीय बात यह है कि रामचरितमानस में गिनती के ही कुछ शब्द हैं, जो प्रयोग में आये हैं, जैसे-साहिब तथा गरीब-निवाज। सर्वाधिक प्रयोग कवितावली के लंकाकांड तथा विनयपत्रिका में ही हुआ है। विनयपत्रिका जैसे भक्ति-परक ग्रंथ में भी तुलसीदास जी अपने को इन शब्दों के प्रयोग से नहीं बचा सके। इससे सिद्ध होता है कि तुलसी ने अपने साहित्य में इन शब्दों की कई आवृत्तियाँ की होंगी। इसमें दिरमानी[3], दुनी[4],

---

१. कवितावली ६।४४
२. कवितावली ६।४७
३. विनयपत्रिका १२२
४. विनयपत्रिका १३९

सुसाहब[1], दादि[2], अनीस,[3] गरीबनिवाज[4], गरीबमिसकीनता[5] आदि उल्लेखनीय हैं।

गीतावली में भी कुछ इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग हुआ है, जैसे—सीपर।

अन्य क्षेत्रीय भाषाओं की शब्दावली : तुलसीदास जी का अधिकांश जीवन एक पर्यटक के रूप में व्यतीत हुआ था। साथ ही उन्हें यह भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था कि वे अधिकतर ऐसे धार्मिक स्थलों—सोरों, काशी, अयोध्या आदि में रहे। यहाँ तीर्थस्थल होने के कारण दूर-दूर के यात्री आकर्षित होकर आते थे। इन दोनों कारणों से तुलसी की भाषा में क्षेत्रीय भाषाओं का पर्याप्त प्रभाव है। आज की परिस्थितियों में जब हिंदी का देश की राजभाषा के रूप में विकास हो रहा है यह प्रवृत्ति विशेष अध्ययन के योग्य है कि किस प्रकार के शब्द, पद, वाक्य, मुहावरे तथा प्रयोग अन्य प्रादेशिक भाषाओं में हिंदी में खप सकते हैं ? तुलसी ने क्या ध्यान रखा था और उन शब्दों की आवृत्ति किस स्तर की रही होगी ?

राजस्थानी—'नारि' आदि शब्द की नहीं मेलना, पूजना, सारना आदि क्रियाएँ भी उसी प्रकार हैं।

गुजराती—जून। फारसी 'दरिया' शब्द भी गुजराती के माध्यम से प्रचलित हुआ है, क्योंकि तुलसी ने इसे समुद्र के अर्थ में लिया है।

बंगला —बैठने के अर्थ में-बैसा, बैसे। 'निभाने' के अर्थ में 'खटाइ'

हिंदी की उपभाषाओं की शब्दाबली : अवधी तथा ब्रज हिंदी की दो प्रधान उपभाषाओं तथा तत्कालीन साहित्यिक भाषाओं पर तुलसी का असाधारण अधिकार था, जिनमें समस्त साहित्य की रचना की गई। अवधी के ग्रंथों में ब्रजभाषा के शब्दों तथा शब्द-रूपों का बाहुल्य है तो ब्रज में लिखित ग्रंथों में अवधी की लोक-शब्दावली यत्र-तत्र बिखरी पड़ी है। इसको ढूंढ़ निकालना भी आसान नहीं है। ब्रज के साँवरौ, गोरो, बुंदेली के हरवा, कनगुरिया, कोपर, सुपेती, द्याइबी, कहिबौ जैसे प्रयोग ही अवधी में मिलते हैं। खड़ी-बोली की सजा, भागा, रहा, ढला, लखा आदि क्रियाएँ तो दूसरी ओर भोजपुरी की माहुर, राउर, जहँका-तहँका जैसे प्रयोग मिलते हैं।

---

१. विनयपत्रिका १३९ २-३. विनयपत्रिका १४५
४. विनयपत्रिका १४८ ५. विनयपत्रिका २६२

लोकप्रचलित शब्दावली भी काव्य-ग्रंथों में भरी हुई है। तुलसीदास ने यह नहीं सोचा कि ये शब्द लिये जायें कि नहीं। लोक में जो कुछ भी उन्हें मिला, उसका उपयुक्त और समुचित यथास्थान प्रयोग तुलसीदास ने किया, जिससे उनके साहित्य में शोभा की वृद्धि ही हुई। जहिया-तहिया, चौपट, झँगुलिया, कठौता, बेहड़, बियानी, गाँडर, डहरुआ, नहरुआ आदि ग्रामीण शब्दों का प्रयोग साहित्यिक भाषा के साथ बड़ी कुशलता से किया गया है।

तुलसी की समन्वयात्मक भाषा का रूप ही हमको उनके ग्रंथों में प्राय: मिलता है। लोक प्रचलित शब्दावली, हिंदी की उपभाषाओं से प्राप्त समस्त प्रयोग, भारतीय भाषाओं से शब्दावली, संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश आदि की थाती और साथ ही अरबी-फारसी की आगत शब्दावली ही तुलसी का शब्द-भंडार था, जिसके उपयोग से उनकी भाषा इतनी समर्थ हो गई कि वे जहाँ जिस भाव को व्यक्त करना चाहते हैं, वहाँ वे उन्हीं परिस्थितियों के अनुकूल शब्दों का प्रयोग कर देते हैं। उन्हें कहीं भी किसी शब्द से घृणा नहीं। जिस प्रकार भक्ति के क्षेत्र में 'सियाराम मय सब जग जानी' उनका ध्येय था, उसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में भाषा के पयोग के संबंध में समस्त भारतीय शब्दावली उनकी अपनी शब्दावली रही।

डॉ सुरेशचंद्र गुप्त

तुलसी की काव्य-वर्ण्य संबंधी परिकल्पना

गोस्वामी तुलसीदास ने आख्यानक और मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाएँ लिखी हैं, फलस्वरूप वर्णनीय विषयों की विविधता को उनकी कृतियों में अनायास परिलक्षित किया जा सकता है। काव्य में किन विषयों को स्थान दिया जाए और किनको नहीं, इस विषय में यों तो अंतिम रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसका संबंध कवि की शिल्पविधायिनी क्षमता से है, तथापि तुलसी ने स्फुट रूप में ही सही—इन प्रवृत्तियों को काव्य में समाविष्ट करने का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में उल्लेख किया है : भक्ति-भाव, संत-महिमा, पौराणिक चरित्र, विभिन्न मनोदशाएँ, रूप-चित्रण, प्रेम, प्रकृति-सौंदर्य आदि। इनमें से राम-भक्ति पर उनका विशेष बल चल रहा है—इसी में वे कवि-वाणी की सार्थकता मानते हैं :

(अ) भनिति बिचित्र सुकबिकृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ।[1]
(आ) भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी। रामकथा जग मंगल करनी।[2]
(इ) कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत संसारा।[3]
(ई) चली सुभग कविता सरिता सी। राम बिमल जस जल भरिता सी।[4]
(उ) रामचरित सत कोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनैं पारा।[5]
(ऊ) सोइ कवि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाड़ि भजै रघुबीरा।[6]

उपर्युक्त उक्तियों में एक तो राम संबंधी वृत्त को काव्य का मूल विषय माना गया है, दूसरे विनम्रतावश राम-काव्य की रचना में अपनी सीमाओं को स्वीकार किया गया है और तीसरे, अभिव्यंजना तथा काव्य-वस्तु के पारस्परिक

१. मानस १।१०।२ २. मानस १।१०।५, ३. मानस १।१२।५
४. मानस १।३९।६ ५. मानस ७।५२।२ ६. मानस ७।१२७।२

संबंध पर विचार किया गया है। द्वितीय उद्धरण में 'भनिति भदेस' का प्रयोग कवि की विनम्रता का ही सूचक है—कलापक्ष के उपादानों को कम महत्त्व देना तुलसी का लक्ष्य नहीं है। उनका असंदिग्ध मत है कि राम-काव्य का प्रणेता कवि लौकिक राग-संबंधों को भूलकर नित्य-नवीन भाव-भूमियों की खोज कर सकता है। भक्ति-भाव को काव्य-वर्ण्य के रूप में ग्रहण करने का समर्थन काव्य-शास्त्र में भी हुआ है। 'भामह' ने काव्य-भेद-निरूपण के प्रसंग में देवादिवृत्त निरूपक काव्य की भी चर्चा की है।[1]

तुलसी द्वारा प्रयुक्त 'श्रुति सारदा न बरनैं पारा' भी विचारणीय है। ईश्वर-महिमा के वर्णन में सरस्वती के भी संकुचित हो जाने की कथन-परंपरा कवि-कुल में बहुत पहले से विद्यमान रही है—गंधर्वराज पुष्पदंत की यह उक्ति द्रष्टव्य है :

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे सुरतरुवरशाखालेखनीपत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सार्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति।[2]

तुलसी की रचनाओं में नारायणविषयक वृत्त की प्रमुखता मिलती है। ईश्वर के गुणातीत स्वरूप से वे अभिभूत हैं, इसीलिए उन्होंने राम की महिमा को इंद्रियातीत कहा है :

(अ) राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धिपर।[3]
(आ) तुलसिदास केहि बिधि बखानि कहै
यह मन-बचन-अगोचर मूरति।[4]

राम-नाम की महिमा के प्रसंग में तुलसी ने पुण्यात्मा साधुओं के गौरव-वर्णन पर भी बारंबार बल दिया है। ब्रह्म, विष्णु, शिव, शेषनाग आदि के द्वारा संत-महिमा को अनिर्वचनीय बताकर उन्होंने प्रकारांतर से यह प्रतिपादित किया है कि कविगण इस ओर प्रवृत्त तो होते हैं, किंतु जिस प्रकार मणियों के गुणों का उल्लेख शाकविक्रेता नहीं कर सकते उसी प्रकार संतों की गुणावली एवं भक्ति-भावना को शब्द-बद्ध करना सरल नहीं है :

(अ) बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी।
सो मो मन कहि जात न कैसें। साक-बनिक मनि गुन गन जैसें।[5]

---

१. देखिए 'काव्यालंकार' १।१७ २. शिवमहिम्नस्तोत्र, श्लोक ३२
३. दोहावली १९९ ४. गीतावली ७।१७।१६ ५. मानस १।३।६

(आ) को बरने मुख एक, तुलसी महिमा संत की।
जिन्ह कें बिमल बिबेक, सेस महेस न कहि सकत।[1]

भक्तिकाव्य पर बल देने के कारण तुलसी ने नरकाव्य का समर्थन नहीं किया है—राम-विमुख व्यक्ति विधाता के समान शरीरवाला ही क्यों न हो, भक्त कवि को उसकी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए। इस विषय में यह उक्ति द्रष्टव्य है :

(अ) कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना।[2]

यहाँ राम को अवतार मानकर लौकिक व्यक्तियों के स्तवन की निंदा की गई है। भक्तिकाल में इस प्रतिक्रिया को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में अनेक कवियों ने प्रकट किया है जिसका कारण संभवतः यह है कि उस युग में प्रेमाख्यानों की बहुल रचना हो रही थी जिनमें लोक-दृष्टि को प्रमुखता देते हुए नर-गुणगान की प्रवृत्ति भी अपनाई गई थी।[3] आदिकाल के राजाश्रित कवियों का लक्ष्य भी आश्रयदाताओं के स्तुति-वर्णन तक सीमित रहा था। भक्त कवियों को ये दोनों ही स्थितियाँ अमान्य रही हैं—कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि का काव्य इसका प्रमाण है कि साहित्य में सांसारिक व्यक्तियों के गुणगान को प्रमुखता नहीं मिलनी चाहिए, उसमें या तो आध्यात्मिक आनंद की प्रेरणा अभीष्ट है या लोक-कल्याण के निमित्त उदात्त भावनाओं की अभिव्यक्ति।

यहाँ यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि 'प्राकृत जन' से तुलसी का अभिप्राय उन साधारण लौकिक मनुष्यों से है जो 'राम-विमुख' हों। उदात्त महापुरुषों के गुण-वर्णन का विरोध तो उनके द्वारा इसलिए भी संभव नहीं है कि महापुरुषों का गुणगान भी किसी सीमा तक ब्रह्मसत्ता का स्तवन ही है।

तुलसी ने राम-चरित्र को अपने काव्य का प्रमुख विषय माना है—'विनय-पत्रिका' में उन्होंने अन्य देवी-देवताओं का भी स्तवन किया है; किंतु उन सबसे केवल रामभक्ति की ही याचना की है। 'रामाज्ञा प्रश्न' के छठे सर्ग के उनचास दोहों में राम-चरित्र के सरस वर्णन पर उन्हें गर्व है और उनकी अन्य कृतियों में भी ऐसी अनेक उक्तियाँ सुलभ हैं :

---

१. वैराग्य-संदीपनी ३४ २. मानस १।११।४
३. देखिए 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १२, १०९।

(अ) सुभग सगुन उनचास रस, राम-चरितमय चारु ।[१]
(आ) सब जानत प्रभुप्रभुता सोई । तदपि कहें बिनु रहा न कोई ।[२]

इन उद्धरणों में तुलसी ने एक तो यह प्रतिपादित किया है कि श्रेष्ठ कवि द्वारा चाहे कितनी ही अद्भुत अथवा सुंदर उक्ति प्रस्तुत की जाये, राम-चरित के समावेश के बिना उसमें गरिमा नहीं आ सकती। दूसरे, उनका प्रतिपाद्य यह है कि यद्यपि राम के प्रभुत्व का पूर्णतया कथन नहीं किया जा सकता तथापि उनकी महिमा के वर्णन की ओर कविगण सदा से उन्मुख रहे हैं।

तुलसी की उक्तियों में राम-चरित्र को कथा-प्रवाह के अनुरूप विविध आयाम देने की व्यंजना भी विद्यमान है। वर्ण्य की प्रस्तुति में पिष्टपेषण का विरोध करते हुए उन्होंने विवेक और अनुभूति के आश्रय को अपेक्षित माना है :

(अ) हरि अनंत हरिकथा अनंता । कहहिं सुनहिं बहुबिधि सब संता ।[३]
(आ) सुठि सुंदर संबाद बर बिरचै बुद्धि बिचारि ।[४]
(इ) श्रीराम रावन समर चरित अनेक कल्प जो गावही ।
सत सेष सारद निगम कबि तेउ तदपि पार न पावहीं ।[५]
(ई) तुलसिदास तेहि चरन-रेनु की महिमा कहै मति कवनी ।[६]

उपर्युक्त उद्धरणों में से प्रथम में हरिकथा की व्यापकता पर बल दिया गया है, द्वितीय में रामकथा के प्रसंग में गरुड़-भुशुंडि, शिव-पार्वती, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज आदि के विविधतापूर्ण संवादों का संकेत विद्यमान है, तृतीय उक्ति राम-रावण-युद्ध के संदर्भ में कथित है और चतुर्थ में अहिल्या के उद्धारक राम-चरणों की महिमा को प्रकट करने की इच्छा की गई है। इस कोटि की प्रासंगिक उक्तियाँ केवल भावुकता की देन नही हैं, अपितु जहाँ कहीं उन्होंने घटनाक्रम के अंतर्गत किसी प्रकरण पर अधिक बल देना चाहा है अथवा कथा-प्रसंग में विविधतामयी रोचकता के समावेश की इच्छा की है वहाँ इस कथन-पद्धति को अपना लिया है।

तुलसी मूलतः रामभक्त हैं, तथापि उन्होंने कृष्ण और शिव के प्रति भी श्रद्धा-भाव रखा है और उनकी लीलाओं में अवगाहन तथा चरित्र-वर्णन को

---

१. रामाज्ञा प्रश्न, ६।७ (२६४)
२. मानस १।१३।१
३. मानस १।१४०।३
४. मानस १।१३६
५. मानस ७।१०१। छंद २
५. गीतावली ५।५८।३

भक्ति-काव्य का विशिष्ट प्रतिपाद्य माना है । इस संबंध में क्रमशः निम्नलिखित उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

(अ) नंदलाल बाल जस संत सुर सरबस,
गाइ सो अमिय रस तुलसिहुँ पियो है ।[१]

(आ) कबित रीति नहिं जानउँ कबि न कहावउँ ।
संकर चरित सुसरित मनहि अन्हवावउँ ।[२]

'कृष्णगीतावली' में कृष्ण की गरिमा तथा 'रामचरितमानस' एवं 'विनय-पत्रिका' में शिव की महिमा का विस्तृत कथन होने पर भी काव्य-पात्र के रूप में उनकी ग्राह्यता का प्रत्यक्ष कथन केवल उपर्युक्त उद्धरणों में ही लक्षित होता है । इनमें कवि के रससिक्त हृदय और आनंदमग्नता के संकेत सुस्पष्ट हैं ।

तुलसी ने राम, लक्ष्मण, सीता और पार्वती के संदर्भ में काव्य में रूप-चित्रण की आवश्यकता और सार्थकता का भी प्रतिपादन किया है । बालक राम की नखशिख-छवि, अंगों की अनुपमता, अंगविशेष की सुंदरता और उनके आखेटक-रूप के संबंध में उन्होंने इन शब्दों में ध्यान आकृष्ट किया है :

(अ) को कबि जौ छवि कहि सकै नखसिख सुंदर सब अंग ।[३]

(आ) सकल अंग अनूप, नहिं कोउ सुकवि बरन निहारु ।[४]

(ई) बन खेलत राम फिरैं मृगया, 'तुलसी' छवि सो बरनै किमि कै ।[५]

प्रस्तुत उद्धरणों में राम की अपरिमित रूप-माधुरी के वर्णन में अभिव्यंजना की परिसीमाओं की ओर संकेत किया गया है । यद्यपि यहाँ कोई मौलिक बात नहीं कही गई है, तथापि बाल-छवि-वर्णन की ओर ध्यान आकृष्ट करना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि सूरदास द्वारा कृष्ण के बाल-रूप के विस्तृत वर्णन के बाद राम-काव्य में भी इस विषय की ग्राह्यता अपेक्षित प्रतीत होती है । इन उक्तियों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुगत रस और कृतिगत रस में आधार-आधेय-संबंध होता है । इसीलिए उन्होंने बालक राम की चरित-चंद्रिका को सहृद के चित-चकोर के लिए आनंददायिनी माना है और राम-प्रेम के अमृत-रस-पान को अपनी सहज प्रकृति कहा है :

बालचरितमय चंद्रमा यह सौरह-कला-निधान ।
चित-चकोर तुलसी कियो कर प्रेम-अमिय-रसपान ।[६]

---

१. कृष्णगीतावली, १६।४ २. पार्वती-मंगल, ३ ३. गीतावली १।२२।४,
४. गीतावली ७।८।५ ५. कवितावली २।२७ ६. गीतावली १।२२।१६

यहाँ रूपक का आश्रय लेकर यह संकेत किया गया है कि यदि काव्य में पात्रों के रूपादि का तन्यम भाव से वर्णन किया जाये तो ऐसे प्रकरणों के परिशीलन से सहृदय जन स्वाभाविक रूप से आनंदमग्न हो जाते हैं। राम के शारीरिक सौंदर्य को अनिर्वचनीय प्रभाव का उत्पादक मानने के साथ ही तुलसी ने राम-लक्ष्मण की सुंदरता का एक अन्य संदर्भ में भी कथन किया है :

(अ) सुंदर बदन सरोरुह-लोचन, मुखछवि बरनि न जाई।[1]
(आ) स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी।[2]

'गिरा अनयन' से कवि का अभिप्राय यह है कि साक्षात् दर्शन के बिना भी राम-छवि-वर्णन में कवियों की सहज प्रवृति रहती है और उपमानों के आश्रय द्वारा वे उनकी शोभा का उमंगसहित वर्णन करते हैं। 'नयन बिनु बानी' में तुलसी का संकेत अनुभव की अंतरंगता की ओर है। राम-लक्ष्मण की भाँति कवि ने सीता और पार्वती के सौंदर्य-वर्णन में भी वाणी की ऐसी ही असमर्थता स्वीकार की है :

(अ) बरनि सकै छबि अतुलित अस कबि को हइ।[3]
(आ) सिय-सुंदरता बरनै न जाई। लघुमति बहुत मनोहरताई।[4]
(इ) देखत रूपु सकल सुर मोहे। बरबै छबि अस जग कबि को है।[5]

प्रथम दो उद्धरणों में जहाँ कवि की दृष्टि सीता के रूप-वर्णन पर रही है वहाँ अंतिम अवतरण में पार्वती के अप्रतिम सौंदर्य को अनिर्वचनीय कहा गया है। यह जिज्ञासा हो सकती है कि रूप तो मूर्त विषय है, फिर कवि ने उसे अमूर्त भाव-दशाओं की भाँति वर्णनातीत क्यों माना है? वास्तव में यहाँ रूप वर्णनातीत नहीं है, अपितु उसके भावन से कवि के मन में जिस आनंद का उद्रेक होता है वह वर्णनातीत है। उपर्युक्त उद्धरणों में तुलसी की दृष्टि स्थूल लौकिक सौंदर्य पर नहीं रही है, अपितु भक्तिप्रेरित श्रद्धा के कारण उनकी कल्पना में सीता और पार्वती का अलौकिक रूप रहा है जो भावविह्वलता के कारण वर्णन से परे प्रतीत होने लगता है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि अपनी मर्यादाबद्ध दृष्टि के कारण तुलसी ने सीता और पार्वती के सौंदर्य-वर्णन को उचित न समझा हो। इस संदर्भ में निम्नलिखित उक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं जिनमें से प्रथम में धनुष-भंग के अवसर पर राम की शक्ति और

---

१. गीतावली १।५२।३ २. मानस १।२२९।१ ३. जानकीमंगल १०७
४. मानस १।३२२।१ ५. मानस १।१००।३

सौंदर्य पर मुग्ध सीता की मनोदशा का वर्णन है और द्वितीय में उक्त अवसर पर राम-सीता की परस्परावलोकनजनित प्रीति तथा आनंद-उमंग का संकेत है :

(अ) उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहैं कबि कोऊ।[१]

(आ) सिय राम अवलोकनि परसपर प्रेम काहु न लखि परै।
मन बुद्धि बर बानी अगोचर प्रगट कबि कैसे करै।[२]

यहाँ प्रेमोदय को मूलतः अनुभव का विषय माना गया है क्योंकि इससे संबद्ध भाव-दशाओं का स्पष्ट चित्रण सरल नहीं है। इसके साथ ही यह भी स्पष्ट ही है कि शील-सिद्धांत के अनुवर्तक तुलसीदास अपने आराध्य-युगल राम-सीता के सौंदर्य तथा प्रेम-विलास का स्वच्छंद निरूपण नहीं कर सकते थे। उद्दाम शृंगार के स्थान पर उदात्त प्रेम तथा स्नेह-भाव की अभिव्यक्ति ही उनके काव्य का मूल स्वर है। इसीलिए उन्होंने रामचरित रूपी सरोवर में विषय-रस के प्रतीक घोंघे, मेंढक और शैवाल का कोई स्थान नहीं माना है : 'संबुक भेक सेवार समाना, इहाँ न विषय कथा रस नाना।"[३] लौकिक विषय-वासना की निंदा करने के साथ ही तुलसी ने शिव-पार्वती प्रभृति गुरुजनों के लीला-विलास-वर्णन का भी स्पष्ट निषेध किया है : 'जगत मातु पितु संभु भवानी, तेहिं सिंगारु न कहउँ बखानी'।[४] यहाँ तुलसी ने कालिदास पर कटाक्ष किया है, किंतु आनंदवर्धन ने शंकर-पार्वती के संयोग-वर्णन को अनुचित मानने पर भी यह व्यवस्था दी है कि महाकवियों के इस विवेकशून्य कार्य में भी ऐसी कलात्मक प्रौढ़ता विद्यमान रहती है जिससे उस अनौचित्य का तिरस्कार हो जाता है और परिशीलकों के सामने वह दोष के रूप में नहीं आता।[५] उनका स्पष्ट मत है कि दिव्य नायक और राजादि उत्तम नायकों के शृंगार-वर्णन में मर्यादा का अतिक्रमण अनुचित है।[६] तुलसी की इन उक्तियों में इसी दृष्टि-कोण का निर्वाह हुआ है, यह दूसरी बात है कि रामभक्ति-संप्रदाय में ही

१. मानस १।२४२।४ २. मानस १।३२३।छंद २ ३. मानस १।३८।२
४. मानस १।१०३।३
५. ध्वन्यालोक, उत्तरार्द्ध, डॉ० रामसागर त्रिपाठी की तारावती-व्याख्या, पृष्ठ ७८६
६. भारतवर्षविषये यथोत्तमनायकेषु राजादिषु शृंगारोपनिबन्धस्तथाऽदिव्याश्रयोऽपि शोभते। न च राजादिषु प्रसिद्धिग्राम्यशृंगारोपनिबन्धनं प्रसिद्धं नाटकादौ, तथैव देवेषु तत् परिहर्तव्यम्। (ध्वन्यालोक, ३।१४ की वृत्ति, पृष्ठ १९१)

परवर्तीकाल में ऐसे अनेक रसिक कवि हुए जिन्होंने मर्यादा-भाव के स्थान पर लीला-भाव को ग्रहण किया।

तुलसी ने प्रकृति और अन्य लौकिक दृश्यों को भी अवसर विशेष पर अनिर्वचनीय कहा है। उदाहरणस्वरूप वनवासी राम के पंपा सरोवर के तट पर पहुँचने और वहाँ के प्रकृति-सौंदर्य का उल्लेख करने के अनंतर कवि ने यह कहा है कि सरोवर के तटवर्ती पक्षियों की शोभा का वर्णन नहीं किया जा सकता : 'चक्रबाक बक खग समुदाई, देखत बनइ बरनि नहिं जाई' यहाँ प्राकृतिक सुषमा के प्रति कवि का सम्मोहन आशातीत है। चित्रकूट-शोभा के विषय में ये उक्ति भी इसी प्रकार की है :

(अ) कहि न सकहिं सुषमा जस कानन।[1]

(आ) चित्रकूट-कानन-छबि को कवि बरनै पार।[2]

इन उक्तियों में प्रकृति के प्रति कवि के मुग्ध होने और भावों के शब्दों में न बँध पाने की व्यंजना निश्चय ही विद्यमान है। वस्तुत: दृश्य-विशेष के वर्णन में कवि की अक्षमता का रहस्य यह है कि वर्ण्यमान वस्तु के अभिधानमात्र से संतुष्ट न होकर वह सहृदय के प्रत्यक्ष के लिए अपने कथन में विशिष्टता लाना चाहता है। इस वैशिष्ट्य के लिए अलंकार, विशेषण, प्रतीक आदि अभिव्यंजना धर्मों का आश्रय न लेकर वह सहृदय की अर्थ-ग्रहण-शक्ति को ही पर्याप्त मानता है। व्यंजकत्व लाने की चेष्टा में कवि वाच्यार्थ से प्रतीयमान अर्थ तक जिस प्रक्रिया को पूरा करता है वह यदि संकेतात्मक अभिव्यक्ति पाकर ही रह जाए, तो इसे दोष न मानकर विशिष्ट कथन-प्रणाली समझा जाना चाहिए। तुलसी की काव्य-रचनाओं में तो एक काव्य-रूढ़ि ही बन गई है जिसका उन्होंने जड़-चेतन, सभी प्रकार के पदार्थों और दृश्यों—सीता-विवाह-मंडप, दशरथ के राजप्रासाद, अयोध्या के हाट, साकेत-नगरी आदि—के वर्णन में आश्रय लिया है। सत्य तो यह है कि वस्तु-वर्णन के समय प्रातिभ कवि का लक्ष्य यह नहीं होता कि वह वस्तु के स्थूल साधारण रूप अथवा उसकी यथावत् प्रतिकृति से ही संतोष कर ले, अपितु उसका उद्देश्य मानस-बिंब की प्रस्तुति होता है। वस्तु के यथावत् अंकन से ही संतुष्ट न होकर वह 'सुंदर' को और भी उत्कर्ष प्रदान करना चाहता है और सामान्य तथा असुंदर को 'सुंदर' बनाने के लिये प्रयत्नशील रहता है।

---

१. मानस २।१३६।३ २. गीतावली, २।४७।२१

डॉ० हरिश्चंद्र वर्मा

तुलसी-काव्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

मनोविज्ञान के अध्ययन का क्षेत्र मानव-मन है। 'मनोविज्ञान' शब्द अंग्रेजी के 'साइकोलॉजी' शब्द का पर्याय है, जो 'साइके' (Psyche) तथा 'लोगोस' (logos) शब्दों से मिलकर बना है। 'साइके' का अर्थ है मन या आत्मा तथा 'लोगोस' का अर्थ है नियम। इस प्रकार 'साइकोलॉजी' मन, उसकी संरचना, क्रिया और व्यवहार-संबंधी प्रभावों के अध्ययन से संबंधित विज्ञान है।[1] जबसे मनुष्य ने अपने स्वरूप तथा जीवन के विषय में चिंतन प्रारंभ किया, तभी से उसका ध्यान अपनी आत्मा और मन की ओर गया।[2] 'साइकोलॉजी' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सत्तरहवीं शताब्दी में किया गया।[3] यह शब्द चाहे जितना अर्वाचीन हो, किंतु मन और उसकी चेष्टाओं की अभिव्यक्ति और उसे समझने के प्रयत्न अत्यंत प्राचीन काल से होते रहे हैं। तुलसीदास के प्रमुख ग्रंथ 'रामचरितमानस' के नाम से ही स्पष्ट है कि उन्होंने इस ग्रंथ की रचना में वक्ता और श्रोता के 'मानस' का विशेष ध्यान रखा है। नाम का आधार 'मानस' शब्द के श्लेषपरक दो अर्थों पर आश्रित है—एक 'मन' और दूसरा 'मानसरोवर'। 'मानस' का अर्थ है मन रूपी मान सरोवर। 'रामचरितमानस' का अर्थ हुआ रामचरित का मन (अंतरंग पक्ष) रूपी मानसरोवर। बालकांड

---

१. देखिए Ed. Dagobert D. Runes, The Dictionary of Philosophy P. 253.

२. डॉ० सीताराम जायसवाल, मनोविज्ञान की ऐतिहासिक रूपरेखा पृ० १०

३. डॉ० सीताराम-जायसबाल, मनोविज्ञान की ऐतिहासिक रूपरेखा पृ० १०

में दिये गये विस्तृत मानस-रूपक से यह स्पष्ट है कि कवि ने 'मानस' की विविध वृत्तियों के लिये 'मानसरोवर' से अनेक उपमान जुटाये हैं और इस प्रकार 'मानस' के उक्त दोनों ही अर्थों का सांग रूपक में निर्वाह किया है।

तुलसी ने राम-कथा के माध्यम से जीवन और जगत की उन अनेकानेक परिस्थितियों को उभारा है, जिनके माध्यम से विभिन्न पात्रों की विविध मनः स्थितियों को सूक्ष्मता के साथ अंकित किया जा सके। मनःस्थितियों के प्रकाशनार्थ तुलसी ने मन, हृदय, मनोरथ, मति, बुद्धि, स्वप्न, काम, क्रोध, मद, मोह, ग्लानि, संकोच, भ्रम, संदेह, मोहनी, असमंजस, द्वंद्व, ग्रंथि, विवेक, अपडर, स्वभाव, भय, उचाट, दुविध मनोगति आदि शब्दों का विशिष्ट मनोवैज्ञानिक अर्थों में प्रयोग किया है।

तुलसी ने भारतीय परंपरा के अनुरूप अंतःकरण के चार भेद माने हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार।[१] उन्होंने मन की वृत्तियों के दो भेद किये हैं—सत ओर असत्। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर आदि असत्प्रवृत्तियों को उन्होंने अविद्या माया का परिवार माना है और दया, करुणा त्याग, उपकार आदि सद्गुण विद्या माया के अंतर्गत हैं। दुष्ट अविद्या माया दुःखरूपा है, विद्या माया प्रभु द्वारा प्रेरित है।[२] अविद्या माया की प्रचंड सेना सारे संसार में छायी हुई है; काम, क्रोध, लोभ आदि उसके सेनापति हैं तथा दंभ, कपट और पाखंड योद्धा हैं।[३] तुलसी ने इंद्रियों को मन और सांसारिक विषयों में सन्निकर्ष स्थापित करने वाली माना है, जो सर्वथा मनोविज्ञान-सम्मत है। विषय, इंद्रियाँ, इंद्रियों के देवता और जीवात्मा—ये सब, एक की सहायता से एक, चेतन होते हैं अर्थात् विषयों का प्रकाश इंद्रियों से, इंद्रियों का इंद्रियों के देवताओं से और इंद्रियों के देवताओं का चेतन आत्मा से प्रकाशन होता है।[४] इंद्रियों के द्वार हृदय-रूपी घर के अनेक झरोखे हैं। प्रत्येक झरोखे पर इंद्रियों के देवता आसन जमाये हैं। ज्यों ही वे विषय रूपी हवा को आते देखते हैं, त्यों ही हठपूर्वक कपाट खोल देते हैं।[५] इंद्रियों और उनके देवताओं को ज्ञान नहीं सुहाता; उनकी विषय-भोगों में ही सदा प्रीति रहती है। विषयों

---

१. परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई। मा२।२४१।१
२. मानस ३।१५।२-३ ३. मानस ७।७१ क
४. विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता। मा १।११४।३
५. मानस ७।११८।६

की आँधी से ज्ञान का दीपक बुझ जाता है।[1] उपर्युक्त प्रतिपादन आलंकारिक होते हुए भी सर्वथा मनोविज्ञान-सम्मत है विषयों में आसक्ति से मनुष्य विषयातीत तत्त्व-ज्ञान से पराङ्मुख हो जाता है। तुलसी ने भारतीय परंपरा द्वारा अनुमोदित अर्थों में 'ग्रंथि' शब्द का भी प्रयोग किया है। जड़ विषयों के प्रति चेतन मन की आसक्ति से जड़-चेतन की ग्रंथि पड़ जाती है।[2] तुलसी ने 'द्वंद्व' शब्द का भी प्रयोग किया है,[3] जो संयोगवश आधुनिक मनोविज्ञान के 'कन्फ्लिक्ट' शब्द के भी बहुत निकट पड़ता है। राग-द्वेष, आशा-निराशा, सुख-दुःख आदि विरोधी अनुभूतियों के टकराव को द्वंद्व कहा गया है। द्वंद्वात्मक मनःस्थिति के लिए तुलसी ने 'दुविध मनोगति' शब्द का भी प्रयोग किया है। उन्होंने चित्रकूट की सभा से अयोध्या को लौटने अथवा वन में ही रहने की वैकल्पिक स्थितियों के विषय में अनिश्चयात्मक मनःस्थिति वाली अयोध्या की जनता के संबंध में कहा है, 'भय और उचाट के कारण किसी का मन स्थिर नहीं है। क्षण में उनकी वन में रहने की इच्छा होती है और क्षण में घर अच्छे लगने लगते हैं इस 'दुविध मनोगति' से प्रजा दुःखी हो रही है, मानो नदी और समुद्र के संगम का जल क्षुब्ध हो रहा हो'।[4] इसी संदर्भ में उन्होंने द्वंद्वात्मक मनःस्थिति के लिए 'दुचित' शब्द का भी प्रयोग किया है।[5] तुलसी ने काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मनोविकारों और सुख-दुःख, आशा-निराशा आदि द्वंद्वों को 'मानस-रोग' कहा है।[6] ये 'मानस-रोग' इतने कष्ट साध्य होते हैं कि नियम, धर्म, आचार, तप, ज्ञान, यज्ञ आदि औषधियों से भी दूर नहीं होते।[7] इनके निवारण के लिए तो राम-भक्ति ही संजीवनी बूटी है और श्रद्धा से पूर्ण बुद्धि ही औषधि के साथ लिया जाने वाला अनुपान है।[8] स्वस्थ अथवा नीरोग मन का लक्षण बताते हुए तुलसी ने कहा है कि मन को नीरोग हुआ तब जानना चाहिए, जब हृदय में वैराग्य-बल बढ़ जाय, उत्तम बुद्धि रूपी भूख नित्य बढ़ती रहे और विषयों की आशा रूपी दुर्बलता मिट जाय।[9] द्वंद्वों से रहित मन को तुलसी ने स्वस्थ मन माना है। राम के मन को स्वस्थ मन के आदर्श के रूप में अंकित किया गया है। सब स्थितियों में संतुलन बनाये रखना

१. मानस ७।११८।७-८
२. मानस ७।११७।२।८
३. मानस ७।३४।४ तथा ७।१४।स्तोत्र १०
४. मानस २।३०२।३
५. 'दुचित कतहुँ परितोषु न लहहीं। मानस २।३०२।४
६. मानस ७।१२१।१४-१६
७. मानस ७।१२१ख
८. मानस ७।१२२।४
९. मानस ७।१२२।५

ही स्वस्थ मन का लक्षण है। मूर्ख लोग सुख में हर्षित होते और दुःख में रोते हैं, परंतु धीर पुरुष अपने मन में दोनों को समान समझते हैं।[१] राम इसी प्रकार की समत्व बुद्धि वाले हैं—उनमें न राग है न रोष और न वे किसी का पाप-पुण्य तथा गुण-दोष ही ग्रहण करते हैं।[२]

तुलसी ने मन के नकारात्मक और सकारात्मक अथवा विकृत और संस्कृत पक्षों को समानांतर रूप में चित्रित करके दोनों के संघर्ष के मध्य से मन की विकृतियों के परिष्कार का मार्ग खोजा है। उन्होंने राम, भरत, हनुमान, सीता आदि पात्रों के माध्यम से अनेक सत्प्रवृत्तियों का सूक्ष्म चित्रण किया है। आदर्शवादी कवि होते हुए भी तुलसी ने मन के विकृत पक्ष का भी पूर्ण यथार्थता के साथ चित्रण किया है। तुलसीदास इस तथ्य से अवगत थे कि मन के विकृत पक्ष को चित्रित किये बिना केवल संस्कृत पक्ष का निरूपण अवास्तविक और अविश्वसनीय होगा। रावण के साथ संघर्ष के माध्यम से ही राम के महत्त्व को स्थापित किया जा सकता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर तुलसी ने मोह, काम, क्रोध आदि मनोविकारों का अत्यंत सूक्ष्मता से निरूपण किया है। नारद-मोह और पार्वती-मोह के प्रसंगों में मोह का निरूपण हुआ है।

तुलसी ने 'काम' मनोभाव का भी बड़ा ही यथार्थ चित्रण किया है। कैकेयी के वशीभूत राजा दशरथ द्वारा राम को वनवास दिये जाने के मूल में काम के प्रचंड प्रभाव को ही स्वीकार किया गया है।[३] शूर्पणखा के माध्यम से व्यक्त यौन-भावना में तो तुलसी का दृष्टिकोण संयोगवश फ्रायड के दृष्टिकोण से मेल खाता प्रतीत होता है। वे कहते हैं, 'स्त्री मनोहर पुरुष को देखकर, चाहे वह भाई, पिता, पुत्र ही हो, विकल हो जाती है और मन को नहीं रोक सकती, जैसे सूर्यकांत मणि सूर्य को देखकर द्रवित हो जाती है।'[४]

परशुराम-लक्ष्मण-संवाद में क्रोध के मनोविज्ञान का बहुत ही यथार्थ चित्रण हुआ है। परशुराम और लक्ष्मण दोनों में ही महानता-ग्रंथि

---

१. सुख हरषहिं जड़ दुःख बिलखाहीं। दोउ 'राम धीर धरहिं' मन माहीं।
मानस २।२४०।१

२. जद्यपि राम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू। मानस २।२१६।२

३. मानस २।२५।१-२

४. भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी।
होइ बिकल सक मनहि न रोकी। जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी।
मानस ३।१७।३

(सुपीरियोरिटी-कंप्लैक्स) की प्रधानता है, किंतु दोनों में अंतर यह है कि लक्ष्मण की महानता-ग्रंथि चुनौतीपूर्ण स्वाभिमान तक सीमित है, जबकि परशुराम की महानता-ग्रंथि उनके ब्राह्मण होने की हीनता-ग्रंथि की प्रतिक्रिया का परिणाम है। अपनी ब्राह्मणत्व-विषयक हीनता-ग्रंथि की क्षति-पूर्ति के लिये ही उन्होंने क्षत्रियवेश धारण कर रखा है और हाथ में परशु ग्रहण किया है। राम के द्वारा बार-बार 'मुनि' और 'विप्रवर' शब्दों से संबोधित किये जाने पर वे चिढ़ कर कह उठते हैं, 'तू मुझे निरा ब्राह्मण ही समझता है, मैं जैसा ब्राह्मण हूँ तुझे सुनाता हूँ।'[1] इस प्रसंग में क्रोध के स्वरूप, परिणाम, उद्दीपक कारणों और अनुभावों पर भी प्रकाश डाला गया है। क्रोध-विषयक निरूपण मनोवैज्ञानिकों के तत्संबंधी विवेचन से पूर्णतः मेल खाता है।[2] कोप को भयंकर अग्नि (घोर कृसानू) कहा गया है और उसे पाप का मूल बतलाया गया है, जिसके वश में होकर लोग अनुचित कर्म कर बैठते हैं।[3] क्रोध से शरीर जलता है और बल क्षीण होता है।[4] यह क्रोध का दुष्प्रभाव है। वाद–विवाद करने, घूर कर तिरछा देखने, व्यंग्य करने से क्रोध उद्दीप्त होता है। लक्ष्मण क्रोधी व्यक्ति के मनोविज्ञान को भली भाँति जानते हैं, इसलिये वे उक्त उत्तेजक उपायों को प्रयोग में लाने के अतिरिक्त बीच-बीच में रहस्यमय ढंग से मुस्कराते और हँसते भी हैं।[5] कठोर वचन कहना, अपशब्द बोलना, कुठार उठाना, चुनौती देना, शिकायत करना, गर्वोक्ति करना आदि अनेक अनुभावों का भी सफल चित्रण हुआ है।

तुलसीदास ने ऐसे अनेक पात्रों की मनःस्थितियों का भी चित्रण किया है जो स्वभावतः अविकृत, निर्दोष और उदात्ताशय होते हुए भी परिस्थितियों के ऐसे भँवर में फँस गये हैं, जिसमें उन्हें स्वयं ही अपना अस्तित्व सदोष और अपराधपूर्ण प्रतीत होने लगता है। अपराध-चेतना (गिल्ट-कॉन्शेन्स) के अर्थ में तुलसी-साहित्य में प्रायः 'ग्लानि' शब्द प्रयुक्त हुआ है। ग्लानि के अनेक मार्मिक प्रसंग रामचरितमानस में सुलभ हैं जैसे राम के माहात्म्य के विषय में सती का

---

१. निपटहिं द्विजकरि जानहिं मोही। मैं जस विप्र सुनावहुँ तोही। मा० १।२८३।१

२. देखिए Dr. Prem Nath, Popular Talks On Psychological Topics, P. 70-75

३. मानस १।२७७

४. भृगुपति सुनि सुनि निरभय बानी। रिस तन जरइ होइ बल हानी। मानस १।२७७।३

५. मानस १।२७७।३; १।२७७; १।२७६।३

भ्रम और परीक्षा लेना। अंततः अपने पाप को समझकर उनका हृदय कुम्हार के आँवे के समान जलने लगता है, उनकी आत्म-ग्लानि की सीमा नहीं रहती, वे मन ही मन राम का स्मरण करने लगती हैं।[१] यदि किसी प्रकार भी पाप-चेतना से मुक्ति नहीं मिल पाती तो व्यक्ति को अपनी निरर्थकता का बोध सताने लगता है और उसमें मृत्यु-कामना का उदय होता है। सती इसी मृत्युकामी मनःस्थिति से ग्रस्त होकर विधाता को लक्ष्य करके कहती हैं, 'हे विधाता ! अब तुझे यह उचित नहीं है जो शंकर से विमुख होने पर भी मुझे जिला रहा है।'[२] सीता, राम और लक्ष्मण को लौटाकर अयोध्या लाने में असमर्थ सुमंत्र की ग्लानि-ग्रस्त मनःस्थिति भी उल्लेखनीय है।[३] वे भी निरर्थकता-बोध से पीड़ित होकर मृत्युकामी बन जाते हैं और चीख उठते हैं– 'धिग जीवन रघुवीर बिहीना।[४] ऐसी ही ग्लानिग्रस्त मनःस्थिति की बहुमुखी अभिव्यक्ति भरत के उद्‌गारों में भी सशक्त रूप में मिलती है।[५] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मन, कर्म और वचन के स्तर पर पापों का वर्गीकरण सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। अन्य सभी वृत्तियों की भाँति पाप-वृत्ति भी मूलतः मानसिक है, अनेक बार वह मन से बाहर नहीं प्रकट होती और अनेक बार वह वाणी या कर्म या दोनों के माध्यम से व्यक्त होती है। रामचरितमानस में ग्लानि-ग्रस्त पात्रों के ग्लानि-परिहार के निमित्त अन्य पात्रों द्वारा अपनाये गये उपाय निम्नलिखित हैं–(१) ग्लानि-ग्रस्त पात्र के ज्ञान और गुणों की प्रशंसा करना।[६] (२) भाग्य को दोषी ठहराते हुए ग्लानि-ग्रस्त पात्र को निर्दोष सिद्ध करना।[७] (३) काल और कर्म की गति को बलवान बतलाकर सारा दोष उन्हीं पर लगाना।[८] (४) ज्ञानोपदेश देना।[९] ग्लानि-ग्रस्त पात्र कभी स्वयं को बुरा-भला कह कर, प्रायश्चित की ज्वाला में तपकर,

१. कहि न जाइ कछु हृदय गलानी। मन महुँ रामहिं सुमिर सयानी। मा १।५६।३
२. मानस १।५६।२ ३. मानस २।१४५।३
४. मानस २।१४४।२ ५. मानस २।१६७।४
६-७. तुम्ह पंडित परमारथ ग्याता। धर धीर लखि बिमुख बिधाता।
मानस २।१४३।१
८. जनि मानहु हियँ हानि गलानी। काल करम गति अघटित जानी।
मानस २।१६५।३
९. भाँति अनेक भरतु समुझाए। कहि बिबेकमय बचन सुनाए।
मानस २।१६७।१

कभी अपने दुर्भाग्य को कोसकर, कभी दूसरों के समक्ष बार-बार अपने अपराध की घोषणा द्वारा उनकी सहानुभूति अर्जित करके और कभी स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने के लिये सफाई देकर ग्लानि-भाव से उबरने की चेष्टा करता है।

रामचरितमानस में सम्मोहन (हिप्नोसिस) और मनदोहन (ब्रेनवाशिंग) के साथ ही निर्देश (सजैश्शन) तथा आत्म-निर्देश (औटो-सजैश्शन) के भी उदाहरण उपलब्ध हैं। 'तुलसीदास सठ तेहि भज, छाँड़ि कपट जंजाल'[1] में आत्म-निर्देश की पद्धति अपनायी गयी है। विनयपत्रिका में तो आत्म-निर्देश के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं।[2] विनयपत्रिका में मूढ़ जीव के लिए अनेक निर्देश भी दिये गये हैं।[3] तुलसी ने 'मोहना' (तथा 'विमोहना') क्रिया का अनेक स्थानों पर प्रयोग किया है।[4] यद्यपि उन्होंने उक्त 'क्रिया' और उससे निर्मित 'संज्ञा' तथा 'विशेषण' शब्दों का इतने पारिभाषिक रूप में प्रयोग नहीं किया जितने पारिभाषिक रूप में आधुनिक मनोविज्ञान में 'सम्मोहन' (हिप्नोसिस) का किया जाता है, तथापि वे सम्मोहन के आधुनिक अर्थ से बहुत दूर नहीं हैं। तुलसी ने 'मोहनी' शब्द का भी प्रयोग किया है, जो अर्थ की दृष्टि से 'सम्मोहन' के बिल्कुल निकट है। जनकपुरी के नर-नारियों पर राम ने अपने रूप की 'मोहनी' डाल दी और उन्हें अपने वशीभूत कर लिया।[5] 'बिस्व-बिमोहन रचेउ बिताना'[6] में भी ऐसे ही आशय की अभिव्यक्ति हुई है। कैकेयी-मंथरा-संवाद सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक स्तर पर

---

१. मानस १।२१२

२. (क) सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो। विनयपत्रिका ८७

(ख) अबलौं नसानी, अब न नसैहौं। विनयपत्रिका १०५

३. (क) जागु जागु, जीव जड़! जोहै जग-जामिनी। विनयपत्रिका ७३

(ख) सुमिरु सनेहसों तू नाम रामराय को। विनयपत्रिका ६६

४. (क) हरि हित सहित रामु जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे।
मानस १।३१७।२

(ख) आपनें बय बल रूप गुन गति सकल भुवन बिमोहई।
मानस १।३१६। छंद

५. जिन्ह निज रूप मोहनी डारी। कीन्हे स्वबस नगर नर-नारी।
मानस १।२२६।३

६. मानस १।२६७।२

सम्मोहन और मनदोहन का उत्कृष्ट उदाहरण है। यद्यपि तुलसी ने पौराणिक प्रवृत्ति से प्रभावित होकर मंथरा को कुटिलता की ओर प्रेरित करने का दायित्व सरस्वती पर डाल दिया है,[१] तथापि मंथरा की कुटिलता का निरूपण जिस प्रकृत मनोभूमि के आधार पर हुआ है, उससे इस प्रसंग का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्व बहुत बढ़ गया है। आकृतिगत विद्रूपता और निम्न सामाजिक स्तर से उत्पन्न हीनता-ग्रंथि को कवि ने कपट-क्रिया का मूल माना है। 'करि कुरूप बिधि परबस कीन्हा' तथा 'चेरि छाड़ि, अब होब कि रानी' जैसी पंक्तियों में उसकी हीनता-ग्रंथि मुखरित हुई है।[२] मंथरा कैकेयी के निर्विकार मन पर अनेक युक्तियों से मनोभावों की क्रमशः ऐसी सूक्ष्म परतें चढ़ाती हैं कि उसकी कपटपूर्ण बातें सुनकर उस 'घरफोरी' की जीभ खिंचवाने की धमकी देने वाली कैकेयी अंततः भीलनी के गान से मोहित मृगी के समान मंत्र-मुग्ध हो जाती है।[३] मंथरा अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानसिक आघात (मैंटल जर्क) देने की पद्धति का प्रश्रय लेती है। मानसिक आघात देने के लिये वह निम्नलिखित प्रमुख युक्तियाँ अपनाती है : (१) कैकेयी की नासमझी पर चोट करते हुए वह उसकी तुलना में पशुओं को भी प्रबुद्धतर घोषित करती है, क्योंकि वे कम-से-कम अपना हित-अहित तो समझते हैं।[४] (२) भरत को कपटपूर्वक ननिहाल भेजकर राम को चुपचाप युवराज-पद देने की योजना बनाने वाले दशरथ के तथाकथित षड्यंत्र पर प्रकाश डालकर वह कैकेयी की इस भ्रांत धारणा पर प्रहार करती है कि राजा उसके वशीभूत हैं।[५] (३) वह कैकेयी के सपत्नी-भाव को उकसाते हुए उसकी वर्तमान तथा भावी असुरक्षित और हीन दशा का भयावह और मर्मस्पर्शी चित्रण करती है।[६] (४) कैकेयी के मन को झकझोर कर उसका विश्वास अर्जित करने के लिए कभी वह वक्रतापूर्ण शैली में अपने हितकामी, सरल और न्यायप्रिय स्वभाव को कोसती है और कभी अपने दुर्भाग्य को।[७] (५) कैकेयी के कोमल हृदय को आंदोलित करने के लिए कभी वह दीर्घ निःश्वास छोड़ती है और

१. गई गिरा मति फेरि। मानस २।१२

२. मानस २।१६।३

३. सबरी गान मृगी जनु मोही। मानस २।१७।१

४. का पूँछहु तुम्ह अबहुँ न जाना। निज हित-अनहित पसु पहिचाना। मानस २।१६।१

५. मानस २।१४।३ ६. मानस २।१६।४ ७. मानस २।१६।१ तथा ४

कभी आँसू ढुलकाती हुई त्रिया-चरित्र करती है।[1] मानसिक आघात देने की पूरक पद्धति के रूप में वह रानी के 'सरल सुभाउ' की प्रशंसा भी करती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सम्मोहन की क्रिया में निर्देश का भारी महत्त्व है। पहले निर्देशक एक निर्देश देता है और निर्दिष्ट व्यक्ति उसे स्वीकार कर लेता है। आगे चल कर वह निर्देश ही उसका आत्म-निर्देश बन जाता है। "वस्तुतः हम यह कह सकते हैं कि सारा सम्मोहन अंततः आत्म-सम्मोहन है और प्राथमिक रूप में हमको निर्देश देने के लिए एक प्रशिक्षित विशेषज्ञ अपेक्षित हो या न हो, जब तक हम स्वयं को एक आत्म-निर्देश नहीं देते, तब तक कुछ नहीं होता।"[2] यह दर्शनीय है कि मंथरा ने कैकेयी को जो निर्देश दिया, वही कैकेयी का 'मनोरथ' बन गया और उसी की पूर्ति के लिए वह कोप भवन में चली गयी।[3]

तुलसी ने 'स्वप्न' और 'दुःस्वप्न' नामक मनोवैज्ञानिक स्थितियों का भी सुंदर निरूपण किया है। फ्रायड का मनो-विश्लेषण-सिद्धांत मुख्यतः स्वप्न-विश्लेषण (ड्रीम-एनेलेसिस) पर आधारित है, जिसके द्वारा लुप्त स्मृतियों और दमित वासनाओं का पता लगाया जाता है।[4] परंतु तुलसी ने 'स्वप्न' को केवल अतृप्त वासना की अभिव्यक्ति का साधन नहीं माना, वे उसमें स्वस्थ मन के संकल्प, निष्ठा और विश्वास आदि मनोभावों की भी अभिव्यक्ति पाते हैं। उदाहरणार्थ भक्त-शिरोमणि भरत की सोने, जागने और स्वप्न देखने के समय की एक मात्र यही इच्छा है कि वे निष्कपट और निष्काम भाव से राम की सेवा करते रहें।[5] स्वस्थ मस्तिष्क की चेतन और अवचेतन परतों में भेद नहीं होता। स्थित प्रज्ञ जो जागते हुए सोचता है वही सोते हुए स्वप्न में सोचता है। पार्वती सदैव शिव की प्राप्ति के विषय में ही चिंतन-रत रहती हैं। शिव

१. मानस २।१३।३-४

२. "We can say, indeed, that all hypnosis is ultimately self-hypnosis, and that whether or not a trained specialist is necessary to make the suggestion to us in the first place, nothing happens until we ourselves make an autosuggestion." John Langdon—Davies, On The Nature Of Man" P. 103.

३. मानस २।२३।२

४. Dagobert D. Runes, The Dictionary of Philosophy, P. 257.

५. मानस २।३०१।१-२

की प्राप्ति के विषय में उनकी संकल्पनिष्ठा ही स्वप्न का रूप ग्रहण करती है। स्वप्न में, कोई गौरवर्ण श्रेष्ठ ब्राह्मण उन्हें शिव-प्राप्ति के लिए तप करने का उपदेश देता है।[१] यहाँ स्वप्न के ब्राह्मण का 'निर्देश' वस्तुतः पार्वती के 'आत्म-निर्देश' का ही दूसरा रूप है। तुलसी ने भारतीय ज्योतिष के आधार पर भी स्वप्न की योजना की है और उसके फल पर विचार किया है। उदाहरणार्थ, वनवास के समय सीताजी स्वप्न देखती हैं कि अयोध्यावासियों के साथ भरत राम से मिलने चित्रकूट आये हैं। राम स्वप्न को सुनते ही निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि स्वप्न अशुभ है और कोई बुरा समाचार मिलने वाला है।[२] तुलसीदास ने दुःस्वप्न (नाइटमेयर) का भी उल्लेख किया है। ननिहाल में स्थित भरत को अंतर्ज्ञान (इनट्यूशन) के आधार पर अनुभव होने लगता है कि अयोध्या में कुछ अनिष्ट हो गया है; वे दुःस्वप्न देखने लगते हैं, उनके सामने अपशकुन होने लगते हैं और वे मन ही मन महादेव जी को मनाकर उनसे माता-पिता, कुटुंबी और भाइयों की कुशलक्षेम माँगने लगते हैं।[३] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भरत का अनिष्ट-संबंधी ज्ञान 'टैलीपैथी' का उदाहरण है। इसमें सूचना सामान्य ऐंद्रयिक आधार पर न प्राप्त होकर अतींद्रिय रूप में प्राप्त होती है।[४]

मानव-प्रकृति में तुलसीदास की गहन पैठ का पुष्ट प्रमाण तो उनके समूचे साहित्य में बिखरी हुई उन मनोवैज्ञानिक सूक्तियों में मिलता है, जिनमें मानव के स्वभाव और उसकी व्यावहारिक अभिव्यक्ति के संबंध में अत्यंत सूक्ष्म एवं सामान्य सिद्धांत निरूपित किये गये हैं। तुलसी की सूक्तियों की लोकप्रियता उनमें निहित गंभीर एवं स्थायी मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित है। मनो-जगत् के सत्यों का उद्घाटन करते हुए वे कहते हैं, 'संतोष के बिना कामना का नाश नहीं होता, और कामनाओं के रहते स्वप्न में भी सुख नहीं होता,'[५] 'जाने बिना विश्वास नहीं होता और विश्वास के बिना प्रीति नहीं होती,'[६]

---

१. मानस १।७३ तथा १।७३।१-२ २. मानस २।२२६।२-४

३. मानस २।१५७।३-४

४. John Langdon—Davies, On The Nature of Man P. 35.

५. बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं।
मानस ७।९०।१

६. जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।
मानस ७।८९।४

'दुष्ट से न कलह अच्छा न प्रेम ही।'[१] जब किसी व्यक्ति को सर्प काट लेता है तो विष के प्रभाव से उस व्यक्ति को नीम की पत्तियाँ भी चबाने पर कड़वी नहीं लगतीं। तुलसीदास ने इस तथ्य को मनोजगत् पर लागू करते हुए कहा है 'जब किसी व्यक्ति को 'काम' रूपी सर्प काट लेता है तब उसे विषय रूपी नीम कड़वा नहीं लगता'।[२] तुलसी के अनुसार मूढ़ विषयी जीव प्रभुता पाकर मोहवश ऐसा आचरण करते हैं कि उनका असली रूप प्रकट हो जाता है।[३] अनेक सूक्तियों में मानव-प्रकृति और बाह्य प्रकृति को इस प्रकार सटाकर आमने-सामने रख दिया गया है कि दोनों ही के निगूढ़ तथ्य पूर्ण भास्वरता के साथ उद्भासित हो उठे हैं।[४] तुलसी ने पौराणिक संदर्भों के माध्यम से भी मनोवैज्ञानिक सत्यों की संवाहिका सूक्तियों का सृजन किया है।[५]

तुलसी ने परंपरागत दार्शनिक शब्दावली का भी मनोवैज्ञानिक रूप में प्रयोग किया है। राम की 'माया' का उल्लेख 'चामत्कारिक विलक्षण शक्ति' के रूप में किया गया है। उदाहरणतः रावण के द्वारा अपहरण से पूर्व ही राम सीता को अग्नि में प्रविष्ट होने का आदेश देते हैं और उसके स्थान पर अपनी माया से निर्मित छायामयी सीता बैठा देते हैं।[६] रावण उसी माया-सीता का अपहरण करता है।

तुलसी का माया संबंधी वर्गीकरण मूलतः मनोवैज्ञानिक है। इसे आधुनिक मनोविज्ञान की शब्दावली में इस प्रकार रखा जा सकता है कि जो व्यक्ति अवचेतन की मूल स्वच्छंद प्रवृत्तियों (लिब इडो) के वशीभूत हैं, वे अविद्या-ग्रस्त हैं और जो चेतन के अनुशासन में हैं वे विद्या-प्रेरित हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मानव-प्रकृति में तुलसी की गहरी पैठ थी। राम-कथा के प्रसंगों के पुनर्विधान में, पात्रों के भावों और अनुभावों के चित्रण में, दार्शनिक पदावली के काव्यात्मक प्रयोग में, भक्ति भावना के निरूपण में सर्वत्र सूक्ष्मचेता कवि तुलसी की मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि क्रियाशील दिखलायी

---

१. खल सन कलह न भल नहिं प्रीती। मानस ७।१०६।७
२. काम भुजंग डसत जब जाही। बिषय-नींव कटु लागत नाहीं। वि०प० १२७
३. मानस २।२२८।१
४. मानस १।२७६।२ तथा २।१६२ख
५. मानस १।१७१
६. मानस ३।२४।२

पड़ती है। यद्यपि तुलसी को मानव-मनोभावों के चित्रण में भारी सफलता मिली है, तथापि जिन स्थलों पर वे स्वाभाविकता पर अपनी राम-संबंधी प्रतिबद्धता और राम-भक्ति के अद्‌भुत प्रभाव से संबंधित पूर्वाग्रहों का बलपूर्वक आरोपण करने लगते हैं, वहाँ मनोवैज्ञानिक दृष्टि पौराणिक वायव्य कल्पना के कुहासे में धूमिल पड़ जाती है। नाक-कान काटे जाने पर भी शूर्पणखा का रावण से राम के शील और शौर्य की प्रशंसा करना, अंगद के प्रवेश करते ही रावण के सभासदों का आदरपूर्वक खड़े होना, राम और रावण, मेघनाद आदि राक्षसों की माया-रचना, एक दूसरे की माया को काटना आदि ऐसे प्रसंग हैं जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सहज ग्राह्य नहीं। फिर भी, यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि तुलसी को मानव-मनोविज्ञान की सूक्ष्म परख थी।

डॉ० बल्देवप्रसाद मिश्र

तुलसी का उक्ति वैचित्र्य

प्रातः स्मरणीय श्री गोस्वामी तुलसीदास जी रस-सिद्ध कवीश्वर थे। उन्होंने काव्य की अनेक विधाओं को अपनी प्रतिभा से अलंकृत किया है। उक्ति-वैचित्र्य के नमूने तो उनकी प्रत्येक रचना में भरे पड़े हैं। वस्तुतः उक्ति वैचित्र्य ही तो काव्य का प्राण है। कहा भी तो गया है कि 'उक्ति विशेषं काव्यं भाषा या भवति सा भवन'। अतएव गोस्वामी जी की रचनाओं में उक्ति-वैचित्र्य के प्राचुर्य का मिलना स्वाभाविक ही है।

जो बात जैसी है उसको वैसी की वैसी ही कह देना शास्त्र का काम है और उसको अलंकारों आदि से समृद्ध करके उक्ति-चमत्कार के साथ कह देना काव्य का काम है। 'संत लोग उदार चरित्र वाले होते हैं, वे संकट सहकर दूसरों की सहायता करते हैं, इसलिए वंदनीय कहे जाते हैं' यह शास्त्र की भाषा हुई। यह मनोविज्ञान शास्त्र का एक तत्त्व-कथन मात्र हुआ। इसी को यदि इस प्रकार कह दिया जाए :

साधु चरित सुभ सरिस कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू।
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा। बंदनीय जेहि जग जस पावा।[1]

तो यह काव्य की भाषा होगी, उक्ति-चमत्कार की भाषा होगी। इतना ही कहा जाये कि साधु चरित कपास के समान उज्ज्वल होता है तो भी उपमा अलंकार वाला उक्ति-चमत्कार तो आ ही जाएगा किंतु उज्ज्वल (विशद) ही न कहकर

---

१. मानस १।२।३

श्लेष आदि अलंकारों के सहयोग से 'निरस' और 'गुणमय' विशेषणों का भी प्रयोग कर देने से तथा दोनों की तुलना में 'जो सहि दुख परछिद्र दुरावा' सदृश अर्थपूर्ण शब्दावली का प्रयोग कर देने से उक्ति-चमत्कार की महत्ता अनेक गुण बढ़ जाती है। थोड़े से शब्दों में बहुत-सा अर्थ भर देना भी एक बहुत बड़ा उक्ति-चमत्कार है। 'जो सहि दुख परछिद्र दुरावा' को इस दृष्टि से देखिये तो आप जितने गहरे जाते जायेंगे, उतना आनंद मिलता जायगा। चाहे वर्ण्य विषय के स्पष्टीकरण की बात हो चाहे उसमें निहित भावों के उत्कर्षापकर्ष की बात हो, चाहे उससे संबंधित प्रभावों की पणवता की बात हो, गोस्वामी तुलसीदास जी का उक्ति-वैचित्र्य बहुत आकर्षक और बड़ा ऊँचा है।

शिशुपाल वध के रचयिता महाकवि माघ ने लिखा है, 'आत्मोदयः परज्यानिः राजनीति रितीयती।' मतलब यह है कि राजनीति का सार दो शब्दों में है—आत्मोदय (अर्थात् अपने को उठाओ) और परज्यानि (अर्थात् प्रतिपक्षी को गिराओ)। गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है—काजु हमार तासु हित होई, रिपुसन करेहु बतकही सोई।[1] इसमें भी राजनीति का सार दो शब्दों में कहा गया है। किंतु जहाँ माघ ने अपने को उठाने, अपने को प्रभावी बनाने की बात कही वहाँ तुलसीदास जी ने 'हमार काज' की सामूहिक लक्ष्य-पूर्ति की बात कही और जहाँ माघ ने प्रतिपक्षी को गिराने की बात कही वहाँ तुलसी ने प्रपिपक्षी के हित-संपादन की बात कहकर थोड़े में कितना अधिक और कितना ऊँचा कह दिया है। सहृदय लोग अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार रस लेते जायँ और कोष कभी रिक्त न हो। एक दूसरा उदाहरण देखिए। कालिदास ने लिखा—सर्वोपिमा द्रव्य समुच्चयेन यथा प्रदेशं विनिवेषितेन सा निर्मिता विश्व सृजा प्रयत्नात् एकत्र सौंदर्य दिदृक्षयेव।' मतलब यह है कि नारी-सौंदर्य के जितने उत्तम से उत्तम उपमान विधाता ने बनाये थे, उदाहरणार्थ कमल, चंद्रमा, कदली-स्तंभ आदि उन सबकी एकत्रित सुंदरता देखने के लिए ही मानों उसने यत्नपूर्वक पार्वती जी का नारी रूप बनाया है। गोस्वामी तुलसीदास जी लिखते हैं—'जनु बिरंचि सब निज निपुनाई, बिरचि बिस्व कहँ प्रगट जनाई।[2] भाव वही है कि विरंचि की सब सौंदर्य-निर्माण-क्षमता और निपुणता सीता जी के रूप में पुंजीभूत हो गयी है। परंतु एक तो कवि-कुल-गुरु-कालिदास ने उपमान-भूत सुंदर पदार्थों के

१. मानस ६।१७।४ २. मानस १।२३०।३

निर्माणनैपुण्य की बात स्पष्ट नहीं की, दूसरे, उन्होंने 'एकत्र सौंदर्य दिदृक्षा, की बात कही अर्थात् यह कहा कि विधाता अपना निर्माण-सौंदर्य स्वतः देखना चाहता था। बाबा तुलसीदास जी कहते हैं कि विधाता वह नैपुण्य विश्व को दिखाना चाहता था। अपनी वस्तु को स्वतः देख लेना अलग बात है और अपनी वस्तु को संसार के समक्ष प्रदर्शित कर देना बिल्कुल ही पृथक् बात है। इन दोनों भावों में बड़ा अंतर है। दिखाने वाली वस्तु को दूकानदार अधिक आकर्षक रूप में उपस्थित करता है। फिर 'विश्व' शब्द की ओर भी ध्यान दीजिए। वह संसार के सर्वसाधारण और विशिष्ट कलाकारों के समूह का भी अर्थ देता है और 'विष्णु सहस्रनाम' के अनुसार भगवान का भी अर्थ देता है जोकि तुलसीदास जी के राम स्वतः थे। अतएव 'बिरचि बिस्व कहँ प्रगट जनाई' में उक्ति-वैचित्र्य किस ऊँचे दर्जे का आ गया है यह रसग्राही सहृदयों से छिपा नहीं रह सकता।

उक्ति-वैचित्र्य का एक लंबा उदाहरण भी देख लीजिए। वह है 'धर्म-रथ' के प्रकरण का। गोस्वामी जी के वर्णन के अनुसार लंका का युद्ध सात दिनों तक चला। प्रति सप्ताह उन्हीं सात दिनों का आवर्तन होता रहता है अतएव सात दिन का अर्थ अनंत काल भी हो सकता है। इस अर्थ में रावण-युद्ध है मानव-मन की सत्प्रवृत्तियों और दुष्प्रवृत्तियों के बीच का अनवरत संघर्ष। दुष्प्रवृत्तियों की बड़ी माया रहा करती है, बड़ा विस्तार रहा करता है। उनकी बड़ी प्रबलता भी रहा करती है। प्रायः ऐसा जान पड़ता है कि दुष्प्रवृत्तियाँ सत्प्रवृत्तियों को दबा बैठेंगी। परंतु यदि सत्प्रवृत्ति दृढ़ धर्म पर आरूढ़ है तो अंततः विजय उसी की होगी, इसमें कोई संदेह नही समझना चाहिए। इस बात को जिस उक्ति-वैचित्र्य के साथ गोस्वामी जी ने 'धर्मरथ प्रकरण' में अंकित किया है वह अपने ढंग पर निश्चय ही अद्वितीय है। प्रकरण इस प्रकार है :

रावनु रथी, बिरथ रघुबीरा। देखि, बिभीषन भयउ अधीरा।
अधिक प्रीति मन, भा संदेहा। बंदि चरन, कह सहित-सनेहा।
नाथ! न रथ, नहिं तनु-पग-त्राना। केहि बिधि जितब बीर बलवाना।
सुनहु सखा! कह कृपानिधाना। जेहिं जय होइ, सो स्यंदन आना।
सौरज-धीरज तेहि रथ चाका। सत्य-सील दृढ़ ध्वजा-पताका।
बल-बिबेक-दम-परहित घोरे। छमा-कृपा-समता रजु जोरे।
ईस-भजन सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना।

दान परसु, बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिज्ञान कठिन कोदंडा।
अमल-अचल-मन त्रोन-समाना। सम-जम-नियम सिलीमुख नाना।
कवच अभेद्य बिप्र-गुरु-प्रजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा।
सखा! धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें।
महा अजय संसार-रिपु, जीत सकइ सोइ बीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़, सुनहु सखा! मति-धीर।[1]

उक्ति-वैचित्र्य की खूबी देखिये। राम और रावण का मुकाबला चौथे दिन के युद्ध में हुआ था। क्या तब तक विभीषण को यह पता नहीं था कि राम विरथ हैं, रथ या पदत्राण, तनुत्राण आदि साधनों से शून्य हैं और रावण रथी है—अस्त्र और शस्त्रों से खूब साधन-संपन्न है। वह जानता था परंतु ठीक उसी प्रकार जैसे अर्जुन जानता था कि उसके प्रतिपक्ष में उसके पितामह, उसके गुरु, उसके मामा, उसके बंधु-बांधव आदि हैं जिनसे उसे लड़ना है। किंतु दोनों पक्षों की सेनाओं को आमने-सामने देखकर अर्जुन की जो दशा हुई वही राम और रावण को आमने-सामने देखकर विभीषण की हुई। ऐसी दशा क्यों हुई इसके उत्तर में जाने की इस समय आवश्यकता नहीं, परंतु जिस उक्ति-वैचित्र्य से गोस्वामी जी द्वारा उन दोनों प्रसंगों की तुलना का संकेत दे दिया गया है उसने धर्मरथ की पंक्तियों को अनायास ही श्रीमद्भगवद्गीता से तुलित करके विशिष्ट महत्त्वपूर्ण बना दिया है। महाभारत में ग्रथित हुई गीता और रामायण में ग्रथित हुआ धर्मरथ। गोस्वामी जी ने एक संकेत में दोनों के तुलानात्मक अध्ययन का मार्ग खोल दिया। आगे देखिये। भौतिक साधनों की उपेक्षा न करते हुए भी राम ने कितने सुंदर ढंग पर बता दिया कि अंतिम जय आतम-बल की हुआ करती है, आंतरिक साधनों की हुआ करती है न कि पशुबल की अथवा बाहरी भौतिक साधनों की। इन आंतरिक साधनों को नौ भागों में विभक्त किया गया है। नौ ही तो पूर्णांक है अतःएव पूरी रथ-गीता के तत्व नौ कोटियों में रख दिये गये। पहला भाग है शौर्य और धैर्य का जिनके संतुलित सहारे के बिना प्रगति का रथ अथवा सफलता का अभियान आगे बढ़ ही नहीं सकता। रूपक अलंकार में इन्हें धर्म रूपी रथ के चक्के समझिये। दूसरा भाग है सत्य और शील का जो विजय-रथ के ध्वज और पताका के रूप में है——डंडा और झंडा रूप में है। सत्य डंडे के समान कठोर और शील झंडे के समान लचीला। डंडा झंडे के बिना नीरस ठूँठ है और झंडा

१. मानस ६।८०।१-६

डंडे के बिना आधार हीन होकर पतित हो जाता है। दोनों के परस्पर सहयोग और उत्थानपूर्ण स्थिति से ही रथ की उत्साहप्रद विजय-लिप्सा प्रकट होती रहती है। सत्य और शील का ताल-मेल बिगड़ा कि समझिये रथी ने हथियार डाल दिये, पराजय स्वीकार कर ली। प्रगतिवान व्यवहार अथवा धर्म-व्यवहार का आदिम आधार है शौर्य से और अंतिम आधार सत्य शील से समझिये। तीसरा भाग है बल (शरीर के बल) विवेक (बुद्धि के बल) दम (चरित्र के बल) और परहित (व्यापक लक्ष्य के बल) का। एक ही शक्ति के ये चार रूप हैं जिनका परस्पर संतुलन उसी प्रकार से हो जैसा रथ में जुते चार घोड़ों के बीच होता है। चौथा भाग है कृपा, क्षमा, समता का। ये भावनाएँ वस्तुतः उपर्युक्त चारों प्रकार के बलों का संतुलन बनाये रखने की साधन-भूत हैं। अभाव से ग्रस्त लोगों को ऊँचा उठाने के लिए कृपा की लगाम और अपने प्रभाव से ग्रस्त लोगों को मानवता के धरातल पर उतार लाने के लिए क्षमा की लगाम चाहिए। तभी सच्ची समता का भाव विकसित होकर चतुर्विध बल को सन्मार्ग पर लगाए रहता है। पाँचवा भाग है ईश भजन अथवा आस्तिकता का। ईश्वर-निष्ठा ही केंद्रीय भाव है जो मध्यस्थ बनकर सभी प्रगति-सूत्रों का संचालन करता है। यह नहीं तो धर्मरथ की संचालिका शक्ति ही नहीं। छठा भाग है विरति और संतोष का, जो अत्यंत समीप पहुँच जाने वाले मानस-शत्रु का शिरच्छेद करने में ढाल-तलवार के समान सहायक होता है। सातवाँ भाग है दान अथवा सामान्य ज्ञान और बुद्धि का, जो कुछ दूर से भी मानस-शत्रु पर प्रहार कर सकता है, जैसे फरसा या साँग। आठवाँ भाग है विज्ञान (व्यावहारिक ज्ञान) अमल-अचल-मन और यम-दम-नियम का, जो क्रमशः कठोर धनुष, अक्षय तूणीर और भाँति-भाँति के बाणों की तरह दूर से ही दूर खड़े शत्रु के भी छक्के छुड़ा देने में सक्षम है। 'काम' सबसे नजदीकी शत्रु है। उससे निपटने के लिए वैराग्य और संतोष के गुण होने चाहिये। क्रोध जरा दूर का शत्रु है जिससे निपटने के लिए दान (ज्ञान) और बुद्धि सक्षम है। लोभ और भी दूर का किंतु अधिक व्यापक विविधताएँ लेकर आक्रमण करने वाला शत्रु है। उसके लिए मन की निर्मलता, प्रयोगों की व्यावहारिकता और साधनों की तीव्रता तथा विविधता अपेक्षित है। रथी प्रहार के साधनों से ही संपन्न रहे यही पर्याप्त नहीं। वह बचाव के साधनों से, अभेद्य कवच से भी संपन्न हो, यह भी आवश्यक है। सो, धर्मरथ के रथी को विप्र-पूजा का पद-त्राण और गुरु-पूजा का तनुत्राण अर्थात् शास्त्र-पांडित्य और

साधना-पांडित्य का भी पूरा सहारा चाहिए। यही वह नवाँ भाग है जो इस 'धर्म-रथ' के प्रकरण में रूपक के सहारे बड़े उक्ति-वैचित्र्य के साथ अभिव्यक्त हुआ है।

इस रूपक में आप तुलना-सौष्ठव का रस लेते चलिए और गहरे उतरते जाइये। आपको उत्तरोत्तर आनंद आता जाएगा। ऐसा है गोस्वामी तुलसी दास जी के उक्तिवैचित्र्य का चमत्कार।

श्री मोहनलाल शर्मा

तुलसी साहित्य में ब्रजतत्व

भक्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी की भक्ति साधना कौ रूप बड़ौ अद्भुत है। अपनी अनन्यता में ऊ जहाँ एक ओर कूँ श्रीराम-चरणाश्रित ह्वैं कैं अद्वितीय है, व्हाँ अपनी व्यापकता में दूसरी ओर इतनौ विस्तृत और समन्वयात्मक है कै वाते कोई भक्तिभाव अछूतौ नाँय रह जाय। फेरि ब्रज तौ भक्ति कौ केंद्र रह्यौ है। आज हू है। पर विशेषतः मध्यकाल में जब संपूर्ण भारत में भक्ति की अजस्र धारा अपने अनेक रूपन में प्रवाहित है रही ही, वा समै भक्ति के ब्रजीय भाव कौ प्रसार समस्त मध्यकालीन भारतीय साहित्य में भयौ। प्रायः सबई भारतीय आचार्य, संत और भक्तन ने ब्रज की जात्रा करी और जो प्रत्यक्ष रूपते ब्रज में नाँय पधार सके उनके भाव-पटल पै ब्रजभाव छायौ रह्यौ। चाहै उनकौ आधार श्रीमद्भागवत रह्यौ और चाहै कछू और। पर ब्रजीय भाव व्हाँ अंतरतम में पूरी तरै पैठ्यौ भयौ मिलै है। अबई संपूर्ण भारतीय साहित्य में जा दृष्टि ते सम्यक् अनुसंधान की आवश्यकता अनुभव होय है।

गोस्वामी जी कौ ब्रज ते विशेष अनुराग हौ। उनने ब्रज की जात्रा करी हती। मथुरा में बंगालीघाट पै आजहू ऊ मंदिर विद्यमान है जामें गोस्वामी जी के पधारिवे की बात (जनश्रुति के आधार पै) कही जाय है। ब्रजीय श्रीकृष्ण की माधुरी मूर्त्ति के दर्शन करिकें वा छवि पै वे हू मुग्ध भए हे :

कहा कहूँ छवि आप की भले बने हौ नाथ।

गोस्वामी जी नें श्रीकृष्ण कूँ 'नाथ' रूप में स्वीकार करिकें राम-कृष्ण

की एकरूपता के अपने भाव साम्य कौ परिचै दियौ हौ। ई बात दूसरी है कै उनकी अनन्यता नें उनके मस्तक कूँ जबई नवायबे के लएँ तैयार कियौ होय जब 'धनुष बान लेओ हाथ।' ई तौ अपने-अपने इष्टत्व की बात भई। पर हाँ, जो दोहा की सत्यता हू तौ संदेह ते परे नाँय है।

गोस्वामी जी और सूरदास जी की भेंट तौ सर्व विदित है। दोनों ही हिंदी भक्ति-साहित्य के शिरोमणि हते। सूरदास जी की सरल सरसता कौ गोस्वामी जी पै बड़ौ प्रभाव परयौ। यों तौ वा समै कोई भक्तकवि ब्रजतत्व ते अछूतौ रह ही नाँय सकै हौ वामें हू सूरदास जी ते भेंट ह्वै जाय तौ फिर कहा कही जाय। आचार्य श्री रामचंद्र शुक्ल के शब्दन में :

"गीतावली की रचना गोस्वामी जी ने सूरदास जी के अनुकरण पर की है। बाल-लीला के कई एक पद ज्यों के त्यों सूरसागर में भी मिलते हैं, केवल 'राम' 'श्याम' का अंतर है। लंकाकांड तक तो कथा की अनेकरूपता के अनुसार मार्मिक स्थलों का जो चुनाव हुआ है वह तुलसी के सर्वथा अनुरूप है। पर उत्तरकांड में जाकर सूर-पद्धति के अतिशय अनुकरण के कारण उनका गंभीर व्यक्तित्व तिरोहित सा हो गया है। जिस रूप में 'राम' को उन्होंने सर्वत्र लिया है, उसका भी ध्यान उन्हें नहीं रह गया है। 'सूर सागर' में जिस प्रकार गोपियों के साथ श्रीकृष्ण हिंडोला झूलते हैं, होली खेलते हैं, वही करते राम भी दिखाए गऐ हैं। × × × राम की नखशिख शोभा का अलंकृत वर्णन भी सूर की शैली पर बहुत से पदों में लगातार चला गया है।"[१]

इस प्रकार गोस्वामी जी की लेखनी 'गीतावली' में सूर की पगडंडीन पै भक्तिधार बहामन लगी :

(क) पगनि कब चलि हौ चारों भैया।
किलकनि, नटनि, चलनि, चितवनि,
भजि मिलनि मनोहर तैया।[२]

(ख) ठुमुक ठुमुक पगधरनि, नटनि लरखरनि सुहाई।
भजनि, मिलनि, रूठनि, तूठनि, किलकनि,
अवलोकनि, बोलनि बरन न जाई।[३]

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० १३६

२. गीतावली १।६ ३. गीतावली १।३०।३

(ग) जब जब भवन बिलोकत सूनो।
तब तब बिकल होति कौसल्या, दिनदिन प्रति दुख दूनो।[१]

(घ) ऐसे तैं क्यों कटु बचन कह्यौ री।
'राम जाहु कानन' कठोर तेरौ कैसें धौं हृदय रह्यौ री।[२]

और 'कृष्णगीतावली' में तो गोस्वामी जी 'धनुष बान' ए भूलिकें अष्टछाप के से ब्रजभक्त की भाँति कृष्णलीला कौ गान करिबे लगे :

(क) 'छोटी मोटी मीसी रोटी चिकनी चुपरी कै तू
दैरी मैया !' 'लै कन्हैया !' 'सों कब ?' 'अबहि तात !
'सिगरिहै हौं' हीं खैलैं, 'बलदाऊ को न दैहौं,
'सो क्यों ?' 'भटू तेरो कहा', कहि इत उत जात।[३]

(ख) खायौ, कै खबायौ, कै बिगारयौ, ढारयौ, लरिका री,
ऐसे सुत पर कोह, कैसो तेरौ हियौ है।[४]

(ग) अब तुलसी गिरिधर बिनु गोकुल, कौन करिहि ठकुराई।[५]

(घ) गए कर तें, घर तें, आँगन तें, ब्रजहू तें ब्रजनाथ।
तुलसी प्रभु गयो चहत मनहु तें, सो तो है हमारे हाथ।[६]

(ङ) ऊधौ हैं बड़े, कहैं सोइ कीजै।
अलि, पहिचानि प्रेम की परिनिति, उतरु फेरि नहिं दीजै।[७]

आचार्य शुक्ल के अनुसार, 'कृष्णगीतावली वृंदावन की यात्रा के अवसर पर बनी कही जाती है। पर बाबा बेनीमाधवदास के 'गुसांई चरित' के अनुसार रामगीतावली और कृष्णगीतावली दोनों ग्रंथ चित्रकूट में उस समय के कुछ पीछे लिखे गए जब सूरदास जी उनसे मिलने वहाँ गये थे।[८]"

'विनयपत्रिका' तौ भक्ति साहित्य कौ अनुपम रत्न है। जा भाँति गोस्वामी जी ने अपनी पत्रिका अपने आराध्य रघुकुलभूषण श्री रामचंद्र जी

---

१. गीतावली २।५४।१ २. गीतावली २।६०।१
३. कृष्णगीतावली २।१ ४. कृष्णगीतावली १६।२
५. कृष्णगीतावली ३२।४ ६. कृष्णगीतावली ४३।४
७. कृष्णगीतावली ४६।१ ८. हिंदी साहित्य का इतिहास पृ० १४५

की सेवा में पहुँचाय कें सही कराई है वामें सब देवी देवतान सौं कृपा चाहत भए उनकौ पावनस्मरण कियौ गयौ है। ह्याँ ऊ गोस्वामी जी के भक्त हृदय ने ब्रज और ब्रजेश्वर कौ स्मरण करि अपनी साँची भक्ति साधना कौ परिचै दियौ है :

(क) जमुना ज्यों ज्यों लागी बाढ़न।
त्यों त्यों सुकृत सुभट कलि भूपहिं निदरि लगे बहु काढ़न।
ज्यों ज्यों जल मलीन त्यों त्यों जमगन मुख मलीन लहै आढ़न।
तुलसिदास जगदघ जवास ज्यों अनघ मेघ लगे डाढ़न।[1]

(ख) जाकी मायाबस बिरंचि सिव, नाचत पार न पायो।
करतल ताल बजाइ ग्वाल-जुबतिन सोइ नाच नचायो।[2]

(ग) पांडुसुत, गोपिका, बिदुर, कुबरी,
सबरि सुद्ध किये सुद्धता लेस कैसो।
प्रेम लखि कृस्न किये आपने तिनहु को,
सुजस संसार हरिहर को जैसो।[3]

(घ) केशब कहि न जाइ, का कहिए।[4]

(ङ) सुनु खल छल-बल कोटि किये बस होंहि न भगत उदार।
सहित सहाय तहाँ बसि अब, जेहि हृदय न नंदकुमार।[5]

तुलसी साहित्य में ब्रजतत्व कौ कलात्मक रूप वाकी ब्रजभाषा शब्दावली में पूरे रूप में उजागर भयौ है। तुलसी साहित्य कौ भाषातत्व नेंक अधिक गहन रूप ते वैज्ञानिक विश्लेषण की अपेक्षा करै है। ब्रजभाषा के साहित्यिक प्रभुत्व की व्यापकता कौ प्रभाव संपूर्ण तुलसी-साहित्य पै अतिशयता ते परौ है। आचार्य शुक्ल के अनुसार, "आधुनिक काल के पहले साहित्य या काव्य की सर्वमान्य व्यापक भाषा ब्रज ही रही है, यह तो निश्चित है। × × × हिंदी कविता के प्रेमी मात्र जानते हैं कि उनका (गोस्वामी जी का) ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था। ब्रजभाषा का जो माधुर्य हम सूरसागर में पाते हैं, वही माधुर्य और भी संस्कृत रूप में हम गीतावली और कृष्ण गीतावली में में पाते हैं।"[5]

---

१. विनयपत्रिका २८
२. विनयपत्रिका ९८।३
३. विनयपत्रिका १०६।४
४. विनयपत्रिका १७९
५. विनयपत्रिका १८८।४
५. हिंदी साहित्य का इतिहास पृ० १३४

जा प्रकार सों ब्रजभाषा की दृष्टि ते विनयपत्रिका, गीतावली, कृष्ण-गीतावली, कवितावली व दोहावली भौतई महत्वपूर्ण रचना हैं। उनमें ब्रजभाषा के उन ठोस, प्रचलित व सामान्य शब्द, पद, पदबंध, मुहावरे व लोकोक्तीन कौ प्रयोग भयौ है जो ब्रज लोकतत्व की आत्मा कूं सीधे स्पर्श करै हैं। गोस्वामी जी की ब्रजभाषा की पहुँच भौत गहरी है, उनकौ शब्द प्रयोग बड़ा सार्थक है और अपने सांचे भाव कूं प्रकट करै है। उदाहरणार्थ :

ब्रजभाषा की रूढ़ शब्दावली के कछू रूप :

अघाहीं, बेगि, करतूति, कुकरम, चियाँ, तकिया, खोंची, ऊबर, लुगाई, सगाई, ढिग, पोच, कौर, जूड़ी, खरो, खोटो, ठौर, चुचुकारि, बटोरै, अटत, बटत, कलई, माँझ, रिस, पोच, टहल, कूच, लेस, पोली, दाय बिगोयौ, रिरिहा, ठिकाने, बिराने, दूबरे, घिन, पोच, माखी, सौदासूत, खसम, निचोर, पैज, चोखे, भोरी, ठानी, महतारी, अंदेसो, न्यारौ, दोहाई, मीसी, कोठिला, नाहरु, सींक, मिस, बैरिनि, भीर, पायन्ह, भांवरी आदि।

कछू क्रियापद :

अरत, लसत, किलकत, झाँकत, तोरत, टेरत, तरसत, सुमिरत, सुनत, लखत, दूखत;
आयो, पहिरायो, दिवायो, पायो, पछितायो, मुड़ायौ, आदर्यौ, भयौ, धर्यौ, उठ्यौ, ढार्यौ;
अघाइकैं, छाइकैं, बिलखाइकैं, जनाइकैं, बखानिकैं;
नवाबौ, आवौं, सिधावौं, नावौं, गावौं;
ध्याइबे, गाइबे, सोइबे, सुमिरिबे, मीजिबो, सींचिबौ;
सूझै, बूझै, करै, परै, आवै, समुझावै;
बिकाउंगौ, खाउंगौ;
लुभाइ, सुहाइ, बुझाइ, सिहाहि;
बूझिहै;
चापौंगी;
फरैगो;
फिरेउ, भयउ, कहहु;
लीन्ह; कीन्ह, दीन्ह, चीन्ह।

कछू मुहावरे, लोकोक्ति :

जेवरी कौ साँप, ऐसी हठ जैसी गांठि पानी परे सनकी, कोढ़ में की खाजु, गाँठी, बाँध्यो दाम, स्वान पातरि ज्यों, मारवी घीय की, गाड़ी के स्वान की नाँई, बात मुख की और हीय की, पतौआ भए बाय के, हाथ भीजिबो, हाथ रह्यो, काग जहाज के, परबस परयो कीर की नाई, सावन के अंधहि ज्यों सूझत रंग हरौ, दूध को जरयौ पिवत फूँकि फूँकि मह्यौ है। पूँछ सौं प्रेम, विरोध सींग सौ।

कछू विशिष्ट पद बंध :

जेइ बाँध्यो सोइ छोरै; सबकौ प्रभु सब में बसै; जग बूझत बूझत बूझै; लीलि लई है; कीजै सोइ बनि परै जो; जो पै कहुँ कोउ हो तौ; ढील तुलसी की बेरि भई है; जाको मन जासों बंध्यौ; जनम कौ भूखौ भिखारी; कहा न कीयो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो; बहुतन्ह परिचौ पायौ; छगन छबीले छोटे छैया; सिरसि टिपारो लाल; मूरति की सूरति कटी न परै; एक तीर तकि हती ताड़का; ऐ कौन कहाँ ते आए; न भई है, न है, न होनी; हौं तौ समुझि रही सपनौ सौ, नरकहु नाहीं ठौर, बरषा कौ गोबर भयो; पात पात कौ सींचिबौ, मुख दीखत पातक हरै; फिरी दुहाई राम की; ह्वै हैं कीच कोठिला धोए; उर हू कौ डर कान्ह डरै तेरे डर ते; सुनि हँसि उठ्यौ नंद को नाहरु; ह्वै न गए सखि स्याममयी।

जाते स्पष्ट होय है कै तुलसी साहित्य में ब्रजतत्व भाव और भाषा के दोऊ धरातलन पै बड़ी गहनता ते सम्मिश्रित है। वाके एक-एक अंग उपांग कौ शोधपूर्ण विश्लेषण आज की महती आवश्यकता है।

डॉ० राजनारायण मोर्य

तुलसी का लोक-साहित्य

संपूर्ण विश्व-साहित्य में ऐसा एक भी कवि या साहित्यकार नहीं है जिसने समाज के सभी वर्गों का समुचित प्रतिनिधित्व किया हो। कोई धार्मिक-वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है तो कोई राजनीतिक का, कोई विद्वानों का प्रतिनिधित्व करता है तो कोई साधारण अशिक्षित जनता का, कोई पुरुष-वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है तो कोई नारी-वर्ग का। समाज के समस्त स्तरों, समस्त वर्गों और समस्त स्वरूपों का प्रतिनिधित्व यदि किसी एक कवि में प्राप्त होता है तो वह तुलसीदास में। प्रासादों से लेकर कुटिया तक की समस्त व्यक्तिगत तथा सामूहिक भावनाओं को उनकी लेखनी ने वाणी दी है। उन्होंने जिस कौशल के साथ ज्ञान और भक्ति की चर्चा की है उसी कौशल के साथ विवाह आदि संस्कारों की छोटी-छोटी विधियों का भी वर्णन किया है। रामचरितमानस, विनय-पत्रिका, गीतावली, कवितावली आदि लिखकर ही तुलसीदास को संतोष नहीं हुआ, इसीलिए ग्रामीण स्त्रियों के गाने के लिए भी गीत लिखे।

मनुष्य के सामाजिक-जीवन के संस्कारों में विवाह का एक निराला स्थान है। ऐसे अवसर पर स्त्रियों का हास-परिहास बड़ा ही मार्मिक और मधुर होता है। विवाह आसपास की स्त्रियों के लिए उल्लास का एक पर्व लेकर आता है जिसमें डूबकर वे अपने समस्त दुख और सारी पीड़ा को भूल जाती हैं और उनके कंठ से सहज ही गीत के स्वर फूट पड़ते हैं। तुलसीदास ने ऐसे ही अवसरों पर स्त्रियों द्वारा गाए जाने के लिए सोहर छंद में 'रामलला नहछू', 'पार्वती-मंगल' और 'जानकी मंगल' की रचना की। सोहर छंद को मंगल भी कहा जाता है। उत्तर भारत के सभी मंगल-कार्यों में इसकी प्रधानता रहती है।

नेहछू विवाह के अवसर पर चौक बैठने के पूर्व संपन्न किया जाता है। कभी-कभी घर के अन्य मंगल-कार्यों के अवसर पर भी नेहछू हुआ करता है। इस अवसर पर नाइन वर (दूल्हा) के पैरों में महावर लगाती है और नहरनी को पैरों के नखों से छुलाती है। माँ, बेटे को पीढ़े पर बैठाकर आँचल की छाया करती है और गाँव की सभी स्त्रियाँ आभूषण या पैसा वर के ऊपर घुमाकर सूप या थाल में रखती जाती हैं जो बाद में प्रजाओं (नाई, तमोली, धोबी आदि) को मिलता है। 'रामलला नहछू' में तुलसीदास ने राम के नेहछू का संक्षेप में बड़ा ही सुंदर चित्रण किया है।

किशोर रामचंद्र के नेहछू के अवसर पर ग्राम की सभी स्त्रियाँ, नेगचार वाली सेविकाएँ तथा विभिन्न जातियों की युवतियाँ उपस्थित हैं। श्रीराम का नेहछू हो रहा है। सभी उल्लास और प्रसन्नता से फूली नहीं समाती। वे प्रसन्न क्यों न हों? उनके प्रिय राम आज चौक पर बैठे हैं। प्रत्येक के अंग-अंग से अंतर का उल्लास जैसे फूटा पड़ रहा है। सभी युवतियाँ अपनी सेवा समर्पित करने के लिए खड़ी हैं। तुलसीदास ने इन विभिन्न जातियों की स्त्रियों का कितना सरल और मनोहारी चित्र खींचा है:

बनि बनि आवति नारि जानि गृह मायन हो।
बिंहसत आव लोहारिनि हाथ बरायन हो।
अहिरिनि हाथ दहेड़ी सगुन लेइ आवइ हो।
उनरत जोबन देखि नृपति मन भावइ हो।
रूप सलोनि तंबोलिनि बीरा हाथहि हो।
जाकी ओर बिलोकहि मन तेहि साधहि हो।
दरजिनि गोरे गात लिहे कर जोरा हो।
केसरि परम लगाइ सुगंधन बोरा हो।
मोचिनि बदन संकोचिनि हीरा माँगन हो।
पनहि लिहे कर सोभित सुंदर आँगन हो।
बतिया सुघर मलिनियाँ सुंदर गातहिं हो।
कनक रतन मनि मौर लिहे मुसुकातहि हो।
कटि कै छीन बरिनियाँ छाता पानिहि हो।
चंद्र बदन मृग-लोचनि सब रस खानिहिं हो।
नैन बिसाल नउनियाँ भौं चमकावइ हो।
देइ गारि रनिवासहिं प्रमुदित गावइ हो।

ऐसे मंगल अवसर पर नाउनि का बहुत अधिक महत्त्व होता है। प्रत्येक कार्य का प्रारंभ उसी के द्वारा किया जाता है। आज राम ऐसे वर को देखकर वह प्रसन्नता से फूली नहीं समा रही है :

कनक चुनिन सौं लसित नहरनी लिहे कर हो।
आनंद हिय न समाइ देखि रामहिं वर हो।

प्रसन्नता के इस महासागर में सेविका-स्वामिनी का भाव समाप्त हो गया है। वहाँ तो आज सभी उल्लास की एक ही तरंग पर बह रहे हैं। नाउनि बीच-बीच में रानियों से बड़ा ही सरस और मार्मिक विनोद करती हैं :

काहे राम जिव साँवर, लछिमन गोर हो।
कीधहुँ रानि कौसिलहिं, परिगा भोर हो।
राम अहहिं दशरथ कै, लछिमन आन क हो।
भरत सत्रुहन भाईन, रघुनाथ क हो।

तुलसीदास की सहज विनोद-प्रवृत्ति ने कितनी सरसता के साथ मर्म को स्पर्श किया है। विवाह-अवसर के उल्लास भरे मन को कितनी गहराई के साथ इन्होंने समझा है। इसे सांस्कृतिक मनोविज्ञान का उत्तम उदाहरण कहा जा सकता है।

तुलसी के लोक-गीत केवल वर्णनात्मक ही नहीं हैं। उनमें उच्च कोटि की साहित्यिक-अभिव्यंजना है। अनेक शब्दालंकारों और अर्थालंकारों के सुंदर प्रयोग हैं। रसों का अंगों और उपांगों के साथ अच्छा परिपाक है। इन गीतों की सबसे बड़ी विशेषता है सरस और मन को गुदगुदाने वाले उल्लास का चित्रण। कुछ स्थलों का तो इतना सुंदर चित्रण हुआ है जितना तुलसी के अन्य साहित्यिक ग्रंथों में भी नहीं। 'पार्वती-मंगल' का एक चित्र कितना सरस और मनोहारी है। शंकर बटुवेश में पार्वती के पास परीक्षा के लिए जाते हैं। पार्वती की सखी द्वारा बताये जाने पर कि 'तप करहिं हर हितु' बटु उनको शंकर से विवाह करने से विरत करना चाहते हैं। वे शंकर के अवगुणों का वर्णन करते हैं। अंत में कहते हैं :

कहा मोर मन धरि न, बरिय बर बौरेहि।
हिये हेरि हठ तजहु, हठै दुःख पैहहु।
ब्याह समय सिख मोरि, समुझि पछितैहहु।[1]

---

१. पार्वती मंगल ५५-५६

बटु अनेक तर्कों से पार्वती के मन को शंकर से बिरत करना चाहता है परंतु पार्वती का मन पहाड़ की तरह ऐसा अचल है कि वह वचनरूपी हवा से नहीं डोल सकता :

बटु करि कोटि कुतरक, जथा रुचि बोलइ।
अचल सुता मन अचल, बयारि कि डोलइ।
साँच सनेह साँचि रुचि, जो हठि फेरइ।
सावन सरित सिंधु रूख सूप सों घेरइ।
मनि बिनु फनि जलहीन, मीन तनु त्यागइ।
सो कि दोष गुन गनइ, जो जेहिं अनुरागइ।
करन कटुक बटु बचन, बिसिख सम हिय हुए।
अरुन नयन चढ़ि भकुटि, अधर फरकत भए।
बोली फिरि लखि सखिहिं, काँपु तन थर-थर।
आलि! बिदा करु बटुहिं, बेगि बड़ बरबर।
कहुँ तिय होहिं सयानि, सुनहिं सिख राउरि।
बौरेहिं के अनुराग, भइउँ बड़ि बाउरि।[1]

शंकर के प्रति पार्वती के अनुराग को बटु शंकर के समक्ष कितनी सुंदरता से तुलसी ने चित्रित किया।

एक दूसरा मार्मिक स्थल देखिए। पार्वती और शंकर के विवाह के पश्चात् गिरिराज और मैना पार्वती को पहुँचाने के लिए कुछ दूर तक जाते हैं। माँ मैना शंकर से अपनी बिटिया की देखभाल के लिए प्रार्थना करती है। बिछुड़ती हुई बछिया के लिए गाय की तरह हुँकर-हुँकर कर बेटी को छाती से लगा लेती है। उमा सबकी उपस्थिति में किंचित संकोच से माँ का मुख देखते हुए चुपचाप आँखों से आँसू की वर्षा करती हैं और गिरिराज हृदय में ज्वाला को दबाए हुए लौटते हैं। सखियाँ कन्या की पराधीनता पर अपनी विवशता भर प्रकट करके रह जाती हैं :

गहि सिव पद कहि सासु, विनय मृदु मानबि।
गौरि सजीवनि मूरि, मोरि जिय जानबि।
भेंटि बिदा करि बहुरि, भेंट पहुँचावहिं।
हुँकरि-हुँकरि सुलवाई, धेनु जनु धावहिं।

---

१. पार्वती मंगल ५८-६३

उमा मातु मुख निरखि, नैन जल मोचहिं।
नारि जनमु जग जाय, सखी कहि सोचहिं।
भेट्टि उमहिं गिरिराज, सहित सुत परिजन।
बहुत भांति समुझाइ, फिरे बिलखित मन।[1]

ये स्थल मानव-मन को छूने वाले हैं विशेषकर भोले-भाले सरल-हृदय ग्रामीणों के। इसीलिए तुलसीदास ने इन्हें अपने हृदय के रस से सिंचित किया है। वैसे ये स्थल अपने आप में ही काव्य हैं परंतु तुलसी की कला का स्पर्श पाकर उनमें निखार आ गया है। तुलसी ने विवाह की प्रत्येक क्रिया का बड़े ही सुंदर ढंग से वर्णन किया है। उन्होंने अवश्य ही हिंदू विवाहों का निरीक्षण किया होगा।

विवाह के पश्चात् वर और कन्या में एक विनोदात्मक स्पर्धा होती है। प्रायः जुआ के समान हार जीत का कोई खेल होता है। कन्या पक्ष की स्त्रियाँ कन्या को खूब सिखा देती हैं ताकि वह वर से जीत जाय। तुलसीदास की दृष्टि से यह विनोदात्मक प्रसंग भी नहीं छूट सका :

चतुर नारिबर कुँवरहिं, रीति सिखावहिं।
देहिं गारि लहकौरि, समौ सुख पावहिं।
जुआ खेलावन कौतुक, दीन्ह सयानिन्ह।
जीति हारि मिस देहिं, गारि दुहुँ रानिन्ह।[2]

सभी दृष्टिओं से इन लोकगीतों में काव्य-तत्व भरपूर है और वे भी ऐसे ढंग से अभिव्यंजित किए गए हैं कि जन-साधारण भी बड़ी आसानी से समझ सकता है। इन गीतों के रूपकों और उपमाओं में कल्पना की उड़ान और पांडित्य-प्रदर्शन नहीं है बल्कि ग्रामीण-जीवन से संबंधित दैनिक-जीवन के प्रसंग और वस्तुएं हैं।

सीता सौंदर्य की खानि हैं। उनके रूप का वर्णन भला कौन कवि कर सकता है? पर तुलसीदास रूप-वर्णन के लोभ को संवरण नहीं कर पाते। सौंदर्य तथा उसके परिणाम का कितना मनोहारी चित्र उपस्थित किया है तुलसीदास ने :

रूप रासि जेहि ओर, सुभायँ निहारइ।
नील कमल-सर श्रेनि, मयन जनु डारइ।[3]

१. पार्वती-मंगल १४२-१४५ २. जानकी-मंगल १४६-१५०
३. जानकी-मंगल ८२

बटु अनेक तर्कों से पार्वती के मन को शंकर से विरत करना चाहता है परंतु पार्वती का मन पहाड़ की तरह ऐसा अचल है कि वह वचनरूपी हवा से नहीं डोल सकता :

बटु करि कोटि कुतरक, जथा रुचि बोलइ।
अचल सुता मन अचल, बयारि कि डोलइ।
साँच सनेह साँचि रुचि, जो हठि फेरइ।
सावन सरित सिंधु रूख सूप सों घेरइ।
मनि बिनु फनि जलहीन, मीन तनु त्यागइ।
सो कि दोष गुन गनइ, जो जेहिं अनुरागइ।
करन कटुक बटु वचन, बिसिख सम हिय हुए।
अरुन नयन चढ़ि भकुटि, अधर फरकत भए।
बोली फिरि लखि सखिहिं, काँपु तन थर-थर।
आलि! बिदा करु बटुहिं, बेगि बड़ बरबर।
कहुँ तिय होहिं सयानि, सुनहिं सिख राउरि।
बौरेहिं के अनुराग, भइउँ बड़ि बाउरि।[1]

शंकर के प्रति पार्वती के अनुराग को बटु शंकर के समक्ष कितनी सुंदरता से तुलसी ने चित्रित किया।

एक दूसरा मार्मिक स्थल देखिए। पार्वती और शंकर के विवाह के पश्चात् गिरिराज और मैना पार्वती को पहुँचाने के लिए कुछ दूर तक जाते हैं। माँ मैना शंकर से अपनी बिटिया की देखभाल के लिए प्रार्थना करती है। बिछुड़ती हुई बछिया के लिए गाय की तरह हुँकर-हुँकर कर बेटी को छाती से लगा लेती है। उमा सबकी उपस्थिति में किंचित संकोच से माँ का मुख देखते हुए चुपचाप आँखों से आँसू की वर्षा करती हैं और गिरिराज हृदय में ज्वाला को दबाए हुए लौटते हैं। सखियाँ कन्या की पराधीनता पर अपनी विवशता भर प्रकट करके रह जाती हैं :

गहि सिव पद कहि सासु, विनय मृदु मानबि।
गौरि सजीवनि मूरि, मोरि जिय जानबि।
भेंटि बिदा करि बहुरि, भेंट पहुँचावहिं।
हुँकरि-हुँकरि सुलवाई, धेनु जनु धावहिं।

१. पार्वती मंगल ५८-६३

उमा मातु मुख निरखि, नैन जल मोचहिं।
नारि जनमु जग जाय, सखी कहि सोचहिं।
भेटि उमहिं गिरिराज, सहित सुत परिजन।
बहुत भांति समुझाइ, फिरे बिलखित मन।[1]

ये स्थल मानव-मन को छूने वाले हैं विशेषकर भोले-भाले सरल-हृदय ग्रामीणों के। इसीलिए तुलसीदास ने इन्हें अपने हृदय के रस से सिंचित किया है। वैसे ये स्थल अपने आप में ही काव्य हैं परंतु तुलसी की कला का स्पर्श पाकर उनमें निखार आ गया है। तुलसी ने विवाह की प्रत्येक क्रिया का बड़े ही सुंदर ढंग से वर्णन किया है। उन्होंने अवश्य ही हिंदू विवाहों का निरीक्षण किया होगा।

विवाह के पश्चात् वर और कन्या में एक विनोदात्मक स्पर्धा होती है। प्रायः जुआ के समान हार जीत का कोई खेल होता है। कन्या पक्ष की स्त्रियाँ कन्या को खूब सिखा देती हैं ताकि वह वर से जीत जाय। तुलसीदास की दृष्टि से यह विनोदात्मक प्रसंग भी नहीं छूट सका :

चतुर नारिबर कुँवरहिं, रीति सिखावहिं।
देहिं गारि लहकौरि, समौ सुख पावहिं।
जुआ खेलावन कौतुक, दीन्ह सयानिन्ह।
जीति हारि मिस देहिं, गारि दुहुँ रानिन्ह।[2]

सभी दृष्टिओं से इन लोकगीतों में काव्य-तत्व भरपूर है और वे भी ऐसे ढंग से अभिव्यंजित किए गए हैं कि जन-साधारण भी बड़ी आसानी से समझ सकता है। इन गीतों के रूपकों और उपमाओं में कल्पना की उड़ान और पांडित्य-प्रदर्शन नहीं है बल्कि ग्रामीण-जीवन से संबंधित दैनिक-जीवन के प्रसंग और वस्तुएँ हैं।

सीता सौंदर्य की खानि हैं। उनके रूप का वर्णन भला कौन कवि कर सकता है? पर तुलसीदास रूप-वर्णन के लोभ को संवरण नहीं कर पाते। सौंदर्य तथा उसके परिणाम का कितना मनोहारी चित्र उपस्थित किया है तुलसीदास ने :

रूप रासि जेहि ओर, सुभायँ निहारइ।
नील कमल-सर श्रेनि, मयन जनु डारइ।[3]

१. पार्वती-मंगल १४२-१४५ २. जानकी-मंगल १४९-१५०
३. जानकी-मंगल ८२

उस सौंदर्य को देखने के पश्चात् उसके वर्णन के लिए क्या वाणी निकल सकती है ?

सो छबि जाइ न बरनि, देखि मनु मानै ।
सुधापान करि मूक, कि स्वाद बखानै ।[१]

यद्यपि ये गीत स्त्रियों को गाने के लिए रचे गये हैं तथापि तुलसीदास की काव्य प्रतिभा का पूर्ण उन्मेष इनमें दिखाई पड़ता है । शब्द, चुनाव, भावाभिव्यंजना, अलंकारों का प्रयोग और व्यंग विनोद एक से एक बढ़कर देखने लायक हैं । अन्य रचनाओं की भाँति इन गीतों में भी तुलसीदास ने अपने भाषा प्रभुत्व का परिचय दिया है । एक सुंदर स्थल का चित्रण गिने हुए दो शब्दों द्वारा कितना मार्मिक हुआ है । इसे देखिए—सीता स्वयंवर के समय जब राम और लक्ष्मण जनकपुर में पहुँचते हैं तो जनकपुर निवासी इन्हें देखकर मुग्ध हो जाते हैं । सभी राम के सौंदर्य को देखकर ठगे से रह जाते हैं । वे जनक की प्रतिज्ञा पर पछतावा प्रकट करने लगते हैं । इसका चित्रण तुलसी के शब्दों में देखिए :

नृप रानी पुर लोग, राम तन चितवहिं ।
मंजु मनोरथ कलस, भरहिं अरू रितवहिं ।[२]
रितवहिं भरहिं धनु निरखि, छिनु-छिनु निरखि रामहि सोचहिं ।
नर-नारि हरष विषाद बस, हिय सकल सिवहिं संकोचहिं ।

'भरहिं और 'रितवहिं' शब्दों में तुलसीदास ने कितना बड़ा अर्थ भर दिया है । राम के स्वरूप को देखकर नर-नारी सोचने लगते हैं कि सीता के योग्य वर यही हैं किंतु जैसे ही उनका ध्यान धनुष और जनक की प्रतिज्ञा की तरफ जाता है मनोरथ का सारा घड़ा पलभर में रिक्त हो जाता है । जनकपुर निवासियों की सारी आशा, निराशा, हर्ष, दुःख, उल्लास, पछतावा सब कुछ इन्हीं दो शब्दों में भरा है ।

तुलसीदास का वर्णन-कौशल एक स्थान पर और देखिए । श्री रामचंद्र ने धनुष तोड़ दिया है । चारों तरफ से उल्लास का सागर उमड़ रहा है । सब का मनचाहा हुआ है । सीता जिसने इसी क्षण की कामना की थी, देवी और देवताओं को अपने न जाने कितने जन्मों का पुण्य इसी क्षण के लिए अर्पित किया था, उसके हृदय की क्या अवस्था होगी ? तुलसीदास के शब्दों में इस स्थिति का क्या ही सुंदर चित्रण है :

१. जनकी-मंगल ८७ २. जानकी-मंगल ८०

कर कमलनि जयमाल, जानकी सोहइ।
बरनि सकै छबि अतुलित, अस कवि को हइ।
सीय सनेह सकुच बस, पिय तन हेरइ।
सुरतरु रूख सुर बेलि, पवन जनु फेरइ।
लसत ललित कर कमल, माल पहिरावत।
काम फंद जनु चंदहिं, बनज फैलावत।'[1]

स्नेह और संकोच के साथ सीता राम के गले में जयमाला डालती हैं। उस समय राम की तरफ उनका देखना कितना मधुर और सार्थक है। हवा जिस तरह सुरबेलि को सुरतरु की ओर फेर देती है उसी तरह सीता की बड़ी ही अर्थ भरी दृष्टि राम की तरफ फिर जाती है।

इस तरह हम देखें तो तुलसीदास की इन तीनों रचनाओं में हृदय ही हृदय है। रामचरितमानस या अन्यत्र कहीं वर्णित जिन मार्मिक प्रसंगों से तुलसीदास को संतोष नहीं हुआ उनका अलग से इन रचनाओं में उन्होंने वर्णन किया है। इनमें तुलसीदास ने अपने हृदय के अनुराग-रंजित भावों को घोलकर रख दिया है। घरेलू कार्यों और संस्कारों के ये प्रसंग मानव को उल्लास और विनोद की छाया में पालते हैं, उन्हें ताप से झुलसने नहीं देते। तुलसीदास अपनी शांति-दायिनी वाणी का अमृत सबको पिलाना चाहते थे, फिर नारी-समाज को वे इससे बंचित कैसे रख सकते थे? नारी-हृदय और उसके कंठ के रस को जान कर ही इस ग्राम्य छंद में उन्होंने इतना रस भरने का प्रयत्न किया है। जहाँ पर नारी कंठ के माधुर्य और तुलसी की लेखनी का रस एक साथ मिल जाता है वहाँ रस की निर्झरिणी बहने लगती है।

१. जानकी-मंगल १०७-१०९

डॉ० सत्यनारायण शर्मा

तुलसी की भक्ति-भावना

भक्ति का स्वरूप और महत्ता; वस्तुतः भगवान् के चरणों में अनन्य प्रेम का होना ही भक्ति है। गोस्वामी तुलसीदास के भगवान् राम हैं और वे उनका इसी अनन्य भक्ति के आकांक्षी हैं। अपने राम के स्थान पर गोस्वामी जी किसी अन्य देवता को प्रतिष्ठित करने के पक्ष में नहीं हैं। राम के प्रति उनकी यह एकनिष्ठा किसी अन्य देवी-देवता के प्रति निष्ठा रखने की विरोधिनी भी नहीं है। तभी तो वे प्रायः अन्य देवी-देवताओं का भी निश्छल गुण-गान करते हैं। पर वे राम की सत्ता को ही सर्वव्याप्त मानकर चलते हैं। उन्होंने दोहावली के चातक संबंधी दोहों में बादल के प्रति चातक की अनन्य भक्ति को प्रदर्शित करके सच्ची भक्ति के स्वरूप सुंदरतम निदर्शन किया है :

उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर,
चितब कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर।[1]

चातक की तरह तुलसी को भी एक राम रूपी श्यामघन का ही भरोसा है, उसी का बल है, उसी की ही आशा है और उसी का विश्वास है :

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास,
एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास।[2]

गोस्वामी जी के विचार से इस असार संसार में भगवान् की भक्ति से बढ़कर कोई दूसरा बड़ा लाभ नहीं है और मनुष्य का शरीर पाकर भी राम

१. दोहावली २८३ २. दोहावली २७७

की भक्ति नहीं करने से बढ़कर कोई दूसरी बड़ी हानि नहीं है।[1] सभी प्राणी सुख की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हैं पर तुलसीदास का दृढ़ विश्वास है कि राम की भक्ति के बिना किसी को सुख कदापि नहीं मिल सकता : 'रघुपति भगति बिना सुख नाहीं।[2] यही कारण है कि वे नौ असंभव दृष्टांत उपस्थित कर भक्ति से ही भव-संतरण का अटल सिद्धांत घोषित करते हैं :

कमठ पीठ जामहिं बरु बारा। बंध्या सुत बरु काहुहि मारा।
फूलहिं नभ बरु बहुबिधि फूला। जीवन लह सुख हरि प्रतिकूला।
तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सीस बिषाना।
अंधकारु बरु रबिहि नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै।
हिम ते अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई।
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरिभजन न भवतरिअ यह सिद्धांत अपेल।[3]

भक्ति और ज्ञान का समन्वय : इस तरह यद्यपि तुलसीदास भक्ति की सर्वोपरि महत्ता स्वीकार करते हैं तथापि ज्ञान, योग, कर्म, निर्गुणोपासना आदि को भी वे हेय नहीं समझते। 'रामचरितमानस' में ज्ञानमय भक्ति का सरस स्रोत प्रवाहित होता है। मानसकार को ज्ञान-वैराग्य युक्त भक्ति का ही प्रतिपादन अभीष्ट है।[4] वे विरति और विवेक से संयुक्त हरि-भक्ति को ही श्रुति-सम्मत मानते हैं :

श्रुति संमत हरि भगति पथ संजुत बिरति बिवेक।[5]

ज्ञान और भक्ति में अभेदभाव की स्थापना करते हुये काकभुशुंडि गरुड़ को बतलाते हैं :

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।[6]

इसी तरह नैमिषारण्य जाते हुए महाराज मनु और महारानी शतरूपा की उत्प्रेक्षा सशरीर ज्ञान और भक्ति से की जाती है।[7] चित्रकूट की सभा में

१. मानस ७।१२२।८-९ २. मानस ७।१२२।७
३. मानस ७।१२२।८-७।१२२ (क)
४. ब्रह्म निरुपन धरम बिधि बरनहिं तत्त्व बिभाग।
कहहिं भगति भगवंत के संजुत ग्यान बिराग। मानस १।४४
५. मानस ७।१०० (ख) ६. मानस ७।११५।७
७. पंथ जात सोहहिं मति धीरा।
ग्यान भगति जनु धरें सरीरा। मानस १।१४३।२

मुनियों के बीच में सीता और राम ऐसे सुशोभित हो रहे हैं जैसे ज्ञान की सभा में भक्ति और भगवान सशरीर उतर आये हों।[१] संत-समाज रूपी प्रयाग के वर्णन में भक्ति की गंगा, ज्ञान की सरस्वती और कर्म की यमुना का समन्वित रूप तुलसी की भक्ति, ज्ञान एवं कर्म विषयक समन्वयवादिता का ही उद्घोष करता है।[२]

ज्ञान पंथ कृपान कै धारा : तुलसीदास ने मानस में ज्ञान और भक्ति के गुणों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए ज्ञान की कठिनता और भक्ति की सुगमता का अभूतपूर्व वर्णन किया है। उन्हें ज्ञान का मार्ग तलवार की धार पर चलने के समान बड़ा कठिन दिखाई देता है जिसमें पतन होते देर नहीं लगती :

ज्ञान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा।[३]

वस्तुतः माया की ग्रंथि को छिन्न-भिन्न करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता दीपक के समान है पर इस ज्ञान-दीपक का प्रकाश पाने के लिए असंख्य क्लिष्ट साधनाओं की अपेक्षा है। यदि उन सारी क्लिष्ट साधनाओं को संपन्न करके उसे पा भी लिया जाय तो उसके बुझने का बराबर डर बना रहता है।[४] ज्ञान का चरम लक्ष्य दुर्लभ मुक्ति की प्राप्ति है वही दुलर्भ मुक्ति राम की भक्ति की साधना के बीच भक्त को स्वतः प्राप्ति हो जाती है यद्यपि वह इसके लिए कभी प्रयत्नशील नहीं रहता :

राम भगत सोइ मुकुति गोसाई। अनइच्छित आवइ बरिआई।[५]

तुलसी ने जिस प्रकार ज्ञान की तुलना दीपक से की है उसी प्रकार भक्ति की तुलना मणि से की है। उनकी दृष्टि में राम-भक्ति चिंतामणि के समान सुंदर है। यह जिस हृदय में बसती है उसमें दिन-रात परम प्रकाश बना रहता है, उसे दीपक घी और बत्ती कुछ भी नहीं चाहिए। इस भक्तिमणि की अन्य सारी विशेषताओं का सविस्तार वर्णन करते हुए तुलसी ने उन्हीं मनुष्यों को चतुर शिरोमणि कहा है जो इसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं।[६] तुलसी ने ज्ञान आदि को पुरुष और भक्ति को स्त्री मानकर तथा माया नर्तकी पर भक्ति-नारी का मोहित होना असंभव बताकर भी सर्व साधारण के लिए

---

१. मानस २।२३९
२. मानस १।२।४-५
३. मानस ७।११९।१
४. मानस ७।११७।२-११८ (ख)
५. मानस ७।११९।१-२
६. मानस ७।१२०।१-५

भक्ति की महत्ता प्रदर्शित की है।[1] उनकी दृष्टि में ज्ञानी और प्रौढ़ तनय के समान और भक्त अबोध शिशु के समान है। प्रौढ़ तनय अपनी ही शक्ति से रक्षित रहता है पर अबोध शिशु के संरक्षण का संपूर्ण दायित्व निरंतर माता ही पर रहता है। यही कारण है कि अपने ही पुरुषार्थ के बल पर काम, क्रोध आदि शत्रुओं से अपनी रक्षा कर लेने वाले ज्ञानी-जन भी भक्ति का परित्याग नहीं करते।[2] वस्तुतः भगवान के चरणों पर अपना सर्वस्व समर्पण कर अपनी जिम्मेदारी उन पर छोड़कर निर्भय एवं निश्चित हो जाने वाले भक्तों की अपेक्षा अपने ही पुरुषार्थ से काम लेने वाले ज्ञानियों को बड़े विकट प्रत्यूहों का सामना करना पड़ता है।[3] पर भक्ति की साधना में भक्त को भगवद्कृपा के कारण किसी प्रकार के विघ्न बाधा नहीं पहुँचाते।[4]

वस्तुतः ज्ञान और वैराग्य के शुष्क जीवन की ओर जगत् को ले जाना तुलसी को इष्ट नहीं है। उनकी साधना योग, ज्ञान और वैराग्य की व्यक्तिमूलक साधना न होकर भक्ति की सार्वजनीन एवं भावमूलक साधना है। वे बुद्धि-योगजन्य ज्ञान से हृदययोगजन्य भक्ति एवं प्रेम को अधिक महत्व प्रदान करते हैं।

ज्ञान की महिमा का गायन : इस तरह यद्यपि तुलसी ज्ञान के ऊपर भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हैं तथापि ज्ञान की वास्तविक महिमा को भी वे विस्मृत नहीं होने देते।[5] वस्तुतः ज्ञान के उदय से ही साधक माया के बंधन से मुक्त होता है। उसके मोह, भ्रम, संशय आदि दूर होते हैं और भगवान् के चरणों में प्रेम-भक्ति उत्पन्न होती है।[6] भक्ति-मणि के अन्वेषण में ज्ञान एवं वैराग्य रूपी नेत्रों की नितांत अपेक्षा है :

मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ज्ञान बिराग नयन उरगारी।
भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी।[7]

वैराग्य रूपी ढाल से अपनी रक्षा करते हुए ज्ञान रूपी तलवार से ही मदलोभ एवं मोह रूपी शत्रुओं का संहार कर हरि-भक्ति रूपी विजय की प्राप्ति की जाती है :

---

१. मानस ७।११५।८-११६।८ २. मानस ३।४३।४-५
३. मानस ७।४५।२ ४. मानस १।३९।३
५. मानस १।२२।४; ४।१५।१; ७।८९।१-४
६. मानस २।९३।३; ६।४७।२, ७।१२२।६ ७. मानस ७।१२०।७-८

बिरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइअ सो हरि भगति देखु खगेश बिचार।[१]

अतः जहाँ सच्ची भक्ति होगी वहाँ ज्ञान पीछे नहीं रहेगा। परम राम-भक्त हनुमान ज्ञानी ही नहीं वरन् ज्ञानियों में अग्रगण्य 'ज्ञानिनामग्रगण्यम्' भी हैं।[२]

तुलसी-प्रतिपादित भक्ति में चित्त की एकाग्रता के लिए अपेक्षित योग का भी स्थान है। वस्तुतः योग चित्त की वृत्तियों का निरोध है 'योगश्चित वृत्ति निरोधः।'[३] भक्ति एवं प्रेम की स्थिति में मन की गति का निरोध तुलसी ने देखा है।[४] मन जब प्रेम से भर जाता है तब वह अपनी गति के लिए रिक्त हो जाता है, उसकी गति अवरुद्ध हो जाती है और उसकी वृत्तियों का निरोध हो जाता है : 'कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा। प्रेम भरामन निजगति छूँछा।'[५] रामचरितमानस में सती[६] शरभंग[७] शबरी[८] योगाग्नि में ही अपने शरीर को भस्म करते हैं। अतः इनके प्रसंग में योग समन्वित भक्ति का रूप स्पष्टतया परिलक्षित होता है। शिव तो सदा के लिए योगी हैं।[९] वे कमलासन मारकर असाधारण समाधि लगाते हैं।[१०] पर वे जितने महानयोगी हैं उतने ही महान् भक्त भी।[११]

भक्ति का सामाजिक पक्ष : तुलसी द्वारा प्रतिपादित भक्ति व्यक्तिगत साधना एवं व्यक्तिमात्र के कल्याण के लिए ही नहीं है प्रत्युत् लोक-साधना एवं लोक-कल्याण के लिए भी है।[१२] वस्तुतः जिस भक्ति से संसार की रक्षा होती है, जिससे समाज चलता है वही वास्तविक भक्ति है। तुलसी की भक्ति में समस्त सांसारिक मर्यादाओं का आदर्श अक्षुण्ण है और उसमें साधुमत एवं लोकमत दोनों का संतुलित समन्वय है।[१३] भरत-निषाद-मिलन प्रसंग में तुलसी ने इसी स्थिति का स्पष्टीकरण किया है :

---

१. मानस ७।१२० (ख)
२. मानस ५। श्लोक ३
३. पातंजल दर्शन, समाधि पाद, सूत्र—२
४. मानस २।२७५।२
५. मानस २।२४२।४
६. मानस १।६४।४
७. मानस ३।६।१
८. मानस ३।३६।८
९. मानस १।६०।२
१०. मानस १।५८।४-८; १।६०।१
११. मानस १।५७।३
१२. मानस ७।४१।१; विनयपत्रिका १७२
१३. मानस २।२५८

लोक वेद सब भाँतिहिं नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा।
तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता।[१]

इसी तरह गुरु को शिव मंदिर में अभिमान के कारण प्रणाम नहीं करके अपमानित करने वाले काकभुशुण्डि को भगवान् शिव के द्वारा अभिशाप दिया जाना लोकमत की मर्यादा की रक्षा का प्रतीक है और अभिवादन नहीं किये जाने पर भी काक के गुरु के हृदय में लेशमात्र भी क्रोध का नहीं होना तथा शिव द्वारा शाप दिये जाने पर उनसे उसके परम कल्याण की प्रार्थना करना उनके साधु-मत की मर्यादा के निर्वाह का परिचायक है। तुलसी भक्ति के आवेश में कभी भी समाज एवं कर्त्तव्य का त्याग नहीं करते। भरत जब राम को मनाने के लिए चित्रकूट जा रहे हैं तब वे नगर, घोड़े, हाथी, महल, खजाना आदि की रक्षा की व्यवस्था करके ही आगे बढ़ते हैं। उनकी दृष्टि में सारी संपत्ति भगवान् राम की है और उसे ऐसे ही छोड़कर चलने में भलाई नहीं है।[२] भक्त शिरोमणि भरत और जनक के जीवन में राम के प्रति प्रगाढ़ प्रेम और सामाजिक कर्त्तव्य दोनों का समान निर्वाह प्रदर्शित करके तुलसी ने इंगित किया है कि कर्त्तव्य रहित राम-भक्ति के वे समर्थक नहीं हैं।

सगुण और निर्गुण ब्रह्म में तादात्म्य : तुलसी ने सगुण और निर्गुण ब्रह्म में भी तादात्म्य स्थापित किया है। उनकी दृष्टि में निर्गुण और सगुण ब्रह्म के दो स्वरूप हैं। ये दोनों अकथनीय, अगम और अनुपम हैं।[३] वे दोनों की सापेक्ष महत्ता स्वीकार करते हैं। बिना निर्गुण के सगुण को या बिना सगुण के निर्गुण की कल्पना कदापि संभव नहीं।[४] परंतु परब्रह्म की निर्गुण अवस्था की अपेक्षा उसकी सगुण अवस्था सर्वथा भिन्न एवं सुंदर है। 'रामचरित मानस' के अनेक स्थलों पर तुलसी ने अपना यह विचार व्यक्त किया है कि वास्तव में ब्रह्म निर्गुण ही है।[५] पर वही ज्ञान, वाणी और इंद्रियों से परे अजन्मा ब्रह्म अपने भक्तों के प्रेम के कारण सगुण बन जाता है और लीला शरीर धारण कर लेता है।[६] सगुण और निर्गुण ब्रह्म में अभेदभाव प्रकट करते हुए शिव पार्वती से कहते हैं :

---

१. मानस २।१९४।२
२. मानस २।१८६।१-२
३. मानस १।२३।१
४. दोहावली २५१
५. मानस १।१३।२; १।१४४।२-३; १।२०५
६. मानस १।१९८; १।१३।२; १।१४४।४; १।२०५; ७।२५

सगुनहिं अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहि मुनि पुरान बुध बेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे।[१]

इस तरह यद्यपि तुलसी ने ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूप में अभेद-भाव प्रदर्शित किया है तथापि उन्हें निर्गुण रूप की अपेक्षा सगुणरूप ही अत्यधिक प्रिय है।[२]

विविध देव समन्वय : तुलसी ने अपनी भक्ति का ज्ञान, योग, कर्म, निर्गुण आदि के साथ ही सामंजस्य स्थापित नहीं किया प्रत्युत तत्कालीन सांप्रदायिक झगड़ों को समूल नष्ट करने के लिए भारत के सम्मान्य इष्टदेवों में भी इस कुशलता के साथ सामंजस्य स्थापित किया है कि किसी भी संप्रदाय के इष्टदेव के प्रति द्वेषात्मक भाव उठने ही नहीं पाता। गोस्वामी जी के समय में शैव एवं वैष्णव संप्रदायों का पारस्परिक विद्वेषात्मक संबंध पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। अतः इसे दूर करने के लिए उनके संपूर्ण साहित्य में इनके समन्वय का एक विराट् आयोजन स्पष्टतया परिलक्षित होता है। मानस में रामचरित के आदि आचार्य के रूप में भगवान् शिव ही पूजित हैं[३] और तुलसी बाल, अयोध्या, अरण्य, लंका और उत्तर कांडों के प्रारंभिक श्लोकों में राम के साथ ही साथ शिव की भी स्तुति करते हैं। उन्होंने भगवान् शिव को जगद्गुरु, जगद्वंद्य, जगदीश, अविनाशी के रूप में स्वीकार करते हुए भी राम का महान भक्त माना है। शिव स्वयं कह रहे हैं कि राम मेरे इष्टदेव हैं :

सोई मम इष्टदेव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा।[४]

साथ-साथ ही इधर राम भी शिव के अनन्य भक्त हैं। शैव संप्रदाय में शिव का पूर्ण प्रतीक शिवलिंग है और भगवान राम लंका प्रस्थान करते समय समुद्रतट पर उस शिवलिंग की स्थापना करके विधिपूर्वक उसका पूजन करते हुए कहते हैं कि शिव के समान मुझे दूसरा कोई भी प्रिय नहीं है। वहीं वे स्पष्ट निर्देष करते हैं कि :

सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहु मोहिं न पावा।
संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी।

---

१. मानस १।११६।१-२
२. मानस ३।११।१९-२०; ३।१३।६-७; ६।११३।७; ७।१३।११
३. मानस १।३०।२; १।३५।५; १।३५।६ ४. मानस १।५१।४

संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
सो नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास।[1]

संप्रदाय समन्वय : इतना ही नहीं तुलसी ने अपनी कृतियों में वैष्णव संप्रदाय के साथ ही साथ शैव संप्रदाय की पूजा पद्धति एवं धार्मिक प्रतीकों का भी यत्र-तत्र सांप्रदायिक स्वरूप प्रस्तुत किया है। वैष्णव संप्रदाय में सीता और लक्ष्मण समेत भगवान् राम की पूजा, तिलक लगाना, कंठी धारण करना और तुलसीदल आदि का बड़ा महात्म्य है और तुलसी ने स्थल-स्थल पर इनका सुंदर निरूपण किया है। वस्तुतः उनके समय में आर्य भावनाओं के अनुकूल जितने मत, संप्रदाय और उपासना के अन्य प्रचलित केंद्र थे उन सबसे उन्होंने अपने आराध्य या आराध्या को संबद्ध बताया। कदाचित् ही कोई देवता मानस में स्थान पाने से बच पाये हों। मानस के अनेकानेक स्थलों पर पार्वती, गणेश, सरस्वती, गंगा, सूर्य आदि अन्यान्य देवी-देवताओं की भी स्तुतियाँ तुलसी की सर्वदेव-समन्वयवादिता की पुष्टि कर रही हैं।

सेवक-सेव्य-भाव की भक्ति : तुलसी की भक्ति सेवक-सेव्य-भाव से संपन्न है। राम उनके स्वामी हैं और वे उन पर अनन्य भाव से आश्रित उनके दीन-हीन अनाथ सेवक हैं। अपनी-अपनी अभिरुचि के अनुरूप भक्तगण दास्य, सख्य, वात्सल्य, कांत आदि भाव से भगवान की भक्ति करते हैं पर दास्य भक्ति-क्षेत्र का प्रधान भाव है और सब में विद्यमान रहता है। इसीलिये गोस्वामी जी ने इन सभी में सेवक-सेव्यभाव को सर्वश्रेष्ठ एवं संसार-सागर से पार उतारने वाला माना है।[2] इस भाव के अतिरिक्त अन्य भावों की भक्ति बहुत कुछ रागातिशयता से रंजित है। अतः उनमें पथ-भ्रष्ट होने का अवकाश बना रहता है। किंतु सेवक-सेव्यभाव में अधिक वैराग्य एवं विषय-त्याग की भावना रहती है। इसमें सदाचार और भक्ति का पार्थक्य नहीं हो सकता और न अकर्मण्यता एवं आलस्य ही आ सकता है। इसीलिये तुलसी ने दास्य भाव अथवा सेवक-सेव्यभाव को ही भक्ति का सच्चा स्वरूप स्वीकार किया है। भारतीय लोक-जीवन में तो दासों के साथ पारिवारिक आत्मीयता बरती जाती है और उनके निर्वाह का दायित्व स्वामी पर ही होता है। यही कारण है कि भगवान राम ने बनयात्रा के समय अपने दास-दासियों को बुलाकर गुरु वशिष्ठ को सौंपा था और उनसे माता-पिता के समान उनकी देख-

१. मानस ६।२।४ २. मानस ७।११६ (क)

रेख करते रहने का करबद्ध अनुरोध किया था।[१] कदाचित् सेवक-सेव्य-भाव की भक्ति को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करने के कारण ही गोस्वामी जी ने सेवकों के गुण-धर्म एवं कर्त्तव्य-पालन की सविस्तार मीमांसा की है।[२] वैसे उन्होंने किसी अन्य प्रकार की भक्ति-पद्धति को अस्वीकार नहीं किया है। मानस में मनु[३] और काकभुशुंडि[४] के प्रसंग में वात्सल्य भाव की ही भक्ति का वर्णन मिलता है। इस तरह सदैव समाज की दृढ़ता का विशेष रूप से ध्यान रखते हुए भारतीय समाज को भक्ति के बंधन में सुगुंफित कर तथा भक्ति का उज्ज्वल आलोक विकीर्ण कर गोस्वामी तुलसीदास ने भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को एक महत् नूतन देन से अभिषिक्त किया है।

---

१. मानस २।८०।३ २. मानस १।२७१।३; २।२५३।३
३. मानस १।१५१।३ ४. मानस ७।७५।१-३; ७।११३।४; ७।११४।६-७।

डॉ० नंदकिशोर तिवारी

तुलसी-साहित्य में माया

माया वह केंद्रस्थित बिंदु है जिसका सीधा संबंध कतिपय दार्शनिक विषयों—जैसे ब्रह्म, जीव, जगत् और भक्ति आदि से है। जीव और जगत् क्रमशः ब्रह्म और माया का कार्यक्षेत्र है। जीव का 'पसारा' जहाँ तक और जिस जगह होता है उसे जगत् कहते हैं। इसी प्रकार भक्ति के अंतर्गत हम मोक्ष को भी परिगणित कर सकते हैं। सामान्यतौर पर अपने अन्यतम आदर्श (ब्रह्म) से विच्छुरित हो जाने के पश्चात् जिस संबल को लेकर जीव पुनः उससे मिलने का उपक्रम करता है उसे ही दार्शनिकों ने मोक्ष, निर्वाणादि के नाम से अभिहित किया है। गोस्वामी जी ने उसे भक्ति नाम दिया है। अपने सूक्ष्मरूप में यद्यपि उक्त ब्रह्म, जीवादि सभी परस्पर पृथक् सत्ताशील होते हुए भी सापेक्ष हैं, तथापि ब्रह्म से निकलकर जीव को अपने आदर्श (ब्रह्म) से भिन्न रख आसक्ति के वात्याचक्र में उसे डालकर संसार के सृष्टि-चक्र को परिचालित करने का समस्त श्रेय इसी माया को है। निर्विशेष-निर्लक्षण ब्रह्म से सविशेष सलक्षण जगत् की सृष्टि कैसे हुई ? एक अद्वितीय या केवल ब्रह्म से अनेक नामरूपात्मक जगत् का निर्माण कैसे संभव हुआ ? अनुभूत दृश्य प्रपंच की क्या व्यवस्था होगी; उसके उत्स का निदान कैसे होगा ? शून्य से तो प्रपंच का निर्गम हो नहीं सकता, क्योंकि सत् की उत्पत्ति असंभाव्य है।[1] इसप्रकार इन शंकाओं का एकमात्र समाधान माया है। यह माया इस प्रपंचात्मक विश्व

१. रामचरितमानस का तत्व-दर्शन—डॉ० श्रीशकुमार, पृ० ११३

की बीजरूपा शक्ति है, जो ईश्वर से विलग नहीं और जिसकी विशेषताओं में त्रिगुणात्मिकता एवं अनिर्वचनीयता प्रमुख हैं।

गोस्वामी जी ने माया के वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण एक तत्त्वचिंतक की भाँति कदाचित् अपने समसामयिक अन्य कवियों की अपेक्षा सर्वाधिक विस्तृत एवं विशिष्ट परिसर पर किया है। माया की स्वरूप-आख्या के क्रम में उन्होंने सर्वप्रथम माया का स्वरूप, कार्य, माया का विस्तार तथा माया के भेदों की मीमांसा करते हुए 'मैं अरु मोर' को ही समस्त अनर्थों का मूल कहा है।[1] वास्तव में संसृति के मध्य अहंभाव की स्फूर्ति 'मैं और मेरा' अर्थात् मैं हूँ और यह वस्तु मेरी है तथा वह तुम हो और यह वस्तु तुम्हारी है, इसी के द्वारा होती है। 'मैं' की स्वाभाविक प्रतिद्वंद्विता 'तैं' से है। 'मैं' के स्फुरण के अनंतर 'तैं' का स्फुरण होता है।

गोस्वामी जी ने माया के भेदों की चर्चा करते हुए विद्या और अविद्या दो भागों में इसे बाँटा है।[2] विद्यामाया राम की वह शक्ति है जिसके द्वारा संसृति की रचना होती है। इसमें सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों का निवास है। माया के अपर भेद अविद्या में जीव के संसार का कारण निहित है। यह बड़ी ही दुष्टा और अत्यंत दुःखरूपा है। इसी के वश होकर जीव संसार-कूप में पड़ा रहता है।[3] यह मोहकारिणी आवरणशक्ति है, जो धरती को ढावर पानी की भाँति जीव को मलावृत किए हुए है।[4] अध्यात्मरामायण में 'मैं देह हूँ' इस प्रकार शरीरादि अनात्म पदार्थों में देह बुद्धि को अविद्या कहा गया है। दूसरे शब्दों में मिथ्या को सत्य और सत्य को मिथ्या समझना ही अविद्या है।

विद्यामाया के प्रतीकस्वरूप सीताजी शक्तिमान राम से अभिन्न बताई गई हैं। इनमें परस्पर चंद्र-चंद्रिका और वाक्-अर्थ का तादात्म्य है। राम की आदिशक्ति होने के फलस्वरूप जगत् के मूल में उन्हीं की स्थिति है। इसीलिए उनका कार्य जगत् की सृष्टि एवं जीव का क्लेशहरण तथा श्रेयस्करण है। प्रकारांतर से करुणानिधि के 'अतिसय प्रिय' होने का यही भाव-संदर्भ है।

---

१. मैं अरु मोर तोर तैं माया।
जेहि बस कीन्हे जीव निकाया। मानस ३।१५।१

२. तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ।
बिद्या अपर अबिद्या दोऊ। मानस ३।१५।२

३. मानस ३।१५।३ ४. मानस ४।१४।३

इस संदर्भ में गोस्वामी जी ने माया को केंद्रस्थित कर उसकी परिधि में ज्ञान, विराग, जीव, ईश्वर आदि के स्वरूप का स्पष्ट आख्यान किया है। लक्ष्मण की 'कहहु ज्ञान बिराग अरु माया' इस प्राश्निक जिज्ञासा में सर्वप्रथम माया का स्वरूप-कथन इसी तथ्य का संबोधक है। वस्तुतः ज्ञान वह है जहाँ विद्या अथवा अविद्या कोई भी माया मानी नहीं जाती और सबमें ब्रह्म ही ब्रह्म की सत्ता दृष्टिगोचर होती है। जीव वह है जो (वास्तव में माया का ईश होते हुए भी) अपने को माया का ईश नहीं समझ रहा है। ईश्वर वह है जो ब्रह्म भी है और शिव भी है। ब्रह्म वह है जो सर्वव्यापी है और जो ज्ञान से देखा जाता है; उसके समक्ष माया की एक नहीं चलती और शिव वह है जो व्यक्तित्वयुक्त होकर बंध मोक्षप्रदसर्वपर और माया प्रेरक है।[१] जैसा कि अविद्या माया को ऊपर दुष्ट और दुःख रूप कहा गया है, आनंद का स्वारस्य-लाभ-हेतु वह विपर्यय का कार्य करती है। 'अति आतप' से व्याकुल व्यक्ति ही तरु-छाया का सच्चा-सुख प्राप्त करता है।[२] इस प्रकार भगवान् की लीला में अविद्या माया की भी एक विशिष्ट एवं पृथक् उपयोगिता है।

वस्तुतः माया की रचनात्मिका शक्ति राम में ही अधिष्ठित है। राम के बल से ही वह संसृति-रचना सामर्थ्य अभिपूरित होती है और सब पर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित करती है।

राम की भौंहों के संकेत पर सृष्टि की रचना और उसका संहार तत्क्षण संभव है। उन्हीं की प्रेरणा से माया, पंचस्थल भुतों को उत्पन्न करती है तथा इसी स्थूलभूत समूह से संपूर्ण स्थावर-जंगम जगत् उत्पन्न होता है। माया स्वतः जड़ है, वह राम का आश्रय पाकर ही सत्येव भासती है।[३] मायाधीश होने के कारण राम उसके स्वामी हैं।[४] अतः इन्हीं के द्वारा माया गतिशील हुआ करती है। सूरदास भी माया को जड़ मानते हैं।[५] माया अकेली नहीं,

---

१ माया ईस न आयु कहँ, जान कहिअ सो जीव।
  बंधमोच्छप्रद सर्बपर, माया प्रेरक सीव। मानस ३।१५

२. जो अति आतप ब्याकुल होई।
  तरु छाया सुख जानइ सोई। मानस ७।६९।२

३. मानस १।११७।४ ४. मायाधीश ज्ञान गुन धामू। मानस बाल कांड

५. जड़ स्वरूप सब माया जानौ।
  ऐसो नाम हृदी में आनौ। सूरसागर ३।१३

उसका अपरिमित परिवार है। गोस्वामी जी ने मोह, काम, तृष्णा, क्रोध, लोभ, मद, ममत्व, मत्सर, शोक, चिंता, मनोरथ, ईषणा आदि परिवारस्थित सदस्यों का केवल नाम ही नहीं गिनाया है, अपितु उनका परिचय भी दिया है।[१] अपने अमित सदस्यों के साथ यह माया नाना प्रकार के छल-छद्मों और मोहादि के रूप में समक्ष आकर सबको अंधा बनाए रखती है, यही नानाप्रकार के नशे में चूर रखती है, लोभ और लोलुपता से उन्मत्त बनाती है, क्रोध की आग सुलगाकर आध्यात्मिक शांति को जला डालती है, लक्ष्मी के लालों को ऐश्वर्य-मद से वक्र कर देती है, वही हमें यौवन सुलभ उत्तेजना-ज्वर से पीड़ित करती है। यही मिथ्याभिमान से हमारा सिर फेर देती है। यही ईर्ष्या और द्वेष को उभाड़कर हमारी आत्मोन्नति में बाधा-व्यवधान उपस्थित करती है। क्रोध और उद्वेग की लहरों से विचलित कर नानाप्रकार की चिंताओं और त्रिविध एषणाओं के प्रपंच-विस्तार से विलासिता के वातावरण की सृष्टि कर अनिष्ट-कीटाणु के रूप में यही हमारा क्षय-साधन करती है। गोस्वामी जी ने विविध व्याधियों के रूपक में अविद्या-माया के परिवार की चर्चा करते हुए मोह को ही इन व्याधियों का मूल कहा है।[२]

माया का कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत है। इसकी प्रबलता तो इसीसे सहज अनुमेय है कि ब्रह्मादि देवासुर से लेकर लोकस्थित ज्ञानी, तापस, शूर, कवि आदि भी इस प्रबल राम की माया से आक्रांत हैं।[३] यह माया ज्ञानियों का चित्त बलात् अपहृत कर अनेक विकृतियों को उद्भावित करती है।[४] कामादि भटों की एक प्रबल-वाहिनी इस अपहरण कार्य में सहायक सिद्ध होती है। गोस्वामी जी ने चित्त को 'बेताल' कहकर उसकी भयानकता, चांचल्य तथा दुर्निरोध्यता का अद्भुत चित्र अंकित किया है।[५] वस्तुतः माया त्रिगुणात्मिका है और गुणों की सहायता प्राप्त कर ही वह संसृति-रचना में समर्थ होती है तथा चराचर विश्व को अपने वश में रखती है। माया की जड़ता प्रसिद्ध है पर उसकी चैतन्यता राम के द्वारा पूर्ण होती है। इसीलिए कुछ स्थलों पर उसे वैसी नर्तकी कहा गया है जो अपने स्वामी राम की इंगिति पर अनेक नाच नाचती है।[६] तुलसीदास जी का 'जड़' विशेषण देना माया का 'अज्ञानोपहितत्व' है क्योंकि जीव तो नित्य और सर्वकालवर्ती है, अविनाशी है।[७] ईश्वर का

१. मानस ७।७१।४ २. मानस ७।१२१।१५ ३. मानस ७।६२।५
४. मानस ७।५९।३ ५. विनयपत्रिका ५९ ६. मानस ७।७२।१
७. जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा। मानस ४।११।३

पृथकत्व-भाव ही उसके आत्मस्वरूप को विस्मृत करा डालता है। भव-बंधन का प्रथम सोपान इसी विस्मृति का परिणाम है। यद्यपि माया-बंधन मिथ्या है तथापि कोशकृमि, कीर और मर्कट की भाँति यह भ्रांत जीव माया का वशवर्ती होकर भवकूप में पड़ा हुआ अनेक प्रकार का क्लेश सहता है।[1] जिस प्रकार जाह्नवीं का जल मदिरा से संपर्कित होते ही कलुषित हो जाता है, किंतु गंगा में पहुँचकर पुनः पावनता को प्राप्त कर लेता है, उसीप्रकार स्वरूपतः निर्मल अनीश जीव ईश्वर से अलग और मायोपहित होने के कारण मोह से आविष्ट हो जाता है किंतु ईश्वर की प्राप्ति होते ही पुनः स्वस्वरूपता प्राप्त कर लेता है।

गोस्वामी जी ने ऐंद्रजालिक राम की माया द्वारा रचित इंद्रजाल रूप इस विश्व को भी मिथ्या कहा है। स्वप्न में देखे गए पदार्थों की भाँति जाग्रतावस्था में अनुभूत यह जगत् भी मृषा है। इसका स्वरूप मायिक है, वह माया ही है।[2] माया के स्वरूप में अन्विष्ट समस्त विशेषताएँ जगत की विशेषताएँ हैं। विद्यामाया ही इस जगत् की रचयित्री है। यहाँ जगत् के मिथ्यात्व का संबंध इसकी परिवर्तनशीलता और परमार्थरूप राम की तुलना-संदर्भ में प्रमाणित है। 'जड़ चेतन गुण दोषमय' के कारण जगत् के समस्त गुण-दोष, सुख-दुःखादि राम की माया द्वारा विनिर्मित हैं। माया राम की दासी है। यद्यपि वह मिथ्या है तथापि अतिशय प्रबल है। अतः माया-मुग्ध जीव का विस्तार रामकृपा से ही संभव है।[3]

भवसंभव भ्रम को दूर कर कैवल्य-संप्राप्ति-हेतु ज्ञान की सोद्देश्यता भी विचारविशारदों द्वारा संसिद्ध है जिसमें वैराग्य, योग तथा ज्ञानादि का अपूर्व महत्व स्वीकृत है। किंतु गोस्वामी जी ने एक निसर्गसिद्ध वस्तु की योजना से उक्त सबमें भक्ति की दृढ़ता और श्रेष्ठता प्रमाणित की है, उसके अनुसार वैराग्य, ज्ञानादि पुरुष वर्ग के अंतर्गत हैं[4] अतः माया रमणी के प्रति उनमें प्रकृति-सिद्ध निर्बलता अन्विष्ट है। सुंदरी पर मुग्ध हो जाना पुरुष की सहज प्रवृत्ति है। इतिहास साक्षी है कि ज्ञान-निधान मुनि भी चंद्रवदनी को देखकर अपना अपनत्व छोड़ चुके हैं। तद्वत्-भाव से ज्ञानादि की किसी समय माया-सुंदरी पर आसक्ति-संभव है।[5] अतः भक्ति और माया नारी वर्ग में होने के कारण

१. विनयपत्रिका १३६ २. मानस २।२४७।१
३. मानस ४।२१।१ ४. मानस ७।११५।८
५. बिबस होइ हरिजान, नारि बिष्नु माया प्रगट। मानस ७।११५ (ख)

'मोह न नारि-नारि के रूपा' के अनुसार परस्पराकर्षणहीन हैं। पुनः भक्ति प्रेमरूपा राम की प्रिया है। प्रभु की अनुकूलता स्वायत्त करने के कारण माया नर्तकी रामप्रिया भक्ति से सदा त्रस्त रहती है;[1] इसीलिए बिज्ञानी मुनि भी 'जाचहिं भगति सकल सुख खानी।'

गोस्वामी जी ने माया को केंद्रस्थित कर ब्रह्म, जीव, जगत् तथा भक्ति आदि दार्शनिक एवं आध्यात्मिक तत्वों का निरूपणकर आत्म-तत्व को पूर्णरूप से प्रकाश में लाने का उपक्रम किया है। किंतु उनकी इस योजना का समापन यहीं नहीं होता। तुलसीदास जी ने माया के सैद्धांतिक स्वरूप के साथ ही उसके अमित अर्थों तथा उसके व्यावहारिक स्वरूप का भी बड़े ही मनोयोग के साथ विश्लेषण किया है। इनके लिए माया, दर्शन के क्षेत्र से साहित्य-जगत् की वस्तु कथमपि कम नहीं है।

गोस्वामी जी ने जहाँ एक ओर माया के अमित परिवार का वर्णन किया है वहाँ दूसरी ओर मानस के अनेक कथा-प्रसंगों द्वारा माया का प्रभाव दिखलाते हुए यह बताया है कि नारद, सती, गरुड़ आदि मायापाश में किस प्रकार आबद्ध हुए और उन्हें ज्ञान-प्रकाश प्राप्त होने पर ही कहीं ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का रहस्य उद्घाटित हो सका। वे सती-मोह, नारद-मोह, राजा भानुप्रताप का छला जाना, जननी कौशल्या का माया-दर्शन, सीता का माया द्वारा प्रतिवेष धारण कर सासु-सेवा-कार्य, भगवान् राम द्वारा खरदूषण के साथ युद्ध में माया-कौतुक, माया-मृग द्वारा माया सीता का छला जाना, सुग्रीव का मायावश्य होकर प्रभु-कार्य की विस्मृति, रावण में अपूर्व माया रूपी शस्त्र का बल, राम-रावण-युद्ध में मायास्त्र का पूर्णतः प्रयोग और उसका कौतुक, गरुड़ का मोह तथा माया की अंतःनिष्ठता का वर्णनादि प्रसंग माया की अनंत संभावनाओं की समष्टि का सांगोपांग वर्णन करते हैं। इनमें कथा का प्रामुख्य नहीं विचारों का महत्व है। केवल अवांतर कथाओं से ही इसप्रकार का काम नहीं लिया गया है मुख्य-कथा भाग में भी उसे स्थान प्राप्त है। राम[2], भवानी[3], कौशल्या[4], रावण[5], शंकर[6], सीता[7] आदि पात्रों पर दिग्दिग व्यापिनी माया का स्पष्ट प्रभाव है। इनमें जो माया के रहस्य को समझते हैं या 'मायाधीश' हैं उन पर माया का कुछ चलता नहीं। फिर जिन्हें पहले ज्ञान

१. मानस ७।११६।२-३ २. मानस १।५६।३ ३. मानस १।५०।३
४. मानस १।२०२।२ ५. मानस ६।८६।३ ६. मानस १।५१
७. मानस २।२५२।१

नहीं है वे उसके (माया) कौतुक को देखकर पश्चात् ज्ञान प्राप्त करते हैं, मुक्त होने का उपाय खोजते हैं। यह माया की लौकिक व्याख्या है, 'व्याप रहेउ संसार महँ माया कटक प्रचण्ड' का साक्षात्-दर्शन है। भव-मुक्ति का अर्गलाहीन विस्तृत द्वार है और भगवान् के चरणों में अम्लान प्रीति-पुरस्सरता का प्रथम सोपान है जहाँ जाकर पाप-ताप सद्यः धुल जाते हैं और 'राम रजाइ सीस सबहीके' का भाव-दर्शन सर्वत्र होता है।

इसीलिए तुलसी-साहित्य में माया को असीम धरातल के साथ अमित अर्थविस्तार भी मिला है। यह माया कभी ईश्वर की शक्ति के रूप में सृष्टि की उद्भाविका तथा नियामिका बन बैठी है और कभी लोकजीवन के मध्य जीव को अपने उच्चादर्श से स्खलित कर 'बहुतक नाच नचाने वाली' व्यामोहिका शक्ति के रूप में संप्रतिष्ठित हुई है।

तुलसी-साहित्य में 'माया' शब्द का प्रयोग अपेक्षया बाहुल्यता के साथ हुआ है। वेद और श्रीमद्भागवत को छोड़कर संस्कृत, हिंदी काव्य और दर्शन के ग्रंथों में कदाचित् कहीं भी उतना प्रयोग देखने को नहीं मिलता। केवल रामचरितमानस में लगभग दो सौ स्थलों पर माया शब्द का प्रयोग हुआ है। तुलसीदास ने उक्त स्थलों पर 'माया' शब्द का व्यवहार अनेक अर्थों में किया है। इसके पीछे उनका भक्ति विषयक विविध लक्ष्य तथा मान्यताओं का शृंखला-निर्वाह दिखाई पड़ता है। सामान्यतः माया वह शक्ति है जो अघटितघटना-पटीयसी तथा विचित्र कार्यकरणशील है और जिसकी निश्चयात्मक प्रतीति मानव बुद्धि के लिए अत्यंत दुःसाध्य है। तुलसीदास जी ने प्रसंग और संदर्भ आग्रह-भेद से माया शब्द का निम्नलिखित अर्थों में प्रयोग किया है जो तुलसी-साहित्य विशारदों के मत द्वारा भी ग्राह्य माना गया है—छल, कपट, जादू, धोखा, इंद्रजाल, परवंचकता, दैवीशक्ति, आसुरीशक्ति, 'मैं' 'तैं' के भेद-भाव, भ्रांतिकारिणी रचना एवं उसकी मिथ्या प्रतीति, मोह, आसक्ति, संसार के तथा वस्तु के प्रति आसक्ति, जीव को आवद्ध करने वाला पाश, ईश्वर की आदि शक्ति, विश्व को अनेक नाच नचाने वाली शक्ति, दुर्जेयशक्ति, परिवर्तन रूप, प्रकृति, ईश्वर की क्षमता विस्तारिणीशक्ति, अविद्या, अविद्यामय जीव की शक्ति, स्वार्थ, अज्ञान आदि। इसके अतिरिक्त अन्य शाब्दिक अर्थों को इन्हीं में अंतर्भुक्त कर लिया गया है। इसी तरह जीव की कोटियों की भाँति देव-माया, असुर-माया, नर-माया, तिय-माया आदि का निर्धारण भी हुआ है। कुछ शब्द 'माया' के वजन पर बनाए गए हैं। जैसे मायाकृत, मायापति, मायानाथ,

मायामय, मायावी, अमाया, मायिक आदि यद्यपि रामचरितमानस तथा तुलसी जी के अन्य ग्रंथों के विभिन्न स्थलों के अर्थ-परीक्षण द्वारा उपर्युक्त अर्थ-बोध की व्याख्या अधिक समीचीन हो सकती थी किंतु कलेवर वृद्धि के कारण संभव नहीं है तथापि यह अभ्रांत सत्य है कि गोस्वामी जी ने माया का जो दार्शनिक, साहित्यिक तथा लौकिक रूप अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है उतना विस्तार न तो किसी दार्शनिक ने दिया है और न सुधारक ने ही। निर्गुनि या संतों ने 'माया' से लोगों को सावधान किया किंतु गोस्वामी जी ने आत्मानुभव तथा 'नानापुराणों' के अधीतिज्ञान के आधार पर जिस माया-विभावन का संपादन किया वह तुलसीदास जी का ही बनकर रह गया है। वह न तो वाद-विशेष का अनुकरण है और न उसका अनुकरण ही किया जा सकता है।

श्री गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर'

साध्वी रत्नावली और उनका काव्य

संत-प्रवर-गोस्वामी तुलसीदासजी का विश्व के श्रेष्ठतम सुकवियों और साधकों में विशिष्ट-स्थान है। विश्व-साहित्य के प्रबुद्ध-पाठक यह भी भली प्रकार जानते हैं कि गोस्वामीजी को भक्ति और साधना के सद्पथ पर उनकी आत्म-सहचरी साध्वी रत्नावली ने ही लगाया था। रत्नावली द्वारा कहे गये दो दोहों ने संत प्रवर तुलसी की विचार-धारा का प्रवाह ही बदल दिया। वे ऐतिहासिक दोहे हैं :

लाज न लागत आपको, दौरे आयहु साथ,
धिक-धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहौं मैं नाथ।
अस्थि चरम मय देह मम, तामें जैसी प्रीति,
तैसी जो श्री राम महँ, होति न तौ भव भीति।

गत शताब्दी तक साध्वी रत्नावली के उक्त दोहों से ही जनसाधारण परिचित थे किंतु इस शताब्दी में शोध-शास्त्रियों ने अपने शोध-प्रबंधों द्वारा गोस्वामी तुलसीदास और उनकी आत्म-सहचरी साध्वी रत्नावली पर इतना अधिक प्रकाश डाल दिया है कि शंकाओं का अपने आप समाधान हो जाता है।

साध्वी रत्नावली द्वारा रचित दोहों और पदों से ही उनके जन्म-स्थल, माता-पिता और पति का विवरण विदित हो जाता है। इसके अतिरिक्त उनके पति-प्रेम, साधनामय जीवन, स्त्रीशिक्षा और अनेकानेक विषयों का बोध होता है।

जन्म-स्थल और पितृ-नाम : शूकर-क्षेत्र (सोरों, एटा) के समीप बदरिका (बदरिया) ग्राम के निवासी श्री दीनबंधु पाठक ही रत्नावली के पिता थे। रत्नावली के दोहों की पांडुलिपियों में इसका स्पष्ट उल्लेख है :

हाइ बदरिका बन भई, हौं बामा बिष बेलि;
रतनावली हौं नाम की, रसहिं दयौ विष मेलि।
जनम बदरिका कुल भई, हौं पिय कंटक रूप;
बिंधत दुषित ह्वै चलि गयै, रतनावली उर-भूप।
दीनबंधु कर घर पली, दीनबंधु कर छाँह;
तौउ भई हौं दीन अति, पति त्यागी मो बाँह।

गोस्वामीजी का जन्म-स्थल और पाणिग्रहण संस्कार : संत-प्रवर गोस्वामी तुलसीदास के जन्म-स्थल, उनके नाम और पाणिग्रहण संस्कार के संबंध में दोहावली में लिखा गया है कि गंगा माता के पवित्र स्थल पर बसे हुए नगर को त्याग कर आप कहाँ चले गये ? मेरा पाणि-ग्रहण संस्कार बारह वर्ष की अवस्था में किया, सोलह वर्ष की अवस्था में गौना (विदा) करवा कर लिवा ले गए और मुझको केवल मेरी सत्ताईस वर्ष की अवस्था में त्याग कर चले गए :

तीरथ आदि बराह जे, तीरथ सुरसरि धार;
जाही तीरथ आइ पिय, भजउ जगत करतार।
प्रभु बराह पद पूत महि, जनम मही पुनि एहि;
सुरसरि तट महि त्यागि अस, गए धाम पिय केहि।
जासु दलहि लहि हरषि हिय, हरत भगत भव-रोग;
तासु दास-पद दास ह्वै, रतन लहत कत सोग।
बैस बारहीं कर गह्यौ, सोरहिं गवन कराइ;
सत्ताइस लागत करी, नाथ रतन असहाइ।

रत्नावली का जन्म संवत् : रत्नावली का जन्म बदरिया ग्राम में संवत् १५७७ वि० में हुआ था। उनके पिताजी का नाम दीनबंधु पाठक था। संवत् १५८९ वि० में उनका गोस्वामी तुलसीदासजी के साथ पाणिग्रहण-संस्कार संपन्न हुआ और संवत् १६०४ वि० में जब वे केवल २७ वर्ष की ही थीं तब गोस्वामीजी विरक्त होकर चले गए।

रत्नावली की शिक्षा : रत्नावली अपने बचपन से ही अत्यंत कुशाग्र बुद्धिशीला थीं, उन्होंने बचपन में ही लघु-सिद्धांत कौमुदी कंठ करली थी, वाल्मीकि रामायण तथा अन्य ग्रंथों का पठन-पाठन प्रारंभ कर दिया था।

पिंगल-शास्त्र का ज्ञान हो जाने के कारण उन्होंने दोहे और पद लिखने भी प्रारंभ कर दिए थे।

रत्नावली की माता का निधन और पति का वियोग : रत्नावली को संवत् १६०४ वि० अधिक दुखदायी सिद्ध हुआ, उस संवत् में ही उनको अपनी माता का वियोग सहना पड़ा और उसी संवत् में ही तुलसीदासजी घर त्याग कर चले गये :

सागर परस ससी रतन, संवत् भो दुषदाइ;
पिय वियोग जननी मरन, करन न भूल्यो जाइ।
असन वसन भूषन भवन, पिय बिन कछु न सुहाय;
भार रूप जीवन भयो, छिन-छिन जिय अकुलाय।

रत्नावली का दांपत्य-जीवन : रत्नावली का दांपत्य-जीवन प्रायः ग्यारह बारह वर्ष अत्यंत शांति और आनंद के साथ व्यतीत हुआ। उनको तारक नाम का पुत्र भी प्राप्त हुआ था किंतु वह अल्पावस्था में ही काल-कवलित हो गया था, पश्चात् पति के चले जाने पर तो उनका जीवन सर्वथा साधनामय हो गया था।

रत्नावली की साधनाएँ : रत्नावली ने अपना शेष जीवन (२८ वें वर्ष से अंत समय तक) सेवा, साधना, शिक्षा और काव्य-रचना में व्यतीत किया जो महत्त्वपूर्ण है।

खेद-प्रकाशन, पश्चाताप और शिक्षा संबंधी दोहे : शोध में प्राप्त २०१ और १११ दोहों की पांडुलिपियों में खेद-प्रकाशन, पश्चाताप, वंश-वर्णन, वियोग की पीड़ाएँ और अन्य अनेकानेक विषयों के अतिरिक्त कन्याओं और नारियों को उनसे हृदयग्राही शिक्षाएँ मिलती हैं।

(क) खेद-प्रकाशन और पश्चाताप :

हाइ सहज ही हौं कहीं, लह्यौ बौध हिरदेस;
हौं रतनावली जँचि गई, पिय हिय काँच विसेस।
कर गहि लाये नाथ तुम, वादन बहु बजवाइ;
पदहु न परसाए तजत, रतनावलिहि जगाइ।
सोवत सौं पिय जग गए, जगिहु गई हौं सोइ;
कबहुँ कि अब रतनावलिहि, आइ जगावहि मोइ।
धिक मो कहँ मो बचन लगि, मो पति लह्यौ विराग;
भई वियोगिनि निज करनि, रहूँ उड़ावत काग।

नाथ रहोंगी मौन हौं, धारहु पिय जिय तोष;
कबहुँ न दऊँ उराहनो, दऊँ न कबहूँ दोष।
जदपि गये घर सों निकरि, मो मन निकरे नाहिं;
मन सों निकरौ ता दिनहिं, जा दिन प्रान नसाहि।

(ख) वंश-वर्णन।

सनक सनातन कुल सुकुल, गेह भयो पिय स्याम;
रतनावलि आभा गई, तुम बिन बन सम गाम।
मोहि दीनों संदेस पिय, अनुज नन्द के हाथ;
रतन समुझि जनि पृथक् मोहि जो सुमिरति रघुनाथ।

(ग) वियोग की पीड़ाएँ :

कहाँ हमारे भाग्य अस, जो पिय दरसन देंय;
वाहि पाछिली दीठि सों, एक बार लखि लेंय।
हों न नाथ अपराधिनी, तोउ क्षमा करि देउ;
चरनन दासी जानि निज, वेगि मोरि सुधि लेउ।
छमा करौ अपराध सब, अपराधिनि के आय;
बुरी भली हौं आपकी, तजौ न, लेउ निभाय।
कबहुँ कि ऊँगैभाग रवि, कबहुँ कि होय विहान;
कबहुँ कि बिकसे उर कमल, रतनावलि सकुचान।

(घ) हृदय को प्रबोधन :

राम भगति भूषित भयो, पिय हिय निपट निकाम;
अब किमि भूषित होइ है, तहँ रतनावलि वाम।
राम जासु हिरदै बसत, सो पिय मम उर धाम;
एक बसत दोऊ बसहिं, रतन भाग अभिराम।
दुषनि भोग रतनावली, मन महँ जनि दुषियाइ;
पापनु भल दुष भोगि तू, पुनि निरमल ह्वै जाय।
ज्यों ज्यों दुष भोगत तसहिं, दूरि होत सब पाप;
रतनावलि निरमल बनत, जिमि सुबरन सह ताप।
पति पद सेवा सों रहित, रतन पादुका सेइ;
गिरत नाव सों रज्जु तिहि, सरित पार करि देइ।

'दोहा-रत्नावली' में कन्याओं के हित की अनेकानेक बातें लिखी गई हैं। उन में से कुछ इस प्रकार हैं :

नाच, विषय-रस-गीत-गँधि, भूपन भ्रमन विचारु;
अंग राग आलस रतन, कन्यहि हित न सिगारु।
बाल बैस ही सें धरौ, दया धरम कुल कानि;
बड़े भयें रतनावली, कठिन परैगी बानि।
बारे पन सें मातु पितु, जैसी डारत बानि;
सो न छुटाये पुनि छुटत, रतन भयेहूँ सयानि।
लरिकन सँग पेलनि हँसनि, बैठनि रतन इकंत;
मलिन करत कन्या चरित, हरन सील कहँ संत।

साध्वी रत्नावली ने नारी के लिए सर्वोत्तम आभूषण माना है अपने शील की रक्षा किए रहना और सत्य, सरस वाणी का सदैव प्रयोग करना। नारी को यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि निर्लज्जता ही सब से बड़ा अवगुण है। ऊँचे कुल में जन्म लेकर और रूपवती होकर भी यदि व्यवहार में धर्म, दया, शील जैसे सद्गुणों का समावेश नहीं हुआ तब संसार में कोई भी प्रशंसा न करेगा :

भूषन रतन अनेक जग, पै न सील सम कोइ;
सील जासु नैनन बसत सो जग भूषन होइ।
सत्य सरस बानी रतन, सील लाज जे तीन;
भूषन साजति जो सती, सोभा तासु अधीन।
सुबरन मय रतनावली, मनि, मुक्ता, हारादि;
एक लाज बिनु नारि कहँ, सब भूषन जग वादि।

वह नारी, जो अपने पति को सदैव मित्र की ही भाँति सत्परामर्श देती है, उन से उस प्रकार ही स्नेह करती है मानों साक्षात् माता हो और सेवा के समय दासी के रूप में सेवा करती है तब अवश्य प्रशंसनीय मानी जाती है।

नारी को संबोधित करती हुई रत्नावली कहती है कि हे नारी! तू गृह-लक्ष्मी, सरस्वती और काली तीनों ही रूपों में अपने परिवार भर की रक्षा करके सती होने का गौरव प्राप्त कर, अपने आप को सबला समझ, अबला नहीं :

देति मंत्र सुठि मीत सम, नेहिनि मातु समान;
सेवति पति दासी सरिस, रतन सुतिय धनि जान।
तू गृह ह्री श्री धी रतन, तू तिय सकति महान;
तू अबला सबला बने, धरि उर सती-विधान।

रतन रमा सी सुख सदन, बनि सारद धरि ध्यान;
षलन दलन हित कालिका, बनि कर धारि कृपान।

संयम और नियम :

रतनावलि सब सों प्रथम, जगि, उठि करि गृह काज;
सबनु सुबाइहि सोइ तिय, धरि सम्हारि गृह साज।
कबहुँ अकेली जनि करहु, संतहु निकट पयान;
देखि अकेली तिय रतन, तजत संत हू ग्यान।
अनजाने जन को रतन, कबहुँ न करि विसवास,
वस्तु न ताकी षाइ कछु, देह न गेह निवास।
रतनावलि पति छाँड़ि इक, जेते नर जग माँहि;
पिता भ्रात सुत सम लषहु, दीरघ सम लघु आहि।
सास ससुर पति पद परसि, रतनावलि उठि प्रात;
सादर सेइ सनेह नित, सुनि सादर तेहि बात।
सास ससुर पति पद रतन, कुल तिय तीरथ धाम;
सेवइ तिय जग जस लहै, पुनि पति लोक ललाम।
उद्यापन, तीरथ, बरत, जोग जग्य जय दान;
रतनाबलि पति सेव बिन, सबहिं अकारथ जान।

रत्नावली के दोहों में कितने ही दोहे ऐसे हैं जिनसे महिलाओं के साथ ही साथ पुरुष वर्ग भी शिक्षा लेकर सामाजिक-सुधार करके स्तर ऊँचा उठा सकता है। परोपकार करने के पश्चात् उसकी चर्चा नहीं करनी चाहिए, नेकी कर कुएँ में डाल वाली उक्ति को अपनाना उचित है। दान देकर उसका डिंढोरा पीटना अनुचित है। यदि किसी का हित कर सको तो उस को गुप्त ही रक्खो। यथा :

परहित करि बरनत न बुध, गुपत रषहिं दै दान;
पर उपकृति सुमिरत रतन, करत न निज गुन गान।
जे उपकारी को रतन, करत मूढ़ अपकार;
ते जग अपजस लहत पुनि, मरें नरक अधिकार।
रतनावलि छनहूँ जियै, धरि परहित जस ज्ञान;
सोई जन जीवत गनहु अनि जीवत मृत मान।
पर हित जीवन जासु जग, रतन सफल है सोइ;
निज हित कूकर, काक, कपि, जीवहिं का फल होइ।

दोहों के अतिरिक्त साध्वी रत्नावली द्वारा रचित पद भी शोध में प्राप्त हुए हैं। निम्न पद में रत्नावली संतप्रवर तुलसी से अनुनय-विनय करती है कि हे दीनानाथ ! एक बार आकर मेरी विनती सुन जाइए, मेरे व्याकुल हृदय को धैर्य बँधा जाइए और दर्शन देकर मुझे कृतार्थ करने की कृपा कीजिए :

प्रियतम एक बार गृह आऔ;
अनुचित उचित कर्यो हों कबहूँ, ताहि समुझि समुझाऔ।
तव वियोग अकुलात हीय अति, धीरज आइ बँधाऔ;
सह्यो न जात दुषह दुष एतो, दरस दया दरसाऔ।
दिन कितेक नाथ अब बीते, नाहि मोरि सुधि लीनी;
सुजन पाछिली प्रीति रावरी, अहह परी किमि झीनी।
रूठि गए मो वैन सुनत, जन-कहत सुनत सकुचाऊँ;
का अब करौं कहाँ अब षोजों, कितहू षोज न पाऊँ।
अमित प्रीति परतीति-माँग तव, पाइ रही हो मोई;
सपने हूँ न कबहुँ हों जानी, दसा मोरि अस होई।
भूलि आउँ हों सबै परेषो, बीती ताहि बिसारौं;
भाग सराहों रतन आपनो, जो तव चरन निहारौं।

तुम बिन सब जग मोहि अँधेरो;
निसि दिन जगत चंदरवि ऊँगत, घर-घर दीप उजेरो।
आवत अति सनेह उर लाये, जात न पद परसाए;
आपनि कही न बूझी मोसों, सोवत छाँड़ि सिधाए।
हाट-बाट घर बाहिर देषे, नगर गाम मँझियाए;
ढूँढ़ि-ढूँढ़ि हौं सब बिधि हारी, पिय तुम कहूँ न पाए।
मौ बिनु कबहुं न पर्‌यो चैन, अब, सो मो सुधि बिसराई;
का अपराध भयो गुरु मो सों, ता सो उर रिस छाई।
आहट लेति बाट नित जोहति, आवन आस तिहारी;
रतनावलि मुषचन्द दिषावहु, आय होय उजियारी।

साध्वी रत्नावली के अब तक प्राप्त सात पदों में से केवल तीन पद ही यहाँ दिए जा रहे हैं। इन पदों से प्रबुद्ध पाठक वियोगिनी साध्वी की मनोदशा का अनुमान भली प्रकार लगा लेंगे। जीवन भर उन्होंने पति की आराधना और साधना की और दिन-रात वियोग की ज्वाला में जलते हुए वृद्धावस्था प्राप्त करली। 'वैस बितानी' वाक्य से यह स्वतः ध्वनित होता है।

संत प्रवर तुलसी के सद्‌गुणों पर जहाँ पदों में प्रकाश डाला गया है वहाँ उनके जन्म-स्थल सोरों और शुक्ल आस्पदीय कुल का भी उल्लेख है।

हिंदी-साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में, जैसा चाहिए वैसा विवरण रत्नावली के विषय में अब तक प्रकाशित ही नहीं हुआ है। इस अभाव की पूर्ति होनी चाहिए। कुछ अविवेकी लेखकों ने तो अपने लेखों में कपोल-कल्पित तथ्यों का आधार लेकर साध्वी रत्नावली को फूहड़ और उजड्ड नारी तक लिख दिया था जो निंदनीय है।

संत-प्रवर गोस्वामी तुलसीदास और साध्वी रत्नावली से संबंधित साहित्य को प्रकाश में लाने का श्रेय स्व० शास्त्री श्री गोविंद वल्लभ तैलंग, श्री भद्रदत्त त्रिवेदी, श्री वेदव्रत शास्त्री, कासगंज और डॉ० रामदत्त भारद्वाज डी० लिट्०, दिल्ली को है।

आचार्य गोविंद वल्लभ शास्त्री ने 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक ग्रथ में, उन सब ग्रंथों को संगृहीत कर दिया है जो शोध में प्राप्त हुए थे और जिनसे गोस्वामी तुलसीदास और साध्वी रत्नावली के जन्म-स्थल और अन्य विवरणों पर प्रकाश पड़ता था। डा० रामदत्त भारद्वाज ने अपने शोध-प्रबंध 'गोस्वामी तुलसीदास व्यक्तित्व, दर्शन, साहित्य' में रत्नावली के विषय में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है। विशेष जानने के लिए जिज्ञासु उक्त ग्रंथों का अनुशीलन करें।

इन पंक्तियों के अकिंचन लेखक ने भी सं० १९९० वि० में 'सुकवि सरोज' (द्वितीय भाग) और 'बुंदेल-वैभव' (प्रथम-भाग) नामक ग्रंथों में विस्तारपूर्वक उक्त विषयों पर प्रकाश डाला था।

डॉ० वीरेंद्रपाल श्रीवास्तव

तुलसी शोध : एक विहंगावलोकन

गोस्वामी तुलसीदास जैसे महान एवं केंद्रीय व्यक्ति को लेकर पिछले सवा सौ वर्षों में विपुल सामग्री समीक्षा और शोध के क्षेत्र में प्रस्तुत हुई है। पश्चिमी विद्वानों ने समीक्षा एवं शोध दो द्वारों को खोलकर तुलसी-काव्य के रसास्वादन के लिये एक नयी व्यवस्था की है। पाश्चात्य विद्वानों की परिपाटी का परिचालन करते हुये बीसवीं सदी के आरंभ में हमारे भारतीय मनीषियों ने महाकवि के अनुशीलन के कार्य को नये सिरे से प्रारंभ किया है। जैसे-जैसे उनमें साहस, आत्मविश्वास, राष्ट्रीय-चेतना एवं सांस्कृतिक दृष्टि का विकास होता गया वैसे-वैसे तुलसी संबंधी अध्ययन अधिक परिपुष्ट होता गया। पिछले ५० वर्षों में हमने तुलसी-अध्ययन को नयी दिशाएँ प्रदान की हैं। साहित्य, धर्म, कला, दर्शन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और संस्कृत के विभिन्न क्षेत्रों के शास्त्रीय ज्ञान के प्रकाश में हमने गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं को परखा है और मनोविज्ञान की विभिन्न स्थापनाओं के आधार पर इनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व की परीक्षा करनी चाही है। अब यह सामग्री इतनी बहुत हो गयी है कि उसके विधिवत् विवरण के अभाव में शोधकर्त्ताओं के द्वारा पुनरावृत्ति होना असंभव बात नहीं है। इसलिये इन शोधों का परिपूर्ण समाहार प्रस्तुत कर उनका ऐतिहासिक और विकासात्मक स्वरूप निश्चित करना भी आवश्यक है।

गोस्वामी तुलसीदास संबंधी शोधों का अध्ययन

सुविधा एवं अध्ययन की दृष्टि से संपूर्ण शोध-सामग्री को नौ भागों में

विभाजित किया जा सकता है। इसमें विषय एवं इतिहास दोनों को ध्यान में रखा गया है।

[क] गोस्वामी तुलसीदास के धर्म संबंधी शोध-प्रबंध

१. द थियोलॉजी ऑफ तुलसीदास—डॉ० जे० एन० कारपेंटर : (१९१८, लंदन वि० वि०, डाक्टरेट)

हिंदी-जगत में उपाधिपरक शोध-प्रबंध प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम श्रेय डॉ० जे० एन० कारपेंटर को ही मिलेगा। यह शोध-ग्रंथ क्रिश्चियन लिटरेरी सोसाइटी कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है। इसमें लेखक ने तुलसी के उन धार्मिक सिद्धांतों का विवेचन किया है जो पर्याप्त समय बाद तक एक आधिकारिक सामग्री के रूप में स्वीकार होते रहे हैं। तुलसी के पाश्चात्य अध्येताओं की श्रृंखला में डा० कारपेंटर ही एक ऐसे शोधकर्त्ता हैं जिन्होंने नागरी लिपि में ही उद्धरण दिये हैं।

२. तुलसी दर्शन—डा० बल्देवप्रसाद मिश्र : (१९३९, नागपुर वि० वि०, डी० लिट्०)

भारत में तुलसी की धार्मिक भावनाओं पर शोध-प्रबंध प्रस्तुत करने का प्रथम श्रेय डॉ० बल्देवप्रसाद मिश्र को प्राप्त है। इसका प्रकाशन साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से हुआ है। इस प्रबंध में मानस के 'भक्ति रस' पर मौलिक चिंतन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। विद्वान अनुसंधाता ने आठ प्रकरणों में अपनी संपूर्ण सामग्री सँजोई है। प्रथम दो अध्यायों में भारतीय भक्ति मार्ग को समझाते हुए सिद्ध किया गया है कि भारतीय भक्ति मार्ग मूलतः भारतीय भक्ति पद्धति का विकसित रूप है और किसी विदेशी धर्म से प्रभावित नहीं है। तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय तुलसी के दार्शनिक दृष्टिकोण की व्याख्या तथा शेष अध्याय भक्ति और आराधना के सिद्धांतों की व्यापक व्याख्या से संबंधित हैं।

३. तुलसी-दर्शन—डा० रामदत्त भारद्वाज : (१९५३, आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०)

१४ अध्यायों का प्रस्तुत शोध-प्रबंध दर्शन-विभाग के माध्यम से स्वीकृत हुआ था। प्रथम अध्याय में तुलसी की जीवनी पर प्रकाश डालते हुये डॉ० भारद्वाज ने स्वीकार किया है कि तुलसी का जन्म-स्थान सोरों था। इसके पश्चात् क्रमशः विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के दार्शनिक सिद्धांतों की मीमांसा,

ब्रह्म के स्वरूप निरूपण, माया के विवेचन, त्रिदेवों के विश्लेषण, अवतारवाद, विभिन्न देवी देवताओं, आचार्यों द्वारा प्रतिपादित जीव विषयक दर्शन की कसौटी पर तुलसी की धारणाओं, मुक्ति संबंधी विचारणा, मोक्ष के साधनों, राम भक्ति के विकास, तुलसी के कर्मवाद, पापपुण्य की भावना, वर्णाश्रम तथा नारी भावना, तुलसी के मनोवैज्ञानिक विचारों की मीमांसा से संबंधित अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अंतिम अध्याय में तुलसी के राजनीति संबंधी विचारों का प्रस्तुतीकरण किया गया है। इस प्रकार इस शोध-प्रबंध में तुलसी के सर्वपक्ष गवेषण का प्रयत्न किया गया है।

४. रामचरितमानस पर पौराणिक प्रभाव—डा० विजयबहादुर अवस्थी : (१९६४, दिल्ली वि० वि०, पी-एच० डी०)

इस शोध-प्रबंध में क्रमशः पुराणों के रचनाकाल, प्रतिपाद्य विषय तथा शैली की विशेषताओं एवं मानस की कथावस्तु, तत्त्व-चिंतन और प्रतिपादित मोक्ष-साधनों पर पौराणिक प्रभाव का विश्लेषण किया गया है। इसके पश्चात् मानसकार के पौराणिक शब्द एवं अर्थग्रहण की तालिकाबद्ध वैज्ञानिक खोज की है। अंत में निष्कर्ष दिया गया है कि मानस पुराण नहीं है वरन् पौराणिक शैली पर लिखा गया महाकाव्य है।

५. तुलसी के भक्त्यात्मक गीत(विनयपत्रिका)—डा० वचनदेव कुमार : (१९६४, पटना वि० वि०, पी-एच० डी०)

प्रस्तुत अध्ययन दो भागों में विभक्त है। प्रथम खंड में गीति-परंपरा तथा उसकी पृष्ठभूमि में गीति काव्यों के स्थान का मूल्यांकन किया गया है जिसमें भक्ति के विकास की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। द्वितीय खंड में तुलसी की गीति कृतियों का स्वतंत्र विवेचन प्रस्तुत किया गया है जिसमें मुख्य रूप से 'गीतावली' तथा 'विनयपत्रिका' का ही विवेचन है।

[ख] तुलसी के काव्य तथा कला संबंधी शोधों का अध्ययन

१. रामचरितमानस के विशिष्ट संदर्भ में तुलसी की शिल्प कला : एक विश्लेषण—डा० हरिहरनाथ हुक्कू : (१९३९, आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०)

प्रस्तुत शोध में डॉ० हुक्कू ने तुलसी के कला-सौष्ठव पर नूतन वैज्ञानिक प्रणाली से मौलिक विचारणा प्रस्तुत की है। उन्होंने आधिकारिक रूप से घोषित

किया कि तुलसी एक धार्मिक कवि मात्र नहीं थे वरन् वे उच्चकोटि के साहित्य कलाकार भी थे। तुलसी की कृतियाँ जिस प्रकार हमारी धार्मिक जिज्ञासा की पूर्ति करती हैं उससे अधिक वे हमारी कलात्मक वृत्ति को भी संतुष्ट करती हैं।

२. तुलसी की कारयित्री प्रतिभा – डॉ० श्रीधर सिंह : (१९६१, काशी वि० वि०, पी-एच०डी०)

प्रस्तुत शोध-प्रबंध १९६८ में हिंदी प्रचारक प्रकाशन, वाराणसी से प्रकाशित हुआ। इस शोध-प्रबंध में तेरह अध्याय हैं तथा संपूर्ण सामग्री तीन खंडों में विभक्त है। प्रथम में कर्त्ता के विचार से, द्वितीय में कृति के विचार से तथा तृतीय में भावक के विचार से तुलसी की कारयित्री प्रतिभा का विवेचन किया गया है। तुलसी के कवि-कर्म का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना इस शोध का मुख्याभिध्येय है।

३. मध्ययुगीन हिंदी राम-काव्य के परिवेश में करुणरस—डॉ० ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव : (१९६१, आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०)

विषय सामग्री की दृष्टि से इसमें दो खंड हैं। (क) करुणरस का मनोविज्ञानाश्रित विवेचन (ख) मध्ययुगीन साहित्य की रामकथा में करुणरस की अभिव्यक्ति।

४. तुलसी के काव्य में अलंकार-योजना–डॉ० नरेंद्र कुमार : (१९६२ दिल्ली वि० वि०, पी-एच० डी०)

डॉ० कुमार का मत है कि तुलसी ने उपमालंकार का इतनी बहुलता से प्रयोग किया है कि वह अपने में एक स्वतंत्र शोध होने की क्षमता रखता है। प्रस्तुत शोध में दस अध्याय हैं।

५. तुलसी की काव्य-कला—डॉ० भाग्यवती सिंह : (१९६२, लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०)

प्रस्तुत शोध-प्रबंध का प्रकाशन सरस्वती पुस्तक संघ, आगरा से हुआ है। इसमें बारह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय 'कवितावली' की शास्त्रीय विवेचना करता है। इसके पश्चात् क्रमशः गोस्वामीजी के काव्य में रस, भाषा, ध्वनि, कला में मर्यादा एवं औचित्य, शब्द-कला, संगीत एवं चित्रात्मकता, अलंकार-योजना, प्रबंध-सौष्ठव एवं वर्णन-पद्धति, चरित्र-चित्रण, छंदःयोजना एवं संवाद-योजना, भाव-वर्णन, शैली एवं उक्ति-वैचित्र्य का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

६. रामचरितमानस का काव्य शास्त्रीय अनुशीलन–डॉ० राजकुमार पांडेय : (१९६३, आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०)

प्रस्तुत शोध-प्रबंध अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर से प्रकाशित हुआ है। इसमें कुल द्वादश अध्यायों में संपूर्ण शोध-सामग्री सँजोई गई है। अपने अध्ययन में डॉ० पांडेय ने तुलसी के साहित्यिक मूल्यांकन को आधार बनाते हुए पाश्चात्य एवं भारतीय समीक्षकों द्वारा प्रस्तुत तुलसी संबंधी मंथन, तुलसी के द्वारा प्रस्तुत काव्य संबंधी अभिमत, तत्कालीन परिस्थितियों के चित्रण, मानस के आर्ष ग्रंथों की विशद सामग्री और तत्संबंधित कवि की मौलिक उद्भावना, मानस की कथा, प्रकृति संबंधी संवेदन, गोस्वामीजी की सूक्ष्म भाव-योजना के स्वरूप तथा मानस में विभिन्न रसों के परिपाक, संदर्भण कला, 'मानस' के महाकाव्यत्व आदि को शोध का विषय बनाया है।

७. तुलसी के प्रबंध एवं प्रगीत का तुलनात्मक अध्ययन–डॉ० रमेश बाजपेयी : (१९६४, सागर वि० वि०, पी-एच० डी०)

प्रस्तुत शोध के अंतर्गत क्रमशः प्रबंध-काव्य का शास्त्रीय विवेचन, प्रगीत-काव्य का शास्त्रीय मूल्यांकन, तुलसी के भाव एवं कलापक्ष का विवेचन, मानस के काव्य विषयक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक आदर्शों, तुलसी की चरित्र सुषमा, मानस के कलापक्ष तथा तुलसी के प्रगीत काव्य का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अंत में तुलसी के प्रबंध एवं प्रगीत-काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन है।

८. रीतिकालीन आलंकारिक स्वर में तुलसी की अलंकार योजना— डॉ० चंद्रभान तिवारी : (१९६५, सागर वि० वि०, पी-एच० डी०)

डॉ० तिवारी ने भक्तिकालीन अलंकारिक स्वर में तुलसी के काव्य का विवेचन प्रस्तुत करते हुए उनके काव्य में प्राप्त विभिन्न साम्यमूलक, वैषम्य मूलक, शृंखलामूलक, न्यायमूलक, चमत्कारमूलक और अवशिष्ट अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया है।

[ग] तुलसी की जीवनी, कृतित्व एवं रचना संबंधी शोध-प्रबंध

गोस्वामी तुलसीदास के व्यक्तित्व एवं कृतित्व-परिचय पर विशिष्ट रूप से शोध-सामग्री प्रस्तुत करने वाले निम्न शोध-प्रबंध हैं :

१. तुलसीदास-जीवनी और कृतियों का समालोचनात्मक अध्ययन— डॉ० माताप्रसाद गुप्त : (१९४०, प्रयाग वि० वि०, डी० फिल०)

इस प्रबंध में कुल सात अध्याय हैं। प्रथम तीन अध्यायों में गोस्वामी जी की जीवनी पर व्यापक वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। बाद के तीन अध्याय तुलसी के कलात्मक अनुशीलन से संबंधित हैं तथा अंतिम अध्याय तुलसी की धार्मिक भावनाओं का गंभीर गवेषण प्रस्तुत करता है।

२. रामचरितमानस के स्रोत और रचनाक्रम-डॉ० शार्लोतवोदवील : (१९५०, पेरिस (सारबोन) वि० वि०, डी० लिट्०)

इस शोध का मूल लक्ष्य 'मानस' के मूलाधारों का स्रोतात्मक अध्ययन करके उनके रचनाक्रम के वैज्ञानिक स्वरूप को निर्धारित करना है।

३. तुलसी की जीवनी एवं विचारधारा–डॉ० राजाराम रस्तौगी : (१९५७, पटना वि० वि०, पी-एच० डी०)

इस प्रबंध में दो खंड हैं : (१) जीवनी खंड (२) विचार खंड, जिनमें क्रमशः तुलसी के जीवन वृत्त के विवादास्पद प्रसंगों, वर्णाश्रम धर्म, नारी विवेचना, तुलसीयुगीन रीतिरिवाज, मान्यताओं, प्रथाओं, शकुन, अपशकुन विचारों, तुलसी के आध्यात्मिक विचारों पर प्रकाश डाला गया है। डॉ० रस्तौगी ने तुलसी की जीवनी के सोंरो पक्ष को मान्यता दी है।

४. गोस्वामी तुलसीदास–व्यक्तित्व, दर्शन एवं साहित्य—डा० रामदत्त भारद्वाज : (१९६०, आगरा वि० वि०, डी० लिट्०)

प्रस्तुत प्रबंध में डॉ० भारद्वाज ने तुलसी के ऊपर प्रकाश डालने वाले भ्रांत साहित्य एवं उल्लेखों, 'शूकर' क्षेत्र के माहात्म्य, उसके स्थान निर्धारण, गोस्वामी जी के जन्म-स्थान के विवाद, उनके आविर्भाव एवं तिरोभाव से संबंधित तिथियों, तुलसी की आकृति, चित्र, प्रतिमा एवं उनके स्वभाव, सोरों सामग्री के सूक्ष्म पर्यवेक्षण, गोस्वामी जी की पत्नी रत्नावली-रचित दोहावली के आधार पर उनके संपूर्ण जीवनवृत्त, साक्ष्य के आधार पर कवि के समन्वित जीवन, मानस के पाठों के अन्वेषण, तुलसी की साहित्यिकता और उनकी विचारधारा को अपने अध्ययन का विषय बनाया है।

[घ] गोस्वामी तुलसीदास के सांस्कृतिक पक्ष पर प्रस्तुत शोध-प्रबंध

गोस्वामी जी के सांस्कृतिक पक्ष पर निम्न दो शोध-प्रबंध प्रस्तुत किये गये हैं :

१. तुलसीदास और उनका युग–डॉ० राजपति दीक्षित : (१९४९, काशी वि० वि०, डी० लिट्०)

इसमें कुल दस अध्याय हैं जिनमें तुलसी की समकालीन परिस्थितियों, तुलसी के सामाजिक मत, धर्म-भावना, तुलसी की कला, तुलसी के परंपरागत भक्ति-सिद्धांतों, तुलसी की उपासना पद्धति, तुलसी के दार्शनिक दृष्टिकोण, तुलसी और प्राचीन राम-काव्य के विकासात्मक अध्ययन, तुलसी की संदर्भण-कला, शैली, छंदःयोजना आदि को अध्ययन का विषय बनाया गया है।

२. तुलसी और भारतीय संस्कृति–डॉ० रघुराजशरण शर्मा : (१९६२, आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०)

इसमें कुल सात अध्यायों में संपूर्ण शोध-सामग्री सँजोई गई है। डॉ० शर्मा ने प्राक्कथन में स्वीकार किया है कि तुलसी का महत्त्व उनकी साहित्यिक उपलब्धियों के कारण नहीं है वरन् उनकी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के कारण है जिससे वे हिंदू-समाज एवं जीवन के श्वास-प्रश्वास में बसे हुए हैं।

[ङ] तुलसी की भाषा संबंधी शोध-प्रबंध

१. तुलसी की भाषा–डॉ० देवकीनंदन श्रीवास्तव : (१९५३, लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०)

इसमें कुल पाँच अध्यायों में संपूर्ण शोध-सामग्री प्रस्तुत की गई है। जिसमें तुलसी को भाषा-सम्राट के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। अंत में दो परिशेष भी संलग्न हैं। परिशेष प्रथम में भाषा के सर्वेक्षण के आधार पर तुलसी की रचनाओं को तीन वर्गों में बाँटा गया है–(१) पूर्वी अवधी का वर्ग, (२) पश्चिमी अवधी का वर्ग और (३) बैसबाड़ी अवधी का वर्ग। द्वितीय परिशेष में उन संकेतों को निष्कर्ष रूप में प्रस्तुत किया गया है जिनसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से तुलसी के जीवनी तंतु को निर्मित करने में महत्वपूर्ण योग प्राप्त हो सका है।

[च] गोस्वामी तुलसीदास के दार्शनिक पक्ष पर किये गये शोध-प्रबंध

गोस्वामी तुलसीदास के दार्शनिक पक्ष पर प्रस्तुत किए गए दो शोध-प्रबंध है :

१. तुलसी-दर्शन-मीमांसा—डॉ० उदयभानुसिंह : (१९६०, लखनऊ वि० वि०, डी० लिट्०)

इस शोध-प्रबंध में कुल नौ अध्यायों में ब्रह्म राम के विभिन्न पक्षों को लेकर तुलसी द्वारा प्रस्तुत दार्शनिक सिद्धांतों के विवेचन, जड़ जगत, मोक्ष के

साधनों, धर्म के मूल वर्णाश्रम धर्म, राजधर्म, स्त्रीधर्म आदि के विवेचन, भक्ति के सांग निरूपण आदि के साथ निगम उपनिषद्, आगम, पुराण, विभिन्न दार्शनिक वादों से तुलसी के मतों के साम्य एवं वैषम्य का अध्ययन किया गया है। अंत में तुलसी की भक्ति का शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इससे उन्होंने यह सिद्ध किया है कि तुलसी का भक्ति दर्शन सांप्रदायिक नहीं है।

२. रामचरितमानस का तत्त्व-दर्शन—डॉ० श्रीषकुमार : (१९६६, जबलपुर वि० वि०, पी-एच० डी०)

इस शोध में डॉ० कुमार ने मानस के अंत:साक्ष्य के आधार पर तुलसी की सारी मान्यताओं की ओर एक निश्चित सैद्धांतिक पद्धति के रूप में लक्ष्य किया है।

[छ] गोस्वामी तुलसीदास के सामाजिक पक्ष पर शोध-प्रबंध

गोस्वामी तुलसीदास के सामाजिक पक्षों पर प्रकाश डालने वाले निम्न दो निबंध अभी तक सामने आये हैं :

१. तुलसी का सामाजिक दर्शन–डॉ० विष्णुशर्मा मिश्र : (१९६०, लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०)

इसमें कुल आठ अध्याय हैं जिनमें क्रमशः तुलसीदास के युग की परिस्थितियों, तुलसीदास के प्रेरणा-स्त्रोतों और उनकी सामाजिक, राजनीतिक, पारिवारिक, व्यक्ति संबंधी, धर्म संबंधी धारणाओं पर व्यापक प्रकाश डाला गया है। अंत में गोस्वामी जी के आध्यात्मिक विचारों की सामाजिकता का विवेचन है।

२. तुलसी का सामाजिक दर्शन–डॉ० महेशप्रसाद चतुर्वेदी : (१९६१, सागर वि० वि०, पी-एच० डी०)

इसमें कुल बारह अध्यायों में समस्त सामग्री सँजोई गयी है जिनमें तुलसी की परिस्थितियों, जीवन वृत्त, जीवन दर्शन, राजनीति, राजधर्म के व्यावहारिक पक्ष, वर्णाश्रम धर्म, तुलसी की नारी भावना, विप्र, गौ, सुर, असुर, सज्जन, दुर्जन आदि फुटकर विषयों, कवि की पारिवारिक, राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक भूमिकाओं तथा कवि के सामाजिक-दर्शन के ऐतिहासिक मूल्यों का निरूपण किया गया है।

[ज] गोस्वामी तुलसीदास संबंधी मनोवैज्ञानिक शोध-प्रबंध

१. तुलसी के काव्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण–डॉ० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी : (१९६१, आगरा वि० वि०, डी० लिट्०)

प्रस्तुत शोध-प्रबंध में डॉ० वाजपेयी ने संपूर्ण विश्लेषण को सात अध्यायों में प्रस्तुत किया है। अपने इस ग्रंथ की भूमिका में उन्होंने स्वीकार किया है कि इस ग्रंथ का मुख्याभिधेय महाकवि तुलसी के मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व का अध्ययन कर उनके जीवन-चरित्र तथा उनकी प्रेरणाओं आदि का विश्लेषण करना है।

[ञ] अन्य शोध-प्रबंध

इस भाग के अंतर्गत उन सभी शोध-प्रबंधों को लिया जा सकता है जो पूर्व के किसी वर्ग में नहीं आ सके हैं। इसमें भारत की प्रमुख भाषाओं में रामायण रचयिताओं से मानस का तुलनात्मक अध्ययन विशेष रूप से आता है। इस वर्ग में निम्न शोध-प्रबंध विशेष महत्त्व रखते हैं :

१. रामकथा : उत्पत्ति एवं विकास—डॉ० कामिल बुल्के : (१९४९, प्रयाग वि० वि०, डी० फिल०)

इसकी संपूर्ण सामग्री चार खंडों में विभक्त है जिसका विस्तार २१ अध्यायों में किया गया है। प्रथम खंड में प्राचीन रामकथा की उत्पत्ति पाँच अध्यायों में, तृतीय खंड में अर्वाचीन रामकथा तथा उसके साहित्य का सिंहावलोकन चार अध्यायों में तथा चतुर्थ खंड में रामकथा का विकास सात अध्यायों में विवेचित कर अंतिम अध्याय में संपूर्ण अध्ययन का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है। इस विवेचना में संपूर्ण विश्व में बिखरी हुई रामकथा के सूत्रों को प्रयत्न साध्य ढंग से संयोजित करने का प्रयास किया गया है।

२. रामचरितमानस के साहित्यिक स्रोत—डॉ० सीताराम कपूर : (१९५५, आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०)

इस शोध-प्रबंध में तुलसी के साहित्यिक स्रोतों का विधिवत् परीक्षण किया गया है। इस परीक्षण में मूल स्रोतों का तुलनात्मक अध्ययन करके मानस की समीक्षात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। इस संपूर्ण अध्ययन के अंत में स्वीकार किया गया है कि तुलसी ने विभिन्न निगमागम तथा २५० संस्कृत ग्रंथों में बिखरी हुयी रामकथा की सामग्री को ग्रहण करके अपनी कारयित्री प्रतिभा, निपुणता और अभ्यास के बल पर ऐसे महाकाव्य का निर्माण किया जो हिंदी का ही नहीं वरन् विश्व-साहित्य का अनमोल रत्न माना गया है।

३. कृत्तिवासी बंगला रामायण और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन—डॉ० रमानाथ त्रिपाठी : (१९५७, आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०)

इस तुलनात्मक अध्ययन को नौ अध्यायों में सँजोया गया है जिनमें क्रमशः कई ऐतिहासिक ग्रंथों का आधार लेकर प्रागैतिहासिक काल से लेकर मुगलकाल तक के बंगला समाज के घटनाचक्रों का संक्षिप्त विवेचन कर कृत्तिवासी-कालीन परिस्थितियों का स्पष्टीकरण, वैष्णव भक्ति की विचार-धारा में राम-भक्ति का स्थान निरूपण, दोनों रामायणों के क्षेत्रों में उनके विकास-क्रम का अध्ययन, दोनों के समाज का सांस्कृतिक अध्ययन, कृत्तिवासी रामायण की मौलिकता पर विचार, दोनों की कथावस्तु, चरित्रों, भक्ति-भावना, कतिपय चुने हुये प्रसंगों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। डॉ० त्रिपाठी के अनुसार दोनों महाकाव्यों में साहित्य का अजस्र प्रवाह है परंतु प्रादैशिक वैशिष्ट्य दोनों की मौलिकता है।

४. **वाल्मीकि रामायण एवं मानस का तुलनात्मक अध्ययन— डॉ० विद्यामिश्र** : (१६५८, लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०)

इसमें कुल सात अध्याय हैं। अद्यावधि तुलसी पर की गयी आलोचनाओं के क्षेत्र में इसे हम मौलिक प्रयास कह सकते हैं जिसमें दोनों महाकवियों के विशिष्टतम गुणों पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला गया है। दोनों महाकाव्यों की साहित्यिक विवेचना काव्य-कला के आधार पर की गयी है।

५. **कंब रामायण और तुलसी रामायण का तुलनात्मक अध्ययन— डॉ० सुशंकर राजू** : (१६५६, मद्रास वि०वि०, पी-एच० डी०, तमिल विभाग)

इसमें कुल सात अध्याय हैं। इस शोध-प्रबंध में तमिल कवि कंबन एवं तुलसी के महाकाव्यत्व का तुलनात्मक गवेषण प्रस्तुत किया गया है।

६. **वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस का साहित्यिक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन—डॉ० रामप्रकाश अग्रवाल** : (१६६०, आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०)

इस ग्रंथ में सात अध्याय हैं। डॉ० अग्रवाल का मत है कि दो सहस्र वर्षों के व्यवधान ने उसी रामकथा को ऐसा रूप प्रदान किया है मानो ऋषि स्वयं कायाकल्प करके कवि के रूप में उद्भूत हो गया है। वाल्मीकि एवं तुलसी के विचारों, आदर्शों तथा उनके जीवन-दर्शन में उतना अंतर नहीं है जितना उनकी काव्य शैली तथा युग की भिन्नता के कारण प्रतीत होता है। भारतीय जीवन के जिस आदर्श को लेकर वाल्मीकि रामायण का निर्माण हुआ है उसकी मंजिल निश्चय ही मानस में अपनी पूर्णता को प्राप्त होती है।

७. महाकवि भानुभक्त के नेपाली रामायण और गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन—डॉ० कमला माया : (१६५६, आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०)

डॉ० साहिबा ने यह स्वीकार किया है कि यद्यपि इन दो महाकवियों में लगभग २०० वर्षों का अंतर है फिर भी दोनों कवियों के काव्यों में पर्याप्त समानता पायी जाती है। दोनों महाकवियों की लोकप्रियता अपने-अपने क्षेत्र में एक सी है। दोनों का आदर अपने जन-समाज में एक सा है। अंत में डॉ० साहिबा ने यह स्वीकार किया है कि कतिपय बातों में दोनों कवियों में मत-भेद होने पर भी जहाँ तक जनसमाज पर शासन करने का प्रश्न है इसमें तुलसी और भानुभक्त समान हैं।

८. मानस की अंतःकथाओं का आंतरिक अध्ययन—डॉ० वागीशदत्त पांडेय : (१६६१, आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०)

प्रस्तुत प्रबंध में मानस में व्याप्त अंतःकथाओं का विधिवत् विवेचन किया गया है।

६. मलयालम कवि एषुत्छन्न की रामायण से तुलनात्मक अध्ययन—डॉ० एम० जार्ज (१६६१, आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०)

इसमें कुल नौ अध्याय हैं। केरल के मलयालम रामभक्त कवि एषुत्छन्न तथा तुलसी के काव्य की तुलनात्मक विवेचना इसमें की गई है। उनके विचार से एषुत्छन्न मलयालम के तुलसी माने जाते हैं। निश्चय ही दोनों कवि मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि, साहित्य-निर्माता तथा तत्कालीन सभ्यता के प्रमुख प्रवर्तक थे।

१०. रामायणोत्तर संस्कृत काव्यों तथा मानस का तुलनात्मक अध्ययन—डॉ० शिवकुमार शुक्ल : (१६६१, आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०)

प्रस्तुत प्रबंध में रामकाव्य की परंपरा, मानस की आधिकारिक प्रासंगिक कथाओं का विवेचन, मानस की कलात्मक दृष्टि से रामायणोत्तर काव्यों से तुलना, मानस की अर्थ-योजना को अध्ययन का विषय बनाकर तुलसी के विशाल पांडित्य, उनके अद्वितीय काव्य-कौशल तथा उनकी अन्यतम संदर्भण-कला का परिचय दिया गया है। अंत में डॉ० शुक्ल ने स्वीकार किया है कि मानस एवं अन्य संस्कृत-ग्रंथों में वही अंतर है जो एक कच्ची सामग्री एवं उससे निष्पन्न पूर्ण विकसित वस्तु में हुआ करता है।

११. जैनकवि स्वयंभूदेव कृत पउमचरिउ एवं तुलसी कृति मानस का तुलनात्मक अध्ययन—डॉ० ओमप्रकाश दीक्षित : (१९६१, आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०)

इसमें कुल एकादश अध्यायों में संपूर्ण सामग्री सँजोई गयी है जिनमें दोनों महाकवियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर यह सिद्ध किया गया है कि दोनों महाकवियों की अभिव्यक्तियों में पर्याप्त साम्य मिलता है। कुछ वैषम्य भी हैं। परंतु यह वैषम्य केवल काल एवं स्थान के अंतर के कारण ही हैं।

१२. रामचरितमानस एवं रामचंद्रिका का तुलनात्मक अध्ययन—डॉ० जगदीशनारायण अग्रवाल : (१९६३, आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०)

डॉ० साहब ने यह स्वीकार किया है कि तुलसी व केशव की कृतियों में रचना-काल का कुछ ही वर्षों का अंतर है, फिर भी भिन्न वातावरण में पलने, बढ़ने, बैठने के कारण कुछ समीक्षकों ने दोनों कवियों की रचनाओं की तुलना को अनुपयुक्त ठहराया है जो उचित नहीं है। डॉ० साहब ने केशव पर हृदय-हीनता के अपराध को निरपराध सिद्ध किया है। इस अध्ययन में पुष्ट प्रमाण देकर उन्होंने सिद्ध किया है कि केशव श्रृंगारी कवि मात्र ही नहीं थे वरन् वे सच्चे आध्यात्मिक दृष्टि संपन्न कवि थे।

१३. अध्यात्म रामायण का मानस पर प्रभाव—डॉ० रविदत्त निर्मल : (१९६३, आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०)

इसमें आलोच्य सामग्री आठ अध्यायों में रखी गयी है। डॉ० साहब के विचार से मानस अध्यात्म से बहुत अधिक प्रभावित है। यहाँ तक कि मानस का रूपविधान तक उसके आदर्श अध्यात्म से काफी मेल खाते हैं। डॉ० निर्मल का मत है कि तुलसी ने अध्यात्म के दार्शनिक एवं भक्ति संबंधी जटिल तत्त्वों को सरल, सुबोध एवं स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है।

१४. गोस्वामी तुलसीदास संबंधी शोधों एवं समीक्षाओं का अनुशीलन—डॉ० वीरेंद्रपाल श्रीवास्तव : (१९६७, सागर वि० वि०, पी-एच० डी०)

इसमें संपूर्ण सामग्री को तीन खंडों में विभक्त कर कुल तेरह अध्यायों में प्रस्तुत किया गया है। प्रथम खंड के प्रथम चार अध्याय तुलसी समीक्षा के ऐतिहासिक विकास से संबंधित हैं। द्वितीय खंड शोध से संबंध रखता है। इसके आठ अध्यायों के अंतर्गत विभिन्न विषयों पर की गयी शोध का मूल्यांकन किया

गया है। तृतीय खंड में संपूर्ण अध्ययन एवं गवेषण पर महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये हैं।

तुलसी शोध : नव्य दिशाएँ :

इसमें संदेह नहीं कि हिंदी साहित्य के सार्वभौम महाकवि और मध्य देश के प्रमुख सांस्कृतिक नेता तथा धर्म-साधक तुलसी के जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व के संबंध में हमारी शोध सामग्री बहुत कुछ निश्चय की स्थिति में पहुँच गयी है। परंतु पाश्चात्य देशों में शेक्सपीयर, मिल्टन, दांते एवं गेटे जैसे महाकवियों को लेकर विभिन्न भाषाओं में जिस प्रचुर मात्रा में समीक्षा और शोध की अनेक दिशायें विकसित की गई हैं उसका अभी तक हमारे यहाँ अभाव ही प्रतीत होता है। तुलसी साहित्य के अध्ययन को हिंदी के क्षेत्र से बाहर लाकर उसे राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय आयाम प्रदान करने का समय आ गया है।

अब निम्न तालिका[१] प्रस्तुत करके यह स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है कि विश्व के विभिन्न विश्वविद्यालयों में कहाँ कहाँ कितना कार्य तुलसी संबंधी के शोध के रूप में किया गया है :

१.	लंदन विश्वविद्यालय	...	१
२.	पेरिस विश्वविद्यालय	...	१
३.	नागपुर विश्वविद्यालय	....	१
४.	जबलपुर विश्वविद्यालय	...	१
५.	काशी विश्वविद्यालय	...	२
६.	प्रयाग विश्वविद्यालय	....	२
७.	आगरा विश्वविद्यालय	...	१६
८.	लखनऊ विश्वविद्यालय	...	४
९.	मद्रास विश्वविद्यालय	...	१
१०.	दिल्ली विश्वविद्यालय	...	२
११.	सागर विश्वविद्यालय	...	४
१२.	पटना विश्वविद्यालय	....	२
			३७

१. यह सूची भी पूर्ण नहीं है क्योंकि इस बीच भी कई विषयों पर शोध-कार्य हुआ है। —संपादक

डॉ० राजनारायण राय

तुलसी और सूर

तुलसी और सूर—हिंदी के इन दोनों स्वयंप्रभ महाकवियों का तुलनात्मक अध्ययन सर्वथा नवीन विषय नहीं है। हिंदी में आचार्य पद्मसिंह शर्मा के प्रयत्न से जिस तुलनात्मक आलोचना-पद्धति का उद्भव हुआ उसका पालन-पोषण मिश्रबंधु, आचार्य रामचंद्रशुक्ल, रायबहादुर श्यामसुंदरदास, बाबू गुलाबराय आदि ने किया। विभिन्न संदर्भों में इन दोनों का मूल्यांकन करने वाली जो तुलनात्मक सूक्तियाँ[1] लोककंठ से निःसृत हुईं, उनसे उत्पन्न धूमिलता को अपनी-अपनी दृष्टि से दूर करने का यथासाध्य प्रयत्न हुआ। पर इससे वह दूर नहीं हुई; हाँ साहित्य-रसिकों का मनोरंजन अवश्य हुआ।

कई आचार्यों ने तुलनात्मक आलोचना को अनुचित, असंगत और निरर्थक बताया है। इसके औचित्य पर आचार्य नलिन विलोचन शर्मा का विचार है, 'वस्तुतः सूर और तुलसी की तुलना का प्रयास निरर्थक है। सामान्य रूप से

---

१. (क) सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास।
(ख) तत्त्व तत्त्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठि।
बची खुची कबिरा कही, और कही सो झूठि।
(ग) उत्तम पद कवि गंग के, उपमा को बलबीर।
केशव अर्थ गँभीरता, सूर तीन गुण धीर।
(घ) किधौं सूर को सर लग्यौ, किधौं सूर को पीर।
किधौं सूर को पद लग्यौ, तन मन धुनत सरीर।
(ङ) कविता करता तीन हैं, तुलसी केसव सूर।
कविता खेती इन लुनी, सीला बिनत मजूर।

आलोचना की तुलनात्मक परिपाटी ही अवांछनीय है।'[१] इसी मत का समर्थन डॉ० रामखेलावन पांडेय के इन शब्दों से होता है, 'इनका प्रभावक्षेत्र भिन्न-भिन्न है, श्रोतृवर्ग भिन्न है, उद्देश्य और प्रयोजन भिन्न हैं, दीक्षा-संस्कार भिन्न है, अतः इनकी काव्यात्मक रचनाओं की तुलनात्मक आलोचना समीचीन नहीं।'[२] इसके विपरीत दूसरी प्रचलित धारणा यह है कि तुलना के अभाव में किसी काव्य-कृति का सही मूल्यांकन असंभव है। टी० एस० इलियट ने इस संदर्भ में परंपरा के सातत्य पर विशेष बल देते हुए काव्य का महत्त्वांकन पूर्वापर कृतियों से संबंध एवं अंतर दिखाते हुए करने को कहा है।[3] इसी तरह, कई समीक्षकों ने तुलनात्मक पद्धति की अनिवार्यता प्रमाणित की है। डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ने तो इसे आलोचना का प्राण-तत्त्व बताया है, 'तुलना तो आलोचना का प्राण ही है। सच पूछिए तो तुलना के बिना आलोचना संभव भी नहीं है।'[४] सारांश यह कि काव्यसृजन की उत्कृष्टता के मात्रानिर्धारण में यह विधि अत्यंत उपयोगी सिद्ध होती है, परंतु यह कार्य है अति दुष्कर—'असिधाराव्रत'सा। इसके लिए आपेक्षित सहानुभूति, शास्त्रीयज्ञान, विश्लेषण-क्षम दृष्टि के अतिरिक्त तटस्थता एवं निष्पक्षता की भी आवश्यकता होती है। अस्तु।

दोनों कवियों की काव्यात्मक रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने के पूर्व इनके जीवन-वृत्तों का विहंगावलोकन आपेक्षित है। इस दृष्टि से दोनों में पर्याप्त अंतर है और साम्य भी। दोनों कालिंदी अभिसिंचित भूखंड के चिर नूतन प्रदेय हैं; दोनों ब्राह्मणवंशीय हैं; दोनों पारिवारिक उलझनों से मुक्त रहे हैं; माता-पिता का स्नेह-दुलार दोनों को प्राप्त नहीं हुआ। अंतर यह कि सूर के चर्मचक्षु बंद थे, तुलसी के नहीं; सूर को संगीत-साधना का जैसा अवसर

---

१. संपादक डॉ० हरवंशलाल शर्मा : सूरदास : पृ० २४७

२. डॉ० रामखेलावन पांडेय : हिंदी साहित्य का नया इतिहास पृ० १२०

3. (a) No poet, no artist of any part has his complete meaning alone; you can not value him alone; you must set him, for contrast and comparison, among the dead. T. S. Eliot : Selected prose : Page. 23

(b) Evaluative criticism tends to use the comparative method as a device for establishing degrees of excellence.—David Daiches : Critical approaches to Literature : Page. 251

४. दृष्टिकोण : अंक २ : दिसंबर' ४८ का 'आलोचना और आलोचक'

मिला वैसा तुलसी के लिए दुर्लभ रहा। एक ने आचार्य वल्लभ का आशीर्वाद पाया; दूसरे ने नरहरि दास का; परिणामतः 'नटनागर' 'कामकला कोविद' रसेश श्रीकृष्ण की अनंत लीलाओं ने सूर को विमोहित किया; और मर्यादा पुरुषोत्तम, लोकरक्षक राम ने तुलसी को।

उपास्य भेद का कारण अध्यात्मगुरु भेद तो है ही; इसके अतिरिक्त दोनों में मूल प्रवृत्तिगत भिन्नता भी है। अविवाहित रसाकांक्षी सूर ने श्रीकृष्ण को अधिक अनुकूल पाया और विवाहित किंतु उपेक्षित तुलसी की वृत्ति रमी रामभक्ति में।

तुलसी का जो काव्य-सिद्धांत है वही सूर का नहीं। प्रबंधकार को अपने सिद्धांत की अभिव्यक्ति के लिए जो अवसर मिलते हैं, वे गीतिकार के लिए अतिदुर्लभ हैं। तुलसी इस दृष्टि से अतिमुखर हैं; किंतु सूर मौन हैं। रामचरितमानस का निम्नलिखित मंगलश्लोक काव्य-परिभाषा निर्दिष्ट करता है :

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छंदसामपि।
मंगलानां च कर्तारौ वंदे वाणीविनायकौ।[1]

तुलसी के अनुसार, रसात्मक, छंदोबद्ध, मंगलकारिणी शब्दार्थमयी रचना ही काव्य है और अत्युत्तम काव्य सुरसरिता के समान लोक-कल्याणकारी ही होता है :

कीरति, भनिति, भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।[2]

'कबित बिवेक' से अधिक महत्त्वपूर्ण है सत्यकथन। इस तरह तुलसी का समस्त साहित्य 'शिव' और 'सत्य' दोनों से अनुशासित है। श्रीकृष्ण-लीला-गायक सूर ने शिव-तत्त्व को प्रधानता नहीं दी। इसलिए 'सागर' की उत्ताल-तरंगों में यह लोक-मंगल-भाव डूब जाता है। तुलसी का काव्यप्रयोजन बहुजन-हिताय है तो सूर का रसानुभूतिपरक। फलतः 'सूरसागर' है—एक विशाल रस-सागर। डॉ० रामखेलावन पांडेय की यह धारणा सुमान्य है कि 'तुलसी का वक्तव्य रामकथा नहीं' बल्कि सामाजिक संस्कार है अतः समस्त रामकथा का संयोजन इस उद्देश्य और प्रयोजन का चित्रफलक है। तुलसी का उद्देश्य साहित्यिक रचना नहीं है, साहित्यिक उपलब्धि उपलक्षण मात्र है।'[3]

---

१. मानस १।१ छंद
२. मानस १।१४।५
३. डॉ० रामखेलावन पांडेय : हिंदी साहित्य का नया इतिहास : पृ० ११०

यह कहा जा चुका है कि सूर और तुलसी दोनों के मार्ग-दर्शक गुरु एक नहीं, दो थे जिनसे अनुप्रेरित, अनुप्राणित हो प्रथम ने शुद्धाद्वैतवादी दर्शन की अंतःसलिता अपने काव्य में प्रवाहित की, द्वितीय विशिष्टाद्वैतवाद का काव्यात्मक संस्कार किया। दोनों कवियों की भिन्न दार्शनिक धारणाओं ने न केवल उनकी भक्ति-भावना एवं पद्धति को प्रभावित किया अपितु उनके काव्य-चिंतन को भी मर्यादित, सुनिश्चित किया। यह उल्लेख्य है कि तुलसी की समन्वयवादी दृष्टि ने वल्लभाचार्य के अविकृत परिणामवाद को भी निस्संकोच भाव से स्वीकार किया है :

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जसु हिम उपल बिलग नहि जैसे।

दोनों सगुणोपासक भक्त हैं; दोनों वैष्णववाद के प्रति आस्थावान् हैं, दोनों अवतारवाद की सिद्धि ही लक्ष्य मानते हैं, दोनों ने भक्ति की महिमा पूरी तन्मयता के साथ गाई है। भक्तप्रवर सूरदास की परिकल्पना है 'कृष्णरस,' तुलसी में 'रामरस'। कृष्ण प्रेमस्वरूप हैं इसलिए इसे प्रेमरस भी कहा जा सकता है और यह रस ब्रह्मानंद से भी उत्कृष्ट है। सूर की दृष्टि में रसतत्त्व सगुण, लीलामय, परम प्रेमस्वरूप श्रीकृष्ण है। इसका दर्शन, सेवन, श्रवण, गान किसी भी भाव से किया जाए अपने में रसात्मक है। इस रस का सर्वोत्कृष्ट रूप है मधुररस जिसे महारस कहा जा सकता है।'[1] तुलसी के अनुसार एक ही रस है—वह है भक्तिरस, अन्य गौण हैं।

भक्ति-भावना की दृष्टि से, सूर की भक्ति सख्यभाव की थी जबकि तुलसी की दास्यभाव की। फलतः सूर को 'महारस' की स्थापना का श्रेय मिला और तुलसी को लोक-धर्म-रक्षक की ख्याति। वल्लभाचार्य-प्रतिपादित 'भगवदनुग्रह' ही सूर-भक्ति का मूलाधार है और शुद्ध पुष्टि ही अभीष्ट है। तुलसी ने सख्य, शांत, मधुरादि भक्तियों का महत्त्व स्वीकार तो किया किंतु उनका मन इनमें नहीं रमा। दास्य-भक्ति को ही अनिवार्य साधन बताया—'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि'। नवधा भक्ति की महिमा का निरूपण अनेक स्थलों पर तुलसी ने किया है, पर सर्वश्रेष्ठ माना है दास्य-भाव को। परिणामतः तुलसी-काव्य में स्तुति का प्राधान्य है, सूर में व्याज-स्तुति का; तुलसी मर्यादाबद्ध हैं और सूर स्वच्छंद, स्वतंत्र।

१. डॉ० प्रेमस्वरूप : हिंदी वैष्णव साहित्य में रस परिकल्पना : पृ० २२४

दोनों को वह ईश्वरीय वरदान प्राप्त था जिसे राजशेखर ने प्रतिभा की संज्ञा दी है। दोनों की प्रतिभा कारयित्री थी, नवनवोन्मेषशालिनी भास्वर और अत्युर्वर। परंतु, सूर की इस सहजा और प्रखर शक्ति ने अपना चमत्कार दिखाया केवल मुक्तक क्षेत्र में जबकि तुलसी ने प्रबंध और गीतिकाव्य दोनों में। हिंदी का गीतिकाव्य 'सूरसागर' के बाद आगे नहीं बढ़ा; और महाकाव्य 'मानस' निर्धारित सीमा को पार नहीं कर सका। कवि की अनुपम कल्याणाभिनिवेशी दृष्टि, मानव चरित्र के विराट् अध्ययन, नानापुराणनिगमागम प्रदत्त अथाह ज्ञान-निधि, अद्‌भुत कल्पना-शक्ति, अटूट भक्ति-भावना, सबल समन्वयवादी प्रवृत्ति एवं गरिमान्वित अत्युदात्त शैली से जो महाकाव्य तैयार हुआ वह विश्व-काव्य-ग्रंथों का मुकुटमणि बना जिसने गोस्वामी जी को न केवल महाकवि सिद्ध किया अपितु एक महान् लोकनायक, क्रांतिद्रष्टा एवं समाज-सुधारक भी। 'सूर-सागर' में, गीतिकाव्य होने के कारण उन महाकाव्योचित विशिष्टताओं की न्यूनता लक्षित होती है जिनका सम्यक् संयोजन, समन्वय कर कोई सफल संस्कृति-निर्माता बनता है। इसलिए प्रबंधकार का प्रश्न उठने पर तुलसी प्रथम-गण्य हैं।

सूरदास की सृजनात्मिका शक्ति गीति-काव्यात्मक थी, इसलिए उन्होंने ऐसे काव्यरूप को चुना जिसमें अपनी पूर्णता का प्रदर्शन कर सकें। यदि संगीतात्मकता, आत्माभिव्यक्ति, संवेगात्मक एकता, संक्षिप्तता आदि गीत के प्रमुख तत्त्व हैं तो सूरसागर के समस्त गीतों में इनका समुचित संश्लेषण देखा जा सकता है। तुलसी ने सूर से प्रभाव ग्रहणकर गीतावली, कृष्ण-गीतावली और विनयपत्रिका का प्रणयन किया जिनमें इनकी गीति-काव्योपयुक्त शक्ति मिलती है। पद-संरचना, काव्यत्व-विधान, अभिव्यंजना-कौशल आदि की दृष्टिसे दोनों की गीति-कृतियों का मूल्यांकन यह निष्कर्ष देता है कि 'गीतिकाव्य की रचना में सूर की उपलब्धि उनसे कहीं अधिक है। ब्रजभाषा के स्वरूप-निर्माण, पद-रचना, गीति-काव्यत्व और अभिव्यंजना की चमत्कारमूलक प्रणालियों के निर्माण और विकास में सूर ने जितना योगदान दिया है उतना तुलसी ने नहीं दिया। तुलसी की कला सूर्य का आतप है और सूर की कला चंद्रमा की स्निग्ध चाँदनी।'[1]

अलंकार की शोभावर्द्धकता एवं रसोत्कर्षकता, अतः उपादेयता दोनों के काव्यों से सिद्ध होती है। दोनों को अलंकार-रहित काव्य प्रिय नहीं, अलंकार-

१. डॉ० मनमोहन गौतम : सूर की काव्यकला : पृ० ३६०

योजना में दोनों की सूक्ष्म दृष्टि, अनूठी वृत्ति, पहचान, गंभीर अध्ययन, असीम कल्पना-शक्ति तथा प्रवीणता परिलक्षित होती है। 'सूरसागर' और 'रामचरित मानस' दोनों अलंकार-महासागर हैं; अतः अत्युत्तम अलंकार-ग्रंथ के लिए विपुल एवं सटीक उदाहरण प्रस्तुत करने में समर्थ भी। सूर और तुलसी दोनों रस-सिद्ध कवियों ने अपनी-अपनी सौंदर्यानुभूतियों को हृदयग्राही, प्रभावोत्पादक बनाने के लिए सायास और अनायास दोनों रूपों में अलंकारों का प्रयोग किया है; पर जहाँ उपमान-चयन में कवि-आयास लक्षित होता है वहाँ चमत्कार सृजन अधिक हुआ है और काव्य शिथिल। सूर के अप्रस्तुतविधान के मुख्यतः तीन वर्ग हैं साम्यमूलक, अतिशयमूलक और विरोधमूलक। तुलसी साहित्य के प्रति भी यही सत्य है। दोनों कवियों ने अपने-अपने काव्य-पात्रों के विविध गुणों, सौंदर्य-स्वरूपों, भावों, लीला-व्यापारों के चित्रण के लिए सर्वाधिक योजना की है साम्यमूलक अलंकारों की। तुलसी के काव्य में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपकादि अलंकारों की जैसी शोभा दीखती है वैसी ही सूर-काव्य में भी। इस दृष्टि से दोनों में स्पष्ट अंतर नहीं देखा जा सकता; किंतु उपमान-चयनगत प्रवृत्तियों में अंतर है—वह यह कि सूरदास प्राकृतिक, अपरंपरित एवं नूतन अप्रस्तुतों की खोज में अधिक प्रयत्नशील हैं और तुलसी परंपरित, लौकिक, शास्त्रीय एवं पौराणिक उपमानों के प्रयोग में सचेष्ट। संभवतः इसका कारण है सूर के वर्ण्य विषय का परिसीमित, संकुचित होना तथा तुलसी का गंभीर-व्यापक अध्ययन। एक बात और। 'सूरसागर' में कलाकार को अतिशयोक्ति, अत्युक्ति, विशेष, उदात्त आदि अतिशयमूलक तथा विरोधाभास, असंगति, व्याजनिंदा, विभावना आदि वैषम्यमूलक अलंकार-विधान के लिए जितना अवकाश मिला उतना 'रामचरितमानस' में महाकवि को नहीं।

अत्याधुनिक साहित्य-समीक्षकों की प्रवृत्ति बिंबविधान की दृष्टि से किसी काव्य-कृति का मूल्यांकन करने की है। किंतु, अद्यावधि भक्तिकाव्य का मूल्यांकन ऐसी कसौटी पर नहीं हुआ है। सूर-काव्य की ओर संभवतः किसी की दृष्टि नहीं गई है। फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि दोनों कवियों को चाक्षुष, श्रव्य, स्पृश्य, घ्रातव्यादि विभिन्न प्रकार के बिंब सृजन में उल्लेख्य सफलता मिली है।

भाषा-दृष्टि से सूर को केवल ब्रजभाषा पर अधिकार प्राप्त था, गोस्वामी जी को ब्रजभाषा और अवधी दोनों पर समान रूप से। किंतु यहाँ यह उल्लेख्य है कि भाषानिर्माण में सूर का योगदान अधिक है और तुलसी का अपेक्षाकृत

कम, क्योंकि सूर ने अपने वर्ण्यविषयानुरूप, अनगढ़-अक्षम ब्रजभाषा को परिनिष्ठत, समर्थ, परिमार्जित एवं साहित्यिक बनाकर उसे उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया; और तुलसी को जायसी की परिष्कृत अवधी और बनी बनाई ब्रजभाषा मिलने से यह अवसर ही नहीं प्राप्त हुआ। इसका अर्थ यह नहीं कि गोस्वामी का कार्य नगण्य है। इनके प्रयत्न से ही दोनों उपभाषाएँ संस्कृत-गर्भित हुई। इसमें संदेह नहीं कि दोनों सृजेताओं का शब्द-भंडार विशाल एवं संपन्न था; दोनों की दृष्टि, शब्द-चयन में अति उदार रही; अरबी, फारसी, तुर्की आदि विदेशी शब्दों का प्रयोग दोनों ने यथा संभव तत्सम, अर्द्ध तत्सम और तद्भव रूपों में किया; मुहावरों, कहावतों और सूक्तियों के माध्यम से भाषा को सजीव, व्यंजनापूर्ण एवं प्रभावोत्पादक बनाना दोनों को प्रिय रहा। 'सूरसागर' और 'रामचरितमानस' ने यह सिद्ध कर दिया कि महाकाव्य या अत्युत्तम काव्य-सृजन के लिए लोक-भाषा या उपभाषाएँ उतनी ही समर्थ है जितनी संस्कृतादि भाषाएँ।

दोनों की रचनाओं में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तीनों शक्तियों का यथावसर सफल प्रयोग दृष्टिगत होता है। सूरदासजी ने शिशु कृष्ण के लीला-वर्णनों, सिद्धांत-कथन आदि के पदों में अभिधा शक्ति का प्रयोग किया है, लक्षणा और व्यंजना शक्ति से काव्य कितना चमत्कारपूर्ण होता है, इसका अनुपम उदाहरण है 'सूरसागर' का भ्रमरगीत अंश। तुलसी-काव्य में शब्द-शक्तियाँ अपने समस्त भेदोपभेदों के साथ विराजती हैं। गुण वृत्ति की दृष्टि से दोनों कवियों की कृतियाँ उत्कृष्ट हैं। परंतु ओजगुण एवं परुषावृत्ति की वैसी प्रतिष्ठा नहीं मिली जैसी तुलसी काव्य में। माधुर्यगुण को जो प्रधानता सूर में मिली, वह तुलसी में नहीं।

रस को काव्यात्मक माना गया है। तुलसी और सूर दोनों के कृतित्व से यह पुष्ट होता है। तुलसी की भक्तिपरक रसवादी दृष्टि में, काव्यशास्त्रानुमोदित सभी रसों का महत्त्व है; सबकी पूर्ण एवं कलात्मक अभिव्यक्ति मिलती है। किंतु, इन्होंने सर्वश्रेष्ठ रस माना भक्ति को। यद्यपि इन्होंने कहीं पर प्रख्यात नवरस तथा भक्ति अर्थात् दस रसों के अतिरिक्त अन्य का स्पष्टतया उल्लेख नहीं किया तथापि इनके काव्य में वात्सल्य रस की अभिव्यंजना हुई है। शांत रस के लिए 'विनयपत्रिका' और वात्सल्य के लिए 'श्रीकृष्ण गीतावली' अवलोकनीय हैं। 'रामचरितमानस' में अनेक रसों का पूर्ण परिपाक हुआ है। सूरदास के काव्य में भी अनेक रसों की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है किंतु प्रधानता है शृंगार और वात्सल्य

की। शृंगार ही 'सूरसागर' में 'कृष्णरस' या 'महारस' बना है। कवि ने शृंगार को रसराजपद पर प्रतिष्ठित किया और वात्सल्य को रस श्रेणी में पांक्तेय बनाया। इन दोनों रसों पर सूर का इतना अधिकार है कि उन्हें इनका सम्राट मानना चाहिए।

दोनों स्वयंसिद्ध महाकवियों ने काव्य के लिए छंदोविधान अनिवार्य माना है। अत: दोनों के काव्य छंदोबद्ध हैं। दोनों सफल छंद-प्रयोक्ता हैं; रसानुकूल छंद-प्रयुक्तियों में दोनों की उत्कृष्ट सामर्थ्य का बोध होता है। पर दोनों में एक महत्त्वपूर्ण अंतर भी है। वह यह कि सूर ने नये छंदों के नये अन्वेषण के प्रति जैसी अभिरुचि का परिचय दिया, वैसी तुलसी ने नहीं। शास्त्रानुमोदित छंदों के अतिरिक्त, उपमित, मानवती, हरिप्रिया, नागर, उत्कंठा, प्रणय, विनय, विजया आदि जिन स्वान्वेषित छंदों का प्रयोग किया, उनके उदाहरण तुलसी के पदों में मिलते हैं। फलत: तुलसी को अनुगामी होने का श्रेय मिला, सूर को अन्वेषक होने का। तुलसी के पद-साहित्य में ऐसे दो छंद और मिलते हैं जिनका प्रयोग सूरदास ने नहीं किया है। एक छंद तो १४ वर्णों का है जिसका सर्वप्रथम प्रयोग गोरखनाथ में मिलता है। दूसरा छंद २६ अक्षरों का है, जिसमें गीतावली का एक पद निबद्ध है। इस नूतन छंद के निर्माण का श्रेय तुलसीदास को ही दिया जाएगा।'[1] रामचरितमानस में प्रबंध गरिमाके अनुकूल, अनुष्टुप, स्रग्धारा, हरिगीतिका, चौपैया, तोमर, तोटक आदि २१ प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है। तुलसी-पद-साहित्य में सार छंद में निबद्ध पदों की संख्या १७७ है; समानसवैये में निबद्ध ८० पद हैं; सरसी के २२ हैं। रूपमाला छंद के ४५ पद मिलते हैं। वर्णवृत्त-प्रयोग की दृष्टि से सूर में वह निष्ठा नहीं जो तुलसी में है। इसलिए 'जहाँ सूरदास ने ५००० पदों में केवल ७३ पदों में वर्णवृत्त का प्रयोग किया वहाँ तुलसीदास के ६७० पदों में ही (वि० प० २७९, गीता० ३३०, कृ० गी० ६१) १०० की रचना वर्णवृत्त में हुई है।'[2] आशय यह कि सूर और तुलसी निर्विवादत: छंद:शास्त्र के महान ज्ञाता हैं, किंतु तुलसीदास शास्त्रोल्लिखित एवं परंपरित छंद: प्रयोक्ता के रूप में स्मरणीय हैं, जबकि सूर छंद: निर्माता के रूप में भी।

---

१. डॉ० गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेंद्र' : सूर साहित्य का छंद:शास्त्रीय अध्ययन, ५८६

२. डॉ० गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेंद्र' : सूर साहित्य का छंद:शास्त्रीय अध्ययन, ५८६

दोनों के काव्यों में प्राप्त रसानुकूल राग-विधान, सांगीतिक लय-ताल योजना एवं उपयुक्त वर्णविधान से यह सिद्ध होता है कि दोनों महाकवि के अतिरिक्त कुशल संगीतज्ञ भी थे। तुलसीकृत 'विनयपत्रिका' में बीस रागों का, 'कृष्णगीतावली' में दस का तथा 'गीतावली' में उन्नीस का सन्निवेश हुआ है। 'सूरसागर' में उपलब्ध राग-रागिनियों की संख्या सत्तासी मानी जाती है।[१] राग बिलावल के छह सौ इक्कीस पद हैं जो सरसी, उपमान, चौपाई, तांटक आदि में निबद्ध हैं। सूर को यह प्रातः कालीन राग अत्यंत प्रिय रहा है। इसके बाद स्थान है राग सारंग और धनाश्री का जिनके क्रमशः छह सौ नौ और तीन सौ अड़सठ पद हैं। तुलसी के संपूर्ण गीतिकाव्य में केवल इक्कीस राग प्रयुक्त हैं। इस प्रकार दोनों के गीतिकाव्यों में संगीतशास्त्रानुमोदित राग-रागिनियों का अंकन हुआ है। सूरदास ने जितनी सतर्कता राग-प्रयोग में दिखाई है उतनी ही तुलसी ने भी। दोनों में रागसिद्धांत पूर्णतः परिपालित हुआ है। किंतु, यह ध्यातव्य है कि गायकाचार्य सूर की अपेक्षा तुलसी को रस-छंद-राग के सम्यक् संबंध निर्वाह में अधिक श्रम करना पड़ा।

डॉ० रामखेलावन पांडेय के शब्दों में, 'तुलसी का महत्त्व सामाजिक संस्कार, लोक-मर्यादा, मानव-मंगल एवं समाज-कल्याण की दृष्टि से है, राम को रामत्व से मंडित करने में है; किंतु उनका धार्मिक आग्रह प्रखर है, उनकी सांप्रदायिक चेतना प्रबुद्ध है। सूर की प्रतिभा का प्रमाण है काव्यात्मक संयोजन, कलात्मक संरचना, व्यंजना की प्रौढ़ता एवं अभिव्यक्ति की ललित तरंगमयता। तुलसी जनकंठ के अमर कवि हैं, सूरदास कवियों के कवि, कलाकारों के कलाकार हैं, भावों की सांगीतिक स्वर सिद्धि हैं। तुलसी को भाषा पर असीम अधिकार है, अलंकार सूर के अनुवर्ती है। तुलसी में उदात्तता है, भव्यता है; सूर में विदग्धता है, मार्मिकता है। संयोजन, संगठन और निर्माण के शिल्पी हैं तुलसी और संवेदना, संगीतिक भावोन्मेष एवं भावाकुलता के विदग्ध माधव हैं सूर। तुलसी शिल्पी हैं, सूर हैं कलाकार।'[२]

संक्षेप में, सूर और तुलसी——दोनों भारतीय मनीषा की अन्यतम देन हैं, विश्वकवि चूड़ामणि हैं, तपःपूत हैं, अनन्य भक्त हैं। अतः दोनों समान माने जायेंगे। किंतु श्रेष्ठ लोकनायक, संस्कृति-उद्धारक एवं आदर्श संस्थापक के रूप में गोस्वामी तुलसीदास ही सर्वप्रथम परिगण्य हैं, सूर नहीं।

---

१. डॉ० उषा गुप्ता : कृष्ण भक्तिकालीन साहित्य में संगीत : पृ० १८८

२. डॉ० रामखेलावन पांडेय : हिंदी साहित्य का नया इतिहास पृ० १००

डॉ० निजाम उद्दीन

तुलसी और केशव

तुलसी और केशव को जब एक ही तुला पर तोलने की हिंदी मनीषियों ने संचेष्टा की तो अधिकांश ने पक्षाग्रह के कारण तुलसी का पलड़ा नीचे झुकादिया और केशव के साथ पूर्ण न्याय नहीं किया।

तुलसी और केशव दोनों के जीवन-काल में कोई अधिक अंतर नहीं है। दोनों ही रामकाव्य के प्रणेता हैं, दोनों ने मुक्तक और प्रबंध या महाकाव्य का प्रणयन किया है। भाषा पर दोनों कवियों का पूर्ण अधिकार है। फिर भी दोनों की परिस्थितियों में, व्यक्तित्व में और काव्य-शैली आदि में भारी अंतर है। दोनों के संस्कारों में वैभिन्न्य हैं। तुलसी भगवत्कैंकर्यपरायण कवि हैं, जो जीवन-पर्यंत रामभक्ति के पावन प्रशस्त पथ का अनुगमन करते रहे। वह संस्कारतः भक्त, संत, महात्मा, साधु हैं। उन्होंने रामचरित को सर्वसुलभ बनाने के लिए संस्कृत का मोह त्याग कर लोकप्रचलित भाषा में—अवधी में—काव्यसर्जन किया। वह स्वभाव से सात्त्विक वृत्तियों वाले व्यक्ति थे, इसीलिए उनके काव्य में भक्ति के साथ नैतिकता का आतिरेक्य है।

केशवदास संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। संस्कृत का अपार ज्ञान उन्हें पैतृक संपत्ति के रूप में उपलब्ध था। केशव स्वभाव से रसिक थे। महाराजा इंद्रजीत सिंह के दरबारी कवि थे और बड़े ही ठाट-बाट से रहने वाले थे। तुलसी के समान वह त्यागी नहीं, भोगी थे। 'कविप्रिया' में महाराजा इंद्रजीतसिंह और 'जहाँगीर जस चंद्रिका' में जहाँगीर बादशाह का स्तुति-गान है। स्वयं दरबारी कवि होने के कारण केशव ने राम की श्रृंगारशाला और

विलासिता का स्पष्टतः वर्णन किया है, ऐसा ही वर्णन रावण की विलास-वृत्ति का किया है। जैसे तुलसी ने अपने काव्य में भारतीय संस्कृति, सभ्यता, स्वदेशानुराग और वीरत्व का अनुपम चित्रांकन किया है। वैसे ही केशव ने 'रतनबावनी' और 'वीरसिंह देव चरित' में इनका सुंदर वर्णन किया है। इसी-प्रकार 'विज्ञानगीता' में अद्वैतवाद की भी झलक स्पष्ट है। इस प्रकार केशव अपने युग की धार्मिक चेतना से भी अवगत और प्रभावित थे।[१] केशव तुलसी के समान धार्मिक समन्वयवाद के भी पोषक थे।[२] तुलसी ने अपने साहित्य के द्वारा तद्युगीन समाज की विभिन्न परिस्थितियों का वर्णन किया है, उसी प्रकार केशव ने भी तत्कालीन जातिभेदभाव का, विलासिता का, मद्यपान का व्यभिचार और विकृत मनोवृत्तियों का वर्णन किया है। 'विज्ञान-गीता' और 'रामचंद्रिका' में भ्रष्टाचारोन्मुखी समाज की शोचनीय दशा के चित्र प्राप्य हैं।

तुलसी विनम्रता के अगाध सागर हैं, केशव गर्व और स्वाभिमान के। भक्त और कवि दोनों ही रूपों में तुलसी ने अपने को नम्रता की मूर्ति ही समझा है। इसके एकदम विपरीत केशव एक स्वाभिमानी, जात्यभिमानी विद्वान् हैं। वे एक निस्पृह ब्राह्मण, गंभीर विचारक, काव्यशास्त्र में निष्णात, वाक्पटु, मनोविनोदी, व्यवहार कुशल व्यक्ति हैं जिनमें वाग्वैदग्ध्य का औत्कर्ष्य पूर्णतः विद्यमान है। तुलसी के सदृश केशव भी बहुमुखी प्रतिभासंपन्न कवि हैं। राजनीति, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र, दर्शनशास्त्र, संगीतशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, सभी में उनका पूरा दखल था। विनोदी स्वभाव के होने के कारण वे अपने आपको पनघट की चंद्रवदनी पनहारिन से 'बाबा' कहे जाने पर अपने श्वेत केशों को कोसना आरंभ कर देते हैं।

केशव को पूर्णतः समझने में पं० जगन्नाथ तिवारी ने अद्भुत चिंतन, मनन और विवेक से काम लेकर उपेक्षित महाकवि को वह उच्चासंदी प्रदान की जिसका वह असंदिग्धतः अधिकारी था। 'भिन्न रुचिर्हि लोकः' के आधार पर प्रो० तिवारी का कथन पूर्णतः समीचीन प्रतीत होता है, 'सब की रुचि एक ही समान नहीं होती और इसीकारण मार्मिकता की भी कोई विशेष कोटि नहीं हो सकती। जो स्थल एक व्यक्ति को अधिक मार्मिक प्रतीत होते हैं, दूसरे को उतने मार्मिक प्रतीत नहीं होते।[3] वास्तव में केशव की कटु आलोचना का

१. केशव-सुधा—डॉ० विजयपालसिंह, पृ० ११
२. केशव और उनकी साहित्य—डॉ० विजयपाल सिंह पृ० ११९
३. संक्षिप्त रामचंद्रिका—(प्रस्तावना) पृ० १०

आधार संश्लिष्ट पदावली की दुरूहता, उनकी अति कलात्मक शैली और मार्मिक स्थलों को सर्वथा उपेक्षित समझना है जो किसी भी प्रकार न्यायोचित एवं तर्कसंगत नहीं मानी जासकती और इसी के साथ जब तुलसी और केशव या 'मानस' और 'रामचंद्रिका' के तुलनात्मक अध्ययन का प्रश्न आया तो पूर्वाग्रह के कारण केशव की पराजय घोषित की गई। क्या केशव में भावुकता का अभाव है? क्या उनमें प्रबंधत्व का कौशल नहीं, क्या वह एक महान कवि नहीं? यह प्रश्न तुलसी को सामने रखकर हल करने हैं।

भावुकता : मूर्धन्य आलोचक पं० रामचंद्र शुक्ल ने तो उन्हें 'हृदयहीन' माना है और यहाँ तक कहा है कि उन्हें 'कवि हृदय' प्राप्त नहीं था। इस प्रकार तो शुक्ल जी उनके 'कवि' पर ही प्रश्नचिह्न लगा देते हैं। संत शिरोमणि तुलसीदास ने अनेक स्थलों पर भावप्रवण, करुणाप्यायित गलदश्रुभावुकतापूर्ण चित्र प्रस्तुत कर अपने को महान भावुक व्यक्ति एवं सफल कवि सिद्ध किया है। राजा दशरथ का पुत्र-शोक, राम-वन-गमन, वनमार्ग में ग्राम-युवतियों की करुणा-सिक्त प्रेमपगी उक्तियाँ, सीताहरण, सीता का आर्तनाद, राम का वियोग में करुण-क्रंदन, लक्ष्मण के शक्ति लगना प्रभृति दृश्य किसे द्रवित न करेंगे? परंतु इन स्थलों को जब हम केशव की दृष्टि से देखते हैं तो केशव की सहृदयता एवं भावुकता की दाद देनी पड़ती है। यहाँ तुलसी के काव्य से उदाहरण इसलिए कम दिए जारहे हैं क्योंकि वे चिरपरिचित हैं। केशव ने राम-लक्ष्मण के विश्वामित्र के साथ जाने पर पिता दशरथ की वेदना का चित्र कुशलता और पूर्ण भावुकता के साथ अंकित किया है :

राम चलत नृप के जुग लोचन। बारि भरत भए बारिद-रोचन।
पाइन परि रिषि के सजि मौनहिं। 'केशव' उठि गए भीतर भौनहिं।[1]

यहाँ करुणा का आतिरेक्य दशरथ की वाणी अवरुद्ध कर देता है, सजल नेत्रों के कारण दृष्टि धूमिल पड़ जाती है और वे बस मुनिवर को प्रणाम कर अंदर चले जाते हैं। लेकिन तुलसीदास ने इस स्थल का कोई प्रभावशाली चित्रांकन नहीं किया। सीता-हरण के प्रसंग को दोनों कवियों ने चित्रित किया है। अपहृत सीता से तुलसी इतना ही कहलाते हैं कि हे अप्रतिम वीर रघुनाथ आपने कैसे मुझ पर दया भुला दी। वह पश्चाताप करती लक्ष्मण को नहीं, अपने को दोषी मानती है। परंतु केशव की सीता अधिक करुणार्द्र रूप में क्रंदन करती दृष्टिगत होती है :

---

१. रामचंद्रिका २।२७

हा राम हा रमन हा रघुनाथ धीर।
लंकाधिनाथ बस जानहु मोहि बीर।
हा पुत्र लक्ष्मन छुड़ावहु बेगि मोहि।
मार्तंड बंस जस की सब लाज तोहि।[१]

सीता-हरण पर राम का आर्तक्रंदन भी केशव ने तुलसी सदृश्य प्रभावोत्पादक रूप में चित्रित किया है--तुलसी के राम विरहाधिक्य में जड़-चेतन का भेद विस्मृत कर लता-वृक्ष, पशु-पक्षी सभी से सीता का पता पूछते हैं:

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम देखी सीता मृगनैनी।

परंतु यहाँ भी केशव ने राम की विरह-वेदना अधिक मर्मस्पर्शी रूप में अभिव्यंजित की है। जब राम को अशोक, चंपक आदि हर्षमग्न दीखते हैं तो 'करुणा' पादप से करुणा की भीख माँगते हैं।[२] लक्ष्मण के शक्ति लगने के प्रसंग पर भी केशव की ऐसी ही 'भावुकता' प्रकट होती है।

प्रकृति-चित्रण : प्रकृति-निरूपण दोनों कवियों ने सुंदर रूप में किया है और उसको नाना रूपों में अंकित कर अपने प्रकृति-अनुराग की सुरम्य झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं। डॉ० विजयपालसिंह के कथनानुसार केशव ने प्रकृति-चित्रण की प्रायः सभी शैलियों का वर्णन किया है। प्रकृति का यथातथ्य और सुंदर चित्रण करने की उनमें क्षमता थी। वे चाहते तो प्रकृति का स्वच्छंद व स्वाभाविक चित्रण कर प्रकृति-कवि के रूप में प्रसिद्ध हो सकते थे। वैभव और विलास के वातावरण में रहने के कारण उनकी मनोवृत्ति कलापक्ष की ओर विशेष रही। संस्कृत-साहित्य के अति संपर्क के कारण उनकी दृष्टि बहुत कुछ बद्ध रही।........उनमें हृदय की अपेक्षा बुद्धि का प्राधान्य होगया।....उन्होंने प्रकृति को कवि की दृष्टि से नहीं, अपितु कवि-संप्रदाय की दृष्टि से देखा है।[३] निःसंदेह यदि केशव ने अपना पांडित्य प्रदर्शित न किया होता तो प्रकृति-चित्रण में वे तुलसी से बहुत आगे--भवभूति और कालिदास के सदृश प्रशंसा अर्जित करते। तुलसी ने अपने काव्य में षड्-ऋतुओं के अतिरिक्त वन, पर्वत, सर, सरिता, संध्या, उषा, वाटिका, चंद्र, नक्षत्र आदि का रमणीय वर्णन किया है। एक संत कवि होने के नाते उन्होंने प्रकृति की उपदेशात्मक योजना की है यथा पावस-वर्णन में 'दामिनि दमक रही घन माहीं, खल की प्रीति जथा थिर नाहीं।' और 'बुंद अघात सहहिं गिरि कैसे, खल के वचन संत सहैं

१. रामचंद्रिका १२।१६ २. रामचंद्रिका १२।३६
३. डॉ० विजयपाल सिंह—केशव-सुधा पृ० ७५

जैसे।" इसी प्रकार केशव ने जीवन के सत्यों को प्रकृति-चित्रण द्वारा प्रस्तुत किया है। जैसे सुरापान करने से ब्राह्मण निष्प्रभ, कांतिहीन हो जाता है उसी प्रकार वारुणी की इच्छा करने से चंद्रमा कांतिहीन हो जाता है :

जहीं बारुनी की करी रंचक रुचि द्विजराज।
तहीं कियो भगवंत बिन संपति सोभा साज।[1]

शरद को केशव ने मानवीकरण के रूप में प्रस्तुत करते हुए उसे एक वृद्धा-दासी बताया है :

लक्ष्मण दासी वृद्ध सी आई सरद सुजाति।
मनहु जगावन कों हमहिं बीते बरषा राति।[2]

महाकाव्यत्व : केशव और तुलसी दोनों प्रबंधकार और महाकाव्यकार हैं। तुलसी की जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, रामचरितमानस प्रबंधात्मक रचनायें हैं। केशव की रतनबावनी, वीरसिंहदेवचरित, जहँगीरजस चंद्रिका, रामचंद्रिका प्रबंधकाव्य हैं। दोनों की अंतिम दोनों रचनाओं को महाकाव्य का अभिधान प्राप्त हैं। 'मानस' के महाकाव्यत्व पर कोई विवाद नहीं, उसमें महाकाव्य के लगभग सभी लक्षणों का सन्निर्वाह किया गया है। 'मानस' का प्रारंभ बालकांड--गुरु आदि के स्तवन के उपरांत राम-जन्म से होता है, जबकि रामचंद्रिका का विश्वामित्र के अयोध्यागमन से प्रारंभ होता है। तुलसी ने सीता निर्वासन का प्रसंग परित्यक्त किया है, केशव ने इसका वर्णन ३३वें प्रकाश से ३९ वें प्रकाश तक किया है। यह उल्लेखनीय है कि केशव ने उन प्रसंगों को अधिक विस्तृत रूप में वर्णित किया है जो 'मानस' या अन्य रामकाव्यों में नहीं मिलते। डॉ० विजयपाल सिंह के कथनानुसार "केशव की प्रबंध-दृष्टि तुलसी से भिन्न है। तुलसी ने पुराण-शैली का अनुकरण करते हुए रामकथा को 'भाषा' में उतारा है। केशव की दृष्टि में कालिदासोत्तर संस्कृत की महाकाव्य परंपरा है। उन्होंने संभवतः 'किरातार्जनीय', 'शिशुपालवध' एवं 'नैषध-चरित' जैसे वर्णन-बहुल-चमत्कारपूर्ण महाकाव्यों को ध्यान में रखा।"[3] कथानक को नियोजित करने के लिए केशव को संस्कृत रामकाव्यों से पर्याप्त सामग्री प्राप्त हुई और अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा परंपरानुमोदित कथानक में नूतन उद्भावनाओं का अभिनिवेशन किया, यह उनकी नवनवोन्मेषिणी कल्पना-शक्ति का परिचायक है।

---

१. रामचंद्रिका ५।१४ २. रामचंद्रिका १३।२७ ३. केशवसुधा पृ० ६३

केशव ने अपने पात्रों के चारित्रिक गुणों का भी क्रमिक विकास प्रदर्शित कर अपनी दक्षता का परिचय दिया है। उन्होंने राम के अलौकिक रूप की रक्षा करते हुए उसे परब्रह्म और अवतारमणि माना है, परंतु 'मानस' की अपेक्षा यहाँ उनका परब्रह्म रूप कम विकसित हुआ है, केशव के राम मानवीय अधिक हैं। केशव के राम में परशुराम के समक्ष उतनी उत्तेजना और उग्रता प्रकट नहीं होती जितनी केशव के राम में। केशव के राम की दर्पोक्ति देखिए। वे परशुराम को ललकारते हैं—'भृगुनंद संभारु कुठारु मैं कियो सरासनजुक्त सर'। तुलसी के राम भले ही भरत पर किंचिन्मात्र संदेह न करें, लेकिन केशव के राम राज-पाट त्यागते समय शंकालु हृदय से लक्ष्मण को अयोध्या ठहरने, भरत की गतिविधियों को परखने के लिए इसलिए कहते हैं कि वे एक राजा हैं, राजनीति के दाँव समझते हैं। केशव ने, तुलसी से अलग हटकर राम की श्रृंगारी मनोवृत्तियों का भी चित्रण किया है।

केशव के भरत चित्रकूट पर अपने स्वर्गीय पिता की निंदा करने में कुछ आगा-पीछा नहीं देखते और राम की भी, सीता के परित्याग को लेकर खूब निंदा करते हैं, वे अपने हृदयस्थ आक्रोश को छिपाते नहीं, प्रकट करते हैं। इसलिए 'तुलसी के भरत से भी अधिक स्वतंत्र और तेजवान व्यक्तित्व केशव के भरत का है।' लक्ष्मण में सेवक के आदर्श रूप की रक्षा की गई है। भरत के चित्रकूट आने पर तुलसी के लक्ष्मण के समान केशव के लक्ष्मण भी उत्तेजित हो उठते हैं। उन्होंने अग्रज की मान-मर्यादा की सदैव रक्षा की। केशव को नारी-चित्रण में अधिक साफल्य प्राप्त नहीं हुआ, वे सीता के साथ भी ठीक न्याय नहीं कर पाये। तुलसी के समान उन्होंने अपने स्त्री-पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नहीं किया।

केशव ने सभी रसों का भावपूर्ण वर्णन किया है। अन्य आचार्यों के समान ही उन्होंने भी श्रृंगार को रसराज माना है। श्रृंगार के वर्णन में उन्होंने तुलसी से अधिक सफलता प्राप्त की है, परंतु मर्यादा का सर्वत्र ध्यान रखा है। भ्रमरों को मालती का चुंबन करते देख रनिवास की सुंदरियाँ कैसे लज्जित हो जाती हैं, केशव के शब्दों में देखिए :

अलि उड़ धरत मंजरी जाल, देखि लाज साजति सब बाल।
अलि अलिनि के देखत धाइ, चुंबत चतुर मालती जाइ।
अद्‌भुत गति सुंदरी बिलोकि, विहंसित है घूँघट पट रोकि।

अपहृता सीता का क्रंदन करुण रस की धारा प्रवाहित करता है, युद्ध-वर्णन

में वीर, रौद्र रसों का परिपाक हुआ है। भयानक, वीभत्स, हास्य, शांत आदि सभी रसों की अभिव्यंजना केशव के काव्य में द्रष्टव्य है।

आचार्यत्व :—आचार्यत्व वह पक्ष है जिसके आधार पर केशव तुलसी से बहुत आगे पहुँच गये हैं। आचार्य का काम कवि के लिए नियम निर्धारित करना है। संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य के लिए रस, छंद, रीति आदि का बहुत विशद वर्णन मिलता है और संस्कृत-आचार्यों की भी एक सुदीर्घ परंपरा प्राप्त है। केशव ने 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' दो ग्रंथों की रचना कर आचार्यत्व प्राप्त किया। केशव संप्रदाय की दृष्टि से यदि अलंकारवादी हैं तो रस-दृष्टि से शृंगारवादी हैं। केशव का महत्त्व संस्कृत के आधार पर हिंदी में काव्यशास्त्र के विषयों पर लक्षण-उदाहरण पूर्ण ग्रंथ लिखने की परंपरा डालने में हैं।[1] इस प्रकार यदि हिंदी में किसी को प्रथम आचार्य माना जाय तो वे केशव हैं। उन्होंने लक्षण-निरूपण में 'दोहा' प्रयुक्त किया है और उदाहरण दिये हैं कवित्त, सवैया आदि छंदों में। तुलसी ने न तो कोई ऐसा ग्रंथ लिखा है और न इस प्रकार की रीति अपने काव्य में अपनाई है। अतः केशव आचार्यत्व की दृष्टि से हिंदी के सभी कवियों में शिरोमणि हैं।

कलापक्ष में केशव तुलसी से बाजी मार ले जाते हैं। तुलसी के यहाँ पद, दोहा, चौपाई आदि कुछेक छंदों का अवश्य ही सुष्ठु प्रयोग है, परंतु छंदों में जो वैविध्य एवं अभिनवता केशव-काव्य में दृष्टिगत होती है वह तुलसी के यहाँ कहाँ! केशव ने तो कलावाद का पुनरुत्थान किया, अलंकारवाद को पुनः नवजीवन प्रदान किया। 'सुगीत', 'मनहरन', 'मनोरमा', 'कमल' नामक नवीन छंदों के आविष्कर्ता केशव हैं। अतुकांत छंदों में भी उनकी मौलिकता दृष्टिगत होती है। घोड़े की गति को मूर्तिमान करने के लिए उन्होंने चंचला नामक नये छंद को जन्म दिया जहाँ क्रमानुसार आठ बार गुरु-लघु प्रयुक्त होते हैं।[2] केशव ने अलंकार को काव्य के लिए अनिवार्य माना है। 'भूषन बिनु न बिराजहीं कबिता बनिता मित्त।' उनकी इस अपरिमित अलंकारप्रियता को देखकर उन्हें चमत्कारवादी मानने में कोई अतिशयोक्ति नहीं। तुलसी ने अलंकारों का खूब प्रयोग किया है परंतु चमत्कारवादी वे नहीं, उनकी अलंकार-योजना भावानुरूप और अयत्नज है, जबकि केशव की अलंकार-योजना यत्नज है, अतः

१. डॉ० भागीरथ मिश्र—हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ५०

२. रामचंद्रिका ३१।१

कहीं-कहीं अस्वाभाविकता खटकती है। 'रामचंद्रिका' या 'वीरसिंह देव चरित' में वह अलंकार-वैचित्र्य पग-पग प्रदर्शित करने का लोभ संवरण नहीं कर सके। रूपक और श्लेष में तो दुरुहता भी आ गई है। तुलसी ने नूतन कल्पना-भिमंडित भावोद्रेककारी अलंकारों का प्रयोग किया है। जैसे, राम-लक्ष्मण के सौंदर्य के लिए 'स्याम गोर किमि कहौं बखानी, गिरा अनयन नयन बिनु बानी।' और सीता के अनुपम लावण्य के लिए "छबिग्रह दीपसिखा जनु बरई।" इसी प्रकार केशव के यहाँ भी अद्भुत कल्पनाजनित अलंकार द्रष्टव्य हैं, दर्पण निहारती सुंदरी ऐसी कल्पित की गई है जैसे चंद्रिका रवि-मंडल में समा गई हो :

कबहुँ मुख देखति दर्पन लै, उपमा मुख की सुखमा परसै।
जनु आनंद कंद सु पूरन चंद, दुरयौ रविमंडल में दरसै।

फिर भी केशव की अलंकार-योजना उनके पांडित्य से कुछ दब सी गई है, उसमें वह प्रवाहपूर्ण सौंदर्य नहीं जो तुलसी के यहाँ अनायास प्राप्य है।

संवाद-सौष्ठव में अवश्य केशव को तुलसी की अपेक्षा अधिक साफल्य प्राप्त हुआ है। यह ठीक है कि तुलसी के संवाद भावानुरूप तथा प्रभावशाली हैं परंतु संवादों में जो नाटकीय कौशल और व्यंग्योक्तियों का चुभता--हृदय को भीतर ही भीतर कचोटता--रूप होता है वह केशव के यहाँ ही अधिक अवदात और समुन्नत है। इसके विपरीत तुलसी ने भावात्मक स्थलों का संवादों के लिए चयन किया है। फिर भी तुलसी के संवाद इतने लोकप्रिय नहीं, जितने केशव के। हम देखते हैं कि रामलीला के अवसर पर चौपाई या दोहे कथानक के आधार पर तुलसी के लिये जाते हैं परन्तु संवाद केशव के ही होते हैं। संवादों में जो तीखा व्यंग्य और वाग्विदग्धता केशव के यहाँ सहजतः प्राप्य है वह तुलसी क्या हिंदी के किसी कवि में प्राप्य नहीं। हनुमान-रावण-संवाद का तुलसी ने भी वर्णन किया है[1], परंतु जो वाक्पटुता, वाग्वैदग्ध्य, व्यंग्य, कटूक्ति, नाटकीयता केशव के हनुमान-रावण-संवाद में दृष्टिगत होती है वह तुलसी के यहाँ कहाँ :

रे कपि कौन तू ? अक्ष को घातक, दूत बली रघुनंदन जू को।
को रघुनंदन रे ? त्रिसिर-खर-दूषन-दूषन भूषन भू को।[2]

संवादों के आधार पर तुलसी और केशव के पात्रों के मनोभावों में भी काफी अंतर आ गया है। तुलसी के हनुमान उक्त प्रसंग में निम्नस्तरीय शब्दों का प्रयोग करते हैं, परंतु केशव के हनुमान राज-सभा की मर्यादा का पालन

१. मानस ५।२१ २. रामचंद्रिका १४।१

करते हैं। इसी प्रकार तुलसी के लक्ष्मण आवश्यकता से अधिक उग्र, उत्तेजित होकर परशुराम के प्रति अति असंगत, अशोभनीय बातें कहते हैं, केशव के लक्ष्मण राम के सदृश संयम से काम लेकर उनके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करते हैं।

केशव के समय काव्य-क्षेत्र में ब्रज और अवधी दोनों भाषायें प्रतिष्ठित थीं। तुलसी ने अवधी और ब्रज दोनों को अपनाया, परंतु केशव ने केवल परिनिष्ठित ब्रज को, जिसमें बुंदेली का पुट भी है, अपनाया। इस प्रकार निःसंदेह तुलसी को दो भाषाओं पर समान और पूर्ण अधिकार प्राप्त था। अवधी की महानता, उत्कृष्टता तो 'मानस' की लोकप्रियता से ही सर्वविदित है। ब्रजभाषा में उन्होंने विनयपत्रिका, गीतावली, कवितावली की रचना की। जैसे तुलसी ने अवधी में संस्कृत तथा अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया है उसी प्रकार केशव ने ब्रजभाषा में संस्कृत, बुंदेली और अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग किया है। दोनों कवियों ने संस्कृत के तत्सम शब्द बहुलता से प्रयुक्त किए हैं। केशव ने बुंदेली, अवधी के शब्दों का प्रयोग किया है, तुलसी ने पालि, प्राकृत, अपभ्रंश के शब्दों को भी प्रयुक्त किया है। जैसे तुलसी ने गरूर, जहान, गनी, गरीब-निवाज, सबील आदि अरबी-फारसी शब्द स्वीकार किये हैं वैसे ही केशव ने लायक, तसलीम, गुलाम, फरमान आदि शब्द अपनाए हैं। मुहावरे और लोकोक्तियाँ दोनों की भाषा में दृष्टिगत होते हैं। तुलसी की भाषा में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का प्राधान्य है, केशव ने लक्षणा, व्यंजना का अधिक प्रयोग संवादों में किया है। दोनों की भाषा में रसोत्कर्ष के लिए माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों की स्थिति विराजमान है। केशव की भाषा में च्युतसंस्कृति दोष (पीछे मघवा मोहि साप दई), अश्लीलत्व दोष (दिगपालन की भुवपालन की किन मातु गई च्वै), अक्रमत्व दोष (अमानुषी भूमि अवानरी करूँ) और अधिकपदत्व आदि दोष परिलक्षित होते हैं, तुलसी के यहाँ इस प्रकार दोषों का बाहुल्य नहीं है।

निष्कर्षतः तुलसी भक्त और दार्शनिक के रूप में केशव से बहुत महान हैं, केशव के यहाँ भक्तिभावना गूलर का फूल हैं, दर्शन में भी उनकी तुलसी के समान गहनता, विशदता प्रतीत नहीं होती। लोकप्रियता भी तुलसी को अपरिमित प्राप्त हुई। भाषा की दुरूहता और जटिलता जहाँ केशव को समझने में बाधक बनी, वहाँ भाषा की सरसता, सुबोधता ही तुलसी के काव्य को चार चाँद लगाने में समर्थ हुई। इस प्रकार निर्विवाद रूप में तुलसी हिंदी के गौरव हैं, परंतु केशव के काव्य की पूर्वाग्रह के कारण निंदा करना किसी भी प्रकार

स्वीकार्य नहीं। वह एक महान कवि हैं, सफल प्रबंधकार और महाकाव्यकार हैं। भाषा पर परिनिष्ठित भाषा पर—संस्कृत भाषा और साहित्य पर उनका अपूर्व अधिकार है। आचार्यत्व का जो अप्रतिभ रूप केशव में परिलक्षित होता है वह तुलसी क्या, हिंदी के किसी कवि में भी परिलक्षित नहीं होता। लोक-नायक, लोकरक्षक (और लोकरंजक भी) के रूप में जो महान गौरव, प्रतिष्ठा, अक्षुण्ण यश तुलसी अर्जित कर सके हैं वह केशव के भाग्य में नहीं और जो काव्यशास्त्र का पांडित्य केशव में संलक्षित होता है वह तुलसी में नहीं।

डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'

महाकवि स्वयंभू एवं तुलसी की नारी भावना

महाकवि स्वयंभूदेव अपभ्रंश के वाल्मीकि एवं समर्थ आदि कवि माने जाते हैं। उन्होंने जैन-राम-काव्य पउमचरिउ का सृजन करके अपभ्रंश में राम कथा को जीवन प्रदान किया है। पउमचरिउ अपभ्रंश-साहित्य का आदि महाकाव्य है जिसमें काव्यत्व, सामाजिकता, दार्शनिकता, धार्मिकता एवं संस्कृति सभी का चरमोत्कर्ष देखने को मिलता है।

महाकवि स्वयंभूदेव एवं महाकवि तुलसीदास यद्यपि एक ही 'रामकथा' को लेकर काव्य-निर्माण में अग्रसर हुए, तथापि युगीन-परिवेश के कारण उनमें विभिन्नताएँ सहज रूप में आ गई हैं। नारी-पात्रों की दृष्टि से देखें तो दोनों में सीता, कौशल्या (जिन्हें स्वयंभू ने 'अपराजिता' कहा है), कैकेई, सुमित्रा, मंदोदरि, त्रिजटा, सूर्पनखा (स्वयंभू में 'चंद्रनखा') तथा सुरसा (स्वयंभू में 'लंका सुंदरी') ही समान नारी-पात्र हैं, शेष नारी-पात्र नाम, रूप में सर्वथा भिन्न हैं। तुलसी में अनुसूया, पार्वती, मैना, सुनयना, शबरी, अहल्या आदि तथा स्वयंभूदेव में सुप्रभा (दशरथ-पत्नी), उपरंभा, अंजना, कल्याण, माला आदि अनेक नारी-पात्र सर्वथा भिन्न स्वरूप रखते हैं। इस भिन्नता के कारण स्पष्टतः दोनों कवियों की नारी-भावना में उल्लेखनीय अंतर आ गया है।

स्वयंभूदेव जैन कवि हैं अतः उनके नारी-पात्र पूर्णतः 'जिन भक्त' हैं। यह उनकी सामान्य विशेषता बन गई है। नारी चरित्रों में उदात्त तत्वों का सन्निवेश तुलसी की अपेक्षा स्वयंभू कम ही कर पाये हैं यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है।

अब हम दोनों महाकवियों के कतिपय समान नारी-चरित्रों की संक्षिप्त तुलना करेंगे।

१. कौशल्या : राजा दशरथ की अग्रमहिषि, राम की जननी के रूप में स्वयंभू ने 'अपराजिता' का नितांत स्थूल चित्रण किया है जबकि तुलसीदास ने कौशल्या के माध्यम से नारी के त्याग, करुणा, पातिव्रत्य, ममत्व, दया, ओज, औदार्य, जैसे गुणों को व्यक्त करके उन्हें स्तुत्य बना दिया है–'बंदउँ कौशल्या दिसि प्राची, कीरति जासु सकल जग माची।'[1] कह कर; किंतु स्वयंभूदेव ने 'अपराजिता' में मात्र 'पुत्र-प्रेम' का गुण दिखाया है। नारद द्वारा राम से कहे गए शब्द इस प्रकार हैं :

सा तुम्ह वियोएं दुम्मणिय। अच्छइ हरिणि व बुण्णाणणिय।
सुहु एक्कु वि दिवसु ण जाणियउ पइँ वण वासु-पवण्णएँण।
अच्छइ कंदंति स वेयणिय णंदिणि जिह विणु तण्णएँण॥[2]

वस्तुतः तुलसी ही कौशल्या का मातृत्व भी अधिक सचेष्ट होकर देख सके और जिस मार्मिकता का परिचय तुलसी ने दिया, वह स्वयंभूदेव नहीं दे सके।

२. कैकेई : महाकवि स्वयंभूदेव कैकेई को सर्व-कला संपन्न, कामनिपुणा सुंदरी के रूप में चित्रित करते हैं, किंतु यहां भी नारी हृदय का जो सूक्ष्म तथा मनोवैज्ञानिक चित्रण तुलसी कर गए, वैसा स्वयंभू नहीं कर सके। 'मानस' में तुलसी ने कैकेई को प्रथमतः आदर्श, सुशील, ममतामयी चित्रित करके 'मंथरा' की कुटिलता के कारण उसे क्रूर, ईर्ष्यालु तथा स्वार्थी दिखाकर नारी के दोनों रूपों को साथ लेकर पूर्णता दी है और कैकेई का 'पश्चाताप' दिखाकर तो पुनः उसे उच्चता के दिव्यासन पर बैठा दिया है। 'पउमचरिउ' की कैकेई में यह गतिशीलता नहीं मिल पाती। वस्तुतः मंथरा का अभाव ही 'पउमचरिउ' की कैकेई के रूप को भिन्नता दे देता है।

३. सुमित्रा : स्वयंभूदेव ने सुमित्रा का चित्रण भी अनमने भाव से नितांत स्थूल एवं कम किया है और उसे सर्वथा महत्त्वाकांक्षाहीन, साधारण तथा सामान्य नारी के रूप में चित्रित किया, किंतु तुलसीदास ने 'मानस' की सुमित्रा को अपनी लेखनी से अमरत्व दे डाला है। राम-अभिषेक की सूचना से पुलकित सुमित्रा का रूप जितना सहज है, राम-वन-गमन के समय

---

१. मानस १।१६।२ २. पउमचरिउ, संधि ७८।१६।८-९

लक्ष्मण को दिया गया उपदेश 'पुत्रवती जुवती जग सोई, राम भगत जासु सुत होई' उतना ही विवेकपूर्ण, स्वाभाविक तथा आदर्श है। तुलसी ने सुमित्रा को संयम, विवेक, धैर्य तथा स्थिति प्रज्ञता से संपन्न दिखाया और 'भावना' पर 'कर्त्तव्य' की विजयश्री का अविस्मरणीय प्रतीक बना दिया। डॉ० गजानन साठे का कथन उपयुक्त ही है–"तुलसीदास ने सुमित्रा के रूप में सपत्नी एवं सौतेली माता का आदर्श प्रस्तुत किया है। उसका चरित्र रघुकुल की गरिमा के सर्वथा अनुरूप है।"[1]

नारी-पात्रों की उपर्युक्त तुलना अधिक विस्तार से कर पाना समीचीन नहीं तथापि यह अवश्य कहा जा सकता है कि स्वयंभू की अपेक्षा तुलसी की नारी-भावना अधिक सूक्ष्म, आदर्श तथा प्रभावपूर्ण है।

महाकवि स्वयंभूदेव तथा तुलसी के असमान नारी पात्रों में प्रमुख हैं– १. उपरंभा, २. अंजना, ३. लंका सुंदरी आदि पउमचरिउ में तथा १. पार्वती, २. अनुसूया, ३. शबरी आदि मानस में। इन पात्रों के चित्रण में भी दोनों कवियों की दृष्टि सर्वथा भिन्न रही है। मेरा दृढ़ विचार है कि संत तुलसीदास को 'नारी-निंदक' घोषित करने वाले तथाकथित आलोचक यदि स्वयंभू की 'उपरंभा' को देखेंगे तो उन्हें दंग ही रह जाना पड़ेगा।

१. उपरंभाः—दुर्लंध्य नगर के राजा नल-कूबर की अतीव सुंदरी पत्नी उपरंभा में स्वयंभूदेव ने जिस 'पर-पुरुष-अनुरक्ता' विलासिनी तथा कामांध नारी का सृजन किया, वह तुलसी के 'मर्यादा प्रिय कवि' को रुचिकर नहीं लगा। रावण की परोक्ष प्रशंसा सुनकर वह मधुकरी सदृश उस पर आसक्त होकर काम की दसवीं अवस्था में पहुँच गई। स्वयंभू का वर्णन देखिए :

अणुरत्त परोक्खए जे जसेण। जिह महुयरि कुसुम-गंध-वसेण।
ण गणइ कप्पूर ण चंदम सु। ण जलद्दु ण चंदणु तामरसु।
तहे दसमी कामावत्थ हुय। विसग्गि-दड्ढ णउ कह मि मुय।[2]

उपरंभा की कामांधता तथा कामासक्ति को लक्ष्य करके तुलसी की सी शब्दावली में स्वयंभूदेव भी कह उठे ;

---

१. पउमचरिउ तथा रामचरितमानस—डॉ० गजानन साठे (अप्रकाशित)
२. 'पउमचरिउ,' विद्याधरकांड १५।११।५-९

'अहो साहसु पभणइ पहु मुयवि । जं महिल करइ तं पुरिसु ण वि ।
दुम्महिल जि भीसण जम-णयरि । दुम्महिल जि असणि जगंत-यरि ।'[१]
अर्थात स्त्री जो कर सकती है वह पुरुष नहीं कर सकता । असती स्त्री यम-नगरी-सी भंयकर, संसार का नाश करने वाली बिजली होती है । उक्त कथन के संदर्भ में तुलसी का कथन देखिए :

काह न पावक जारि सक, का न समुद्र समाइ ।
का न करै अबला प्रबल, केहि जग कालु न खाइ ।[२]

वस्तुतः स्वयंभूदेव भी यहाँ उतने ही प्रखर नारी-निंदक हैं जितने तुलसीदास । स्वयंभूदेव कहते है–'पुंश्चली से झूठ बोलने में कौन-सा दोष है ।'[३]

२. अंजना–स्वयंभू ने 'अंजना' तथा 'पवनंजय' की लौकिक प्रणय-कथा में बड़ा रस लिया है और संभोग, मिलन, विरह आदि के सजीव चित्र अंकित किए हैं । इस प्रसंग में 'सास-वधू' के परंपरागत द्वेष-वैषम्य तथा लड़ाई को स्वयंभू नहीं भूल पाए और 'सास' को खूब-खरी खोटी सुना गए–'अपनी बहुओं के लिए सासें उसी प्रकार शत्रु होती हैं जैसे सुकवि के लिए दुर्जनों की बुद्धि ।'[४] यहाँ 'राम-वन-गमन' के समय महाकवि तुलसी की वधू 'सीता' तथा सास 'कौशल्या' का मर्यादित वार्तालाप तुलनीय है ।

स्वयंभूदेव की भाँति महाकवि तुलसी ने भी कुछ नारी-पात्रों की स्वतंत्र, मौलिक उद्भावना करके नारी के आदर्श अंतःकरण का चित्रण करना चाहा । वे इस उद्देश्य में आशातीत सफल रहे हैं ।

१. पार्वती : शिव की अर्धांगिनी 'उमा' के चरित्र में तुलसी ने एक ओर अतिशय संशय, नारी-हठ, अविवेक, असंयम तथा असहिष्णुता दिखाई तो दूसरी ओर उसी चरित्र में अन्यतम पति-भक्ति, दृढ़तम तपःनिष्ठा, अनुपम त्याग एवं अजेय सहिष्णुता का आदर्श कूट-कूट कर भर दिया है । वस्तुतः पार्वती का चरित्र तुलसी की उच्च नारी-भावना का जाग्रत-जीवित स्मारक है, जिसके समक्ष तुलसी पर 'नारी निंदक' होने का आरोप ठहर नहीं पाता ।

२. शबरी : तुलसी ने नारी-हृदय की सहज स्वाभाविक भक्ति को साकार किया है 'शबरी' के चरित्र द्वारा, जो भक्ति के शास्त्रसम्मत स्थाई-भाव

---

१. पउमचरिउ—विद्याधरकांड १५।१३।५-६ २. मानस २।४७
२. पउमचरिउ १५।१४।२ 'पुण्णालि असच्चि दोसु कवणु'
३. पउमचरिउ १८।४।९

'दैन्य' की मूर्तिमंत प्रतिमा है। शबरी की सहज दीनता की सहज अभिव्यक्ति में नारी-निंदा देखने वालों को अभिधा से हटकर व्यंजना से भावार्थ ग्रहण करना अभीष्ट होगा। 'राम सो खरो है कौन, मो सो कौन खोटो' कहने वाले तुलसी की 'शबरी' यदि सर्वज्ञ, मर्यादा पुरुषोत्तम, ब्रह्म स्वरूप 'राम' के समक्ष स्वयं का परिचय 'मंदमति' कह कर देती है तो बुरा क्या है ?

अधम ते अधम, अधम अति नारी।
तिन्ह महँ मैं मति मंद अघारी।[1]

वास्तविकता तो यह है कि शबरी का चरित्र 'उच्च-भक्तिसंयुक्त' नारी का पावन चरित्र है। तुलसी की अनुपम सृष्टि है शबरी।

उपर्युक्त विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि स्वयंभूदेव का नारी चित्रण प्रायः पारंपरिक, स्थूल तथा औपचारिक है और समयानुसार नारी के दुर्गुणों की निंदा वे करते हैं, जबकि महाकवि तुलसी का नारी-चित्रण लीक से हटकर मौलिक, हृदयस्पर्शी, सूक्ष्म तथा नितांत स्वाभाविक है और आदर्श-अनादर्श का द्वंद्व दिखाकर सर्वत्र आदर्श की प्राण-प्रतिष्ठा ही उन्हें अभिप्रेत रही है। अपने इस निष्कर्ष को मैं स्वयंभू एवं तुलसी के नारी-चित्रण तथा श्रृंगार-चित्रण के कतिपय सामान्य तथापि महत्त्वपूर्ण उद्धरण देकर पुष्ट करूँगा।

महाकवि स्वयंभूदेव युद्ध के प्रसंग में 'संभोग के लौकिक चित्र' अत्यंत मग्न होकर अंकित करते हैं और उनकी चित्त-वृत्ति यहाँ ऐसी रमी है कि रति-प्रसंग साकार हो उठा है।[2]

इसके विपरीत तुलसी ने संभोग का प्रत्यक्ष-प्रसंग आने पर भी मर्यादा एवं आदर्श का पल्ला कहीं नहीं छोड़ा और नारी को 'सस्ती कामुकता' से दूर रखकर उसके पावनतम रूप की रक्षा करते रहे।

'राम सीता' के जनक की पुष्पवाटिका में 'मिलन प्रसंग' को मर्यादित बना कर तुलसी ने श्रृंगार को 'रस राजत्व' दिया है तो साथ ही 'सीता' को उच्च पद पर प्रतिष्ठित कर दिया है।

'पउमचरिउ' में जहाँ सुविधा मिली, कवि ने नारी देह का, विपरीत रति का, नग्न संभोग का चित्रण बहुतायत से किया जबकि तुलसी ने उस

१. मानस ३।३४
२. पउम चरिउ ४३।१४।१-६, ६२।१।१, ७४।१६।१८

ओर रुचि ही नहीं दिखाई। स्वयंभू ने विपरीत रति को युद्ध-प्रसंग में भी नहीं छोड़ा है।[१]

दूसरी ओर तुलसी 'शिव-पार्वती-विवाह' प्रसंग में विवाहोपरांत स्पष्टतः संभोग चित्रण का अवसर आने पर भी सर्वथा अप्रभावित रहकर अत्यंत मर्यादित चित्र ही अंकित करते हैं।[२]

निश्चय ही 'तेहि सिंगारु न कहहुँ बखानी' कह कर तुलसी ने सब कह दिया है किंतु आदर्श को नहीं छोड़ा है। यही तो महाकवि तुलसी का वह प्राणतत्व है जो वर्षों से उन्हें आलोचकों के सम्मुख 'पूर्णतः दोष मुक्त' सिद्ध करता आ रहा है। जहाँ कहीं गोस्वामीजी को 'नारीनिंदा' करनी पड़ी, वह सदैव सकारण रही है, अतः उसे अनौचित्य की सीमा में नहीं लाया जा सकता। डॉ० शिवकुमार शुक्ल का कथन—'स्मरणीय है कि गोस्वामी जी ने काम के संदर्भ में ही नारी की भर्त्सना की है'[३] सर्वथा उचित है क्योंकि वे इसे युक्तियुक्त मानते थे। डॉ० शुक्ल का यह दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण है—'गोस्वामी जी वस्तुतः नारी निंदक नहीं हैं' किंतु मूलतः काम प्रवृत्तियों की ही निंदा करने के लिए वे विभिन्न प्रसंगों में 'नारी' को उसी दृष्टिकोण से देखने को विवश हो गए हैं।'[४]

महाकवि स्वयंभू ने तो उपमाओं तथा उत्प्रेक्षाओं तक में नारी के स्थूल-मांसल-सौंदर्य एवं-चित्रण को रसमग्न होकर अपनाया है :

'वह शत्रु व्यूह में वैसे ही घुस गया जैसे कामाहत नारी के हृदय, में प्राण लेता हुआ विदग्ध घुसता है।'[५]

उन्होंने नारी को अत्यंत घृणित कहकर उससे विरति उत्पन्न कराने की एकाधिक बार चेष्टा की है, जहाँ वे तुलसी के पथ-दर्शक से प्रतीत होते हैं।

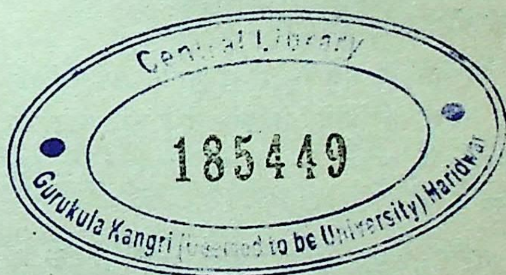
'आहार ही पिसिवउ सी वियउ। णिसि मह्णउ दिवसे संजीवियउ।
णी सासू सासु करणताहुँ। गउ जम्मु जियंत मरणताहुँ।
मरण कालें किमि-कप्परिउ जे पेक्खेवि वंकिज्जइ।
घिणिहिणंतु-मक्खियं सएहिं तँ तेहउ केम रमिज्जइ।'[६]

१. पउमचरिउ—विद्याधरकांड १०।१०।१-२ २. मानस १।१०२।३-६
३. रामचरितमानस : तुलनात्मक अध्ययन——डॉ० शिवकुमार शुक्ल, पृष्ठ ४०९
४ रामचरितमानस : तुलनात्मक अध्ययन—डॉ० शुक्ल पृष्ठ-४१२
५. पउमचरिउ, विद्याधरकांड १७।३।१० ६. पउमचरिउ ३६।६

अर्थात 'आहार के लिए पीसना, रात में मृतक समान सो जाना, दिन में जीना, इस प्रकार साँस लेते और छोड़ते तथा जीते-मरते स्त्री का जन्म बीतता है। मरणकाल में कीड़े उसे ऐसे खाते हैं कि देखने वाला मुँह फेर लेता है। सैकड़ों भिनभिनाती मक्खियों से घृणित बने हुए इस स्त्री-शरीर से कैसे रमण किया जाता है।'

प्रस्तुत निबंध का उपसंहार करते हुए मैं महाकवि स्वयंभूदेव के विषय में डॉ० संकटाप्रसाद उपाध्याय का कथन उद्धृत करूँगा—'पउम चरिउ की सारी कथा के विस्तार में सीता के रूप में स्त्री ही तो मूल कारण है; इसलिए स्वयंभू ने जी भरकर स्त्री रूप की क्षण भंगुरता और उसमें अज्ञान जन्य अनुराग का निंदापूर्ण वर्णन किया है। आश्चर्य तब होता है, जब हम देखते हैं कि धर्माचरण से प्राप्य पदार्थों में वह स्थूल नितंब और पीन स्तनों वाली स्त्रियों को भी मानते हैं।''[1]

वस्तुत: स्वयंभू एवं तुलसी की नारी-भावना में जो मूलभूत अंतर है, वह है 'स्वयंभू का नारी के प्रति अनुराग जन्य-विराग' और 'तुलसी का नारी के प्रति वैराग्य जनित अनुराग।' इसी कारण स्वयंभू ने तो नारी के स्थूल, मांसल, लौकिक सौंदर्य तथा संभोग-क्रीड़ा के चित्र अंकित किए हैं और तुलसी ने नारी के मानसिक, सूक्ष्म एवं अतींद्रिय सौंदर्य का अंकन करके उसे गरिमा प्रदान की है।



१. कवि स्वयंभू—डॉ० संकटाप्रसाद, पृष्ठ २०६

डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे

'साकेत' और तुलसी के राम

गोस्वामी तुलसीदास और मैथिलीशरण गुप्त अपने-अपने युग के श्रेष्ठ रामकाव्य-गायक हैं। यद्यपि तुलसी ने अपने अन्य ग्रंथों 'कवितावली', 'गीतावली' आदि में भी रामकथा को स्थान दिया है तथापि राम का सर्वाधिक प्रोज्ज्वल रूप 'रामचरितमानस' में ही अभिव्यंजित हुआ है। राम-काव्य-परंपरा में 'मानस' और 'साकेत' दोनों ने ही नूतन युगांतर उपस्थित किया है। एक ने रामचरित्र को जन-जन की मानस-लहरी पर चिरकाल के लिए तरंगित कर दिया है और दूसरे ने रामकथा के अभिनव एवं सांस्कृतिक पक्षों को अनूठी वाणी प्रदान की है। दोनों कृतियों के प्रभविष्णु पात्र राम में साम्य भी है और अंतर भी।

'साकेत' के आधार-ग्रंथों में 'मानस' का सर्वोपरि स्थान है। गुप्तजी ने स्वयं अनेक विधियों से इस तथ्य की अवतारणा की है। उनके वैष्णव संस्कारों के सृजन में 'मानस' का बहुत बड़ा हाथ है। 'साकेत' में उन्होंने लिखा भी है :

तुलसी, यह दास कृतार्थ तभी मुंह में हो चाहे स्वर्ण न भी,
पर एक तुम्हारा पत्र रहे, जो निज मानस-कवि कथा कहे।[1]

इन तथ्यों के आधार पर तुलसी के राम का प्रभाव 'साकेत' के राम पर भलीभाँति आँका जा सकता है।

---

१ साकेत, ६।१।

'मानस' का मूल प्रश्न ही राम-जिज्ञासा है :

रामु कवन प्रभु पूछउँ तोही । कहिअ बुझाइ कृपानिधि मोही ।[1]

तुलसी का भक्ति-दर्शन इसी समस्या के समाधान से परिप्लुत है :

जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना । प्रभु प्रतिपाद्य रामु भगवाना ।[2]

तुलसी के राम परब्रह्म, विष्णु के अवतार और मर्यादापुरुषोत्तम हैं । गुप्तजी ने कहा है कि वस्तुतः 'रामचरितमानस' के सीता-राम 'साकेत' में नायकों के भी नायक और सब के शिक्षक अथवा शासक के रूप में प्रतिष्ठित हैं ।

आदिकवि वाल्मीकि के राम देवता न होकर महापुरुष हैं । 'वायुपुराण' ने उन्हें ईश्वर के पद पर प्रतिष्ठित किया और 'विष्णुपुराण' ने भगवान् पद्मनाभ का अवतार घोषित किया । 'राम पूर्वतापनीय उपनिषद्' और 'राम उत्तरतापनीय उपनिषद्' ने उन्हें ब्रह्म का अवतार निरूपित किया । 'भागवत पुराण' ने उनकी भक्ति का शिलान्यास किया और 'अध्यात्म रामायण' में राम को देवत्व के सर्वोच्च शिखर पर स्थापित किया गया । तुलसी ने, भगवान् का महिमा मंडित रूप प्रदान कर, राम को सदा-सर्वदा के लिए हमारे जीवन और साहित्य का अटूट अंग बना दिया है :

एक अनीह अरूप अनामा । अज सच्चिदानंद परधामा ।
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना । तेहिं धरि देह चरित कृत नाना ।[3]

गुप्तजी ने भी गोस्वामीजी का अनुगमन करते हुए, स्पष्ट घोषणा की :

राम, तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ?
तब मैं निरीश्वर हूं, ईश्वर क्षमा करे ।
तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे ।[4]

दोनों ही महाकवियों के राम निर्गुण नहीं सगुण हैं । मानसकार कहते हैं :

अगुन अरूप अलख अज जोई । भगत प्रेम बस सगुन सो होई ।[5]

साकेतकार का भी कथन समानता रखता है :

हो गया निर्गुण सगुण साकार है,
ले लिया अखिलेश ने अवतार है ।[6]

---

१. मानस १।४६।३ २. मानस ७।६१।३ ३. मानस १।१३।२
४. साकेत ५. मानस १।११६।१
६. साकेत १। पं० ११, १२

'गीता' के 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत'[१] और मानस के 'जब जब होइ धरम कै हानी'[२] के समान 'साकेत' में भी 'पथ दिखाने के लिए संसार को, दूर करने के लिये भू-भार को' प्रभु ने मनुज का रूप धारण किया है। तुलसी की मर्यादा का 'साकेत' के राम में भी पर्याप्त पुट है :

जितने प्रवाह हैं, बहें—अवश्य बहें वे,
निज मर्यादा में किंतु सदैव रहें वे।[३]

जहाँ एक ओर तुलसी कहते हैं :

रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं।[४]

वहाँ 'द्वापर' में गुप्तजी की भी स्पष्टोक्ति है :

मुझ पर चढ़ने से रहा राम ! दूसरा रंग।

कैकेयी के मुख से अपने बनवास का समाचार सुनकर तुलसी के राम कहते हैं :

सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी।
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा।[५]

'साकेत' के राम की भी यही मनोवृत्ति है :

अरे यह बात है, तो खेद क्या है ?
भरत में और मुझमें भेद क्या है ?
करें वे प्रिय यहाँ निज कर्म-पालन,
करूँगा मैं विपिन में धर्म-पालन।[६]

कालिदास ने रघुवंश में कहा है कि यह देखकर लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि राम के मुख का भाव जैसा राज्याभिषेक के रेशमी वस्त्र पहनते समय था, ठीक वैसा ही वन जाने के लिए पेड़ की छाल के वस्त्र धारण करते समय भी था। राम की यही निर्विकारता मानस में यों कथित है :

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखांबुजश्री रघुनंदनस्य मे सदास्तु सा मंजुलमंगलप्रदा।[७]

---

१. गीता ४।७
२. मानस १।१२१।३
३. साकेत ८। पृष्ठ २३१, पं० ३-४
४. मानस ७।५३।१
५. मानस २।४१।४
६. साकेत ३। पृष्ठ ७४, ९-१२
७. मानस २। श्लोक २

यही बात 'साकेत' में इस प्रकार कही गई है :

राम-भाव अभिषेक-समय जैसा रहा,
बन जाते भी सहज सौम्य वैसा रहा।[1]

गुप्तजी ने महात्मा गांधी को लिखा था कि 'तुलसीदास के उद्देश्य से मेरे उद्देश्य में कुछ भिन्नता तो है ही।' तुलसी ने स्वयम् राम के ईश्वरत्व की अनेकबार पुनरावृत्ति की है और साक्षी स्वरूप प्रायः समस्त पात्रों से उनके ब्रह्मत्व की पुष्टि करायी है। 'साकेत' में राम का अधिनायकत्व होते हुए भी, यह स्थिति नहीं आई है। कवि के रूप में गुप्तजी न तो राम के भक्त हैं और न सीता या एकमात्र उर्मिला के ही। 'मानस' का जहाँ मुख्य कार्य रावण-वध है, वहाँ 'साकेत' का उर्मिला-मिलन। साकेतकार ने अपने राम की लोकजीवन में प्रतिष्ठा की है।

तुलसी के राम 'निसिचरहीन करौं महि भुज उठाइ पन कीन्ह'[2] के लिए कृतसंकल्प हैं, परंतु 'साकेत' के राम को इस कार्य के अतिरिक्त एक नूतन उत्तरदायित्व को भी वहन करना पड़ता है—दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति का प्रचार और असभ्य, अशिक्षित एवम् जंगली जातियों के जीवन में आलोक की नवीन किरणों का सूत्रपात। इसीलिए 'साकेत' में वनवासी भी 'हमें नागर बनाओ तुम' का आह्वान करते हैं। राम पाप से घृणा करते हैं, पापी से नहीं।

साकेतकार ने अनावश्यक प्रसंगों और विस्तार से अपने को विमुक्त ही रखा है। राम के चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिकता तथा आधुनिकता के वितान ताने गए हैं। उनमें अलौकिकता के अंश अपेक्षाकृत कम हैं। अनेक संदर्भों और घटनाओं को तर्कसंगत, सार्थक और युग के अनुरूप बनाने का सफल प्रयास किया गया है। 'वाल्मीकि रामायण', 'अध्यात्मरामायण' और 'मानस' में कैकेयी के वरदान माँगने और राम की वनयात्रा के उपाख्यान के प्रारंभ में, कैकेयी तथा दशरथ की आज्ञा पाकर, सुमंत्र राम को उनके पास बुला लाते हैं। परंतु इसके विपरीत, 'साकेत' के राम बुलाने पर नहीं, नैत्यिक कर्त्तव्य के रूप में प्रातःकाल स्वयम् पितृवंदना के लिए जाते हैं। इससे एक ओर अनावश्यक प्रसंग से काव्य की रक्षा हुई है तो दूसरी ओर राम की पितृभक्ति को अधिक भास्वर बना दिया गया है। गुप्तजी के राम, केवल

१. साकेत ५। पृष्ठ १२७, १५-१६ २. मानस ३।६

राजकुमार ही नहीं अपितु कलाकुशल, कृती और स्वावलंबी भी हैं और वाल्मीकि के राम के सदृश अपनी नौका का स्वयम् निर्माण करते हैं।

कैकेयी की कोप की स्थिति में, 'साकेत' के राम उन्हें 'देवी' और तुलसी के राम 'माता' कहकर संबोधित करते हैं। गुप्तजी के राम के संबोधन में कुछ दूरी का-सा भाव है। गुप्तजी ने राम के स्वरूप में कोई क्रांतिकारी अथवा अधिक परिवर्तन नहीं किया है, केवल नूतन रंग चढ़ाया है। 'मानस' की अपेक्षा 'साकेत' में राम को अधिक मानवीय भूमिका पर संस्थित किया गया है और पारिवारिक भूमि पर उनका व्यक्तित्व उद्घाटित हुआ है। 'मानस' के राम, सीता या लक्ष्मण से हास्य-विनोद नहीं करते, परंतु 'साकेत' में इस दिशा में मानवीय पक्षों और संवेदनशीलता को अधिक प्रश्रय मिला है।

'साकेत' में लक्ष्मण को शक्ति लगने के पश्चात् राम एकाएक क्रोधांध होकर भीषण मारकाट मचाते हैं और 'भाई का बदला भाई ही' कहकर कुंभकर्ण का वध कर डालते हैं। रावण को मूर्च्छित देखकर उन्हें लक्ष्मण की मूर्च्छा का स्मरण हो आता है और वे रावण की सहृदयता की आशंसा करते हैं। ऐसे पार्श्व 'मानस' में अनुपलब्ध हैं।

तुलसी और गुप्तजी के राम में प्रधान और मूलवर्ती अंतर यह है कि जहाँ 'मानस' में ईश्वर की मानवता का प्रदर्शन है, वहाँ 'साकेत' में मानव के ईश्वरत्व का। 'मानस' जैसा राम का भव्य और उदात्त रूप 'साकेत' में नहीं मिलता। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का अभिमत है कि 'साकेत' महाकाव्य ही नहीं आधुनिक हिंदी का युग-प्रवर्त्तक महाकाव्य है। समस्त हिंदी जगत् को इसका गर्व और गौरव है। वस्तुतः भगवान् राम का चरित्र ही कविता है :

राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय, सहज संभाव्य है।

प्रो० शिवअवतार रस्तोगी

तुलसी और विनयपत्रिका

तुलसी-काव्य के अंतर्गत 'मानस' पश्चात् सर्वोपरि स्थान 'विनय-पत्रिका' को प्राप्त है। वस्तुत: 'विनयपत्रिका' वैयक्तिक के पद-शैली में लिखा हुआ एक 'स्वान्त: सुखाय' काव्य-ग्रंथ है। इस ग्रंथ के अवलोकन से ज्ञात होता है कि तुलसी के 'स्व' का क्षेत्र अत्यंत विशाल है क्योंकि उनके 'स्व' में समस्त जन-समाज का 'स्व' समाया हुआ है। स्वयं को पतित, पापी, अघ की खान और मूर्ख कहकर मानो उन्होंने इस प्रकार के लोगों का प्रतिनिधित्व करते हुए उनके कल्याण की कामना की है।

भगवान राम के दरबार में हनुमान जी की प्रेरणा से प्रेषित इस पत्री (पत्रिका) में दरबारी नियमों का भी पूर्णत: निर्वाह हुआ है। शासक अथवा उच्च पदाधिकारी तक 'पहुँच' (Source) भिड़ाने के लिए मध्यस्थ अधिकारियों की प्रसन्नता अनिवार्य होती है। तुलसीदास ने भी इस परंपरा को ध्यान में रखकर सर्वप्रथम विघ्न-विनाशक 'गणेशजी' तथा अन्यान्य देवी-देवताओं की अभ्यर्थना की है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी कार्य की सफलता, अधिकारी की मुखमुद्रा (Mood) पर निर्भर रहती है। शायद इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए तुलसीदासजी सीताजी से कोई कारुणिक प्रसंग चलाकर, अपनी 'सुधि' दिलाने का निवेदन करते हैं :

कबहुँक अंब्र अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी कछु करुन-कथा चलाइ।[1]

१. विनयपत्रिका ४१

यद्यपि तुलसीदास अपने आराध्य 'राम' की पावन लीलाओं का चित्रण 'रामचरितमानस' में बड़े सुंदर ढंग से कर चुके थे किंतु शायद इस रोचक ग्रंथ की रचना से भी उनके भक्त-हृदय को तृप्ति नहीं मिली और तब उन्होंने अपने हृदय की निश्छलता और भगवान राम की भक्तवत्सलता प्रकट करने के लिए ही इस 'पत्रिका' का सृजन किया। अंतिम रचना होने के कारण ही इस ग्रंथ में कवि के गहनतम अनुभवों का दिग्दर्शन हो सका है। अपनी कतिपय विशेषताओं के कारण कुछ विचारक 'पत्रिका' को 'मानस' से भी उच्च स्थान देते हैं। यहाँ उन विशेषताओं पर विचार करने का प्रयास किया गया है :

संगीतात्मकता : विनय-पत्रिका में संगीत और काव्य का जैसा सुंदर सामंजस्य मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। कल्याण, गौरी, असावरी, भैरवी, केदारी, मल्हार आदि विभिन्न राग-रागनियों को देखने से लगता है कि तुलसीदास संगीत-कला के भी कुशल मर्मज्ञ थे। पत्रिका का प्रत्येक पद संगीत के किसी न किसी राग का उदाहरण बनकर प्रस्तुत हुआ है। गीतिकाव्य की दृष्टि से भी विनयपत्रिका का स्थान अत्यंत उच्च है, क्योंकि भावुकता के साथ ही उसमें आत्म समर्पण की भी सहज एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है :

जाऊँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतित-पावन जग, केहि अति दीन पियारे।[1]

समन्वयवाद : तुलसीदास अपने समय के सबसे बड़े समन्वयवादी कवि थे। उनके समय में विभिन्न मतमतांतरों और पारस्परिक वैमनस्य तथा पाखंड के कारण हिंदू-समाज रसातल की ओर जा रहा था। विरोध से केवल विरोध ही बढ़ेगा ऐसा सोचकर भक्त तुलसी ने, समाज-सुधार के लिए, खंडन-मंडन की नीति को स्वीकार न करके समन्वयवादी नीति को अपनाया। उन्होंने सभी देवी-देवताओं की स्तुति करके विभिन्न संप्रदायों में सामंजस्य लाने का प्रयास किया। शिवजी की स्तुति में वे कहते हैं :

को जाँचिए संभु तजि आन।
दीनदयालु भगत-आरति-हर, सब प्रकार समरथ भगवान।[2]

देवी (शक्ति) की उपासना में उनका कथन है :

जय जय जगजननि देवि, सुर-नर-मुनि-असुर सेवि।
भक्ति-मुक्ति-दायिनी भय-हरणि कालिका।

१. विनयपत्रिका १०१ २. विनयपत्रिका ३

मंगल-मुद-सिद्धि-सदनि, पर्वशर्वरीश वदनि।
ताप-तिमिर-तरुण-तरणि-किरण-मालिका।[1]

हनुमान के प्रति तो तुलसी का परम विश्वास है :

जाके गति है हनुमान की।
ताकी पैंज पूजि आई, यह रेखा कुलिस पषानकी।[2]

इस प्रकार सभी देवी देवताओं की स्तुति करके तुलसीदास ने शैव, शक्ति और वैष्णवों के संघर्ष को ही समाप्त नहीं किया अपितु सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में राम की उपासना करके इस संघर्ष का भी समाधान कर दिया।

भगवान राम की अनन्य भक्ति : 'चकोर' और 'चातक' पक्षी का आदर्श लेकर तुलसीदास ने भगवान राम की अनन्य भक्ति की है :

(क) तुलसिदास जाचक-रुचि जानि दान दीजै।
रामचंद्र चंद्र तू, चकोर मोहिं कीजै।[3]

(ख) राम राम रमु, राम राम रटु, राम राम जपु जीहा।
राम-नाम-नव-नेह-मेह को मन ! हठि होहि पपीहा।[4]

अनेक देवी-देवताओं की स्तुति करते हुए भी तुलसी का अंतिम लक्ष्य राम की अटल भक्ति प्राप्त करना है :

(क) माँगत तुलसिदास कर जोरे, बसहिं रामसिय मानस मोरे।[5]
(ख) बेद पुरान प्रगट जस जागै, तुलसी रामभगति बर माँगै।[6]

अपने आराध्य के प्रति तुलसी को इतना अधिक विश्वास है कि वे अन्यत्र कहीं भी जाने को प्रस्तुत नहीं :

(क) कहाँ जाऊँ, कासौ कहौं, को सुनै दीनकी।
त्रिभुवन तुही गति सब अंगहीनकी।[7]

सर्वत्र दास्य-भाव की भक्ति द्वारा, अपनी एवं आराध्य देव राम, दोनों की मर्यादा की रक्षा करते हुए भी 'तुलसी' में कहीं-कहीं 'सूर' जैसी हठवादिता आ गई है।

पन करिहौं हठि आजुतें रामद्वार पर्‌यो हौं।
'तू मेरो' यह बिन कहे उठिहौं न जनमभरि प्रभु, की सौंकरि निवर्‌योहौं।[8]

---

१. विनयपत्रिका १६ २. विनयपत्रिका ३० ३. विनयपत्रिका ८०
४. विनयपत्रिका ६५ ५. विनय पत्रिका १ ६. विनयपत्रिका २
७. विनयपत्रिका १७९ ८. विनयपत्रिका २६७

हृदय की निश्छलता : विनयपत्रिका में तुलसीदास ने अपने निश्छल हृदय को उन्मुक्त करके दिखलाया है। अपने आराध्य के समक्ष उन्होंने किसी भी दोष को छिपाने का प्रयास नहीं किया :

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी[१]

अपने मन की मूर्खता और सांसारिक प्रपंचों से घबराकर वे कहते हैं :

ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि राम-भगति-सुर-सरिता आस करत ओसकन की।[२]

अंत में अविचल हरि-भक्ति की कामना करते हुए वे कहते हैं :

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ-कृपालु-कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो।[३]

तत्कालीन परिस्थितियों का दिग्दर्शन : भक्ति-परक काव्य होते हुए भी विनयपत्रिका में तत्कालीन परिस्थितियों का सम्यक् चित्रण हुआ है। अपने समय के सामाजिक-अन्याय, धार्मिक-अंध-विश्वास तथा राजनैतिक-कुचक्रों का तुलसीदास ने स्पष्ट वर्णन किया है :

राज-समाज कुसाज कोटि कटु कलपित कलुष कुचाल नई है।
नीति, प्रतीति प्रीति परमिति पति हेतुबाद हठि हेर हई है।
आश्रम-बरन-धरम-बिरहित जग, लोक-बेद-मरजाद गई है।
प्रजा पतित, पाखंड-पापरत, अपने-अपने रंग रई है।
सांति, सत्य, सुभ रीति गई घटि, बढ़ी कुरीति, कपट-कलई है।
सीदत साधु, साधुता सोचति, खल बिलसति, हुलसत खलई है।[४]

लोक कल्याण की भावना : वैयक्तिक शैली में रचित विनयपत्रिका एक भक्तिपूर्ण गीतिकाव्य है। व्यक्तिगत आत्माभिव्यक्ति एवं आत्मनिवेदन की प्रधानता होते हुए भी इस ग्रंथ में जीव मात्र के कल्याण की कामना की गई है। अपने मन के माध्यम से रामभक्ति का उपदेश देते हुए तुलसी कहते हैं :

राम-राम जपु जिय सदा सानुराग रे,
कलि न बिराग, जोग, जाग, तप, त्याग रे।
राम-नाम कामतरु देत फल चारि रे,
कहत पुरान, बेद, पंडित, पुरारि रे।[५]

१. विनयपत्रिका ७९ २. विनयपत्रिका ९० ३. विनयपत्रिका १७२
४. विनयपत्रिका १३९ ५. विनयपत्रिका ६७

उक्ति-वैचित्र्य एवं अर्थ-गौरव : निर्मल और निश्छल हृदय होते हुए भी तुलसीदास ने दरबारी-परंपरा के अनुकूल चातुर्य एवं कौशल का आश्रय लिया है। आज के युग में जैसे किसी परमिट अथवा कोटे के लिए मंत्री से पूर्व उसकी पत्नी को प्रसन्न करना अनिवार्य होता है उसी प्रकार तुलसीदास ने पहले जगमाता सीता को अपने पक्ष में कर लेने का प्रयास किया :

> कबहुँक अंब, अवसर पाइ।
> मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन-कथा चलाइ।
> सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ।[1]

उक्ति वैचित्र्य के साथ-साथ तुलसी के काव्य में अर्थ-गौरव भी द्रष्टव्य है :

> हौं सनाथ ह्वै हौं सही, तुमहूं अनाथपति जो लघुतहि न भितैहो।[2]

यहाँ लघुता की पराकाष्ठा दिखलाने के साथ ही तुलसीदास आश्वस्त हो जाना चाहते हैं कि कहीं जगन्नियंता भगवान राम उनकी लघुता से भयभीत न हो जायें। भगवान को उकसाने के लिए तुलसीदास ने वाक्पटुता का आश्रय लेकर उन्हें 'निष्ठुर' कहने में भी संकोच नहीं किया और बदनामी का भय दिखलाकर धमकाया भी है :

> (क) तुलसिदास सीदत निसिदिन, देखत तुम्हारि निठुराई।[3]
> (ख) अब तुलसी 'पूतरो बाँधिहै, सहि न जात मो पै परिहास एते।[4]

निम्नलिखित पंक्तियों में शालीनता और नीति-पूर्ण हास्य के साथ कितना अर्थ-गौरव छिपा है! तुलसीदास नहीं चाहते कि भगवान राम प्रार्थना को स्वीकार करने से पूर्व पत्र अपने सहयोगियों से पढ़वायें अथवा परामर्श लें :

> 'विनय पत्रिका' दीन की बापु! आपु ही बाँचो।
> हिये हेरि तुलसी लिखी सो सुभाय, सही करी बहुरि पूंछिये पाँचो।[5]

काव्य सौंदर्य : संत शिरोमणि तुलसीदास एक प्रकृति-सिद्ध कवि थे। 'आचार्यत्व की प्राप्ति' उनका लक्ष्य नहीं था, फिर भी काव्य-शास्त्र के सभी लक्षणों का समावेश उनके ग्रंथों में उपलब्ध है। ध्वनि, रस, अलंकार एवं भाव-व्यंजना की दृष्टि से विनय-पत्रिका एक श्रेष्ठ काव्य रचना है। शांतरस का तो इसे महासागर ही कहना उचित है। अलंकारों की दृष्टि से पत्रिका का एक-एक

---

१. विनयपत्रिका ४१ २. विनयपत्रिका २७० ३. विनयपत्रिका ११२
४. विनय पत्रिका २४१ ५. विनयपत्रिका २७७

पद सुंदर और चमत्कारपूर्ण अलंकारों से अलंकृत है। सांगरूपक के उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

नाचत ही निसि-दिवस मर्‌यो।
तब ही ते न भयो हरि थिर जब तें जिव नाम धर्‌यो।
बहु बासना बिबिध कंचुकि भूषन लोभादि भर्‌यो।
चर अरु अचर गगन जल-थल में, कौन न स्वाँग कर्‌यो।[1]

निर्मल हास्य एवं उक्ति वैचित्र्य के साथ व्याज-स्तुति की छटा देखिये :

बावरो रावरो नाह भवानी।
दानी बड़ो दिन देत दये बिनु, बेद बड़ाई भानी।
निज घर की बर बात विलोकहु, हौ तुम परम सयानी।
सिव की दई संपदा देखत, श्री-सारदा सिहानी।[2]

संस्कृतज्ञ होते हुए भी तुलसीदास ने लोकप्रचलित ब्रज और अवधी को ही अपनाया है क्योंकि उनका लक्ष्य था—'कीरति भनति भूति भल सोई, सुरसरि सम सब कहँ हित होई।' 'पत्रिका' के प्रारंभिक पदों की ब्रजभाषा अवश्य ही संस्कृत-गर्भित है किंतु शेष पदों में अरबी, फारसी, अवधी तथा उर्दू आदि के शब्दों का भी आवश्यकतानुसार प्रयोग हुआ है। लोक-प्रचलित कहावतों एवं मुहावरों के कारण काव्य में रोचकता एवं चमत्कार उत्पन्न हो गया है :

करम उपासन, ज्ञान बेदमत, सो सब भाँति खरो।
मोहिं तो सावन के अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो।[3]

स्थायीभाव निर्वेद (विरक्ति) होने के कारण पत्रिका में सर्वत्र शांतरस की अभिव्यक्ति हुई है।

दार्शनिक संघर्षों की समाप्ति: तुलसी के समय में अनेक प्रकार के दर्शन पारस्परिक विरोध के द्वारा हिंदू समाज को भ्रमित कर रहे थे। इस द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत आदि के संघर्ष को समाप्त करने के लिए वे कहते हैं :

केसव ! कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र हरि ! समुझि मनहिं मन रहिये।
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम, सो आपन पहिचानै।[4]

---

१. विनयपत्रिका ६१ २. विनयपत्रिका ५
३. विनयपत्रिका २२६ ४. विनयपत्रिका १११

भक्त प्रवर 'तुलसी' सब प्रकार के वादों से ऊपर केवल भक्ति मार्गी संत थे। उनके दार्शनिक सिद्धांतों का निचोड़ निम्नस्थ पंक्तियों में द्रष्टव्य है :

(क) राम-नाम-नव-नेंह-मेह को मन ! हठि होहि पपीहा।[1]

(ख) मन-मधुकर पन कै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं।[2]

(ग) तुलसिदास-हरि-गुरु करुना बिनु बिमल बिबेक न होई :
बिनु बिबेक संसार-घोर-निधि पार न पावै कोई।[3]

तुलसीदास के दार्शनिक सिद्धांत शंकराचार्य के अद्वैत और रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत से प्रभावित हैं। अद्वैतवाद के 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या' के अनुसार वे सांसारिक वैभव एवं विषय वासनाओं की निंदा करते हैं :

(क) जग नभ वाटिका रही है फल फूलि रे।
धुंआ के से धौरहर देखि मत भूलि रे।

(ख) सोवत सपनेहुँ सहै-संसृति-संताप रे।
बूड़यो-मृग बारि, खायो जेवरीको साँप रे।[4]

तुलसी की दृष्टि में जीव और ब्रह्म दोनों ही माया से प्रभावित हैं और इस माया से मुक्ति का उपाय केवल राम-कृपा की प्राप्ति है :

अछु कछु समुझि परत रघुराया।
बिनु तव कृपा दयालु ! दास-हित, मोह न छूटै माया।[5]

इस प्रकार 'विनय-पत्रिका' में काव्यात्मक ढंग से दार्शनिक सिद्धांतों का भी सम्यक् निरूपण हुआ है।

श्री वियोगी हरि के शब्दों में—'यह ग्रंथ भक्ति रस का अथाह सागर है, इसमें से अनेक रसिकों ने सुधा-पान किया है, अनेक कर रहे हैं और अनेक अभी करेंगे।[6]

---

१. विनयपत्रिका ६५ २. विनयपत्रिका १०५ ३. विनयपत्रिका ११५
४. विनयपत्रिका ७३ ५. विनयपत्रिका १२३
६. विनयपत्रिका हरितोषिणी टीका, वियोगी हरि पृ० ३७-३८

डॉ० रामदेव शुक्ल

विनयपत्रिका और मानस की भूमियाँ

महात्मा तुलसीदास का साहित्य उनकी तपश्चर्या की अभिव्यक्ति-शृंखला है जिसमें ऊर्ध्व चेतना का आरोहण क्रमशः लक्ष्य किया जा सकता है। आध्यात्मिक अनुभवों के विषय में 'गीता' जैसे ग्रंथ एवं 'रामकृष्ण' जैसे परमहंस का साक्ष्य है कि तापस, चेतना के जिस स्तर पर पहुँच जाता है, वहाँ से नीचे नहीं उतरता। यहाँ तक कि जीवन (देह) की समाप्ति पर भी नहीं। योगच्युत योगी अगले जन्म में वहीं से प्रारंभ करता है जहाँ आध्यात्मिक अनुभवों की शृंखला उससे छूट गयी रहती है। ऐसी स्थिति में यह संभव नहीं कि एक ही शरीर में चेतना एक बार उच्चतर स्तर को प्राप्त करने के बाद पुन सांसारिक धरातल पर लौट आये। महात्मा तुलसीदास की साहित्य-साधना का जो क्रम सामान्यतः स्वीकृत है उसमें इस प्रकार का विपर्यय दीख पड़ता है। 'मानस' की भूमि सिद्धावस्था की भूमि है, जहाँ साधक को सिद्धि मिल चुकी है, उसका तप पूरा हो चुका है। अतः उसे कोई कामना, कोई भय अथवा कोई चिंता नहीं। वहाँ वह कह सकता है :

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे,
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च।[1]

मानस 'कामादिदोष रहितं' करने की याचना का स्वरूप सामान्य व्यक्ति की याचना से भिन्न स्तर का है। सामान्य व्यक्ति इंद्रियों की माँग को

१. मानस ५। श्लोक २

पग-पग पर स्वीकार करता हुआ आचरण करता है। उसकी इंद्रियाँ कभी उस प्रबल निषेध का अनुभव नहीं करतीं, जिसका अनुभव साधक की इंद्रियों को करना पड़ता है। तापस जब इंद्रियों की माँग को अस्वीकार करता चलता है तब उन इंद्रियों की विषयग्राह्यता की शक्ति क्रमशः बढ़ती चलती है। जिह्वा के आग्रह पर चटपटा पदार्थ खाते रहने वाले व्यक्ति की अपेक्षा जिह्वा पर अंकुश रखने वाले व्यक्ति की पाचन-शक्ति तथा आस्वादन शक्ति प्रबलतर होती है। इस उदाहरण से समझा जा सकता है कि निषेधों के कारण तापस की इंद्रियों की शक्ति प्रबल और अदम्य होती है। सांसारिक व्यक्ति को उस प्रबल अदम्यता का अनुभव नहीं हो सकता। सिद्धावस्था में पहुँचने से पूर्व भक्त इसलिए निरंतर भगवान से (इंद्रियों के सर्वसमर्थ स्वामी से) प्रार्थना करता रहता है कि वे उसे उसकी इंद्रियों के प्रबल आग्रह से बचायें। यह केवल भगवान की कृपा से ही संभव है। मन का इंद्रियों के साथ जुड़ना मनुष्य को संसारी बनाता है और मन का इद्रियों से अलग रहना संसार से अलग करता है, अतींद्रिय लोक की ओर ले जाता है। यहाँ इंद्रियों की शक्ति का महत्व नहीं है। किसी व्यक्ति की सारी इंद्रियाँ अर्थात् विषयभोग की शक्ति नष्ट हो जाय, इतने ही से वह सिद्ध नहीं हो जाता। उसका मन इंद्रियों के असमर्थ रहने पर भी संसार की वस्तुसत्ता से अलग नहीं हो पाता। गालिब ने आसक्ति की पराकाष्ठा का एक मार्मिक संकेत दिया है :

गो हाथों में जुम्बिश नही, आखों में तो दम है।
रहने दो अभी सागरो मीना, मेरे आगे।

यह दम दरअसल आँखों का नहीं, मन का है, जो सागरो मीना से हट नहीं सकता।

तापस का मन इंद्रियों के प्रबलतम रूप में समर्थ रहने पर भी उनसे और परिणामस्वरूप उनके विषयों से अर्थात् संसार की वस्तुसत्ता से अलग रहता है। मन की इस स्थिति का नैरंतर्य भगवान की कृपा से ही संभव है, अन्यथा मन का स्वभाव बड़ा चंचल होता है।

'विनयपत्रिका' के अनेक पदों में संसार और उसकी विकराल सेना से भयभीत होने का जो वर्णन है, वह भक्त की साधनावस्था का भय है। इसलिए चूहे, कुत्ते, शृगाल, मगर और राक्षस के उपमानों द्वारा साधक अपने को डराये जाने की बात भगवान से करता है। संसार का चित्रण भयावने जंतुओं से भरे जंगल अथवा समुद्र के रूप में करते हुए साधक 'तुलसी' का भय उनकी अपनी

इंद्रियों का भय है जो मन को 'राम की ओर से खींचकर संसार की ओर लगाने का प्रयत्न करती हैं। विवेक उनके मन को रामोन्मुख करता है और इंद्रियाँ उसे विषयोन्मुख बनाना चाहती हैं। साधक को कष्ट के साथ यह आभास होता है कि मन की सहज रुझान विवेक के साथ न होकर इंद्रियों के साथ है, जबकि वह मन के स्वभाव को बदलना चाहता है। इसीलिए संतस्वभाव पाने की कामना करता है और कहता है कि मैं–'कलि बिलोकि हरयों हौं।' कलि अर्थात् संसार की वस्तुसत्ता अर्थात् इंद्रियों की प्रबलता का भय तब मिटेगा जब भक्त को भगवान अपना लेंगे। अपनाने की स्थिति के किसी बाह्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। भक्त का अंतःप्रमाण पर्याप्त है :

तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहैं।
जेहि सुभाव विषयनि लग्यो तेहि सहज नाथ सों नेह छाड़ि छल करिहैं।[1]

जिस सहनता से मन विषयों की ओर भागता है, उसी सहजता से जब भगवान की ओर भागने लगेगा, रोकने पर भी नहीं रुकेगा, तब भक्त को प्रमाण मिल जायेगा कि भगवान के द्वारा वह अपना लिया गया है।

इसी स्थिति को पाने के लिए 'विनयपत्रिका' में अनेक प्रकार से निवेदन किया गया है, कहीं अपने कष्टों की अपरिसीमता दिखाकर, कहीं संसार की विभीषिका का चित्रण करके, कहीं भगवान को रिझाते हुए, कहीं उन्हें उनके विरुद का स्मरण कराते हुए, कहीं बाहरी फाटक पर स्थित दरवान से दरबार तक पहुँचाने की सिफारिश करते हुए और कहीं माँ जानकी से भगवान राम के 'मूड' को देखकर तुलसी की चर्चा करने की प्रार्थना करते हुए :

कबहुँक अंब, अवसर पाइ।

मेरिऔ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ।[2]

तुलसी की बात चल पड़ी और भगवान का मिजाज ठीक न रहा, तब क्या होगा ? अतः वे माँ से कहते हैं कि पहले कोई करुण कथा कहिएगा जिससे उनका मन द्रवित हो जाय। तब मेरे संबंध में कहिएगा, वह भी सीधे नहीं, इस तरह कि धरती पर एक अत्यंत तुच्छ प्राणी है जो—'नाम लै भरै उदर एक प्रभु दासीदास कहाइ।'

आपकी दासी (तुलसी) का दास कहलाकर वह संसार में उदर पोषण करता है। भगवान के कान में मेरा नाम जायेगा और मेरी बात बन जायेगी :

---

१. विनयपत्रिका २६८ २. विनयपत्रिका ४१

सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ ।[1]

भक्त की यह बिगरी बनती है । 'विनयपत्रिका' के अंत में उसकी दरख्वास्त पर राम की सही हो जाती है । यह सही क्या है ? मन की वह स्थिति जिसमें ससार के मनुष्यों जैसी चंचल इंद्रियासक्ति समाप्त हो जाती है और उसका स्वभाव ही बदल जाता है । भक्ति को प्राप्त करने के लिए तपस्या करने वाले तापस की यह परम सिद्धि है ।

'रामचरितमानस' की अनुभूतियाँ चेतना के इसी स्तर की हैं । उनमें सिद्ध तुलसीदास को वे अनुभव प्राप्त हुए हैं जो सांसारिक व्यक्ति को नहीं होते और न सांसारिक व्यक्ति उन अनुभवों को तद्रूप समझ सकता है । मानस में सती का प्रसंग है और दो घड़ी में सौ-सौ वर्षों तक प्रत्येक में रह कर अनंत ब्रह्मांडों का भ्रमण करने वाले काकभुसुंडि का प्रसंग है, जिनमें दिक् और काल का विपर्यय दिखाई पड़ता है । काल के क्रम को सामान्य मनुष्य जिस रूप में जानता है, तुलसीदास उससे बहुत ऊपर उठे हुए हैं अतः वे इसको चेतना के उसी स्तर से देखते हैं । उनकी अतींद्रयानुभूति का यह भाव सत्य है कि अनंतावधानी भगवान एक साथ सभी कालों में सभी प्राणियों पर समान दृष्टि रखते हैं । उनके निकट काल खंडों में विभक्त नहीं है । इस अनुभूति की भूमि सिद्ध तापस की चेतना भूमि है ।

'मानस' कविकर्म नहीं है, वह स्वांतः सुखाय रघुनाथ की ऐसी गौरव गाथा है जो तापस की अतींद्रिय अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है । तुलसीदास का सुख संसार के सामान्य कवि का सुख नहीं है, क्योंकि संसार के मनुष्य की सुख के संबंध में जो धारणा है, तुलसीदास उसकी वास्तविकता को इतनी अच्छी तरह जानते हैं कि अपने मन को उधर (सांसारिक सुख) की ओर जाते देख उन्हें असह्य यातना होती है । 'विनयपत्रिका' में मन को सांसारिक सुख से हटाने के लिए ही सारी कातरता है । अतः 'मानस' का स्वांतः सुख संसारी व्यक्ति का सुख नहीं, सिद्ध तापस का सुख है जिसको समझने के लिए सुख की सांसारिक धारणा व्यर्थ है । एक सांसारिक उदाहरण से इसका आभास प्राप्त किया जा सकता है । एक व्यक्ति अपनी इंद्रियतृप्ति मात्र से सुखी हो जाता है, दूसरा अपने परिवार वालों को तृप्त देखकर सुख का अनुभव करता है, तीसरा पूरे देश के सुख के साथ अपने सुखबोध को जोड़ देता है और चौथा प्राणिमात्र के

१. विनयपत्रिका ४१

सुख के साथ। इन व्यक्तियों में सुख के बोध का विस्तार होता गया है और उसी के अनुरूप सुख-प्राप्ति दूर तक होती गई है। किंतु विशेष बात यह है कि ये सभी सांसारिक प्राणी हैं जिनको क्रमशः महान् पुरुष कहा जा सकता है। इनकी अनुभूतियाँ सांसारिक ही हैं। इनमें से विश्व के प्राणिमात्र के सुख की कामना करने वाला भी सुख की धारणा वही रखता है जो अन्य संसारी पुरुष रखते हैं। तुलसीदास विश्वात्मा को सुखी देखना चाहते हैं किंतु उस रूप में सुखी नहीं जिस रूप में कार्लमार्क्स। संसार के लोग दुखी हैं इस बात को मार्ल मार्क्स अपने ढंग से जानते हैं और तुलसीदास अपने ढंग से। तुलसीदास जानते हैं कि संसार के लोगों को साँप नहीं रस्सी दिखाई पड़ रही है, किंतु वे उसे साँप समझकर डर से चीख रहे हैं। अतः वे यह भी जानते हैं कि संसार के मनुष्य रस्सी को पीटने से भयमुक्त नहीं होंगे। वे भयमुक्त तब होंगे जब वे जान लेंगे कि वास्तविकता क्या है? यह ज्ञान उन्हें तब होगा जब उनके आभ्यंतर की वह अज्ञान की गाँठ खुल जायगी जो है ही नहीं :

जदपि मृषा छूटति कठिनई।[1]

'मानस' में तुलसीदास ने रूपकों और संकेतों से इसका प्रयत्न किया है कि मनुष्य निर्भ्रांत हो जाय। साथ ही वे मनुष्य की सीमा भी जानते हैं। इसीलिए कर्म, ज्ञान आदि साधनों का नहीं मनुष्य को 'राम' का भरोसा करने को कहते हैं। उन 'राम' की शरण में जाने को कहते हैं जिनकी कृपा सबको सुलभ है, बस उसको पहचानने की आवश्यकता है। सबके लिए इतना सहज, सुकर मार्ग बताकर उन्हें सुख मिलता है।

'मानस' में 'विनयपत्रिका' की भाँति अशांति नहीं है। वहाँ प्रारंभ से अंत तक एक रस शांति है। संसार उनसे बहुत नीचे छूट गया है, इसीलिए उसकी तरंगें अब तुलसीदास को प्रभावित नहीं करतीं। मानस के अंत मे वही निष्काम भाव :

कामिहिँ नारि पियारि जिमि, लोभिहिँ प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि़ँ राम।[2]

शरीर से असमर्थ कामी का मन निरंतर नारी भाव में रहता है, किसी अन्य उद्देश्य से नहीं, वह अपना उद्देश्य आप ही है। धन भोग्यवस्तुओं की प्राप्ति का साधन है किंतु लोभी की तृप्ति धन से ही होती है। वह दरिद्र की स्थिति में अभावग्रस्त रहना पसंद करता है, धन का वियोग उसके लिए अकल्पनीय है।

---

१. मानस ७।११७।२ २. मानस ७।१३० ख

कामी और लोभी के मन में स्त्री और धन के प्रति जो आवेगपूर्ण आसक्ति है, वही तुलसी के मन में अपने आराध्य 'राम' के प्रति है। उसको भी वे समान रूप में स्थित नहीं रखना चाहते। वे चाहते हैं कि वह आवेग बढ़ता चला जाय :

हेतु रहित अनुराग रामपद बढ़ै अनुदिन अधिकाई।

सायुज्य की स्थिति में यह भाव संभव नहीं, इसीलिए वे उसकी कामना ही नहीं करते। वे तो जिस योनि में कर्मफल के अनुसार जायँ, कोई चिंता नहीं करते। बस चाहते हैं कि :

कुटिल करम लै जाइ मोहिं जहँ जहँ अपनी बरिआई।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़िये, कमठ-अंड की नाईं।[1]

'रामचरितमानस' में उन्हें भगवान का यह छोह मिल गया है। 'विनय-पत्रिका' इस स्थिति के लिए याचना का ग्रंथ है और 'मानस' इस स्थिति के अनुभव का। संसार-भय से ग्रस्त तापस भवभयहरण भगवान से प्रार्थना करता है कि उसे भक्ति की सिद्धि मिले जिससे वह उस भय से, संसारोन्मुख-मन के चांचल्य से मुक्त हो जाय। मानस में तुलसी का मन शांत, स्थिर है। वहाँ वह संसार की ओर उन्मुख नहीं है, अतः संसार से अब उन्हें कोई डर नहीं।

विनयपत्रिका को मानस के बाद की रचना नहीं माना जा सकता क्योंकि मानस में तुलसीदास की चेतना का जो स्तर है वह विनयपत्रिका से ऊपर का है। आध्यात्मिक अनुभव के क्षेत्र में ऊपर से नीचे चेतना नहीं आती। अतः मानना पड़ेगा कि विनयपत्रिका के पद तुलसीदास के जीवन के अधिकांश वर्षों में रचे गये हैं। मानस की रचना से पहले उनका संग्रह नहीं हुआ, यह और बात है। प्राचीनतम प्रतिलिपि के आधार पर अथवा एकाध पंक्ति के साक्ष्य के आधार पर विनयपत्रिका के संपूर्ण पदों का रचनाकाल मानस के बाद मानने की स्थिति में सिद्ध तुलसीदास के अपने विगत अनुभवों की स्मरणिका के रूप में विनयपत्रिका को देखना पड़ेगा। अन्यथा तुलसीदास को संसारग्रस्त जीव मान लेने की भ्राँति हो जाने की संभावना अनिवार्य हो जाती है।

रामचरितमानस में देवी-देवताओं के प्रति जो उपेक्षा का भाव है, वह निर्भ्रांतीकरण के बाद का ही है। विनयपत्रिका के अनेक पदों में राम की भक्ति पाने के लिए साधक लोकपूज्य देवी-देवताओं से कातर होकर प्रार्थना करता

१. विनयपत्रिका १०३

है। यद्यपि उसी क्रम में उसे यह भी स्पष्ट होता चलता है कि ये बेचारे तो स्वयं भवग्रस्त हैं, तो दूसरे को कैसे मुक्त करेंगे :

सब माया बिबस बिचारे
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु, कहाँ अपनपो हारे।[1]

वे भवग्रस्त मनुष्यों के साथ स्वार्थ की अदला-बदली करते हैं, और वे भी उन्हें ठगते हैं :

स्वारथ के साथी मेरे हाथी स्वान लेवा देई,
काहू तो न पीर रघुवीर दीन जनकी।

अतः इन सबके समक्ष कातर होना निरर्थक है, केवल राम के समक्ष कातरता फलवती है। यही कारण है कि मानस में देवताओं, इंद्र आदि के प्रति उपेक्षा का भाव निरंतर मिलता है।

अतः स्पष्ट है कि मानस की भूमि सिद्धावस्था की भूमि है और उससे पूर्व साधक तुलसी की तैयारियाँ हैं जिसके प्रमाण विनय के अनेक पदों में मिलते हैं जो संकलित भले ही मानस के उपरांत किये गये हों।

---

१. विनयपत्रिका १०१

डॉ गिरिधर प्रसाद शर्मा

विनयपत्रिका में तुलसी का व्यावहारिक मुक्ति-मार्ग

भारतीय ऋषि मुक्ति-मार्ग की खोज में सबसे अधिक चिंतनशील रहे हैं। सुख-दुःख, राग-विराग से युक्त इस संसार से आत्मा को अलग कर लेना ही मुक्ति है। अलग कर लेने से मेरा तात्पर्य आत्मा को अप्रभावित रखना है। तीनों प्रकार के दुःखों से बिल्कुल निवृत्त हो जाना ही मानव-जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य है।[1] सांख्य-दर्शन इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विवेक को ही साधन मानता है। इस विवेक से जड़ और चेतन, प्रकृति और पुरुष का वास्तविक ज्ञान होता है। योग-दर्शन के अनुसार आत्मा और तीनों गुणों के संयोग का अभाव हो जाना ही कैवल्य है।[2] कैवल्य अर्थात् प्रकृति से आत्मा का पूर्णरूप से अलग हो जाना और अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना। पुरुष (आत्मा) और प्रकृति का संयोग अज्ञान जनित है। आत्मदर्शन से अज्ञान दूर होता है। तब आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही चेतन आत्मा का कैवल्य है।[3] वंश-परम्परा और परिवेश से प्राप्त संस्कारों का समूह ही हमारे जीवन-व्यापार का प्रेरक-तत्व है। हमारे अच्छे-बुरे कर्मों के ये ही कारण हैं। इन सभी संस्कारों से चेतना को स्वतंत्र कर लेना ही मुक्ति है।

तुलसीदास जी का मत है कि शरीर के विकारों को त्यागने पर ही जीवात्मा का अपने स्वरूप में—आत्मस्वरूप में—प्रेम होता है। आत्मस्वरूप

---

१. सांख्य-दर्शन १।१ २. योग-दर्शन ४।३४ ३. योग-दर्शन २।२५

को पा जाने पर ही संतोष, समता, शांति की प्राप्ति एवं मन-इंद्रियों का निग्रह स्वाभाविक हो जाता है। फिर उस पर दुःख-सुख का प्रभाव नहीं पड़ता, हर्ष-शोक नहीं व्यापता :

देह-जनित बिकार सब त्यागै। तब फिरि निज स्वरूप अनुरागै।

+ + +

निरमल, निरामय एकरस, तेहि हरष-सोक न ब्यापई।
त्रैलोक-पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई।[१]

अब यह देखना है कि तुलसीदास अपने आत्मस्वरूप को प्रेम करने में किस प्रकार और कहाँ तक सफल हुए हैं ?

पत्नी से उपेक्षा भरा उपदेश पाने पर तुलसीदास के राग (मन अथवा मानसिक शक्ति) की बेगवती धारा में क्षोभ पैदा हुआ। प्रकृत-पथ अवरुद्ध होने पर राग-प्रवाह राम की ओर मुड़ा क्योंकि 'अकारन को हितू और को है।[२] किंतु पत्नी तथा अन्य सुख-प्रद वस्तुओं से जुड़े राग को पुनः अपने अहम् की ओर मोड़ना अर्थात् विवेक के अधीन करना और फिर स्वेच्छा से अन्य आलंबन की ओर मोड़ना सुलभ नहीं है। इस अत्यंत प्रबल और अजेय राग को वश में करने के लिए वे जगत् के प्रेरक भगवान से निवेदन करते हैं।[३] फिर भी राग की इस ग्रंथि को बाह्य उपायों से खोलने का प्रयत्न व्यर्थ हो रहा है—'बाहिर कोटि उपाय करिअ, अभ्यंतर ग्रंथ न छूटै।[४]'

सुखप्रद वस्तुओं से नाता तोड़ना कठिन है। किंतु तुलसीदास जी इनसे नाता तोड़ना चाहते हैं। ऐसा सोचना अन्याय होगा कि तुलसीदास जी जैसे समर्थ व्यक्ति सांसारिक सुख-भोग की वस्तुओं का संग्रह नहीं कर सकते थे। वे सब कुछ कर सकते थे किंतु सांसारिक सुख अंतिम लक्ष्य नहीं हो सकता है। एक न एक दिन तो इनसे अलग होना ही है। अतः तुलसीदास स्वेच्छा से अपने मन को सांसारिकता से मोड़ने का प्रयत्न करते हैं और तब वे सुखप्रद वस्तुओं के कष्टमय रूप को मन के सामने रखते हैं।

जब से ईश्वर ने जीव नाम रख दिया, तभी से स्थिरता जाती रही और नाचते ही नाचते रात दिन बीतने लगे।[५] सांसारिक सुख-प्राप्ति के उपाय ही करते करते जीवन समाप्त हो रहा है किंतु आत्मसुख नहीं मिला।[६] आत्मसुख नहीं

१. विनयपत्रिका १३६।११
२. विनयपत्रिका २३०
३. विनयपत्रिका ८९
४. विनयपत्रिका ११५
५. विनयपत्रिका ९१
६. विनयपत्रिका २४५

मिला। इसका कारण यही है कि राग प्रतिकूल आलंबनों से जुड़ा हुआ है। यही तो परवशता है। सबसे बड़ी गुलामी है। नाना प्रकार के दृष्टांतों के द्वारा और बाह्य आकर्षक वस्तुओं के कष्टप्रद परिणामों के वर्णन के द्वारा तुलसीदास अपने मूढ़ मन को समझाते हैं। इस प्रकार वे सुखप्रद वस्तुओं से जुड़े राग को स्ववश करने का निरंतर प्रयास करते हैं। मानव की मानसिक शक्ति को वे अच्छी तरह से समझते हैं :

असन, बसन, पसु, बस्तु-बिबिध-बिधि, सब मनि मँह रह जैसे।
सरग, नरक, चर, अचर, लोक बहु, बसत मध्य मन तैसे।[1]

वे यह भी अनुभव करते हैं कि द्वैत भाव से उत्पन्न सांसारिक दुःख, भ्रम और शोक यह सब मन के विकारों के कारण ही है। शत्रुता, मित्रता और उदासीनता भी बहुत कुछ मन के मानने की ही बात है। अतः यदि यह मन संकल्प-विकल्प त्याग दे और द्वैत-भाव भुला दे तब चैतन्य के विलास रूप जगत् को यह समझते-समझते समझ जाएगा।[2] दुःखमय संसार के बंधन से राग को खोलने और स्थानांतरण प्रक्रिया द्वारा 'अति कोमल करुना निधान बिनु-कारन पर उपकारी' राम को राग का आलंबन बनाने की साधना में ही 'विनयपत्रिका' के पद गाए गए हैं। उदार राम के अतिरिक्त दूसरा कौन सुख दे सकता है :

बिनुसेवा जो द्रवै दीन पर, राम सरिस कोउ नाहीं।

+ + +

तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो।
तौ भजु राम, काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरो।[3]

तुलसीदास ने अपनी चेतना के सामने एक उच्चतर आदर्श रखा :

मैं निरंतर दूसरों की भलाई करने में लगा रहूँगा। मन, वचन तथा कर्म से यम-नियमों का पालन करूँगा। कठोर और असह्य बात को सुनकर भी क्रोध नहीं करूँगा। अभिमान त्यागकर बुद्धि को संयत और मन को शांत रखूँगा। दूसरों का गुण कहूँगा, दोष नहीं। शरीर संबंधी चिंता का त्याग करके दुःख और सुख को समान भाव से सहूँगा।[4]

---

१. विनयपत्रिका १२४
२. 'जौ निज मन परिहरै विकारा।' विनयपत्रिका १२४
३. विनयपत्रिका १६२
४. विनयपत्रिका १७२

नैतिक दृष्टि से अपने मन को दृढ़ और निर्मल बनाने पर कवि को संसार का वास्तविक रूप दिखाई पड़ता है। यह जगत् कितना विचित्र, कितना भ्रम-पूर्ण तथा कितना अस्थिर है–यह सब कवि को स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है। उस निराकार-चित्रकार ने इस जगत् रूपी चित्र को बिना किसी रंग के, केवल संकल्प मात्र से ही शून्य (माया) दीवार पर बना दिया। कितना विचित्र चित्र है यह! यह चित्र धोने से मिटता नहीं है। यह चित्र जड़ नहीं चेतन है। इसे मृत्यु का भय बना रहता है। इस भयानक जगत् रूपी चित्र को देखकर मन दुखी हो जाता है। आकर्षक वस्तुओं के पीछे भ्रमवश सुख पाने की आशा से जाने वालों को निराकार काल खाता जाता है। इस चित्र रूपी जगत् को कोई सत्य कहता है, कोई मिथ्या कहता है, कोई सत्य और मिथ्या दोनों बताता है। किंतु तुलसीदास जी इन तीनों को भ्रम मानते हैं। अतः जो व्यक्ति इन तीनों भ्रमों से निवृत्त हो जाता है वह अपने असली स्वरूप को पहचान सकता है।[1]

अरी जीभ! तू भगवान राम का गुणगान क्यों नहीं करती! दूसरों की निंदा करके बेकार ही आसक्ति (राग) क्यों बढ़ाती है। मनुष्य के सुंदर, पवित्र मुख-मंदिर में बसकर क्यों उसे लज्जित कर रही है। विषय-वासना की बातों को सुनना बंद कर। हरि की सुंदरकीर्ति का गान कर। बुद्धि रूपी सोने के तार से मुक्ति रूपी सुंदर मणियों का हार बना और शरण में आए की रक्षा करने वाले राम को पहना दे, अर्थात् शुद्ध बुद्धि और समस्त उत्तम युक्तियों से राम का गुणगान कर। वाद-विवाद के स्वाद को त्यागकर राम के सुंदर कार्य-व्यापारों का गान कर। इससे तुलसीदास भी जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाएगा और तुझे भी पवित्र यश मिलेगा।[2]

परंपरा एवं शास्त्रों से पोषित शक्ति, शील एवं सौंदर्य आदि गुणों से युक्त राम की शरण में अपने को मानकर तथा अपने अहम् के लिए उच्चतर जीवन का आदर्श निश्चित कर तुलसीदास जी अपने व्यक्तित्व को अधिक सशक्त, सक्रिय, संवेदनशील, स्वस्थ, संतुलित एवं मंगलमय बनाने में सफल होते हैं। इसके पश्चात् बाह्य वस्तुओं में फँसे राग को मुक्त करने तथा उसे अपने अहम् में स्थिर करने में उन्हें सफलता मिलती है। संसार के सभी दृश्य उदर में समा जाते हैं-राग संसार से हटकर अहम् में अभिनिविष्ट हो जाता है–तर्क, विश्लेषण, चिंतन, मनन द्वारा द्वैत भाव समाप्त हो जाता है :

१. विनयपत्रिका १११ २. विनयपत्रिका २३७

सकल दृश्य निज उदर मेलि, सोवे निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख, अतिसय द्वैत-बियोगी।
सोक मोह भय हरण दिवस-निसि, देस-काल तहँ नाहीं।[1]

राग के अहम् में अभिनिविष्ट हो जाने पर तुलसीदास जी अपने अहम् को उच्चतर आदर्शों और राम के गुणों में विकसित कर लेते हैं। चेतना की इस विकसित अवस्था को प्राप्त करने पर प्रारंभिक उदासीनता और कड़वाहट दूर हो जाती है। नए दृष्टिकोण का विकास होता है। तब उन्हें इसी संसार में जीवन अच्छा लगने लगता है।[2] चेतना की स्वतंत्रता ही सबसे बड़ा आनंद है। चेतना का किसी अन्य वस्तु के अधीन होना ही दुःख है। तुलसीदास जी अच्छी तरह से समझ गए कि माया-मोह के छूट जाने पर तर्क-जाल के कट जाने पर, अहम् के उच्च एवं पवित्र विचारों में विकसित हो जाने पर ही सुख की प्राप्ति होती है। यदि ऐसा न हुआ तो स्वप्न में भी सुख नहीं मिलता :

जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास,
अरु विषय-आस मन माँहीं।
तुलसिदास तब लगि जग-जोनि,
भ्रमत सपनेहुँ सुख नाहीं।[3]

तप, तीर्थ, उपवास, दान, यज्ञ योग, संन्यास आदि साधन हैं। इन साधनों से राग का बंधन टूट भी सकता है, नहीं भी टूट सकता है। वंशानुक्रम से चले आते हुए वासना संस्कारों से मुक्त होना कठिन है। किंतु चिंतन, मनन, भजन आदि के द्वारा संपूर्ण मानसिक शक्ति को राम के गुणों में विकसित कर लेने पर तुलसीदास को मुक्ति का राजमार्ग मिल गया। चेतना का सांसारिक मोह से मुक्त होकर राम के गुणों में विकसित होना ही, तुलसीदास जी की दृष्टि में, आत्मज्ञान की उपलब्धि है और यही मुक्ति है।[4]

मध्य युग के अधिकांश संतों ने मुक्ति का यही रास्ता अपनाया है।

---

१. विनयपत्रिका १६७
२. तुलसिहिं बहुत भलो लागत जगजीवन राम-गुलाम को। विनयपत्रिका १५५
३ विनयपत्रिका १२३ ४. विनयपत्रिका १७३

डॉ० रामस्वरूप आर्य

बरवै रामायण : एक कलात्मक कृति

'बरवै रामायण' गोस्वामी तुलसीदास जी की एक ऐसी रचना है जो आकार में लघु होते हुए भी कला की दृष्टि से उच्चिकोटि की है। इसमें कुल ६९ बरवै हैं जो कथाक्रम से रामचरितमानस की भाँति सात कांडों में विभक्त किए गए हैं। विद्वानों का अनुमान है कि इसकी रचना गोस्वामीजी ने कविवर रहीम के आग्रह पर की थी। श्री मायाशंकर याज्ञिक के अनुसार 'रहीम को बरवै छंद बहुत प्रिय था। उन्होंने कुछ बरवै बनाकर गोस्वामी तुलसीदास जी के पास भेजे थे और अनुरोध किया था कि गोस्वामीजी भी बरवै छंद में कविता करें। इसी अनुरोध के कारण गोस्वामीजी ने बरवै रामायण निर्माण की'[1] अपने मत की पुष्टि में उन्होंने तुलसीदास जी के पट्टशिष्य बाबा बेनी माधवदास रचित 'गोसाईं चरित' से निम्नलिखित दोहा भी उद्धृत किया है :

कवि रहीम बरवै रचे, पठये मुनिवर पास।
लखि तेइ सुंदर छंद में रचना कियेउ प्रकास।[2]

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी भी 'बरवै रामायण' के संबंध में कुछ इसी-प्रकार का उल्लेख करते हैं 'कहा जाता है कि अपने मित्र रहीम के आग्रह पर

प्रस्तुत लेख में 'बरवै रामायण' के सभी उद्धरण 'तुलसी ग्रंथावली', (द्वितीय खंड) प्र० संपादक पं० सीताराम चतुर्वेदी, प्रथम संस्करण सं० २०२९ वि०, प्रकाशक अखिल भारतीय विक्रम परिषद, काशी से प्रस्तुत किए गए हैं।

१. रहीम रत्नावली, भूमिका, पृ० ४६

२. तत्रैव, पृ० ४६

गोस्वामी जी ने बरवै छंदों में संक्षेपतः रामकथा की रचना की थी।[1] अब्दुल रहीम खानखाना सं० १६४६ से ४८ तक काशी में सूबेदार थे। उसी समय गोस्वामी जी ने इसे रचा प्रतीत होता है।[2]

डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अपने शोध-प्रबंध 'तुलसीदास' में 'बरवै रामायण' को तुलसीदास जी की प्रारंभिक कृति माना है। उनके मतानुसार 'इसमें जो शृंगारप्रियता तथा अलंकारप्रियता मिलती है वह कवि के प्रारंभिक युग की ही हो सकती है।[3] किंतु 'बरवै रामायण' में कुछ छंद ऐसे भी हैं जिनमें वृद्धावस्था का संकेत मिलता है, यथा :

मरत, कहत सब सब-कहँ, सुमिरहु राम।
तुलसी, अब नहिं जपत समुझि परिनाम।६५।
राम-नाम-सम, तुलसी, मित्र न आन।
जो पहुँचाव राम-पुर तनु-अबसान।६७।

उपर्युक्त छंदों के आधार पर श्री भगीरथप्रसाद दीक्षित इसे गोस्वामी जी की वृद्धावस्था की रचना स्वीकार करते हैं।[4] 'बरवै रामायण' में स्फुट छंदों का संग्रह किया गया है। हमारा अनुमान है कि अधिकांश बरवै कवि ने अपने प्रारंभिक कविता-काल में लिखे होंगे तथा ऐसे बरवै जिनमें वृद्धावस्था का उल्लेख है उसने अपने जीवन के अंतिम काल में रचे होंगे।

'बरवै रामायण' में गोस्वामीजी ने भावपूर्ण स्थलों का सावधानीपूर्वक चयन किया है। जैसे कोई छायाकार प्रकृति के विशाल पट में से अपनी रुचि के प्रभावी दृश्य का अंकन करता है उसी प्रकार गोस्वामी जी ने अपनी इस लघु कृति में राम के जीवन के कुछ विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थलों को छंदों में बाँधने का सफल प्रयास किया है। राम के रूपवर्णन, सीता के सौंदर्य-चित्रण एवं विरह निवेदन तथा भक्त की अपने इष्टदेव में तन्मयता के चित्रण में कवि को पूर्ण सफलता मिली है। निम्नलिखित छंदों में राम के रूप का कितना सुंदर एवं संश्लिष्ट चित्र अंकित किया गया है :

कुंकुम-तिलक भाल, स्रुति कुंडल लोल।
काक-पच्छ मिलि, सखि! कस लसत कपोल।८।

---

१. तुलसी ग्रंथावली (द्वितीय खंड) अ० भा० वि० परिषद्, निवेदन, पृ० १४
२. तुलसीदास और उनके ग्रंथ, भगीरथ प्रसाद दीक्षित, पृ० १०६
३. तुलसीदास, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, पृ० २५६
४. द्रष्टव्य–तुलसीदास और उनके ग्रंथ, भगीरथ प्रसाद दीक्षित, पृ० ११०

भाल तिलक सर, सोहत भौंह कमान ।
मुख अनुहरिया केवल चंद समान ।९।
तुलसी बंक बिलोकनि, मृदु मुसुकानि ।
कस-प्रभु-नयन कमल-अस कहौं बखानि ।१०।

पुस्तक के आरंभ में छह बरवै सीता के सौंदर्य से संबद्ध हैं । इनमें कवि की सूक्ष्म दृष्टि एवं उच्च कल्पना देखने योग्य है :

सम-सुबरन सुषमाकर, सुखद न थोर ।
सीय अंग, सखि ! कोमल, कनक कठोर ।२।
सिय-मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाइ ।
निसि मलीन वह, निसि-दिन यह बिगसाइ ।३।

इनमें से प्रत्येक बरवै एक भाव चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ है । अलंकारों के प्रयोग से इनकी सुंदरता द्विगुणित हो उठी है ।

निम्नलिखित छंदों में सीता के घनीभूत विरह की सुंदर अभिव्यक्ति हुई है । बिरहाग्नि के ताप से उनके नेत्रों से अश्रु-वर्षा होने लगती है । राम की वियोगाग्नि में जलती हुई सीता को रात की चाँदनी, धूप के समान प्रतीत होती है । राम के अभाव में उन्हें सारा संसार जलता हुआ-सा जान पड़ता है :

बिरह आगि उर ऊपर जब अधिकाइ ।
ए अँखियाँ दोउ बैरिनि देहिं बुझाइ ।३६।
उहकु न, है उजियरिया निसि नहिँ घाम ।
जगत जरत अस लाग मोहिँ बिनु राम ।३७।

'बरवै रामायण' के उत्तरकांड में कवि की भक्ति-भावना मुखर हुई है । उसकी दृष्टि में कलियुग में ज्ञान, विराग, योग, समाधि की अपेक्षा राम नाम का जप ही श्रेयस्कर है । उसके लिए माता, पिता, गुरु, स्वामी सब कुछ राम ही हैं तथा तप, तीर्थ, यज्ञ, दान, उपवास से भी अधिक राम-जप का महत्व है । राम का नाम सब प्रकार के दोष, दुख, दारिद्रय को दूर करने वाला तथा मंगलकारी है । कुछ बरवै उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं :

कलि नहिं ज्ञान, बिराग, न जोग-समाधि ।
राम नाम जपु, तुलसी, नित निरूपाधि ।४८।
माय, बाप, गुरु, स्वामि, राम-कर नाम ।
तुलसी, जेहि न सोहाइ, ताहि बिधि बाम ।५०।

तप, तीरथ, मख, दान, नेम उपवास।
सबतें अधिक राम जपु, तुलसीदास।५२।

'बरवै रामायण' में आद्यंत अलंकारों की छटा दर्शनीय है। उसके प्रायः प्रत्येक बरवै में अलंकारों की सफल योजना हुई है। कुछ बरवै उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं। निम्नलिखित बरवै पूर्वार्द्ध में अनुप्रास की छटा से युक्त हैं :

साधु, सुसील, सुमति, सुचि सरल सुभाव।
राम नीति-रत, काम कहाँ यह पाव।७।
दोष-दुरित-दुख-दारिद-दाहक नाम।
सकल सुमंगल-दायक, तुलसी, राम।५८।

निम्नलिखित बरवै में उल्लेख अलंकार द्रष्टव्य है :

कोउ कह नर-नारायण, हरि-हर कोउ।
कोउ कह बिहरत बन मधु-मनसिज दोउ।२२।

हीन तद्रूप रूपक के उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित बरवै प्रस्तुत किया जा सकता है :

द्वै भुज-कर हरि रघुवर सुंदर वेष।
एक जीभ-कर लछिमन दूसर शेष।२७।

कई स्थलों पर प्रतीप अलंकार का सुंदर निर्वाह हुआ है। इनमें से एक बरवै उदाहरणार्थ प्रस्तुत है :

का घूंघट मुख मूंदहु नवला नारि?
चाँद सरग पर सोहत यहि अनुहारि।१६।

निम्नलिखित बरवै में व्यतिरेक अलंकार का सफल प्रयोग हुआ है :

सिय मुख सरद-कमल-जिमि किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह, निसि-दिन यह बिगसाइ।३।

भगवान राम के गुणों का वर्णन करते हुए कवि ने व्याजस्तुति अलंकार का आश्रय लिया है :

कुजन-पाल, गुन-वर्जित, अकुल, अनाथ।
कहउँ कृपानिधि राउर कस गुन-गाथ।३५।

कुछ स्थलों पर चमत्कार का प्राधान्य है। यथा प्रथम बरवै में ही कोई नारी अपनी सखी से कहती है—हे सखी! सीता के केशों में गुँथे हुए मोती (केशों के रंग की झाँई से) मरकत मणि के समान प्रतीत होते हैं किंतु हाथ में

लिए जाने पर वे मोती पुनः अपनी श्वेत आभा बिखेरने लगते हैं। यहाँ पूर्वरूप अलंकार है :[1]

केस-मुकुत सखि मरकत-मनि-भय होत।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत।[2]

अलंकारों की छटा से मुक्त कुछ और बरवै उदाहरणार्थ प्रस्तुत करते हैं :

चंपक-हरवा अँग-मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हियरे जब कुंभिलाइ।५। (उन्मीलित)
सिय! तुम अंग-रंग मिलि अधिक उदोत।
बेलि हार पहिरावौं, चंपक होत।६। (तद्गुण)
सरद-चाँदनी सँचरत चहुँ दिसि आनि।
बिधुहिं जोरि कर बिनवति कुल-गुरु जानि।४१। (भ्रांतिमान)
स्याम-गौर दोउ मूरति लछिमन-राम।
इनतें भइ सित कीरति अति अभिराम।३४। (विषम)
बेद-नाम कहि, अँगुरिनि खंडि अकास।
पठयो सूपनखाहि लखन के पास।२८। (युक्ति)[2]
अब जीवन-कै है कपि आस न कोइ।
कनगुरिया-कै मुंदरी कंगन होइ।३८। (अल्प)

'बरवै रामायण' में शब्द-संहिति, पद-संगठन तथा वर्णमैत्री के भी सुंदर उदाहरण मिलते हैं। डॉ० देवकीनंदन श्रीवास्तव ने 'तुलसीदास की भाषा[3] में

१. आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस बरवै में अतद्गुण अलंकार माना है (गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १५५) किंतु लाला भगवानदीन के अनुसार इसमें पूर्वरूप अलंकार है (अलंकार मंजूषा, पृ० २३१)। श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने इन दोनों अलंकारों की एकरूपता की ओर संकेत किया है (द्रष्टव्य—काव्य कल्पद्रुम, द्वितीय भाग, पृ० ३८७)।

२. लाला भगवानदीन के अनुसार 'यदि कोई कहे कि इसमें 'सूक्ष्म' अलंकार है तो ठीक नहीं क्योंकि सूक्ष्म में दोनों ओर से केवल इशारे से ही बात होनी चाहिए। इसमें इशारे से रामजी की आज्ञा है जिसका पालन लक्ष्मण जी ने कृत्य द्वारा किया है। इस हेतु यहाँ युक्ति अलंकार ही मानना चाहिए।'
अलंकार मंजूषा, पृ० २४९-५०

३. तुलसीदास की भाषा, डॉ० देवकीनंदन श्रीवास्तव, पृ० २८५

इन गुणों का उल्लेख करते हुए निम्नलिखित बरवै उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया है :

जटा-मुकुट, कर सर-धनु, संग मरीच।
चितवनि बसति कनखियन, अँखियन बीच।३०।

'बरवै रामायण' में अवधी का सुष्ठु रूप दिखाई पड़ता है। इसकी भाषा सर्वत्र भावों के अनुकूल है। आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने इसकी भाषा एवं अलंकार-सौंदर्य के संबंध में ठीक ही कहा है—'बरवै रामायण की भाषा जैसी मधुर और मनोहर है वैसे ही इसमें अलंकारों का प्रयोग भी बड़ा सटीक हुआ है।'[1]

बरवै छंद आकार में लघु होते हुए भी चमत्कारपूर्ण हैं। बरवै के कुशल कलाकार रहीम ने इस छंद को 'रस कंद' बताया है :

कवित कह्यो दोहा कह्यो, तुलै न छप्पय छंद।
विरच्यो यहै विचार कै, यह बरवै रसकद।[2]

बरवै के विषम अर्थात् पहले और तीसरे पदों में १२ मात्राएँ और सम अर्थात् दूसरे और चौथे पदों में ७ मात्राएँ होती हैं। श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' के अनुसार इसके अंत में जगण रोचक होता है परंतु तगण का प्रयोग भी देखा जाता है।[3] 'बरवै रामायण' के ६१ बरवै जगण अंत वाले तथा ८ बरवै तगणांत हैं। तगण अंत वाले छंदों में भी ५ बरवै ऐसे हैं जिनमें कवि के नाम के आग्रहवश ही तगण की योजना हुई है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि गोस्वामी तुलसीदासजी की कृतियों में 'बरवै रामायण' का अपना विशिष्ट स्थान है। यह रचना आकार में लघु होते हुए भी काव्यगुणोपेत है। भाव, भाषा एवं कला सभी दृष्टियों से यह एक उच्चकोटि की रचना है।

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, पृ० २१५
२. रहीम रत्नावली, भूमिका पृ० २२
३. छंदः प्रभाकर, राय बहादुर जगन्नाथप्रसाद (भानु-कवि), पृ० ८३

प्रो॰ श्रीचंद्र जैन

कवितावली में तुलसी की काव्यकला

विश्ववंदनीय भगवान राम को चराचर में देखने वाले गोस्वामी जी ने अपने समस्त काव्य-ग्रंथों में उनके शील, सौंदर्य, शक्ति की जो पावन झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं, वे बड़ी मनमोहिनी और जन-जन अनुरंजिनी हैं। परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि इस महाकवि ने कहीं शक्ति की गहन अनुभूतियों को चित्रित किया है तो कहीं शील के उदात्त स्वरूप को अभिव्यंजित करके अपने आपको संतुष्ट किया है और कहीं सौंदर्य की मनोरमता को विविध रूपों में अंकित कर विराट् विश्व की कमनीयता को भगवान राम की सलोनी छवि में एकत्रित कर दिया है।

कवितावली वस्तुत: एक मुक्त रचना है जिसमें समय-समय पर रचित गोस्वामी जी के छंदों को संगृहीत किया गया है। भावावेश की चारुता इन मुक्तक छंदों में अवलोकनीय है। इनमें ओज की भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित राम की शक्ति का अलौकिक रूप में प्रदर्शन किया गया है। वीररस के अनुरूप भाषा का प्रयोग करके गोस्वामी जी ने अपनी भाषा विषयक प्रवीणता का अनुपम एवं कलात्मक परिचय दिया है।

कवितावली में ३२५ छंद हैं। सात कांडों में उनका विभाजन इस प्रकार है :

बालकांड	२२ छंद,	अयोध्याकांड	२८ छंद
अरण्यकांड	१ छंद,	किष्किंधाकांड	१ छंद
सुन्दरकांड	३२ छंद,	लंकाकांड	५८ छंद
उत्तरकांड	१८३ छंद		

सवैया, कवित्त, छप्पय और झूलना छंद इस मुक्तक काव्य में प्रयुक्त किए गए हैं। वीर काव्य-पद्धति पर लिखे गए कवितावली के छंद बड़े मार्मिक हैं तथा भगवान रामचंद्र के शौर्य-रूप को चित्रित करने में पूर्ण रूपेण सफल हुए हैं। प्राकृतजनों की प्रशस्ति-गान से दूर रहने वाले महाकवि तुलसी का पूरा वर्चस्व राम-कथा के प्रणयन एवं प्रचार में उभरा है। युग के प्रतिनिधि कवि होने के नाते इन्होंने युगीन परिस्थितियों को समीप से देखा तथा जनता की विषम व्यथा से स्वयं को परिचित किया। सुधारवादी दृष्टिकोण को सबल बनाते हुए तुलसीदास ने जनता को प्रबोधन दिया, उसे भारतीय संस्कृति के पुनीत तत्वों से अवगत कराया एवं तत्कालीन स्वार्थी शासकों की तीव्र भर्त्सना कर एक नवीन युग चेतना को जगाया। विश्व बंधुत्व के अविनश्वर प्रतीक भगवान राम का स्वरूप अखिल संसार की चिरंतन ज्योति है—यह समझाकर कथित जन-समूह को आश्वस्त किया और सदाचार की सुदृढ़ भूमिका पर ऐसे सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक अनुष्ठानों को प्रतिपादित किया जिनके आलोक से विराट भूमंडल आलोकित हो उठा। फलस्वरूप भारतीयता का भव्य प्रासाद ज्योतिर्मय बना और कलियुग का कालुस्य तिरोहित होगया।

जैसा कि पहले में संकेत किया जा चुका है कि 'कवितावली' मुक्तकों का संग्रह है। समय-समय पर तुलसी ने रामकथा के जिन विविध प्रसंगों और देशकाल एवं भक्ति संबंधी अपने विचारों को कवित्त-छंदों में ढाला आगे चलकर उन्हें एक क्रम से कवितावली में सजा दिया गया। इसके उत्तरकांड को छोड़ कर शेष कांडों में रामकथा को उसके क्रम में ही आकार दिया गया है। अयोध्याकांड में अयोध्याकांड के प्रसंग हैं तो सुंदर कांड में सुंदरकांड के। महज इतनी-सी क्रम बद्धता और रामकथा से ही प्रसंगों की संग्राहकता के अतिरिक्त इसमें कहीं भी किसी प्रकार की आख्यात्मक पूर्वापरापेक्षिता नहीं है। कवित्त, सवैया और छप्पय शृंगार और ओजपरक भावों की अभिव्यक्ति में सिद्ध हो चुके थे। तुलसी ने छंद की प्रकृति का पूरा ध्यान रखा अथवा यों कहें कि अपने अन्य काव्यों में रामकथा के परुषभाव-परक स्थलों पर प्रसंगों की भरपूर अभिव्यंजना न कर पाने के कारण उन्होंने इस ग्रंथ के छंदों का चुनाव ही इस कमी को पूरा करने की दृष्टि से किया। इस ग्रंथ में शृंगार आदि को भी स्थान मिला है पर मूल झुकाव ओजपरक भावों की ओर ही है। कवि के इस झुकाव के अनुरूप ही समूची वस्तु-योजना इस प्रकार हुई है कि रामकथा के न जाने कितने प्रिय प्रसंग ही उड़ गए हैं; भरत, शबरी,

जटायु जैसे पात्र तक आँखों से ओझल रह गए हैं। राम कथा के प्रसंगों में से कवि की वृत्ति सब से अधिक हनुमान की पूँछ-लीला, लंका-दहन और राम-रावण के युद्ध में रमी है। जिन प्रसंगों में कवि का मन जितना ही लगा है उनका उतना ही अधिक विस्तार हुआ है; अन्यथा कुछ ही कवित्तों में, प्रसंग को कौन कहे, पूरा कांड ही समाप्त हो गया है। प्रियप्रसंगों की परिधि में कवि ने एक-से-एक अनूठी प्रसंग-योजनाएँ की हैं उदाहरण के तौर पर यदि सुंदर-कांड की वस्तु को लें तो पता चलेगा कि कवि ने हनुमान की पूँछ-लीला को विविध कोणों से झाँका तो है ही, आग लगाने पर मचनेवाली भगदड़ के और उससे संत्रस्त लोगों की भयाकुल आकृतियों, क्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं के अनेक विधि उरेहणों के द्वारा विषयवस्तु के साथ एक रूप हो जाने की अपनी बहुमुखी क्षमता का भी पूरा परिचय दिया है।'[१]

रस काव्य की आत्मा है और यही रस काव्य के चरम लावण्य का प्रधान स्रोत है। इसके अभाव में न काव्य की वास्तविक सर्जना हो पाती है और न पाठकों एवं श्रोताओं को काव्य की माधुरिमा का आनंद प्राप्त होता है। जिस प्रकार लवण-हीन स्वादिष्ट भोजन भी गोबर-सा लगता है उसी प्रकार रस-विहीन काव्य न रोचक बनता है और न लोक-प्रिय कहा जाता है। रस ही काव्य की वास्तविक उद्‌भावना करता हुआ इसकी अलौकिकता की अभिवृद्धि में पूर्ण योग देता है। आनंद स्वरूप रस ही काव्य-पाठकों एवं श्रोताओं को प्रमुदित करता है, रुलाता है और विश्व के साथ उन्हें एकाकार बनाता है। श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्‌भुत और शांत इस प्रकार नव रूपों में विभक्त रस ही उल्लास है, प्रमोद है एवं साधारणीकरण का प्रमुख आधार है। श्रृंगार रस के अंतर्गत यह मत्तगयंत सवैया बहु चर्चित है जिसमें पूर्व संयमित सरस अनुभूतियों को केंद्रित किया गया है :

दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुंदर मंदिर माहीं।
गावतिं गीत सबै मिलि सुंदरि, बेद जुवा-जुरि बिप्र पढ़ाहीं।
राम को रूप निहारति जानकि, कंकन के नग की परिछाहीं।
यातें सबै सुधि भूलगई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं।[२]

हास्य रस का निम्नलिखित छंद गोस्वामी जी की शिष्ट मनोविनोद-प्रवृत्ति का परिचायक है :

१. श्रीधरसिंह, तुलसीदास की कारयित्री प्रतिभा, पृष्ठ १२५
२. कवितावली १।१७

विंध्य के बासी उदासी तपोव्रत धारि महा, बिनु नारि दुखारे।
गौतम-तीय तरी, तुलसी सो कथा सुनि भे मुनिवृंद सुखारे।
ह्वै है सिला सब चंद्रमुखी परसे, पद मंजुल-कंज तिहारे।
कीन्हीं भली, रघुनायक जू! करुना करि कानन-को पग धारे।[1]

कवितावली में करुणरस का पूर्ण अभाव है। रौद्र और वीर दोनों रस एक दूसरे के परिपोषक हैं। रौद्र का स्थायी भाव-क्रोध है और वीर का उत्साह स्थायी भाव है। वीरत्व की भावना में अत्याचारों के दलनार्थ क्रोध आना स्वाभाविक ही है और इसी प्रकार क्रोध की सफलता में वीरत्व की परिणति सहज ही है।

लंकाकांड में साहसी समीरसूनु (हनुमान) का पौरुष रौद्र एवं वीर रसों में अवतरित हुआ है:

प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहुदंड बीर,
धाए जातुधान हनुमान लियो घेरि कै।
महाबल पुंज कुंजरारि ज्यौं गरजि भट,
जहाँ तहाँ पटके लंगूरि फेरि फेरि कै।
मारे लात, तोरे गात, भागे जात, हाहाखात,
कहैं तुलसीदास राखि राम की सौं टेरिकै।
ठहर ठहर परे कहरि कहरि उठैं,
हहरि हहरि हर सिद्ध हँसे हेरि कै।[2]

भयानक रस का उत्कृष्ट उदाहरण यह कवित्त है:

पानी पानी पानी सब रानी अकुलानी कहैं,
जाति हैं परानी, गति जानि गज चालि हैं।
बसन बिसारें, मनि-भूषन सँभारत न,
आनन सुखाने कहैं क्यों हूँ कोऊ पालि है?
तुलसी मँदोवै मींजि हाथ, धुनि माथ कहै,
काहू कान कियो न मैं कह्यो केतो कालि है।
बापुरो बिभीषन पुकारि बार बार कह्यो,
बानर बड़ी बलाइ घने घर घालि है।[3]

१. कवितावली २।२८
२. कवितावली ६।४२
३. कवितावली ५।१०

वीभत्सरस के अंतर्गत लंकाकांड के छंद ४९, ५० उल्लेख्य हैं। इसी प्रकार अद्‌भुतरस के आकर्षक उदाहरणों के रूप में साहसी, वीर हनुमान के अलौकिक कृत्य, विशेषत: जलती हुई पूँछ के माध्यम से लंका-दहन आदि, रखे जा सकते हैं।

शांतरस की सहज सुषमा उत्तरकांड में अवलोकनीय है। इस कांड में समन्वयवादी तुलसीदास ने राम-महिमा, अपना दैन्य, अत्याचार प्रपीड़ित जनता का क्रंदन, तत्कालीन शासकों की स्वार्थपरता, सीतावट की प्रशस्ति, चित्रकूट-गरिमा, शिव-वंदना, काशी-दुर्दशा, जगदंबा-अर्चना, रामनाम-चिंतन, कलियुग-संताप आदि की चर्चा करते हुए जनता के लिए बारंबार दास्यभक्ति की अनिवार्यता प्रतिपादित की है। अपने मत की संपुष्टि के साथ गोस्वामीजी ने लोक-मंगल तथा लोक-संग्रह की जन-जीवन में पूर्ण उपयोगिता बताई है। अखिल विश्व में अपने राम को व्याप्त मानने वाले इस महासंत के हृदय में दीन दुखियों के प्रति समवेदना होना स्वाभाविक ही है। परिणामस्वरूप जनता की विषम परिस्थितियाँ उनके काव्य में स्वयं ध्वनित हो उठीं :

(क) किसवी, किसान कुल, बनिक, भिखारी, भाट,
चाकर, चपल नट चोर, चार चेटकी।
पेट को पढ़त गुन गढ़त, चढ़त गिरि,
अटत गहन बन अहन अखेट की।[1]

(ख) खेती न किसान को भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका-बिहीन लोग सीद्यमान, सोचबस,
कहैं एक-एकन सों कहाँ जाइँ का करीं?
वेद हू पुरान कही, लोकहू बिलोकियत,
साँकरे सबै पै राम रावरे कृपा करी।
दारिद-दसानन दबाई दुनी दीनबंधु,
दुरित-दहन देखि 'तुलसी' हहा करी।[2]

भारतीय संस्कृति ने संकीर्ण परिवियों की निरंतर उपेक्षा की है तथा विवेकपूर्ण निष्ठा को अपनाते हुए भौतिक समृद्धि को त्याज्य बताया है :

विषया परनारि, निसा तरुनाई, सु पाइ पर्‌यो अनुरागहि रे।
जम के पहरू दुख रोग बियोग, बिलोकतहू न बिरागहि रे।

१. कवितावली ७।९६ २. कवितावली ७।९७

ममता बस तैं सब भूलि गयो, भयो भोर महा भय भागहि रे।
जरठाइ दिसा, रबिकाल उग्यो, अजहूँ जड़ जीव ! न जागहि रे।[1]

भारत की इस पुनीत धरती पर जन्म लेने वाला साधु-संत अपनी भक्ति भावना को राष्ट्रीयता से निरंतर अनुरंजित करता रहता है। उसकी दृष्टि में राष्ट्र की समृद्धि मानवता की सतत अभिवृद्धि है :

भलि भारत भूमि, भले कुल जन्म, समाज, सरीर भलो लहि कै।
करषा तजिकै, परुषा बरषा, हिम मारुत घाम सदा सहि कै।
जो भजै भगवान सयान सोई, तुलसी हठ चातक ज्यों गहि कै।
नतु और सबै बिष बीज बए, हर हाटक कामदुहा नहि कै।[2]

दीनता समीचीन भक्ति का प्रमुख उपकरण है। दैन्य को पराभक्ति कहा गया है। अतः इस कांड में प्रतिपादित दीनता स्वाभिमानी गोस्वामी की उत्कृष्ट अर्चना की प्रतीक ही है। इसे अन्यथा नहीं समझना चाहिए :

जायो कुल मंगन, बधावनो बजायो सुनि,
भयो परिताप पाप जननी-जनक को।
बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन,
जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को।
तुलसी सो साहिब समर्थ को सुसेवक है,
सुनत सिहात सोच बिधिहू गनक को।
नाम, राम ! रावरो सयानो किधौं बावरो,
जो करत गिरी तें गरु, तृन तें तनक को।[3]

वात्सल्य रस अपने उदात्त रूप में बड़ा सुहावना है। कवितावली के बाल-कांड के अंतर्गत छंद २, ३, ४; ५ एवं ६ इस रस के उत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं।

शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों का पर्याप्त प्रयोग कवितावली में उपलब्ध हैं।

माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुणों से यह सारी रचना गुणवती बनी है। प्रसाद एवं माधुर्य का यहाँ बाहुल्य है तथा रौद्र, वीर एवं वीभत्स रसों में 'ओज' गुण का आधिक्य है जिससे वांछित अनुभूतियाँ बड़ी बलवती बन गई हैं।

१. कवितावली ७।३१ २. कवितावली ७।३३
३. कवितावली ७।७३

कवितावली की भाषा विषयानुसार है। इसमें कहावतों और मुहावरों के प्रयोग से अधिक आकर्षण आ गया है। "भाषा अथवा बोली में सौंदर्य और सौष्ठव लाने के लिए लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग अनिश्चित काल से चला आ रहा है। उसके व्यवहार में प्रयोगकर्त्ता को एक विचार परंपरा का सहारा मिल जाता है।.......सदा से सभ्य, असभ्य किंवा अर्द्धसभ्य सभी जातियों में लोकोक्ति अथवा कहावतों का प्रयोग देखा जाता है।...लोकोक्ति में एक पूर्ण सत्य या विचार की पूरी अभिव्यक्ति होती है। वह दूसरे वाक्य का अंश नहीं बनता वरन् एक स्वतंत्र वाक्य होता है। रूढ़ि (मुहावरा) स्वतंत्र नहीं होती वह तो वाक्य के भीतर ही प्रयुक्त होती है। अथवा यों कहिए वह किसी वाक्य में रखे जाने के लिए विवश होती है।"[1] कवितावली की भाषा में मुहावरों एवं लोकोक्तियों के प्रचुर प्रयोग से एक ओर तो भाव-प्रकाशन में क्षमता समुत्पन्न हुई है और दूसरी ओर भाषा विषयक समाहार शक्ति में वांछित अभिवृद्धि हुई है:

तिन्हतें खर, सूकर, स्वान भले, जड़ता-बस ते न कहैं कछु वै।
तुलसी जेहि राम सों नेह नहीं, सो सही पसु पूंछ बिषान न द्वै।
जननी कत भार मुई दस मास, भई किन बाँझ, गई किन च्वै।
जरि जाउ सो जीवन, जानकिनाथ! जियै जग में तुम्हरो बिन ह्वै।[2]

भाषा के प्रयोग में गोस्वामी जी की दृष्टि बड़ी उदार रही है। आपने विभिन्न भाषा-बोलियों के शब्दों का उपयोग करके अपनी अभिव्यक्ति को व्यापक बनाया है और जनता की अभिरुचि को परिष्कृत भी किया है। राम-कथा को सर्वव्यापक बनाने में गोस्वामी का यह उदार-भाव (भाषा, विषयक) अत्यधिक सराहा गया है। यथा—गुलाम, हराम, कहरी, सकारे, दगाबाज, दराज, सकारे, पैज आदि शब्दों का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है।

अस्तु, विषयवस्तु एवं शिल्पविधान की दृष्टि से कवितावली एक विशिष्ट कृति है। कवि की आत्मकथा इसमें एक विशेष उद्बोधन के रूप में अंकित हुई है जो भारतीय भक्तों के लिए जीवन के प्रति आस्था को पल्लवित करती है।

---

१. डॉ० शंकरलाल यादव, हरियाणा प्रदेश का लोक-सहित्य, पृष्ठ ४११ तथा ४३२.

२. कवितावली ७।४०

डॉ० शालिग्राम गुप्त

तुलसीदास और रामजी का नहछू

वेणीमाधवदास कृत 'मूल गोसाईं चरित' के अनुसार 'रामलला नहछू' की रचना तुलसीदास ने संवत् १६३६ वि० में की थी। अंतर्साक्ष्यों तथा विश्वस्त बहिर्साक्ष्यों के आधार पर विचार करते हुए जब कवि की रचनाओं की रचना-तिथियाँ निर्धारित करने का प्रयत्न किया जाता है तब इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि तुलसीदास ने अपने विवाह (संवत् १६१२ वि०) और गृहत्याग (संवत् १६२७ वि०) के मध्यवर्ती काल में क्रमशः तीन ग्रंथों की रचना की होगी : 'रामजी का नहछू', 'जानकी-मंगल' और 'रामाज्ञा-प्रश्न'।

'रामलला नहछू' की प्रामाणिकता के विषय में जो संदेह किया जाता है, वह अधिकतर उसके उत्तान शृंगार वाले उस अंश के आधार पर किया जाता है, जिसमें राजा दशरथ निम्नकुल की स्त्रियों के रूप-यौवन पर मुग्ध दिखाए गए हैं :

अहिरिनि हाथ दहेंड़ि सगुन लेइ आवइ हो।
उनरत जोवनु देखि नृपति मन भावइ हो।[1]

और असंभव नहीं कि यह अंश प्रक्षिप्त हो। शेष त्रुटियों का समाधान यह मान लेने पर सरलता से हो जाता है कि यह कवि की निरी प्रारंभिक रचनाओं में से एक है। इसलिये रामलला नहछू को कवि की प्रामाणिक रचनाओं में स्थान दे सकते हैं।

तुलसी ग्रंथावली में जितनी कम प्रतियाँ 'नहछू' की प्राप्त हैं उतनी

१. रामलला नहछू ५

कदाचित किसी भी ग्रंथ की नहीं, और अभी तक की खोज में उसकी जो प्रतियाँ प्राप्त हुई भी हैं, उनमें से कोई भी ऐसी नहीं है जो उल्लेखनीय रूप से प्राचीन कही जा सकें। पाठ भी इन प्रतियों का, जहाँ तक पता चलता है, मुद्रित प्रतियों के पाठ से मिलता-जुलता ही है।

प्रस्तुत लेखक के पिता स्वर्गीय डॉ० माताप्रसाद गुप्त को आज से लगभग ३०-३५ वर्ष पूर्व सौभाग्यवश 'नहछू' की एक ऐसी प्रति प्राप्त हुई थी जो कवि की निर्वाण-तिथि से १५ वर्ष पूर्व संवत् १६६५ वि० की ज्ञात होती है। अतः उस प्रति का विस्तृत परिचय यहाँ देना आवश्यक होगा।

प्रति संपूर्ण प्राप्त है। उसकी पुष्पिका से यह स्पष्ट है कि प्रति कवि हस्तलिखित नहीं है और न वह किसी अन्य व्यक्ति द्वारा संशोधित ही है। प्रस्तुत प्रति के पाठ और मुद्रित पाठ में स्पष्ट अंतर दिखाई पड़ता है। ग्रंथ के मुद्रित पाठ में कुल ४० द्विपदियाँ हैं और प्रस्तुत प्रति के पाठ में केवल २६ द्विपदियाँ हैं। ऐसी द्विपदियाँ, जो दोनों पाठों में लगभग सामान्य हैं, १२ हैं, यद्यपि वे भी दोनों में विभिन्न क्रम में संग्रहीत हैं। इसप्रकार मुद्रित पाठ की २८ द्विपदियाँ प्रस्तुत पाठ में और प्रस्तुत पाठ की १४ द्विपदियाँ मुद्रित पाठ में नहीं मिलती हैं। मुद्रित पाठ की जो द्विपदियाँ प्रस्तुत प्रति के पाठ में नहीं मिलतीं, उनमें से प्रमुख वे हैं जिनमें लोहारिनि, अहीरिनि, तँबोलिनि, दरजिनि, मोचिनि, मालिनि, वारिनि और नाउनि के हावभाव का वर्णन है एवं जिनमें राजा दशरथ उनमें से एक के यौवन पर मुग्ध बतलाए जाते हैं। यही नहीं जिनमें कौशल्या की जेठि का एवं पहले से ही नाउनि की विद्यमानता का उल्लेख मिलता है। प्रस्तुत पाठ की उन द्विपदियों में से, जो मुद्रित पाठ में नहीं मिलतीं, प्रमुख वे हैं जिनमें नाउनि के 'निहछावर' के लिये झगड़ने का उल्लेख है। इस प्रकार प्रस्तुत पाठ के विस्तार में प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है 'गीति' और 'निहछावर' संबंधी विस्तार। इनमें आए हुए समान शब्दावली के प्रश्नोत्तरों के द्वारा पाठ में जिस लोकगीत-तत्व का समावेश मिलता है, वह मुद्रित पाठ में नहीं। प्रस्तुत पाठ केवल घोर शृंगार से ही मुक्त नहीं है वरन् इसमें इतिहास विरोध और प्रबंध दोष भी कम है।

प्रस्तुत पाठ पर यद्यपि भोजपुरी का प्रभाव स्पष्ट है, किंतु प्रकाशित एवं प्रस्तुत पाठ में से कौन-सा पाठ कवि की विचार-धारा, उसकी शैली और लोकगीत-कला के अधिक निकट है एवं अपेक्षाकृत प्रक्षेपहीन ज्ञात होता है, यह अनुमान करने में कदाचित कठिनाई न होगी।

तुलसीदास ने 'रामलला नहछू' की रचनातिथि का स्वतः कोई निर्देश नहीं किया है और न ग्रंथ में ही किसी ऐसे तथ्य या किसी ऐसी घटना का उल्लेख किया है जिसके आधार पर रचना का समय निर्धारित किया जा सके। फिर भी यह मानने में तनिक भी संदेह नहीं कि यह कवि की निरी प्रारंभिक रचनाओं में से एक है।[1]

काव्यरूप की दृष्टि से 'रामलला नहछू' एक 'उपखंड काव्य' अथवा 'घटना काव्य' कहा जा सकता है जिसमें विवाह से एक दिन पूर्व होने वाले नहछू अथवा मायन (मातृ का आनयन) का वर्णन है। प्रस्तुत नहछू को देखने से यह निश्चित हो जाता है कि इसमें विवाह के पूर्व वर राम के द्वारा किए गए मातृका पूजन का ही चित्रण है। यद्यपि विवाह के लिए राम अयोध्या से जनकपुर तो गए नहीं किंतु इसमें वर्णित कृत्यों के वर्णन से इसे विवाह के समय का ही नहछू समझा जाना चाहिए :

श्री राम भए दशरथ को लछुमन आन को।
भथ्र चतुर गुन भए दोउ चतुर सुजान को।

के आधार पर डॉ० भगीरथ दीक्षित का यह आरोप कि 'आरंभ में गोस्वामी जी वासना और कामुकतापूर्ण चित्रण के पक्षपाती थे' उचित नहीं है। निरी प्रारंभिक रचनाओं में इन बातों का आ जाना स्वाभाविक ही है। हाँ! उनका यह कथन कि 'गोस्वामी जी की यह रचना उनके गार्हस्थ जीवन काल की होनी चाहिए' कदाचित ठीक हो सकता है। 'नहछू' में केवल राम का ही उल्लेख पाकर उनका यह भी अनुमान कि 'इसे भक्ति-भावना के विचार से ही लिखा गया है' सत्य है। राम के प्रति भक्ति और उनकी लोकोत्तर शक्ति में विश्वास की भूमि पर ही इस काव्य की रचना हुई है, यह बात निम्न पंक्ति से लक्षित हो जाती है :

जो एहि नहछू गावही, गाए सुनावही,
सो प्रभ पद पावही, वौ तुलसीदास के बलि जाई।

लोक-संस्कृति पर किंचित प्रकाश डालने वाले इस उपखंड काव्य की रचना किस दृष्टि से किस समय हुई इस संबंध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। किंतु जहाँ तक नहछू की रसिकता का प्रश्न है वह नाउनि की प्रधानता के कारण है। इसमें नाउनि का परिहास विदग्धता से भरा है और कुछ असंभव नहीं कि लक्ष्मण को चिढ़ाने के हेतु ही ऐसा किया गया हो :

१. देखिये तुलसीदास—डॉ० माताप्रसाद गुप्त

श्री राम भए दशरथ को लछुमन आन को।
भअ्र चतुर गुन भए दोउ चतुर सुजान को।

इसमें सीधा लक्ष्य लक्ष्मण को ही बनाया गया है और खुलकर उनको कहा भी गया है 'आन को'। दूसरी ओर परिहास का लक्ष्य क्रमशः कौशिल्या और सुमित्रा को बनाना भी बड़े ढंग का है। ऐसा विदग्ध परिहास सामान्य कवि की लेखनी से निकल नहीं सकता है और भी पते की बात तो यह है कि इस परिहास में कैकयी अछूती नहीं रह पाई है :

'केकइ दीहल चुटकी मुदरिआ, सोमित्रा दीहल रूप हे।
कौसिला दीहल रतन पदारथ, भरि गएउ सूप हे।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने संवत् १६११ वि० के लगभग नहछू का रचनाकाल स्वीकार किया है। वे इसे विवाह के पूर्व अयोध्या में होने वाला रामजी का नहछू मानते हैं किंतु विवाह के समय का नहछू मानने में जो कठिनाई उपस्थित होती है वह यह है कि इस घटना का किसी रामकथाकार ने उल्लेख तक नहीं किया है। राम का नहछू अवध में हुआ यह तो प्रस्तुत पाठ से स्पष्ट है किंतु राम विवाह के लिए अयोध्या से सीधे जनकपुर को गए नहीं और न हीं विवाह से पूर्व वे जनकपुर से दशरथपुर ही आए। अतः यह प्रसंग घटना विरुद्ध अवश्य है। लगता है कि गोस्वामी जी ने प्रस्तुत नहछू उपखंड काव्य की रचना संभाव्य काल्पनिक साधारण घटनाओं के आधार पर ही की है। यद्यपि यह सत्य है कि इतिहास की उपेक्षा करके कोई कवि अथवा कलाकार सत्य का गला नहीं घोटता जब तक कि उसे काव्य-क्षेत्र में किसी नवीन तथ्य की अभिव्यक्ति न करनी हो।

'नहछू' का प्राचीनतम प्राप्त पाठ, जिस पर भोजपुरी का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित है, सर्वसुलभ हो सके इसलिए दिया जा रहा है :

श्री गनेश जी सहाइ नमः
श्री पोथी राम जी का नहछू।

आजु जनकपुर ब्याह नहछू राम को
चलहु सखी सब देखन सोभा स्याम को।१।
कनक कलसा गंगा जल भरि लाइअै
चंदन चौका पुराए प्रभु को 'नेहबाइअै।२।
नाउनि अति गुन आगरि बेगी बोलाइअ
करि सिगार नउनिआ बिहसति आइअ।३।

जगमगि जोति अवधपुरि अति छवि छाजिअ
रानी दीन्हो तरिवन सो अधिक बिराजिअ ।४।

कानन पेन्हु तरिवन नक बेसरि अति सोभिअ
गले सोभै गजमोती कै हार कंठहि मन मोहिअ ।५।

धन नउनिआ को भाग चरन छुवहि हाथ सो
मुख भरि करहि गुमान श्री रघुनाथ सो ।६।

पाच सखी मिलि बैठि कै हरदी लाइअ
यौ कोसिलहि जनक लाए गाली गाइअ ।७।

काहे राम तुम्ह सांवर लछुमन गोर हे
कीदहु रानी कोसिलहि परिगौ मोर हे ।८।

श्रीराम भए दशरथ को लछुमन आन को
भंभ्र चतुरगुन भए दोउ चतुर सुजान को ।९।
मे तोहि पुछो नउनिया दुइ कर जोरि हे
तोहरे नउआ काहे सावर तोह काहे गोरि हे ।१०।
पाच सखी मिलि बैठि कर बेनी सिगार बनाइअ
बैठहि आसन मारि कर सुंगध पान चबाइअ ।११।
काचहि बास कर माडव हरिअर दुबि हे
पानन्हि माडो छाए अंब डारही कपुर हे ।१२।
लालहि पाट कर जाजिम सो धरी बिछाइअ
बैठहि कुवर सब चारि तौ बिप्र बोलाइअ ।१३।
नाउनि अति गुन खानि हाथ सोभहि कंगन हे
बेदी लीपहि बनाइ कर सुबासित चंदन हे ।१४।
सोने का कलसा उपर बरही मानिक दीप हे
मचिआ बैठली कोसिला उठै लागु गीति हे ।१५।
केहि एहे पोखरा खनावल घाट बधावल हे
काकर भरीहै कहार तौ केहि नेहवाएब हे ।१६।
राजा दशरथ पोखरा खनावल घाट बधावल हे
कोसिला के भरीहै कहार तौ प्रभु को नेहवाएव हे ।१७
हाथहि सोभित नहरनी नाउनि अति सुंदरि हे
प्रभु को बदन निरेखहि हँसी मुख मोरि हे ।१८।

पातरि अगुली महाउरि अति छबि छाजिआ
कर कनक पत्र पर बान तो बीर बहुरिआ ।१९।
होन लागु निहछावरि गोतनी सब हरखिआ
जस सावन को बुंद स्याम घन बरसिआ ।२०।
के दीहल चुटकी मुदरिआ के दीहल रूप हे
के दीहल रतन पदारथ भरि गएउ सूप हे ।२१।
केकइ दीहल चुटकी मुदरिआ सौमित्र दीहल रूप हे
कोसिला दीहल रतन पदारथ भरि गएउ सूप हे ।२२।
मडवहि झकरैं नाउनिआ एहि सब निहछावर थोर हे
रघुवर कै निहछावर लेवु मए घोर हे ।२३।
काहे झगारहु नउनिआ एहि सब लेहु हे
राम बिआहि घर आएव देबु मए घोर हे ।२४।
जो सब देलह रानी सो सब थोर हे
सामी चढ़न को घोरा मोहि पटोर हे ।२५।
जो एहि नहछू गावही गाए सुनावही
सो प्रभ पद पावही वौ तुलसीदास के बलि जाई ।२६।

एति श्री पोथी राम जी का नहछू
जो देखा सो लिखा, मम दोख न दिअहे ।
पंडित जन सो बिनै मोरि छूटल बाठल अछर लेव सब जोरि ।
दसखत किसोरदास बासीदा गआजी प्रगना सोनउत संवत १६६५
साल मीती माघ सुदी पंचमी दीन सोमार समाप्त

मानस खंड

सुश्री उषा मिश्रा

रामचरितमानस में मंगलाचरण की विशेषताएँ

भारतीय परंपरानुसार ग्रंथकार अपने ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति तथा पुरुषार्थ चतुष्टय एवं चतुर्वर्ग-फल-प्राप्ति[1]-कामना से मंगलाचरण का प्रयोग करता है। मंगलाचरण ग्रंथकार के लिए सर्वतोभद्र यंत्र और सर्वकार्य सिद्धि मंत्र है तथा ग्रंथ-रत्नाकर में प्रवेश करने का मुख्य द्वार है। साहित्यदर्पणकार के प्रणेता आचार्य विश्वनाथ ने मंगलाचरण को महाकाव्य का अनिवार्य लक्षण माना है।[2] सर्गबंध रूप महाकाव्य का प्रारंभ मंगलात्मक हुआ करता है। यह मंगल या तो नमस्कारात्मक हो या आशीर्वादात्मक हो अथवा वस्तु-निर्देशात्मक हो अथवा खलनिंदा से युक्त हो अथवा सत्प्रशंसा से उपनिबद्ध हो; महाकवि अपनी रुचि, संस्कार और अभीष्टि के अनुरूप इन स्वरूपों में से किसी एक को ग्राह्य समझ कर ग्रहण करता है। रामचरितमानस में तुलसी ने उपर्युक्त सभी प्रकारों का समवेत समन्वय बड़े सुंदर ढंग से किया है जबकि

---

१. (क) चतुर्वर्ग फलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते । साहित्यदर्पण १।२

(ख) धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्ति प्रीतिं च साधुकाव्य निबंधनम् । काव्यालंकार-भामह १।२

२. आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तु निर्देश एव वा ।
क्वचिन्निंदा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् । साहित्यदर्पण ६-३१९

अन्य महाकाव्यकारों ने एक ही प्रकार की योजना की है । उदाहरणतः देववाणी के कलाकार कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य में अपने एक ही इष्टदेव शिव की वंदना करके निर्विघ्न काव्य-समाप्ति की कामना से मंगलाचरण का श्रीगणेश नमस्कारात्मक रूप में किया है ।[1]

आनंदरामायण में परमपुरुषोत्तम भगवान श्रीराम की स्तुति नमस्कारात्मक रूप में की गई है । श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में 'रामत्वमेवाश्रयः' होकर आशीर्वादपरक स्तुति तथा निर्देशात्मक वस्तु के दर्शन मिलते हैं । नैषधकार श्री हर्ष ने वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण के माध्यम से अपने ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति की कामना की है । तुलसी ने रामचरितमानस में वस्तु-निर्देशात्मक, नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक और सत्प्रशंसात्मक सभी प्रकारों का समायोजन किया है । वंदना के माध्यम से ही आशीर्वाद-प्राप्ति तथा कृपा-प्राप्ति की कामना की है । मर्मज्ञ तुलसी जानते थे कि दिव्यचरित का गुणानुवाद करने के लिए कृपा की भारी आवश्यकता है । शास्त्रकृपा, ईश्वर-कृपा, गुरुकृपा और आत्मकृपा प्रभृति की आनुपूर्वी रूप में कृपाओं की प्राप्ति-कामना से तुलसी ने मंगलचरण किया । ब्रह्म विवित्सु के लिए यह समवेत चतुर्विध कृपाएँ कैमुतिक न्याय से प्राप्त होती हैं, अपरों को नहीं ।

प्रथम श्लोक में शास्त्र-कृपा की प्राप्ति कामना हेतु वाणी और विनायक की वंदना की गई है ।[2] क्योंकि एक वाक् है और दूसरा वाङ्मय है । दोनों मंगल के कर्ता हैं । इन्हीं दोनों की कृपा से शास्त्राध्ययन तथा शास्त्रकृति में निपुणता आती है । कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा का सूत्रपात होता है । द्वितीय श्लोक में प्रभु-कृपा की कामना से श्रद्धा-विश्वासरूप भवानीशंकर की वंदना की गई है । श्रद्धा-विश्वास के माध्यम से ही भवानीशंकर उपासकों पर अपूर्व कृपा करते हैं । अनाहतचक्र के अधिष्ठाता दुर्लभ कैवल्यपद भी देते हैं ।[3] तृतीय

---

१. वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वंदे पार्वतीपरमेश्वरौ । रघुवंशम् १-१

२. वर्णानामर्थसंघानां रसानां छंदसामपि ।
मंगलानाम च कर्त्तारौ वंदे वाणीविनायकौ । १।१ श्लोक

३. भवानीशंकरौ वंदे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यंति सिद्धाः स्वांतःस्थमीश्वरम् । १।२ श्लोक

श्लोक में नित्य बोधमयं शंकररूप गुरु की वंदना करते हैं ।[1] मंगलाचरण करने और प्रभुका आश्रयण करने पर भी गुरु के आश्रयण की आवश्यकता है । बिना गुरु का आश्रयण किए शिष्य पूजित नहीं होता । गुरु की असीम कृपा से वक्र-शिष्य भी सद्बुद्धि वाला हो जाता है । एक बात विशेष विचारणीय है कि तुलसी ने गुरु-वंदना देहरी-दीपक-न्याय की भाँति बहिराभ्यंतर शुचि एवं प्रकाश की कामना के मध्य में की है ।[2] चतुर्थ श्लोक में सीताराम गुणग्राम पुण्यारण्य में बिहार करनेवाले विशुद्ध कवीश्वर श्री वाल्मीकि मुनि तथा कपीश्वर श्री हनुमानजी महाराज की वंदना की गई है । क्योंकि दोनों की वंदना के बिना श्री सीता और श्रीराम जी की भक्ति दुर्लभ है ।[3] पंचम श्लोक में उद्भवस्थिति संहारकारिणी क्लेशहारिणी श्री सीता सर्वश्रेयस्करी हैं ।[4] वे आद्याशक्ति, मूल प्रकृति और आह्लादिनी शक्ति हैं ।

षष्ठ श्लोक में रामाख्यमीशं हरि की वंदना की गई है ।[5] हरि का चरण ही संसार-सागर का संतरण है अन्य साधन फेन हैं । राम अशेष कारणों से परे अर्थात् कार्य-कारण की शृंखला से परे अलिप्त और निर्लिप्त हैं । राम नाम महामंत्र है । राम परमब्रह्म परमात्मा हैं । इनके नाम की महिमा अपार है । श्रीराम नाम से लोक में लाभ और परलोक में निर्वाह होता है । परापश्यंती मध्यमा और वैर भरी वाणी रामनामोच्चारण से पवित्र हो जाती है और अनन्य भक्ति का प्रादुर्भाव होने लगता है । 'पर गुन, नहि दोष कहोंगौ' वाली संत-भावना उदित होने लगती है । इस प्रकार आत्मकृपा की प्राप्ति होती है ।

---

१. वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम् ।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चंद्रः सर्वत्र वन्द्यते । १।३ छंद

२. वाणी १, विनायक २, भवानी ३, शंकर ४. श्री गुरु ५, कवीश्वर ६,
कपीश्वर ७, श्री सीता ८- श्री राम ९ ।

३. सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ ।
वंदे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ । १।४ श्लोक

४. उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् । १।५ छंद

५. यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा ।
यत्सत्त्वादमृषेव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः ।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां ।
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशंहरिम् ।

आत्मकृपा की प्राप्ति-कामना से ही गोस्वामी कवीश्वर, कपीश्वर, सीता और राम की वंदना करते हैं। पुनश्च चतुर्विधि-कृपा की समन्विति से, स्वांतः सुखाय की आशा से अपने प्रतिपाद्य विषय पर आ जाते हैं और रामचरित-सर में अभिषेक करने का संकल्प लेकर आत्मकृपा की स्पष्ट घोषणा करते हैं। एतदर्थ चतुर्थ श्लोक से सप्तम श्लोक पर्यंत आत्मकृपा प्राप्ति का ही निवेदन मिलता है।

गोस्वामी तुलसी के रामचरितमानस में वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण की अपनी एक विशेषता है। रामचरितमानस के सात कांडों की कथा के बीज इन सप्तश्लोकों की धारा में मिलते हैं। प्रथम श्लोक में वर्ण[1], रस, छंद और मंगल का उल्लेख करके प्रभु का अक्षर ग्रहण, विश्वविजय और विवाह आदि मंगलों का होना द्योतित है। द्वितीय श्लोक में श्रद्धा-विश्वास की राम, मुनि, ऋषि, गुरु, प्रजा आदि में उभयपक्षेण सम्पुष्टि दर्शित है। तृतीय श्लोक में शंकर रूप गुरु का उल्लेख करते हुए अगस्त्य ऋषि से मंत्र ग्रहण और ब्रह्मकुल में राम का निवास सूचित है। चतुर्थ में कवीश्वर और कपीश्वर कह कर हनुमान तथा सुग्रीव से भेंट प्रकट की है पंचम में सीता जी की सुधि का मिलना व्यंजित है। षष्ठ श्लोक में संसार संतरण का गान करते हुए धर्म के चारों चरणों से युक्त रामराज्य को सूचित किया है। सप्तम श्लोक में स्वांतः सुखाय प्रयोजन का निर्देशन किया है।[2] इस प्रकार मंगलाचरण के सप्तश्लोकों में कथानक के बीज प्रस्तुत करके सूत्ररूप में वस्तु का उत्पादन किया है। इन सात श्लोकों में ही नहीं अपितु प्रत्येक कांड के मंगलाचरण में सूत्ररूप में तत्कांड के बीज अंगांगिभाव से अनुस्यूत हैं। यह सप्तश्लोकी मंगलाचरण पृथक-पृथक कांडों के मंगलाचरण के बीजों के बीज हैं।

गोस्वामी तुलसीदास का मंगलाचरण असंभव, अव्याप्ति दोषों से ऐकांतिक तथा आत्यंतिक रूपेण मुक्त है तथा अन्वय, व्यतिरेक; अवच्छेद्य-अवच्छेदक; व्यच्छेद्य-व्यवच्छेदक धर्म से अनुप्राणित है। नानापुराणनिगमागम के ज्ञाता तथा अन्य शास्त्रों के अध्येता तुलसीदास ने सिद्धलक्षणोपेत ऋतंभरा की प्राप्ति-कामना से तथा रामरस की सविकल्प समाधिरूप ब्रह्मानंद की प्राप्ति-कामना

१. वर्णानामर्थसंघानां रसानां छंदसामपि।
मंगलानां च कर्तारौ वंदे वाणी विनायकौ। १। १ श्लोक

२. स्वांतःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
भाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति। १।७

से यह मंगलाचरण किया। इसमें ऐसे दिव्य-चरित का मंगलगान है जिसमें कहीं भक्तिरस की अखंडिता पावनी-धारा प्रवाहित हो रही है; कहीं भारतीय दर्शनों के विशाल कांतार दृश्यमान हो रहे हैं; कहीं 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' की अपूर्व छवि, अपूर्व शील और अपूर्व शक्ति की त्रिवेणी लहलहा रही है। ऐसे दिव्य ग्रंथ का मंगलाचरण भी दिव्य तथा निष्कलंक है।

वैदिकमत के प्रतिष्ठापक आचार्य तुलसी ने शब्द प्रमाण के आधार पर 'अक्षर ब्रह्म' और 'शब्द ब्रह्म' की सत्ता स्वीकार की है। अतः ग्रंथ का आरंभ शुभ फलवाले अक्षर तथा शुभ फलवाले शब्दरूप मगण से किया है। ग्रंथारंभ वकार[1] से किया है और ग्रंथ की परिसमाप्ति भी वकार[2] से की है। तंत्रशास्त्रानुसार भी व अमृत बीज है। 'व' जलतत्त्वरूपमंगल का प्रतीक है। ग्रंथारंभ मगण से किया है जो मंगलश्री का विस्तार करता है और पिंगलशास्त्र के वार्णिक छंद का अनिवार्य गण तथा ज्योतिषशास्त्रानुमोदितशुभ लक्षण है। वाक्यरूप प्रथम श्लोक अनुष्टुप छंद में लिखा है। आद्यकवि वाल्मीकि के मुखारविंद से यही छंद निकला।[3] अतः पूर्व संस्कारवश उसी छंद से मानस का मंगलाचरण किया। अनुष्टुप छंद के चारों चरण सम हैं इसीप्रकार श्रीरघुनाथ जी भी सम हैं। इसमें ३२ वर्ण होते हैं। श्री सीता जी और श्रीराम जी दोनों १६-१६ कलाओं के पूर्ण अवतार हैं।[4]

ग्रंथ के आदि, मध्य और अंत में मंगलाचरण करना अतिशुभ है।[5] इस महाकवि ने सातों कांडों में सात पृथक-पृथक मंगलाचरणों का नियमन किया। इसका बहुत बड़ा कारण यह भी था कि गोस्वामी जी ने सप्त कांडों को सप्त सोपानरूप प्रभु की लीलास्थली रूप सप्तपुरी माना है। यह सप्तपुरी हैं: अयोध्यापुरी, मथुरापुरी, मायापुरी, काशीपुरी, कांचीपुरी, अवंतिकापुरी और पुरी द्वारावती। इन पुरियों में प्रवेश भी मंगलमय हो तथा अंत भी मंगलमय हो।

---

१. वर्णानामर्थसंघानां : वंदेवाणी विनायको ।१।१
२. पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं······नो मानवा ।७।२ श्लोक च
३. मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वंगमः शाश्वती समाः ।
   यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् । वाल्मीकि मुनि
४. श्रीमानस-पियूष की व्याख्या द्रष्टव्य है।
५. आदिमध्यावसानेषु यस्य ग्रंथस्य मंगलं ।
   तत्पठनं पाठनाद्वापि दीर्घायुधार्मिको भवेत् । श्री मानसपियूष

इसके लिए कवि ने प्रतिकांड के पूर्व में मंगलाचरण तथा प्रतिकांड के अंत में फलश्रुति का विधान किया।

तुलसी के मंगलाचरण की तात्त्विक-विशेषता उनकी विश्वगतिवाली प्रज्ञा है। सुधी तुलसी यह भली भाँति जानते थे कि देवस्तुति में देवभाषा को प्रयोज्य बनाना सुकर है। स्वांतः सुखाय लिखने वाले कवि ने कहीं-कहीं संस्कृत के बाद भाषा में भी मंगलाचरण किया है और कहीं कहीं केवल संस्कृत में ही। केवल लंकाकांड में पहले संस्कृत में तदन्तर भाषा में मंगलाचरण किया है।[1] बालकांड में सप्तश्लोकों, अयोध्याकांड, सुंदरकांड, लंकाकांड तथा उत्तरकांड में त्रिमूर्ति-रूप त्रय-श्लोकों और अरण्यकांड तथा किष्किन्धाकांड में युगल मूर्तिरूप उभय श्लोकों से मंगलाचरण का पाठ किया है। यह क्रम भी गोस्वामी तुलसीदास की गुह्य उपासना का अनूठा और गूढ़ रहस्य प्रदर्शित करता है।

इनके मंगलाचरण की अप्रतिम और अतुलनीय विशेषता यह है कि शैव और वैष्णव का अनन्यरूपेण समन्वय मिलता है। दोनों में आधेय-आधार की सापेक्षता संकल्पित करके विरुद्ध-धर्मता पर प्रमार्जनी लगाकर उज्ज्वल कर दी। युगों से अवच्छिन्न सांप्रदायिक मल का अपरिहार्य परिहार करने की चेष्टा की। प्रत्येक कांड में इसी समन्वय की सूक्ष्म व्याख्या मिलती है। शिव और राम में पूर्वापर सापेक्ष भाव से तादात्म्य स्थापित किया है।[2] इनके गुरु भी शंकर रूप हैं, राम, हनुमान आदि वंद्य पुरुष भी शंकर रूप हैं। इसीप्रकार मंगलाचरण में अन्यान्य विषयों में भी समन्वय मिलते हैं जैसे प्रवृत्ति-निवृत्ति, सगुण-निर्गुण, ज्ञान-भक्ति, कर्म-वैराग्य आदि। इसके साथ ही निज इष्ट की वंदना सर्वरूप रूपी, सर्वअंश-अंशी, सर्वनाम-नामी, सर्वप्रकाश-प्रकाशक इत्यादि भाव से की है।

महाकवि तुलसी के मंगलाचरण में ही काव्य के संपूर्ण प्रयोजन समायोजित हैं। मम्मटाचार्य के षट् काव्य-प्रयोजनों[3] का स्वभाव इसमें मिलता

---

१. लव, निमेष, परमानु, जुग, वरण, कलप, सर चंड।
भजसि न मन ! तेहि राम-कहँ, काल जासु को दंड। ७।१। क

२. ब्रह्माम्भोधि-समुद्भव कलि-मल-प्रध्वंसनं चाव्ययं।
श्रीमच्छंभु-मुखेंदु-सुंदरवरं संशोभितं सर्वदा।
संसारामय-भेषजं सुखकरं श्रीजानकी-जीवनं।
धन्यास्ते कृतिनः पिबंति सततं श्रीरामनामामृतम्। ४। श्लोक २

३. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कांतासम्मिततयोपदेशयुजे। काव्यप्रकाश १।२

है। विशेषतः शिवेतरक्षतये इस मंगलाचरण का परम प्रयोजन है। शिव से इतर की क्षति हो इस भावना से ही मंगल का आचरण प्रत्येक कांड में किया है। सद्यः परनिर्वृति के लक्ष्य की पूर्ति स्वांतः सुखाय के संकल्प में निहित है। इस रससिद्ध कवि के मंगलाचरण में तन्मयावस्था या रसदशा की निर्झरिणी अछोर और अजस्त्र प्रवाहित है। निगमागमसम्मत वाणी मानस के प्रेमांबु से परिपूर्ण होकर प्रौढ़ा से कांता रूपवाली बन गई, फलतः मंगलाचरण में भी 'कांतासम्मितयोपदेशयुजे' वाला लक्ष्य सर्वत्र व्याप्त है। तुलसी की प्रसिद्धि का कारण भी उनके मंगलाचरण की हार्दता (spirit) है। संत एवं भक्त की भावना के उद्रेक से लिखे गये मंगलाचरण से कवि को अपूर्व यश मिला। यह यश काव्य-जगत में ही नहीं अपितु सभी क्षेत्रों में प्राप्त हुआ था। विशेषकर सगुण भक्त लोगों ने इन को विशेष ख्याति दी। 'व्यवहारविदे' जो काव्य का प्रयोजन है उसके बीज इस मंगलाचरण में मिलते हैं। वंदना या नमस्कार आदि प्रक्रिया योगों का ज्ञान उदात्तीकरण के साथ इसमें मिलता है। इनके मंगलाचरण से यह भलीभाँति विदित हो जाता है कि पूज्य-वर्ग के प्रति अभिवादन आदि श्रद्धा और विश्वासपूर्वक करना चाहिये क्योंकि अश्रद्धा से किया हुआ प्रणाम विफल हो जाता है। सामाजिक विषमताओं को सम करने के लिए और शीलाचरण का प्रशिक्षण लेने के लिए इनके मंगलाचरण का अनुशीलन अनिवार्य है। सफल व्यावहारिक पक्ष के दर्शन इनके मंगलाचरण में भी प्राप्त होते हैं। 'अर्थकृते' जो काव्य का प्रयोजन है वह भी मंगलाचरण में परम-अर्थ के रूप में मिलता है। अर्थ से ऊँचा परम-अर्थ है। यही परम-अर्थ मानवमात्र का अंतिम लक्ष्य है। इस महाकवि के मंगलाचरण के पठन-पाठन से जीवन के लौकिक और पारलौकिक सकल अर्थ सिद्ध हो जाते हैं।

अस्तु, गोस्वामी तुलसीदास के मंगलाचरण की कतिपय ऐसी विचित्र विशेषताएँ हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। सांगोपांग मंगलाचरण की व्यापकता, समष्टिगत अर्चन का कौशल, विरुद्धधर्मता में एकाश्रयत्व की क्षमता, 'बट विश्वास अचल निज धर्म' की पुकार, सकल पूज्यवर्ग की समवेत कृपा से अभिमत सिद्धि, निगमागमसम्मत ज्ञान का सहज प्रतिपादन आदि सभी कुछ रामचरितमानस के सप्तसागर रूप सप्तकांडों की मंगलधारा में देखने को मिल जाता है।

डॉ० एन० चंद्रशेखरन् नायर

रामचरितमानस का कथा-शिल्प

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने राम की कथा का निर्वहण अनेक स्रोतों से तत्त्व-ग्रहण करके किया है। प्रारंभ में स्वयं कवि की उक्ति है :

नानापुराणनिगमागमसम्मतंयद्
रामायणे निगदितं क्वचितन्यतोऽपि

तुलसीदास के समय तक रामकथा का एक स्वस्थ प्रवाह ही चला आ रहा था। आदिकवि वाल्मीकि ने भी पूर्व-प्रचलित रामकथा के अंशों को संजोकर उसे व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया होगा। वाल्मीकि के पश्चात् उनकी रामायण-कथा को आत्मसात् करके उससे ऊर्जा लेकर असंख्य रामायण-कथा-रूप बन गये। इस प्रकार 'रामायण शतकोटि अपारा' के उपरांत तुलसी की राम-कथा का शिल्प सध गया था। तुलसीदासजी ने अनेक रामायणों का अध्ययन किया है और उनमें से श्रेष्ठ निधियों को चुना है।

लोग यह मानते हैं कि रामकथा का स्वरूप मौखिक आधार पर रहा था। तब विभिन्न पाठों का विकास होना भी संभव था। वाल्मीकि-रचित रामायण का प्रचार लव-कुशों ने जो किया था, यह सर्व विदित है। उस रामायण की निम्नलिखित पंक्तियाँ इस प्रसंग में विशेष ज्ञातव्य हैं :

इक्ष्वाकूणां इदं तेषां राज्ञां वंशे महात्मानाम्
महदुत्पन्नमाख्यानं रामायणमिति श्रुतम्।

वैदिक साहित्य में राम की कथा का कोई व्यक्त रूप नहीं मिलता। 'राम' शब्द का कई स्थानों में कई प्रकार प्रयोग तो हुआ है, परंतु वह राम अयोध्या-

पति रामचंद्र नहीं थे। कहीं रमणीय पुत्र (सायण) के रूप में और कहीं असुर राजा के रूप में (ऋग्वेद) वर्णित हैं। दशरथ, जनक और सीता के नाम भी वैदिक-साहित्य में मिलते हैं, पर इनका रामकथा से कोई संबंध नहीं है। वैदिक-साहित्य में राम न दशरथ के पुत्र थे, न सीता के पति अथवा जनक के दामाद। सीता और राम के संबंध का कहीं उल्लेख ही नहीं मिलता। सीता तो जनकपुत्री के रूप में कहीं भी वर्णित नहीं हैं। हल से बनी लकीर अथवा कूंड के लिए सीता शब्द का प्रयोग आया है। 'शतपथ' में कृषि की अधिष्ठात्री देवी के आश्रय में सीता का वर्णन मिलता है। ऋग्वेद में सीता और इंद्र के बीच के संबंध का स्पष्ट उल्लेख है। सीता के इंद्र द्वारा वरण किये जाने का भी वर्णन है। पर, वह भी हल की लकीर के भाव में ही अधिक युक्तिसंगत होता है। सीता का मानवीकरण रूप अथर्ववेद में भी पाया जाता है।

उपर्युक्त प्रमाणों से ऐसा मानना उचित होगा कि वैदिक-साहित्य में राम-कथा का वह प्रसिद्ध एवं लोक प्रचलित कथानक नहीं आया है जो पुराणकाल में उसे प्राप्त हुआ है। परंतु फिर भी रामकथा का बीज वैदिक साहित्य में परिलक्षित है। (राम-कथा की जो रूपकात्मक व्याख्या याकोबी ने की है, वह यहाँ स्मर्तव्य है)

तुलसीदास के पूर्व तक राम के चरित्र की प्रतिष्ठा स्थापित हो चुकी थी। रामकाव्य के विकासकाल से लेकर अर्थात् छठी शताब्दी ईसवी से जितने राम-काव्य निर्मित हुए उनके द्वारा राम का ब्रह्म के अवतार रूप में अथवा राम का शक्ति के साथ समन्वित कर जो चित्रण है उसका न्यूनाधिक प्रभाव तुलसीदास पर पड़ा तो है। वाल्मीकि रामायण अध्यात्म-रामायण, भागवत, प्रसन्नराघव नाटक, हनुमन्नाटक, उत्तररामचरित आदि पूर्ववर्ती ग्रंथों में से 'मानस' के लिए विशाल कथाशिल्प का आधार प्राप्त हो चुका था। यही नहीं, असंख्य पूर्ववर्ती संस्कृत-साहित्य से अनुप्राणित होकर, उनका यथायोग्य, यथावसर सुंदर प्रयोग करने में भी तुलसीदास ने असाधारण एवं अद्भुत सफलता प्राप्त कर ली है।

पूर्ववर्ती रामकथाएँ भी अनंत हैं, चाहे कथागति एवं पात्रों में एकरूपता न हो; चाहे प्रामाणिकता में भी संदेह हो। उनमें कथाशिल्प तथा पात्र-सृष्टि में पूर्णता दृष्टिगोचर नहीं होती। पुराणों में रामकथा-वर्णन है पर उनका आधार वाल्मीकि रामायण है और वाल्मीकि रामायण में भी प्रक्षिप्तांश का समावेश है।

बौद्ध-ग्रंथ 'जातक' में रामकथा का स्वरूप ही और है। उसमें भी प्रक्षिप्त

अंशों का होना माना जाता है। दशरथ-जातक में सीता राम और लक्ष्मण की बहिन है। पर, कथा के अंत में सीता राम की पत्नी रूप में वर्णित है। 'जातक' और जैन कथाओं में पर्याप्त अंतर है। जैन रामकथा में सीता रावण और मंदोदरी की पुत्री है।

भारत के बाहर भी चीन, तिब्बत, स्याम, बर्मा, इंडोनेशिया जैसे देशों में का प्रचार है। वहाँ की रामकथाओं के स्वरूपों में भी विभिन्नता है।

तुलसीदास को अपने राम का शक्ति-शील-सौंदर्य से समन्वित महत् चित्रण करना था। इस भव्य तथा लोकमंगलकारी प्रभु की अद्भुत लीलाओं की अभिव्यक्ति के लिए तदनुसार कथाशिल्प भी प्रस्तुत करना था। यह कार्य वस्तुतः प्रयत्नाधीन था और साथ ही महत्त्वपूर्ण भी। कथानक को रूपायित करते हुए तुलसी अपने आदर्श की प्रतिस्थापना में जागरुक थे। तत्कालीन सांप्रदायिक संघर्षों को निर्मूल करके ब्रह्म-विचार में एकरूपता तथा अविकलता लाने में कठोर परिश्रम भी करना पड़ा होगा। मानसकार की सबसे बड़ी काव्यात्मक सिद्धि इस बात में प्रमाणित हुई कि उन्होंने मानस में समन्वय की भावना को बल दिया और उसकी सफलतापूर्वक प्रतिष्ठा भी की। इस लक्ष्य को मानकर वे मानस की प्रारंभिक कथा में विस्तार लाये। मानिए, काव्य-प्रतिभा की दृष्टि से बालकांड की महत्ता गंभीर है। अन्य रामायणों में से मानस को अपने बालकांड के हेतु अपूर्व गर्व का अनुभव प्राप्त है। शंकर को राम का भक्त बनाकर तुलसी ने वस्तुतः भारतीय संस्कृति के नवीन स्वरूप को गति दी। इसका प्रभाव बहुत गहरे में गया है और इस संस्कृति का स्थायित्व अत्यंत गहराई तक जाएगा।

रामकथा-परंपरा में रामचरितमानस का अद्वितीय महत्त्व है। कथा-संयोजना, प्रभावात्मकता एवं पूर्णता की दृष्टि से मानस अत्यंत सुंदर तथा सफल रचना है। मानस के पात्र किसी न किसी आदर्श के प्रतीक स्वरूप आये हैं और उनमें लोकजीवन के नानाप्रकार के आदर्शों का सामासिक सौंदर्य प्राप्त है। कथा के आकर्षण हेतु ये सब पात्र अपने-अपने महत्त्व के रंगों से रँगे हैं।

मानसकार को जीवन की नैतिक प्रतिष्ठा में अशंकित विश्वास था। तत्कालीन सामाजिक अपेक्षाओं ने इस ओर महान् कवि को उत्प्रेरित भी किया था। फलतः आदर्शमय जीवन की स्थापना-योग्य कथाशिल्प को ढाल देना उनका ध्येय बना। फलस्वरूप कथाशिल्प में भी कवि ने सत्यं-शिवं-सुंदरं का समुचित संतुलन एवं संयोजन कर दिया। यही कारण है कि तुलसी ने अपनी

पूर्व-प्रचलित रामकथाओं में से अपने लिए उचित सांस्कृतिक अंशों को स्वीकार किया था।

राम के ब्रह्म-संकल्प की मान्यता मानस-काल तक हो चुकी थी। राम की नर रूप में पूर्ण मानव की कल्पना है। यह पूर्णता नारायण की ओर इंगित करती है। ऋषि भूमि भारत की सनातन ईश्वराभिमुखता की सतत साधना के अंतिम पर्व के रूप में मानस की कथा को स्वीकृत करना वांछनीय है। 'नेति-नेति' का समाधान तो होना था। अन्यथा कहाँ जाकर भक्त मन को शांति मिले ? राम के चरित्र में आरोपित मर्यादा का पुरुषोत्तम भाव उस दिव्य स्वरूप की व्यापक विचार-परिणति का परिचायक है जिसकी संस्कृति के प्रथम प्रभात से खोज होती आ रही है। अवतार तो अनेक हो चुके ! पर प्रत्येक अवतार में अपनी अपूर्णता अवश्य थी। परमेश्वर भगवान् अपूर्ण होकर क्या प्रकटें ? अतः अंततोगत्वा राम को सच्चिदानंद परम्-ब्रह्म बनकर अवतार करना था। वस्तुतः उस नर रूप में नारायण विद्यमान थे। तुलसीदास के परमेश्वर के प्रति अपार प्रेम एवं भक्ति का यह पुंजीभूत तत्त्व है, जो ब्रह्मा-विष्णु-महेश को भी अपनी ऊँगली के इशारे से नाचने वाले होकर प्रकट हुए। अपने आराध्य परमपुरुष रामचंद्र के, एक के बाद एक करके असंख्य गुणविशेषों को दिखाने के उद्देश्य से मानस का कथा-प्रवाह पावन सलिला गंगा के समान सतत प्रवहमान तथा अनेक प्रेय-श्रेय की पोषक धाराओं से संपन्न बना देने में कवि ने कोई कसर उठा नहीं रखी है।

मानस में मिली हुई पोषक कथाएँ स्वतः मूल रामकथा में घुलमिल गयीं। पचासों अंतःकथाएँ मानस की कथा के आलोक में हिल-मिलकर अपना क्षणिक प्रकाश दिखा गयी हैं। इन अंतःकथाओं के कारण काव्य में नाटकीयता का गुण प्रभूत परिमाण में हो पाया है। उपनिषदों तथा पुराणों में वर्णित उन बहु संख्यक कथाओं का संदर्भानुकूल पुनराख्यान करके मानसकार ने अपनी अगाध विद्वत्ता तथा कथामर्मज्ञता और लोकमनोवृत्तिज्ञान का प्रमाण प्रस्तुत किया है। इसप्रकार तुलसी ने मानस को समूची हिंदू संस्कृति का संचित मेरुशृंग बना दिया है। रामचरितमानस का कथा-संधान अनेक युगों के साथ सांस्कृतिक संबंध स्थापित कर सका। गोस्वामीजी ने भारत की लोक-संस्कृति की नींव को भली-भाँति देख लिया था। अतः अपनी रचना को लोक-गीत की मधुर संवेद्यता अर्पित करते हुए बहुश्रुत कवि ने असंख्य प्रासंगिक कथाओं द्वारा महाकाव्य को लोक-काव्य का प्रश्रय प्रदान कर दिया। कहने की आवश्यकता

नहीं कि इस वैष्णव कवि ने अपने राम के प्रस्तुतीकरण के द्वारा तत्कालीन आध्यात्मिक समस्या का समाधान तो कर दिया और इस प्रयास में मानस की अंत:कथाएँ महाकाव्य के कथानक को प्रोज्जवल बना देने में अपनी उचित सेवा अर्पित कर सकीं।

रामचरितमानस का कथाशिल्प रामकथा-परंपरा में अपने नवीनतम रूप में प्रस्तुत है और रामकथा के अंतिम विकास रूप में इसका श्रेय है। मानस-पूर्व किसी रामकथा में राम को इतना व्यापक व्यक्तित्व प्राप्त नहीं होता। मानस के रचनाकाल में भारतीय जनता का आध्यात्मिक पक्ष अतीव कुंठित एवं कलुषित रहा था। हिंदू जनता लौकिक जीवन के निराशामय गर्त में पड़ी हुई थी। परंतु गोस्वामीजी ने परोक्ष रूप से मानस द्वारा जीवन का आदर्श रूप ही प्रस्तुत किया है। चरित्र की ओर उन्होंने ध्यान दिया। नराधिप राम से लेकर वानर तक के चित्रण में कवि ने नैतिक एवं चारित्रिक शुचिता को बल दिया है। मानस का आचरण पक्ष लोक-जीवन में कल्याण एवं शांति के लिए वांछनीय है। इसकी स्थापना करना ही गोस्वामी जी का लक्ष्य था। मानसकार द्वारा स्थापित लोक-जीवन के ऐहिक आदर्शों की आज भी जो मान्यता है वह कवि के लक्ष-सिद्धि-बोध का परिचय देती है। इस लक्ष्य स्थापना को चरितार्थ करने में अपेक्षित कौशल कथा-शिल्प को रूपायित करते हुए कवि ने किया है। लोक-जीवन-आदर्श के सहारे तुलसी ने पारलौकिक आदर्श को दर्शाया। नैतिक आधार पर भक्ति, और भक्ति के संबल से ज्ञान का पथ कवि ने प्रशस्त कर दिया। मानस की कथा-गति का निर्वहण इस दृष्टि से किया गया है।

इतने से यह विदित हो चुका है कि मानस की कथा के मूल में लोक और वेद की एक विस्तृत पृष्ठभूमि है, जिसकी स्वयं कवि ने 'नानापुराणनिगमागम सम्मतंयद्' कहकर घोषणा तो की है। कुतर्क के बिना जो ईश्वर के प्रति मन लगा देते हैं उन्हीं को यह कथा मधुर रहेगी, इस प्रकार पहले से ही सूचित करके कवि ने लोक-विश्वास का मर्म ही स्पर्श कर लिया है। तर्क तो विश्वास की जड़ ही हिला देगा। जब विश्वास ही नहीं रहा तब क्या वेद और क्या पुराण ? कवि को राम-कथा का गीत तो गाना है। वह वेद-लोक का माना हुआ है। राम पर जब भक्ति अर्पित करनी है तब उस पर पूरा विश्वास भी हो। कवि ने इस विश्वास की गहराई तक पाठक को ले जाने का निश्चय किया। फलत: रामकथा का कथन शंकर द्वारा कराया गया और सुनने वाली रहीं पार्वती।

पार्वती ने अपने पतिदेव से रामकथा का रहस्यमय रूप ही सुन पाया। इसलिए पार्वती से और किसी को वह कथा सुनने को नहीं मिली। फिर वही कथा शिव ने काकभुशुंडी को सुनाई। वही पार्वती के बाद उसका पूरा अधिकारी रहा। इसप्रकार रामकथा लोककथा बनकर प्रचार एवं प्रसार में अग्रसर होती गयी। अंत में वही कथा सूकर खेत में तुलसीदास ने अपने गुरुदेव के मुँह से सुनी। लिखित परंपरा में व्यासदेव, वाल्मीकि और अनेक कलियुग के कवि हुए।

बहुश्रुत कवि तुलसीदास जी को अपनी रामकथा प्रामाणिक, विश्वसनीय एवं लोकप्रिय बनाने का ध्यान सबसे ऊपर रहा था। रामकथा में शिव-पार्वती-प्रसंग, प्रतापभानु की कथा एवं रावण की उत्पत्ति को विस्तार से देकर दार्शनिक पक्ष के साथ शिल्प-गत सौंदर्य में भी वृद्धि लायी गयी है। महाकाव्य में उपकथाओं को यथासंदर्भ संकलित करके रोचकता एवं रसवैविध्य लाने की प्रचलित रीति मानस में भी अपनायी गयी है। तद्वारा मानस का सौंदर्य तथा गांभीर्य अवश्य बढ़ गया है।

कथावस्तु एवं शैली की दृष्टि से मानस की समीचीन तथा सर्वांगीण विवेचना करना इस लघु लेख में संभव नहीं है। भक्ति की स्थापना और उसके द्वारा धर्मोपदेश का लक्ष्य मानस की रचना के मूल में है। अतः तदनुसार कथा की घटनाओं तथा पात्रों का संयोजन भी है। वाल्मीकि रामायण से अधिक मानस के आदर्शवादी होने का भी यही हेतु है। राम की विभुता एवं विश्ववश्यता के निरूपण के हेतु कथांश में वृद्धि लायी गयी है। मानस के सारे पात्रों तथा घटनाओं को रामचंद्र के उज्ज्वल चरित्र के केंद्र में लाकर नायक को एक अद्भुत व्यक्तित्व का अधिकारी स्थापित किया गया है। रामकथाकारों में तुलसी का पाण्डित्य उच्चतम है। अपने अकाट्य पाण्डित्य को उन्होंने विनम्रता के सांचे में ढाल तो दिया, परंतु फिर भी, कवि की सामासिक विद्वत्ता का स्फुरण मानस में आद्यंत लक्षित हो पाया, अनायास ही और उसका श्रेय मानस के कथानक को दिया जाना चाहिए। शिल्प सौंदर्य की महती उपादेयता की दृष्टि से मानस महाकाव्य की सर्वोत्तमता इस प्रकार प्रमाणित हो गयी है।

रामचरितमानस की कथा-शैली सामासिक है, जिसमें पुराण, शास्त्र और नाट्य-शैली का मोहक मिश्रण है। विविध स्रोतों से प्राप्त होने पर भी मानस के कथा-क्रम में संतुलन का कार्य स्तुत्य है। आवश्यक संदर्भ में अपेक्षित शैली

का प्रयोग करना श्रेष्ठ कवि-कर्म है। मानस के विस्तृत कथा-संयोजन में विभिन्न शैलियों का निर्वहण करना पड़ा है जिससे कवि की काव्य-मर्मज्ञता ही प्रकट होती है।

वस्तुतः व्यासदेव के पश्चात् भारतीय कथाकाव्य-क्षेत्र में मानसकार का दूसरा स्थान है। रामकथा की अनंत धाराओं में मानस की स्वर्गंगा-जैसी पवित्रता है। उस उदात्त पवित्रता ने मानसकार को विश्व के अद्भुत आदर का पात्र भी बना दिया है। भविष्य के वैज्ञानिक युगों में धर्म के पुनर्मूल्यांकन की अपेक्षा रहेगी। उन अवसरों में धर्म और विज्ञान के समन्वय की भी अपेक्षा रहेगी। रामचरितमानस के कथाशिल्प की उपादेयता उन दिनों अवश्य सिद्ध हो जाएगी।

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

रामचरितमानस का महाकाव्यत्व

भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने महाकाव्य की बड़ी विशद् व्याख्या की है। आचार्य भामह, आचार्य दंडी द्वारा बतायी गयी विशेषताओं को स्वीकारते हुये साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य की कुछ नई विशेषताओं की ओर संकेत किया। इसी प्रकार पाश्चात्य विद्वानों ने भी महाकाव्य संबंधी अनेक मतों का प्रतिपादन किया और अरस्तू, वाल्टर पेटर, एबर क्रोंबी आदि अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने महाकाव्य की परिभाषा देते हुये उसके वांछित गुणों का उल्लेख किया है। आचार्य भामह ने अपने प्रसिद्ध लक्षण-ग्रंथ काव्यालंकार में महाकाव्य के स्वरूप का निरूपण इन शब्दों में किया है :

सर्गबंधो महाकाव्य महतां च महच्चयत्।
अग्राम्यशब्दमर्थं च सालंकारं सदाश्रयम्॥
मंत्रदूत प्रयाणाजिन नायकाभ्युदयैश्चयत्।
पंचभिः संधिभिर्युक्तं नातिव्याख्ययमृद्धिमत्।
चतुर्वर्गाभिधानेऽपिभूय सार्थोपदेशकृत॥
युक्तंलोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक।
नायकं प्रागुपन्नस्य वंशवीर्यश्रुतादिभिः।
न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधत्सया॥
यदि काव्यशरीरस्य न स व्यापितयेष्यते।
न चाभ्युदयभाक् तस्थमुधादौग्रहण स्तवै॥[1]

1. काव्यालंकार, भामह, प्रथम परिच्छेद १९-२३

आचार्य भामह द्वारा विवेचित महाकाव्य के लक्षणों में सात तत्त्व प्रमुख हैं—सर्ग-निबंधन, उदात्त-चरित्रांकन, शिष्ट-अलंकरण, जीवन-विविधता का उद्घाटन, नाट्यकौशल, प्रभावान्विति एवं अंतर्बाह्य समृद्धि का नियोजन।

आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य संबंधी प्राचीन भारतीय दृष्टि को संपूर्ण रूप से आत्मसात कर महाकाव्य का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया है :

सर्गबंधो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुर।
सद्वंशः क्षत्रियोवापिधीरोदात्तगुणान्विताः ।।
एकवंशभवाभूपाः कुलजावहोपिवा।
शृंगारवीरशांतानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।'
अंगानिसर्वेपिरसाः सर्वेनाटकसंधयः।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वासज्जनाश्रयम् ।।
चत्वारस्तस्यवर्गाः स्युस्तेष्वेकं चफलं भवेत्।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।।
क्वचिन्निंदा खलादीनां सतांच गुणकीर्तिनम्।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानैऽन्य वृत्तकैः ।।
नास्ति स्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिकाइह।
नानावृत्तमयः क्वापिसर्गः कश्चनदृश्यते ।।
सर्गांते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।
संध्यासूर्येंदुरजनीप्रदोषध्वांतवासराः ।।

× × ×

कवेर्वृतस्य वा नाम्ना नायकस्येतस्य वा।
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनामतु ।।[1]

आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत उक्त विवेचन में भी आचार्य भामह की मान्यताएँ ही संशोधन-परिवर्धन के साथ प्राप्त हैं। संपूर्ण रूप से आचार्य विश्वनाथ ने भी महाकाव्य के लिए कथावस्तु संघटन, उदात्त चरित्र-चित्रण, गंभीर रस-नियोजन, व्यापक जीवन-चित्रण, अलंकरण, छंदोबद्धता एवं वस्तु-विवरण आदि तत्त्वों को प्रधानता दी है। वास्तव में ये ही किसी महाकाव्य के अपरिवर्तनीय लक्षण कहे जा सकते हैं।

१. साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, छठा अध्याय ३१५-३२४

पाश्चात्य समीक्षकों में सर्वप्रथम अरस्तू ने महाकाव्य की संरचना के लिए अपने ग्रंथ 'पोयटिक्स' में निम्नलिखित उपादानों की उपयोगिता पर बल दिया : विस्तृत एवं छंदोबद्ध कथानक, अन्वितिपूर्ण विशिष्ट कार्य-व्यापार, प्रख्यात घटना, भद्र एवं शिष्ट चरित्र, स्वाभाविक अलंकृति, जीवन की विशालता एवं विविधता, नैतिक उद्देश्य की उपलब्धि ।[1]

अँग्रेजी साहित्य के प्रख्यात समालोचक एबरक्रोंबी ने अपने ग्रंथ 'ऐपिक' में महाकाव्य के अवयव संघटन को महत्त्व न देकर उसके आंतरिक सौंदर्य और उसके लक्ष्य की महानता को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है । उनके अनुसार जीवन के अत्यधिक विस्तृत रंगमंच पर अपने अथक तूलिका-श्रम के द्वारा महाकवि ऐसे भव्य एवं उत्कृष्ट चित्रों को अंकित करने का प्रयत्न करता है जिसके माध्यम से हम एक ऐसे लोक का दर्शन करने में समर्थ होते हैं जहाँ पर सभी कुछ महत्त्वपूर्ण, भव्य एवं दर्शनीय होता है ।[2]

भारतीय चिंतकों में योगी अरविंद ने अपने ग्रंथ 'फाउंडेशन आफ इंडियन कल्चर' में भारतीय एवं पाश्चात्य महाकाव्यों की तुलना करते हुए महाकाव्य के स्वरूप को स्पष्ट किया है । उनके दृष्टिकोण से भारतीय महाकाव्य मानव-जीवन के आंतरिक महत्त्व की अत्यंत उत्कृष्ट एवं कलापूर्ण अभिव्यक्ति होता है । उसमें उच्च तथा उदात्त विचारों की मूर्तिमान एवं संस्पंदित अभिव्यक्ति होती है । उसमें विकासपूर्ण, नैतिक एवं सौंदर्यनिष्ठ मानव-हृदय एवं उच्चतम सामाजिक आदर्शों की निवृत्ति होती है । उसमें महान् संस्कृति का आत्मिक बिंब निबद्ध किया जाता है । इसी कारण भारतीय महाकाव्य संपूर्ण राष्ट्र के अंतरंग जीवन का अंग बना हुआ है ।[3]

महाकाव्य के संबंध में प्रस्तुत भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रियों के दृष्टिकोणों का अवलोकन करने के उपरांत यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कतिपय परिवर्तनशील बाह्य लक्षणों को छोड़कर महाकाव्य के आंतरिक गुण सभी स्थलों पर समान ही हैं । महाकाव्य के विराट स्वरूप के अंतर्गत उसके आवश्यक तत्त्वों में सुसंघटित एवं प्रख्यात कथा, उच्च एवं उदात्त पात्र-योजना, अन्वितिपूर्ण कार्य-व्यापार, युग की महान आशा-आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व,

१. पोयटिक्स, अरस्तू पृ० १३, सं० श्री टी० ए० माक्सन, सन् १९४९
२. दि ऐपिक, एबरक्रोंबी पृ० ४१-४२
३. फाउंडेशन आफ इंडियन कल्चर, अरविंद घोष पृ० ३३०-३३१

महान उद्देश्य की प्राप्ति, शिष्ट एवं अलंकृत वर्णन-शैली एवं व्यापक रसवत्ता मुख्य हैं। इनमें भी पाँच तत्त्व—सुसंघटित कथा भाग, उदात्त चरित्रांकन, महान उद्देश्य, गंभीर रस व्यंजना और व्यापक अलंकरण से युक्त उदात्त वर्णन-शैली महाकाव्य के लिए अपरिहार्य रूप से आवश्यक हैं।

रामचरितमानस के महाकाव्य को भी इसी कसौटी पर कसकर देखना होगा क्योंकि जिस प्रकार पंचतत्वों के अभाव में शरीर की कल्पना कठिन है उसी प्रकार उपर्युक्त पंचशील के अभाव में कोई भी कृति महाकाव्य के गौरव को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकेगी।

सुसंघटित कथाभाग :

किसी भी महाकाव्य में कथानक उसका एक अनिवार्य तत्त्व होता है परंतु यह कथानक किस कोटि का और प्रकार का होना चाहिए इस संबंध में भी विद्वानों में मतभेद हैं। प्राचीन आचार्यों के अनुसार महाकाव्य का कथानक इतिहास, पुराण अथवा अन्य परंपराओं की दृष्टि से प्रख्यात होना चाहिए। आचार्य दंडी के अनुसार कथानक को इतिहास से उद्भूत और सत्य पर आधारित होना चाहिए।[1] भामह उसे सदाश्रित होना आवश्यक मानते हैं।[2] इस संबंध में रूद्रट ने क्रांतकारी विचार प्रस्तुत किया है। उन्होंने कथानक के उत्पाद्य और अनुत्पाद्य दो भेद करते हुए उसमें अवांतर कथाओं की उपस्थिति, नायक प्रतिनायक का युद्ध और अंत में नायक की विजय को महत्त्व प्रदान किया।[3] पाश्चात्य विद्वान अरस्तू के अनुसार भी महाकाव्य के कथानक को प्रख्यात होना चाहिए और उसमें विविध उपाख्यानों का निवेश होना चाहिए। इसके साथ ही उसमें सुश्लिष्टता और एकान्विति के उद्देश्य से समस्त नाटकीय गुणों का भी समाहार होना आवश्यक है।[4]

जब हम रामचरितमानस के कथानक को उपर्युक्त कसौटियों पर परखने का प्रयत्न करते हैं तो ज्ञात होता है कि इसका कथानक असाधारण रूप में प्रख्यात है। इस कथानक का प्रयोग संस्कृत के महाकाव्यों अथवा पुराणों में ही नहीं हुआ वरन् प्राकृत एवं अपभ्रंश युग के महाकाव्यों में भी हुआ है। दंडी के

---

१. काव्यादर्श, दंडी १।१५ २. काव्यालंकार, भामह १।१९

३. काव्यालंकार, रुद्रट १६।२-४, १५, १६

४. अरस्तू का काव्य शास्त्र, डॉ० नगेंद्र पृ० १२८-१३०

विचारानुसार वह इतिहास उद्भूत है। भामह के निर्देश के अनुरूप मानस का कथानक सदाश्रित है और रूद्रट के दृष्टिकोण के अनुरूप वह अनुत्पाद्य है।

मानस के कथानक के सदाश्रयत्व के संबंध में तो स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि मानस का उद्देश्य केवल राम-रावण के युद्ध की विभीषिका का प्रदर्शन करना नहीं है वरन् उसकी ओट में धर्म और अधर्म के शाश्वत संघर्ष और उसमें धर्म की विजय का स्वर मूल रूप से प्रखर हुआ है। इस प्रकार मानस की कथा में आद्यंत सदाश्रयत्व की स्पष्ट छाप वर्तमान है।

मानस की कथा विशाल है। उसमें विविध उपाख्यानों--शिव-पार्वती उपाख्यान, जय-विजय उपाख्यान, कश्यप-अदिति उपाख्यान, रविप्रताप उपाख्यान के अतिरिक्त अहिल्या, परशुराम, जटायु, ताड़का, शवरी, खरदूषण से संबंध रखने वाली कहानियों को सन्निविष्ट किया गया है। कुछ उपाख्यान तो मानस की मुख्य कथा से सांकेतिक रूप से संलग्न हैं। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि रामचरितमानस की कथा महाकाव्य के अनुरूप विशाल है।

मानस के कथानक में नाटकीय अन्विति विद्यमान है। उसकी सोपानगत कथाएँ और इन सोपानों में प्रस्तुत अनेक छोटे-बड़े प्रसंग परस्पर एक दूसरे से संबंधित हैं। इसके माध्यम से कथा अपने मुख्य लक्ष्य रावण-बध एवं राज्य-अभिषेक की ओर उत्तरोत्तर अग्रसरित होती दिखायी देती है। इस प्रकार मानस में प्रसंगों की शृंखलाबद्धता के कारण महाकाव्योचित अन्विति का पूर्णरूपेण पालन हुआ है।

मानस में महत्चरित :

कोई भी महाकाव्य-प्रणेता अपने व्यापक उद्देश्य की पूर्ति हेतु जीवंत पात्रों की सृष्टि करता है क्योंकि वे ही उसके उद्देश्य के संवाहक होते हैं। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य के नायक को तेजस्वी, गंभीर, सहिष्णु, अहंकार-शून्य एवं धीरोदात्त माना है। गोस्वामी जी ने मूलरूप से इसी भारतीय दृष्टिकोण का अनुगमन करते हुए अपने नायक राम के चरित्र का अंकन किया है। इसके अतिरिक्त अन्य पात्रों का चरित्रांकन भी नैतिकता और धार्मिकता की कसौटी पर किया है। उनके पात्र मुख्य रूप से सत् और असत् की दो धाराओं के मध्य वर्तमान हैं। इसके अतिरिक्त सामान्य शीलधर्म के अनुसरण-कर्त्ता पात्रों को राजस श्रेणी में रखा जा सकता है। रामचरितमानस के राम, सीता, लक्ष्मण, हनुमान सभी पात्र सात्त्विक वर्ग के अंतर्गत आते हैं। रावण,

कुंभकरण, मेघनाद आदि तामस वर्ग के प्रतिनिधि हैं और विभीषण, तारा, मंदोदरी, त्रिजटा आदि राजस कोटि के पात्र हैं ।

मानस के नायक राम के चरित्र को गोस्वामी जी ने उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित किया है । शील, शक्ति एवं सौंदर्य से समन्वित वे उच्च क्षत्रियकुल में उत्पन्न धीरोदात्त नायक हैं । वे शील और करुणा के सिंधु हैं । औदात्य उनके चरित्र में इतनी अधिक मात्रा में है कि खेलते समय भी वे अपने भाइयों को हारता हुआ नहीं देख सकते । राज्याभिषेक की बात सुनते ही वे 'बिमल बंश यहु अनुचित एकू, बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू'[1] कहकर रघुकुल में होने वाली अनुचित रीति की बात करते हैं । धनुषभंग, परशुराम-गर्वहरण, सेतु-बंधन और राम-रावण के युद्ध प्रसंग में उनके शौर्य की महान झाँकी देखने को मिलती है । संक्षेप में राम के चरित्र में वे सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं जिनकी अनिवार्यता किसी भी नायक के चरित्र में होनी चाहिये । इस प्रकार नायक राम महाकाव्योचित चरित्रोदात्तता से परिपूर्ण हैं ।

गोस्वामी जी की प्रतिभा सत् और असत् दोनों ही प्रकार के पात्रों के चरित्रांकन में सक्षम थी । उन्होंने जितनी सफलता के साथ राम आदि सात्त्विक पात्रों के शील का निदर्शन किया है उतनी ही संतुलित तूलिका से रावण आदि असत् पात्रों का चरित्र भी अंकित किया है । नायक के धीरोदात्त गुणों की प्रतिस्पर्द्धा में गोस्वामी जी ने अपने धीरोदात्त प्रतिनायक रावण को भी खड़ा किया है । इस प्रकार मानस के अन्य चरित्र भी अपने-अपने शील की (सत्, असत् अथवा राजस) उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित हैं और मानस को महाकाव्योचित गरिमा से मंडित करने में सक्षम हैं ।

मानस की रस व्यंजना :

रस महाकाव्य की आत्मा है और उसके अभाव में किसी भी प्रकार के भाव की प्राप्ति असंभव है । प्राचीन भारतीय आचार्यों ने महाकाव्य की सीमा में सामान्यतः रसभावनिरंतरम् के साथ ही 'रसैश्चसकलैः' के सिद्धांत को मान्यता प्रदान की ।

मानस में यद्यपि नवरसों का यथाविधि प्रयोग हुआ है किंतु संपूर्ण महा-काव्य का अंगीरस शांत ही है । मानस के अन्य सभी रसों में शांत अनस्यूत

१. मानस २।१०।४

किया हुआ है। यहाँ तक कि सीता के शृंगार में, भरत की करुणा में और कौशल्या के वात्सल्य में भी शांतरस की सूक्ष्म संवेदना विद्यमान है। लंका-कांड में युद्ध के समय राम के पराक्रम से पुष्ट होने वाला वीररस भी 'अमल अचल मन त्रोन समाना;' 'कवच अभेद बिप्र गुरु पूजा;' और 'सखा धर्ममय अस रथ जाकें'[1] सदृश पंक्तियों का आश्रय लेकर शांत की भूमि पर ही आधारित है। कथा के उपसंहार में भी गोस्वामी जी ने 'पायो परम बिश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ'[2] कहकर शांतरस की पुष्टि की है। शांतरस की इस सीमा के अंतर्गत राम आलंबन हैं और पाठक आश्रय। कुछ समीक्षक मानस का प्रधान रस अलौकिक शृंगार अथवा भक्तिरस मानते हैं। किंतु इस धारणा को हम उसी सीमा तक स्वीकार करने को तैयार हैं जहाँ तक भक्ति का उद्देश्य सांप्रदायिकता या अंध धार्मिकता की सीमा को न छुये क्योंकि हम इस महाकाव्य को किसी भी सीमा में सांप्रदायिक काव्य मानने को तैयार नहीं।

शांतरस के बाद मुख्य कथा में प्रधान रूप से वीररस का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है।

एक विशेष बात जो स्पष्ट करने के लिये आवश्यक है वह यह है कि गोस्वामी जी की रस परिकल्पना पूर्ण रूप से सांस्कृतिक है। कुछ समीक्षकों को उनकी रस-सृष्टि में व्याघात दिखाई देते हैं। उनके अनुसार रावण, मंदोदरी एवं कुंभकर्ण के प्रसंगों में उतनी रसवत्ता नहीं है। इसका कारण विशेष है। जहाँ कोई पात्र गोस्वामी जी के रस की सांस्कृतिक चेतना की अवहेलना करता प्रतीत होता है उसी स्थल पर रस की कमी प्रतीत होती है।

कुछ आलोचकों के अनुसार लौकिक काव्यधारा के मध्य में अलौकिक निर्देश मानस की कथाधारा में व्याघात पहुँचाने वाले हैं। इस प्रकरण में अरण्यकांड के सीतान्वेषण और लंकाकांड के लक्ष्मण शक्ति प्रसंगों को प्रस्तुत किया जाता है जिनमें तुलसीदास ने 'पूरनकाम राम सुखरासी, मनुज चरित कर अज अबिनासी'[3] तथा 'उमा एक अखंड रघुराई, नरगति भगत कृपाल देखाई'[4] लिखा है। परंतु इन प्रसंगों में अलौकिकता का निर्देश होने पर भी रस की धारा कहीं पर भी कुंठित नहीं हुई है। उसका कारण यह है कि इन स्थलों पर रस का पूर्ण विकास हो चुकने के पश्चात् ही राम की

१. मानस ६।८०।५, ६
२. मानस ७।१३०। छंद ३
३. मारस ३।३०।६
४ मानस ६।६१।६

अलौकिकता का संकेत कराया गया है। इसके पीछे भी एक मनोविज्ञान है। जिस प्रकार नाटकों में किसी अति गंभीर दृश्य के पश्चात् हास्य-दृश्य का नियोजन किया जाता है उसी प्रकार गोस्वामी जी ने इन करुणाभिभूत दृश्यों के पश्चात् सामाजिकों के संवेगों को संयत करने के लिये राम की अलौकिकता का निदर्शन किया है। अतएव ऐसे स्थलों पर रस की धारा कुंठित नहीं हुई है प्रत्युत उसमें निखार आ गया है।

मानस का व्यापक उद्देश्य :

महाकाव्य का महान उद्देश्य ही उसकी प्राणशक्ति होता है। उद्देश्य से ही महाकवि के विचारों और आदर्शों का अभिव्यंजन होता है। सर्गबद्धता, छंद-विधान अथवा कथा आदि तो महाकाव्य के बाह्य आधार हैं, उसका परम साध्य तो उसके उद्देश्य की महानता में ही दिखायी देता है।

गोस्वामी जी ने मानस की मूल-कथा के प्रारंभ में ही अपने उद्देश्य को स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने प्रथम मंगलाचरण छंद में सरस्वती एवं गणेश की वंदना करते हुये स्पष्ट लिखा है कि वे श्रेष्ठतम जीवन-बोध तथा सरस कवित्व के आधार पर महाकाव्य-भवन का निर्माण करना चाहते हैं।[1] इस प्रकार लोक-कल्याण का आदर्श गोस्वामी जी की काव्य-सृष्टि का सबसे महान उद्देश्य है। उनके लोक-कल्याण की व्यापकता 'सुरसरि सम सब कहँ हित होई' में निहित है। इस लोक-कल्याण की प्राप्ति के लिये गोस्वामी जी ने राम की भक्ति का अवलंब स्वीकार किया क्योंकि उनके विचार से लोकमंगल का चरम आदर्श उनके उपास्यदेव राम में सर्वाधिक मात्रा में प्रस्तुत हुआ है। हम लोक-मंगल के आदर्श को रामचरितमानस का अन्यतम् अंग स्वीकार कर सकते हैं।

भारतीय आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट चतुष्वर्ग फल (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) की प्राप्ति भी मानस के उद्देश्य में व्यापक रूप से परिव्याप्त है। इस चतुष्वर्ग फल की कल्पना को ही उदात्त रूप प्रदान करने के लिये गोस्वामी जी ने राम के राज्याभिषेक के पश्चात् रामराज्य का विस्तृत वर्णन किया है। रामराज्य के विशद वर्णन में गोस्वामी जी ने स्वयं ही 'अर्थ धर्म कामादिक चारी' कहकर अपने इस उद्देश्य की घोषणा की है। बालकांड में महाकवि ने 'मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की' कहकर जिस सिद्धांत का सैद्धांतिक

---

१. वर्णानामर्थसंघानां रसानां छंदसामपि
मंगलानां च कर्तारौ वंदे वाणीविनायकौ। मानस १।१ श्लोक

प्रतिपादन किया है, उत्तरकांड में अपने उपास्य राम की आदर्श राज्य-व्यवस्था में उसी को व्यावहारिक रूप प्रदान किया है। रामराज्य-चित्रण में प्रस्तुत दृष्टिकोण महाकाव्य के उच्चतम आदर्शों के अनुरूप है। यहाँ पर कवि का दृष्टिकोण असाधारण रूप से व्यापक हो गया है। उन्होंने संपूर्ण रूप से सांप्रदायिक सीमाओं को पार करके अपने महाकाव्य के उद्देश्य को राष्ट्रहित और विश्वकल्याण की सीमाओं के पर्याप्त समीप पहुंचा दिया है। इस प्रकार मानस का महान उद्देश्य लोक-मंगल की व्यापक साधना है। लोक-मंगल का इससे बड़ा प्रमाण क्या होगा :

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहिं ब्यापा।
चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं।
राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबु धन लच्छन हीना।[1]
एकनारि ब्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी।[2]

मानस में अलंकृति-तत्त्व :

अपने विशाल कलेवर में महाकाव्य के अंतर्गत व्यापक अलंकरण के पर्याप्त अवसर उपलब्ध रहते हैं। यद्यपि अलंकरण काव्य की आत्मा नहीं है तथापि सौंदर्य की अभिव्यक्ति किसी न किसी सीमा तक प्रभावशाली तो होती ही है। भाषा, छंद एवं अलंकार आदि शैलीगत अवयव अपनी पूर्ण सौंदर्य-निष्ठा के साथ महाकाव्य में उपस्थित रहने चाहिए।

रामचरितमानस में सर्वप्रथम अवधी का साहित्यिक, सरस और परिष्कृत रूप प्राप्त होता है। गोस्वामी जी ने भाषा-प्रयोग में मध्यवर्ती मार्ग का अनुसरण किया। इस कारण उनकी भाषा की साहित्यिकता और उसकी लोक-ग्राह्यता के मध्य एक आदर्श संतुलन बना रहता है। उन्होंने जायसी के समान न तो ठेठ अवधी को अपने काव्य की भाषा के लिए स्वीकार किया और न मात्र संस्कृत गर्भित शब्दावली का प्रयोग किया। इसके साथ ही प्रांतीय बोलियों और अरबी-फारसी आदि के लोक प्रचलित शब्दों का प्रयोग कर उन्होंने अपनी भाषा को जन-जन के हृदय का कंठहार बना दिया।

छंद के क्षेत्र में भी गोस्वामी जी ने अर्थ के अनुरूप छंद का प्रयोग किया है। प्रेमगाथाकार कवियों की तरह मानस को उन्होंने दोहा-चौपाई के बंधन में

---

१. मानस, ७।२१।१, २, ३ २. मानस ७।२२।४

नहीं बाँधा वरन् उन्होंने संस्कृत के अनुष्टुप, शार्दूल-विक्रीडित, मालिनी, वंशस्थ, वसंतलिका छंदों के साथ-साथ सोरठा, हरिगीतिका, तोमर, त्रिभंगी आदि छंदों का प्रयोग भी आवश्यकतानुसार किया। इस प्रकार रामचरित-मानस में विभिन्न छंदों का सुंदर समायोजन किया गया है।

अलंकारों की दृष्टि से गोस्वामी जी ने कोरे चमत्कार प्रदर्शन के लिए अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने इन्हें सौंदर्य-वृद्धि का साधन मात्र माना है, साध्य नहीं। सादृश और साधर्म्य अलंकारों को जिस कौशल के साथ गोस्वामी जी ने प्रस्तुत किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। गोस्वामी जी द्वारा प्रस्तुत किए गए विभिन्न रूपक उनकी विलक्षण मौलिकता के परिचायक हैं। इसके अतिरिक्त उनकी उत्प्रेक्षाओं में जहाँ अभिनव और अनूठी कल्पना का सौंदर्य विद्यमान है वहीं उनमें लोक-जीवन की निकटता भी है।

गोस्वामी जी के अलंकार-विधान की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि उनके द्वारा प्रस्तुत अलंकार स्वाभाविक हैं, प्रयत्नसाध्य नहीं। उनके अलकार-विधान की इस विशेषता की ओर संकेत करते हुए डॉ० शंभूनाथसिंह ने इस प्रकार लिखा है कि 'मानस की अलंकार-योजना का उद्देश्य है अर्थ को सुंदर ढंग से अभिव्यक्त करना, भावों के सौंदर्य में वृद्धि करना, रूप चित्रण और वर्णन में रमणीयता उत्पन्न करना और सूक्ष्म गुणों, अनुभूतियों और क्रियाओं को मूर्तरूप में उपस्थित करके उन्हें सहज बोधगम्य बनाना। इसीलिए मानस में अलंकार रमणीयता में वृद्धि करते हैं। उसके भार नहीं बल्कि सौंदर्य के वाहन या साधन हैं।'[1]

इसप्रकार मानस महाकाव्य की व्यापक अलंकृति के संबंध में सहज रूप से कहा जा सकता है कि इसके संपूर्ण क्षेत्र में स्वाभाविकता, सहजता तथा अयत्न-साध्यता विद्यमान है और यह अलंकृति का तत्त्व मानस के आत्मिक सौंदर्य को निखारने में पूर्णरूपेण सहायक हुआ है।

अस्तु, महाकाव्य के समस्त मुख्य लक्षणों के आधार पर मानस की परख करने पर यह उत्कृष्टकोटि का महाकाव्य सिद्ध होता है। हिंदी का कोई प्राचीन अथवा अर्वाचीन महाकाव्य रामचरितमानस के गौरव के निकट नहीं पहुँचता।

---

१. महाकाव्य का स्वरूप विकास, डॉ० शंभूनाथसिंह, पृ० ५४८

डॉ० भगवतशरण अग्रवाल

रामचरितमानस में गार्हस्थ्य-धर्म

प्राचीनकाल में धर्म शब्द का प्रयोग कर्त्तव्य के रूप में था और धार्मिक ग्रंथों में इन कर्त्तव्यों का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से वर्णन रहता था। कर्त्तव्य के माध्यम से ही समाज, प्रजा या सभी प्राणियों की संपन्नता और सर्वांगीण उन्नति संभव थी।

व्यापक समाज के मध्य परिवार या गृहस्थी एक लघु इकाई या यूनिट के समान है। जिस प्रकार व्यक्तियों के समूह से समाज की रचना होती है, उसी प्रकार व्यक्तियों या उनकी बड़ी इकाइयों अर्थात् गृहस्थियों की सर्वांगीण उन्नति ही समाज को संपन्न और समृद्ध बना सकती है और इसलिए जिसप्रकार राजधर्म, समाजधर्म आवश्यक हैं उसीप्रकार गृहस्थधर्म भी समाज में रहने वाले मनुष्य अथवा मनुष्यजीवन के लिए एक आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण अंग है।

अपने यहाँ मनुस्मृति के अनुसार गृहस्थ-धर्मपालन के लिए २५ वर्ष से ५० वर्ष तक की आयु मानी गई है। आजकल हम विवाह से ५०-५५ वर्ष तक की आयु स्वीकार कर सकते हैं, वैसे अधिकांश व्यक्ति गृहस्थी की झंझटों में ही फँसे-फँसे मृत्यु के द्वार पर जा पहुँचते हैं। एक गृहस्थी में पालक, उसकी पत्नी और उन दोनों की संतान प्रमुख रूप से माने जाते हैं। किंतु यदि पालक के माता-पिता उस पर आश्रित हों, तो वे भी उसी गृहस्थी के अंग ही माने जायेंगे। इसके साथ ही घर के भृत्य भी परिवार का एक अंग होते हैं और एक संयुक्त परिवार में उसके भाई-बहन, विवाहित भाइयों के परिवार तथा अविवाहित बहनें भी आ जायेंगी।

रामचरितमानस में अनेक परिवारों की चर्चा है। कहीं संकेत मात्र से, कहीं साधारण रूप में और कहीं विस्तृत रूप में। शिव-पार्वती, दशरथ, राम, जनक, केवट, बाली-सुग्रीव, रावण इत्यादि के गृहस्थजीवन संबंधी वर्णन हमें रामचरितमानस में मिलते हैं। किंतु इन सब के केंद्र में, मुख्यकथा के रूप में, दशरथ के गृहस्थ-जीवन से संबंधित रामकथा ही है। राम के स्वयं गृहस्थ-जीवन के अंश भी कम हैं। यद्यपि राम इस महाकाव्य के चरितनायक हैं, एक आदर्श पुत्र और एक आदर्श भ्राता हैं। साथ ही वे एक आदर्श राजा हैं, किंतु एक आदर्श पति और एक आदर्श पिता के जीवन-क्षण हमें उनके जीवन में कहाँ देखने को मिलते हैं ? श्री व्यौहार राजेन्द्रसिंह के अनुसार रामचरितमानस में राम के गृहस्थ-धर्म के वास्तविक पालन के कारण गृहस्थ-धर्म का महत्त्व कायम हुआ है और विशेष द्रष्टव्य यह है कि तुलसी ने गृहस्थ-धर्म को त्याग करके, रामचरितमानस में गृहस्थ-धर्म के आदर्श चित्र अंकित किये हैं।

तुलसी ने रामचरितमानस के बालकांड में ही एक सुपुत्र के व्यवहार के लक्षण इस प्रकार दिए हैं :

प्रातःकाल उठिकै रघुनाथा। मातुपिता गुरु नावहिं माथा।[1]

और बचपन से ही उनका भ्रातृ-प्रेम कैसा था :

बंधु सखा सँग लेहिं बुलाई। बन मृगया निज खेलहिं जाई।[2]
अनुज सखा सँग भोजन करहीं। मातुपिता अग्या अनुसरहीं।[3]

यही नहीं, जिस समय राम को राज्याभिषेक की सूचना मिलती है, उस समय उनके मन में अपने भाइयों के प्रति जो भाव उठते हैं, वे भाव जिन भाइयों में भी, जिस काल में भी उत्पन्न होंगे, एक सम्मिलित परिवार के गृह-क्लेश दूर रखेंगे :

जनमें एक संग सब भाई। भोजन, सयन केलि लरकाई।
करनबेध उपवीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा।
बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहिं अभिषेकू।[4]

उचित-अनुचित का विचार किए बिना माता-पिता की आज्ञा का पालन करने का व्रत धारण किए राम के मन में अपने पिता दशरथ तथा माता कैकेयी के विषय में किसी भी प्रकार के दुर्भाव की झलक तक नहीं उठती। अपने पुत्रों

१. मानस १।२०५।४
२. मानस १।२०५।१
३. मानस १।२०५।२
४. मानस २।१०।३-४

सहित सभी ने कैकेयी को दोष दिया है किंतु राम ने नहीं दिया। तुलसी कहते हैं कि कैकेयी के कपटवचन सुनकर भी :

लागहिं कुमुख बचन सुभ कैसे। मगहँ गयादिक तीरथ जैसे।
रामहिं मातुबचन सब भाये। जिमि सुर सरिगत सलिल सुहाये।[1]

क्योंकि राम मानते थे कि :

चारि पदारथ करतल ताकें। प्रिय पितुमातु प्रानसम जाकें।[2]

चित्रकूट पर भी राम पहले कैकेयी से ही मिले :

प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभायँ भगति मति भेई।
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी।[3]

राम का जैसा आदरपूर्ण व्यवहार अपने माता-पिता तथा गुरु के प्रति था, वैसा ही ऋषि-मुनियों के प्रति भी। यही नहीं मंत्रियों इत्यादि के साथ व्यवहार में भी हमें राम का आदर व्यक्त होता दिखाई देता है। सीता के प्रति राम के मन में कितना स्थान था, उसका परिचय तो ऐसे अनेक स्थलों पर होता है जहाँ सीता को शिथिल देख उन्होंने वनवासकाल में विश्राम लेने या काँटे निकालने के बहाने ठहरने या रुकने का कार्य किया है। सीता को प्रसन्न करने के लिए ही वे स्वर्णमृग के पीछे जाते हैं और सीताहरण पर राम का विलाप तो तुलसी के भगवान राम को पृथ्वीवासी नर ही बना देता है :

हा गुनखानि जानकी सीता। रूप-सील-व्रत-नेम-पुनीता।
लछिमन समुझाए बहु भाँती। पूछत चले लता तरु पाँती।
हे खग मृग हे मधुकर स्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी।[4]

राम का अपने सेवकों के प्रति जो व्यवहार है, उसमें कहीं राजकुमार अथवा राजा होने का अभिमान हमें नहीं मिलता। वास्तव में तो सेवकों को परिवार का एक अंग ही माना जाता था और सेवक भी जन्मभर उस परिवार की सेवा को अपने जीवन का अलभ्य लाभ समझते थे तथा जहाँ तक संभव हो सकता था अपनी संतानों को भी उस परिवार की सेवा में ही नियुक्त कराने की चेष्टा करते थे। पालक का धर्म सेवकों को परिवार का अंग समझ उनको उचित मान-विनय-दया देना था। दशरथ-कुल में केवल मंथरा ही ऐसी दासी दिखाई देती है, जोकि भेदभाव का आसरा ले फूट डलवाने की चेष्टा करती है,

१. मानस २।४३।४ २. मानस २।४६।१
३. मानस २।२४४।४ ४. मानस ३।३०।४-५

किंतु तुलसी ने उसकी भी रक्षा की है और उसकी तथा कैकेयी की मति फेरने का दोष गिरा तथा देवताओं को दिया है। इसप्रकार हम रामचंद्र के चरित्र में एक आदर्श-पुरुष के दर्शन करते हैं, जोकि राजा दशरथ की गृहस्थी में अपने त्याग तथा संबंधानुसार विनय-आदरयुक्त व्यवहार से सभी का हृदय जीत लेते हैं और टूटने जा रही गृहस्थी को जोड़ने का प्रयत्न करते हैं।

देवी सीता का चरित्र भी राम की मर्यादा के अनुकूल ही है। उनकी विदा के समय जनक की रानियाँ उन्हें उपदेश देती हैं :

सासु ससुर गुर सेवा करेहू। पतिरुख लखि आयसु अनुसरेहू।[1]

और पातिव्रत्य की सीख ऋषिपत्नी अनुसूइयाजी वन में सीता को देती हैं :

मातु पिता भ्राता हितकारी। मितप्रद सब सुनु राजकुमारी।
अमित दानि भर्ता बैदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही।[2]

तुलसी के मानस में नारी के पातिव्रत्य धर्म पर काफी जोर दिया गया है। राजा दशरथ के तीन रानियाँ होने से ही विवाद की संभावना रही, यह संकेत भी हमें मिलता है, क्योंकि तुलसी केवल नारियों की पवित्रता में ही विश्वास नहीं करते थे पुरुषों के लिए भी तुलसी ने, आदर्श रामराज्य में, एकपत्नीव्रत-धारी होना स्वीकार किया है :

एकनारि ब्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी।[3]

इसी कारण तुलसी ने अपने चरितनायक राम तथा उनके भाइयों को एक पत्नीव्रता तथा संयमी दिखाया है। देवी सीता के चरित्र में तो एक आदर्श पत्नी तथा सेवाभावी वधू का एक सुंदर-सुभग संयोग है। पतिसेवा के लिए जबकि उनका राम के साथ बन जाना परमावश्यक है, वहाँ दूसरी ओर अपनी सासुओं की सेवा न करने का पछतावा भी है :

तब जानकी सासु पग लागी। सुनिअ माय मैं परम अभागी।
सेवा समय दैव बन दीन्हा। मोर मनोरथ सुफल न कीन्हा।[4]

सीता का अपने देवरों के साथ विनययुक्त स्नेहभाव तथा दास-दासियों के प्रति ममतामय अथवा पदानुसार मानसहित भाव था, ऐसी प्रतीति मानस के अनेक स्थलों पर होती है। कैकेयी के प्रति भी कोई दुर्भाव सीता की वाणी अथवा मन में हमें नहीं मिलता। बनवास से वापिस आकर वे सास ससुर की तथा अपने पति की, अनेक सेवकों के रहते हुए भी, स्वयं सेवा करती थीं :

---

१. मानस १।३३४।३ २. मानस ३।५।३
३. मानस ७।२२।४ ४. मानस २।६६।२

पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभाखानि सुसील बिनीता।
जानति कृपा-सिंधु-प्रभुताई। सेवति चरन-कमल मन लाई।
जद्यपि गृहँ सेवक सेवकिनी। बिपुल सकल सेवा बिधि गुनी।
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचंद्र-आयसु अनुसरई।
जिहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवाबिधि जानइ।
कौसल्यादि सासु गृह माहीं। सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं।[१]

तुलसी ने देवी सीता के पातिव्रत्य धर्म की रक्षा की अनेक स्थलों पर सराहना की है, यहाँ तक कि उसे एक अमोघ मंत्र जैसा भी कहा है :

सुन सीता तव नाम, सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।
तोहिं प्रानप्रिय राम, कहेउँ कथा संसार हित।[२]

रामचरितमानस में भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न आदर्श भाइयों के उदाहरण हैं। लक्ष्मण राम की सेवा को ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं और भरत राम की सेवा के लिए, मिले हुए राज्य को ठोकर मारकर, एक चौकीदार की तरह उसका कार्य चलाते हैं। भरत ने अपनी माता को जो कुछ बुरा-भला कहा है, उसका कारण मातृभक्ति का अभाव न होकर, एक गलत निर्णय, स्वार्थ, कुल-परंपरा के विरुद्ध कार्य तथा आपसीफूट के बीज डालने वाली वृति का विरोध ही है। उनके इस व्यवहार के पीछे लोकोन्मुख मर्यादावादी दृष्टि है और फिर यह कार्य कैकेयी के द्वारा देवताओं के हित के लिए सरस्वती ने कराया था। वास्तव में तो कैकेयी का सपत्नी-पुत्रों पर अपना पुत्र जैसा ही प्रेम था, इसीलिए प्रारंभ में वह मंथरा को घरफोरी कहकर संबोधित करती है।

वैसे तो राम के साथ वन में कष्ट उठाने तथा उनकी सेवा करने को (अपनी पत्नी को घर पर ही छोड़कर) लक्ष्मण जाते हैं, किंतु लक्ष्मण के स्वभाव में थोड़ी उग्रता होने के कारण तुलसी ने अपनी भक्ति का माध्यम भरत को बनाया है। इसीलिए मानस के सभी पात्रों को किसी न किसी कोटि का भक्त दिखाकर भी, तुलसी ने भरत जैसी भक्तिभावना किसी अन्य पुरुषपात्र में नहीं दिखाई है। रामचरितमानस में जहाँ राम की मर्यादा उच्चतम शिखर पर अंकित हुई है, वहाँ भरत की शील-धर्म-रक्षा भी। मित्रों में हो अथवा परिवार में, जहाँ भी त्याग की भावना अधिक होगी और अपने कर्त्तव्य की ओर ही दृष्टि होगी, वहाँ ही सुखशांति का साम्राज्य दिखाई देगा। लक्ष्मण के मन में भरत के प्रति शंका-

१. मानस ७।२४।२-४ २. मानस ३।५ख

कुशंका जहाँ एक मनोवैज्ञानिक यथार्थ का निर्देश करती है, वहाँ दूसरी ओर भरत का बंधुप्रेम और त्याग, लक्ष्मण के मन को सुरसरिता के समान निर्मल कर देता है।

तुलसी ने रामचरितमानस में कलियुग का जो वर्णन किया है, और उसके अंतर्गत नारियों तथा पुरुषों के दोष चित्रित किये हैं, वे हमें पिछले एक हजार वर्ष के समाज में ही नहीं, बल्कि आधुनिक समाज में भी अपने चारों ओर दिखाई दे सकते हैं। तुलसी के कलियुग-वर्णन में गृहस्थ-जीवन संबंधी यथार्थ-चित्र द्रष्टव्य हैं।[1]

तुलसी ने मानस में राजा दशरथ के राजधर्म तथा पुत्रप्रेम की प्रशंसा करने के साथ-साथ उनकी स्त्रैणता तथा उसके कारण उनके जीवन में उत्पन्न अनेक विषादमय समस्यायें अंकित कर, अपने आदर्श नायक राम तथा भाइयों को एकपत्नीव्रतधारी दिखाया है जिसके कारण सपत्नी-संबंधी उलझनें तथा परस्त्री संबंधी समस्याओं का निराकरण अपने आप हो जाता है।

राजा दशरथ के चरित्र में, चौथेपन के संकेत रूपी सफेद बालों को देख-कर, उनके राज्यत्याग की तत्परता स्तुत्य है। हमारे अनेक नेताओं तथा पदाधिकारियों को ही नहीं परिवार के बुजुर्गों को भी इससे शिक्षा लेनी चाहिये।

भ्रातृ-प्रेम के चित्रों से तो मानस भरा पड़ा है। इसके साथ ही हनुमान जैसे सेवक, विभीषण तथा सुग्रीव जैसे मित्र तुलसी के मानस की देन हैं। गुरु का अपने यजमानों की कुशलता तथा उन्नति में योगदान तथा यजमानों तथा शिष्यों का अपने गुरु को 'देवो भव' मानना रामचरितमानस में चरितार्थ है। यही नहीं, गृहस्थी से संबंधित दास-दासियों की, स्वामी के परिवार की अवस्था के अनुसार सुख-दुख में सक्रिय सहानुभूति की, अभिव्यक्तियाँ भी तुलसी ने कराई हैं।

एक सुखी, समृद्ध तथा संतुष्ट गृहस्थी एक आदर्श समाज की आदर्श इकाई है और ऐसी गृहस्थियों से पूर्ण समाज ही एक आदर्श राष्ट्र की परिकल्पना को सफल कर सकता है एवं मानवता के विकास में सहभागी बन सकता है। काश, हम रामचरितमानस के पारायण के साथ-साथ उसके आदर्शों को आचरण में रखना भी प्रारंभ कर सकते।

---

१. मानस ७।९९-१०२

श्री जनार्दनदत्त शुक्ल

रामचरितमानस में नीति

भारतीय दर्शन तथा धार्मिक ग्रंथों में कभी संन्यास तथा वैराग्य को और कभी सामाजिक जीवन तथा कर्म को प्रधानता मिलती रही है। वैराग्य के साथ प्रायः निर्गुण-ब्रह्म और सामाजिक जीवन में सगुण ब्रह्म की प्रधानता रही है। तुलसी शंकर के संन्यास के बाद धर्म को सामाजिक जीवन में लाए। यह तुलसी का महत्त्व है। तुलसी के रामचरितमानस का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। सामाजिक जीवन के सब पहलुओं पर तुलसी की छाप है। प्रायः श्रीराम को मर्यादा पुरुषोत्तम कहा जाता है और ठीक ही है, किंतु वे नीति प्रतिपालक भी हैं। वशिष्ठ जी कहते हैं, 'नीति प्रीति परमारथ स्वारथु, कोउ न राम सम जान जथारथु।'

नीति का प्रथम तथा सबसे महत्त्वशाली अंग है अच्छे बुरे, संत-असंत की पहिचान। इस विद्या के बिना नीति नहीं बरती जा सकती। इस कारण तुलसीदास ने विस्तारपूर्वक साधु-असाधु की व्याख्या की है :

साधु चरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू।
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा। बंदनीय जेहिं जग जस पावा।[1]

संत परोपकारी होते हैं, परोपकार के लिए दुःख सहन करते हैं और असंत बिना कारण ही अपकारी होते हैं। संत सरिता, गिरि और धरती की तरह हैं। उनका हृदय नवनीत की भाँति होता है। वे संवेदनशील और सहृदय होते हैं। असंतों की संगति सदैव दुःखमयी होती है। वे दूसरे की विभूति देख-कर जलते हैं, दूसरे की निंदा सुनकर प्रसन्न होते हैं :

१. मानस १।२।३

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ।
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई।
खलन्ह हृदयँ अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी।
जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई।[1]

तुलसीदास स्पष्टवादी हैं, कठोर स्पष्टवादी। बिना शील-संकोच के असंतों के लक्षण कहे हैं और फिर उनकी वंदना करने के बाद यह भी लिख दिया है :

मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा। तिन्ह निज ओर न उउब भोरा।
बायस पलिअहिं अति अनुरागा। होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा।[2]

किंतु तुलसीदास संकेत करते हैं कि संत-असंत में कुछ समतायें भी हैं, इसलिए भूल से बचना चाहिए :

बंदउँ संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना।
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दारुन दुख देहीं।
उपजहिं एक संग जग माहीं। जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं।
सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग जलधि अगाधू।[3]

तुलसीदास का मत है कि जो जैसा पुरुष है उसको वैसा समझकर व्यवहार करना चाहिए :

भलो भलाइहि पै लहइ, लहइ निचाइहि नीचु।
सुधा सराहिअ अमरताँ, गरल सराहिअ मीचु।[4]

तुलसीदास अच्छे और बुरे की व्याख्या कर और उनके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह बतलाकर स्पष्ट संकेत देते हैं कि नीति का सुनना, पढ़ना तथा समझना आसान है, किंतु जीवन की परिस्थितियों में उसको अमल में लाना कठिन है, धोखा हो सकता है। बुद्धिमानों की परीक्षा नीति जानने में नहीं वरन् नीति के लागू करने में होती है।

इस पृष्ठभूमि में रामचरितमानस से कुछ नीति के अंग लेता हूँ जो तुलसीदास ने प्रतिपादित किए हैं। राम समुद्र के किनारे खड़े हैं। समुद्र पार कर लंका को जाना है। उन्होंने समुद्र से मार्ग देने की प्रार्थना की है परंतु समुद्र है कि उस पर कोई प्रभाव नहीं :

बिनय न मानत जलधि जड़, गये तीनि दिन बीति।
बोले राम सकोप तब, भय बिनु होइ न प्रीति।[5]

---

१. मानस ७।३९।१-२ २. मानस १।५।१ ३. मानस १।५।२-३
४. मानस १।५ ५. मानस ५।५७

तो पहले ही इस प्रकार अग्निवाण से समुद्र को सोखने का कार्य क्यों नहीं किया जबकि लक्ष्मण का मत था :

नाथ दैव कर कवन भरोसा। सोषिअ सिंधु करिअ मन रोसा।
कादर मनु कहुँ एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा।[1]

राम के इस कार्य में नीति है। यदि बिना अस्त्र का प्रयोग किए, बिना युद्ध किए अपना लक्ष्य मिल जाए तो बल का प्रयोग न करना चाहिए और यदि बिना युद्ध किए अभीष्ट नहीं मिलता तब भी पहले शत्रु से वार्ता करनी चाहिए ताकि जब बल का प्रयोग किया जाय तो जनमत अपनी ओर हो जाए। भगवान राम ने अंगद को रावण के दरबार में भेजकर इसी नीति का पालन किया था। नीतिपालक को साम, दाम, दंड, भेद सभी नीतियाँ काम में लानी चाहिए। भगवान ने अंगद को भेजकर साम का प्रयोग किया। दाम से सुग्रीव को अपनी ओर किया ही था। हनुमान ने भेद से और राम ने लंका का राज देकर दाम से विभीषण को अपनी ओर मिलाया था। दंड से रावण को मारा। इस प्रकार यदि उन्हें नीतिप्रतिपालक कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं।

नीति में आतंक का भी एक स्थान है। अंगद ने लंका में घुसते ही एक निसिचर मार दिया और उसका परिणाम हुआ :

भयउ कोलाहल नगर मझारी। आवा कपि लंका जेहिं जारी।
अब धौं कहा करिहि करतारा। अति सभीत सब करहिं बिचारा।
बिनु पूछें मगु देहिं दिखाई। जेहिं बिलोकि सोइ जाइ सुखाई।[2]

वास्तव में यही नीति है कि शत्रु से लड़ने से पूर्व उसका आत्मविश्वास कम कर देना चाहिए। यही हनुमान जी ने किया था :

उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जबतें जारि गयउ कपि लंका।[3]

रावण जिसका मनोबल बड़ा दृढ़ था, उसे भी शंका हुई। उसने अंगद से कहा :

तुम्हरे कटक माझ सुन अंगद। मो सन भिरिहि कवन जोधा बद।
तव प्रभु नारि बिरहँ बलहीना। अनुज तासु दुख दुखी मलीना।
तुम्ह सुग्रीव कूलद्रुम दोऊ। अनुज हमार भीरु अति सोऊ।
जामवंत मंत्री अतिबूढ़ा। सो कि होइ अब समरारूढ़ा।

१. मानस ५।५१।२
२. मानस ६।१८।४-५
३. मानस ५।३६।१

सिलिप कर्म जानहिं नल नीला । है कपि एक महा बलसीला ।
आवा प्रथम नगरु जेहि जारा । सुनत बचन कह बालि कुमारा ।[१]

रावण यहाँ तर्क बुद्धि से काम ले रहा है और किसी भी प्रकार शक्ति होते हुए भी अपने पक्ष को प्रबल करके रखना चाह रहा है । लेकिन इस प्रकार के तर्क से सही मार्गदर्शन नहीं किया जा सकता और न सत्य ही तक पहुँचा जा सकता है ।

शत्रु को अपने बल को दिखाकर प्रभावित करना चाहिए । अपनी और शत्रु की शक्ति में २:१ का अनुपात होना चाहिए, यदि अधिक हो तो और भी अच्छा । हनुमान जी ने सुरसा के सम्मुख अपनी दो गुनी शक्ति का परिचय दिया :

जोजन भरि तेहि बदनु पसारा । कपि तनु कीन्ह दुगुन बिस्तारा ।
सोरह जोजन मुख तेहि ठयऊ । तुरत पवनसुत बत्तिस भयऊ ।
जस जस सुरसा बदन बढ़ावा । तासु दून कपि रूप दिखावा ।[२]

मित्रता करने से पहले या भरोसा करने से पहले परीक्षा करनी चाहिए । सीता ने हनुमान से कहा :

हैं सुत कपि सब तुम्हहिं समाना । जातुधान अति भट बलवाना ।
मोरे हृदय परम संदेहा । सुनि कपि प्रगट कीन्हि निज देहा ।
कनक भूधराकार सरीरा । समर भयंकर अतिबल बीरा ।
सीता मन भरोस तब भयऊ । पुनि लघु रूप पवनसुत लयऊ ।[३]

राम ने भी सुग्रीव के सम्मुख अपनी शक्ति का परिचय देते हुए सुग्रीव को अपनी मित्रता का भरोसा इस प्रकार दिलाया :

कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा । बालि महाबल अति रनधीरा ।
दुंदुभि अस्थि ताल देखराए । बिनु प्रयास रघुनाथ ढहाए ।
देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती । बालि बधव इन्ह भइ परतीती ।[४]

अपने विनाश या अपनी असफलता का कारण तुलसीदास ने अभिमान को बताया है । बाली जब युद्ध करने के लिए चलता है तो गोस्वामीजी उसकी हार का संकेत इन शब्दों में कर देते हैं :

अस कहि चला महा अभिमानी । तृन समान सुग्रीवहि जानी ।[५]

भगवान राम ने भी बाली की हार का कारण अभिमान को ही बताया :

---

१. मानस ६।२३।१-३ २. मानस ५।२।४-५
३. मानस ५।१६।३-४ ४. मानस ४।७।६-७ ५. मानस ४।८।१

मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना।
मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी।[1]

सचिव का बड़ा ऊँचा स्थान है क्योंकि वही सही मंत्रणा देता है। राजा के पास देश, कोष, सेना तथा सचिव होते हैं। यदि पहले तीन चले जाएँ किंतु सचिव रह जाय तो तीनों वापिस आ सकते हैं। किंतु यदि सचिव न हो तो तीनों होते हुए भी चले जा सकते हैं। यही संकेत इस चौपाई में तुलसीदास ने दिया है और हनुमान को सुग्रीव का सचिव बताते हुए उन्हें सदैव सुग्रीव के साथ चित्रित किया है : तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा।[2]

और वही हुआ। हनुमान के कारण सुग्रीव को सब कुछ वापस मिल गया। परंतु यदि यही सचिव किसी भय अथवा लाभ की आशा से ठकुर सोहाती बोलता है तो राज्य, धर्म और शरीर सभी का विनाश हो जाता है :

सचिव बैद गुरु तीनि जौं, पिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर होई बेगिहीं नास।[3]

श्री रामचंद्र कार्य करने से पहले सदैव अपने मित्रों से सलाह माँगते हैं। यह ऐसी प्रणाली है जिसके प्रयोग से उनका निश्चय दूसरों को आज्ञा के रूप में प्रतीत नहीं होता वरन् वह सभी का निर्णय दिखाई देता है। इसे हम नीति निर्धारण में सहयोग और निर्णय लेने की क्षमता कह सकते हैं। जब विभीषण राम की शरण में आता है तो सुग्रीव सलाह देते हैं :

भेद हमार लेन सठ आवा। राखिअ बाँधि मोहि अस भावा।[4]

भगवान दूसरों को कभी गलत नहीं कहते, कहते हैं कि तुम ठीक हो परंतु हमें कुछ और भी सोचना है :

सखा नीति तुम नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भय हारी।[5]

यह है शरणागत के प्रति राम की नीति। वे अपनी शरण में आए हुए शत्रु की भी रक्षा करना चाहते हैं।

यह भी एक नीति है कि जब किसी से किसी प्रकार की मदद माँगनी हो तो पहले उसे अभीष्ट दे देना चाहिए। राम भी विभीषण की सहायता प्राप्त करने से पूर्व उसको लंका का राज्य दे देते हैं :

अस कहि राम तिलक तेहि सारा। सुमन वृष्टि नभ भई अपारा।[6]

---

१. मानस ४।६।५ २. मानस ४।१।१ ३. मानस ५।३७
४. मानस ५।४३।४. ५. मानस ५।४३।४ ६. मानस ५।४६।५

शिष्टाचार भी नीति का अंग है। गोस्वामी जी ने शिष्टाचार का हर स्थान पर ध्यान रखा है। रामायण शिष्टाचार सीखने के लिए सर्वोत्तम ग्रंथ है। किस को किस तरह प्रणाम करना चाहिए, किस को कैसा स्थान देना चाहिए इत्यादि विषयों पर तुलसी ने सतर्कता के साथ लिखा है। सती को देखकर श्री रामचंद्र ने आदर सहित प्रणाम किया :

जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। पिता समेत लीन्ह निज नामू।[1]

और इसी प्रकार :

राम सुमंत्रहि आवत देखा। आदरु कीन्ह पिता सम लेखा।[2]

गुरु को किस प्रकार अभिनंदित करना चाहिए, इसकी रीति भी तुलसीदास ने रामजी के माध्यम से बताई है :

गुरु आगमनु सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायउ माथा।
सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने।
गहे चरन सिय सहित बहोरी। बोले राम कमल कर जोरी।[3]

राजा को अपने गुरु का स्वागत किस प्रकार करना चाहिए, इसकी चर्चा करना भी तुलसी नहीं भूले हैं :

मुनि आगमन सुना जब राजा। मिलन गयउ ले बिप्र समाजा।
करि दंडवत मुनिहि सनमानी। निज आसन बैठारेन्हि आनी।
चरन पखारि कीन्ह अति पूजा। मो सम आजु धन्य नहिं दूजा।
बिबिध भाँति भोजन करवावा। मुनिवर हृदय हरष अति पावा।[4]

निषाद और राम का पारस्परिक व्यवहार भी शिष्टाचार का एक आदर्श उदाहरण कहा जा सकता है। राम के आगमन पर निषाद ने राम को प्रणाम किया, स्वागत सत्कार किया :

यह सुधि गुह निषाद जब पाई। मुदित लिये प्रिय बंधु बोलाई।
लिय फल मूल भेंट भरि भारा। मिलन चलेउ हियँ हरष अपारा।
करि दंडवत भेंटि धरि आगे। प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागे।[5]

और भगवान राम ने प्रेमपूर्वक निषाद को अपने पास बैठाया :

सहज सनेह बिबस रघुराई। पूंछी कुसल निकट बैठाई।[6]

तुलसी के राम नीति प्रतिपालक बनकर ही रामराज्य की स्थापना कर सके हैं। हमें इस नीति-पालन से प्रेरणा लेनी चाहिए।

---

१. मानस १।५३।४ २. मानस १।३६।३ ३. मानस २।६।१-२
४. मानस १।२०७।१-२ ५. मानस १।८८।१-२ ६. मानस १।८८।२

डॉ० वागीशदत्त पांडेय

मानस की अंतःकथाएँ

अंतःकथाएँ कथाओं का ही एक रूप है। सामान्य कथा से इसकी भिन्नता रूप और आकार तथा रचना-शैली आदि सभी दृष्टियों से है। यहाँ साहित्यकार कथा के लिए कथा का निर्वचन नहीं करता अपितु किसी सत्य की अभिव्यंजना के लिए प्रस्तुत कथा-प्रसंग में अंतःकथाओं का प्रयोग करता है। अंतःकथाओं की वस्तु कभी भी समसामयिक नहीं होती, अपितु प्राचीन प्रसिद्धि या प्राचीन इतिवृत्त ही इनका वर्ण्य-विषय रहता है। अंतःकथाओं के अति लोकप्रचलित होने की भी संभावना होती है क्योंकि साहित्यकार अंतःकथाओं में आगत कथाओं का विस्तार से वर्णन न कर केवल संदर्भ रूप में ही उन्हें प्रस्तुत करता है। ये संदर्भ भी किसी न किसी प्रस्तुत प्रसंग में ही दिए जाते हैं। इस प्रकार अप्रस्तुत रूप में प्रस्तुत के महत्त्व को बढ़ाने के लिए अथवा प्रस्तुत सत्य की पुष्टि के लिए संदर्भ या संकेत रूप में जब साहित्यकार किसी लोकप्रसिद्ध प्राचीन वृत्त का उल्लेख करता है, वहीं अंतःकथा का जन्म होता है। कथा-साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा अंतःकथाएँ लोक-मानस में अधिक स्थायी होती हैं।

अंतःकथाओं का अपना निजी साहित्यिक महत्त्व है। विषयवस्तु और कला की दृष्टि से इसका क्षेत्र निश्चित है। जहाँ तक वस्तु का संबंध है, अंतःकथाएँ प्रायः चमत्कारपूर्ण असंभाव्य घटनाओं से व्याप्त रहती हैं। इनके पात्रों को हम निरा ऐतिहासिक तो नहीं कह सकते, क्योंकि लोकमानस को प्रभावित करने के लिए साहित्यकार चरित्रों की जीवन-घटनाओं को कल्पना से आवृत्त

कर देता है। अंतःकथाओं का मूल लक्ष्य प्रधानतः धर्म या नीति के महत्त्व को दिखाना होता है। कहीं-कहीं ये कथाएँ विशुद्ध रूप में मनोरंजक भी होती हैं। हिंदी-साहित्य के भक्तियुग में अंतःकथाओं का काफी उपयोग हुआ है। रीतिकालीन नीति-काव्यों में अंतःकथाएँ प्रयुक्त हुई हैं। मध्यकालीन हिंदी-साहित्य में प्रस्तुत ये अंतःकथाएँ अति प्राचीन हैं तथा धर्म एवं नीति के तत्त्वों पर प्रकाश डाल रही हैं। भक्त कवियों को अपने प्रतिपाद्य की सिद्धि में इसलिए इन अंतःकथाओं से अपूर्व सहयोग मिला है। वस्तुतः मध्यकालीन हिंदी के नीति तथा धर्मपरक साहित्य में अंतःकथाओं का विशेष महत्त्व है।

गोस्वामी जी का मानस अंतःकथाओं का अतुल भंडार है। इसमें मूल रामकथा के साथ सैकड़ों छोटी-छोटी उपकथाएँ वर्णित हैं। रामकथा की लोकप्रियता सर्वविदित है। भारत की किसी भी युग की कोई भी ऐसी साहित्यिक भाषा नहीं, जिसमें रामकथा का वर्णन न किया गया हो। मानस की रामकथा का उद्देश्य भक्ति का महत्त्व प्रतिपादित करना है, अतः गोस्वामी जी ने विषय के अनुरूप अपने आदर्श की पुष्टि के लिए वैसी ही सहायक कथाओं का चयन किया है। वस्तुतः वैष्णव साहित्य के अध्ययन के लिए मानस में प्रयुक्त अंतःकथाओं का विवेचन और विश्लेषण अपरिहार्य बन जाता है।

रामचरितमानस में रामकथा की सहकारिणी रूप में विभिन्न युगों की अनेक कथाएँ देखने को मिलती हैं। इनमें कुछ कथाएँ वैदिक कालीन, कुछ रामायण-महाभारत युगीन और कुछ पौराणिक युग की कही जा सकती हैं। इन कथाओं में हमें कहीं कवि का नैतिक, कहीं आध्यात्मिक, कहीं दार्शनिक, कहीं राजनीतिक तो कहीं सामाजिक दृष्टिकोण देखने को मिलता है। रामचरितमानस में इन अंतःकथाओं से संबंधित अनेक दोहे और चौपाईयाँ हैं। विश्लेषण से पूर्व नीचे हम मानस में प्राप्त अंतःकथाओं में से कुछ से संबंधित दोहे-चौपाइयों को प्रस्तुत कर रहे हैं :

१. बालमीक नारद घटजोनी। निज निज मुखनि कही निज होनी।[1]
२. हरिहर जस राकेस राहु से। पर अकाज भट सहसबाहु से।[2]
३. पुनि प्रनवौं पृथुराज समाना। पर अघ सुनै सहसदस काना।[3]
४. सिय निंदक अघ औघ नसाए। लोक बिसोक बनाइ बसाए।[4]

---

१. मानस १।३।२   २. मानस १।४।२
३. मानस १।४।५   ४. मानस १।१६।२

५. महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ।[1]
६. जान आदिकबि नाम प्रतापू। भएउ सुद्ध करि उलटा जापू।[2]
७. राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी।[3]
८. नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू।[4]
९. ध्रुवँ सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ।[5]
१०. अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ।[6]
११. सचिव सुभट भूपति बिचार के। कुंभज लोभ उदधि अपार के।[7]
१२. महा मोहु महिषेसु बिसाला। रामकथा कालिका कराला।[8]
१३. भै जगबिदित दच्छ गति सोई। जसि कछु संभु बिमुख कै होई।[9]
१४. चित्रकेतु कर घरु उन घाला। कनककसिपु कर पुनि अस हाला।[10]
१५. बिप्र श्राप तें दूनउ भाई। तामस असुर देह तिन्ह पाई।[11]
१६. नारद श्राप दीन्ह एक बारा। कलप एक तेहि लगि अवतारा।[12]
१७. पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी। सकल कथा मुनि कहा बिसेषी।[13]
१८. गाधिसूनु सब कथा सुनाई। जेहि प्रकार सुरसरि महि आई।[14]
१९. कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा। सोषेउ सुजसु सकल संसारा।[15]
२०. सुनहु राम जेहिं सिवधनु तोरा। सहसबाहु सम सो रिपु मोरा।[16]
२१. माता पिता उरिन भए नीकें। गुरु रिनु रहा सोचु बड़ जीकें।[17]
२२. रामहि चितव सुरेस सुजाना। गौतम श्रापु परम हित माना।[18]
२३. मुनि मन अगम गाधिसुत करनी। मुदित बसिष्ट बिपुल बिधि बरनी।[19]
२४. कद्रू बिनतहि दीन्ह दुख तुम्हहि कौसिलाँ देव।[20]
२५. दुइ बरदान भूप सन थाती। मागहु आजु जुड़ावहु छाती।[21]
२६. सिबि दधीचि हरिचंद कहानी। एक एक सन कहहिं बखानी।[22]

---

१. मानस १।१९।२ २. मानस १।१९।३ ३. मानस १।२४।२
४. मानस १।२६।२ ५. मानस १।२६।३ ६. मानस १।२६।४
७. मानस १।३२।३ ८. मानस १।४७।३ ९. मानस १।६५।२
१०. मानस १।७९।१ ११. मानस १।१२२।३ १२. मानस १।१२४।३
१३. मानस १।१२१०।६ १४. मानस १।१२१२।१ १५. मानस १।२५६।४
१६. मानस १।२७१।२ १७. मानस १।२७६।१ १८. मानस १।३१७.३
१९. मानस १।३५९।३ २०. मानस २।१९ २१. मानस २।२२।३
२२. मानस २।४८।३

२७ तापस अंध साप सुधि आई। कौसल्यहि सब कथा सुनाई।[1]
२८ तनय जजातिहि जौबनु दएऊ। पितु अग्याँ अघ अजसु न भयऊ।[2]
२९ ससि गुर तिय गामी नघुषु चढ़ेउ भूमिसुर जान।
लोक बेद तें बिमुख भा अधम न बेन समान।[3]

उपर्युक्त कतिपय दोहे चौपाइयों में युग-युग की अंत:कथाएँ संदर्भित हैं। यहाँ हमने बालकांड और अयोध्याकांड से ही कुछ चौपाइयाँ दी हैं। मानस में इस प्रकार के संदर्भित दोहे और चौपाइयाँ कई सौ से ऊपर हैं। मोटे लिखे पदों में विभिन्न अंत:कथाओं के संदर्भ भरे पड़े हैं। इनमें कहीं-कहीं तो एक ही कथा कई पदों में बार-बार आई है और कहीं-कहीं कई कथाएँ एक ही चौपाई में गुंफित कर दी गयीं हैं। इनमें कुछ कथाएँ तो इतनी प्राचीन हैं कि उनके स्रोत वैदिक संहिताओं में मिल जाते हैं। सूर्य और चंद्रवंशी राजाओं से संबंधित अनेक कथाएँ रामायण और महाभारत में भी अपना मूल रूप प्राप्त किए हुये हैं। पौराणिक युगीन कथाएँ तो मानस में भरी हुई हैं। यहाँ हम मानस की इन अंत:कथाओं पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार प्रस्तुत कर रहे हैं।

रामचरितमानस एक महाकाव्य है। शास्त्रीय नियमानुसार इसमें मुख्य कथा के साथ अनेक सहकारी कथाएँ साथ-साथ चलती हैं। मानस में राम-रावण संबंधी कथा मुख्य कथा है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक लघु और बृहद् कथाएँ मानस में बिखरी पड़ी हैं जैसे—शिव-पार्वती, प्रतापभानु, नारद-मोह, जय-विजय आदि की कथाएँ। ये सभी कथाएँ प्रासंगिक रूप में मुख्य कथा की सहकारी बनकर ही मानस में वर्णित हैं। इनके अतिरिक्त सहकारी रूप में ही कुछ ऐसे भी प्रसंग मानस में आए हैं जिनको कवि ने किसी भाव या प्रसंग की सिद्धि के लिए संदर्भ रूप में ही प्रस्तुत किया है, उस कथा का विवरण प्रस्तुत नहीं किया। मानस में ऐसे ही संदर्भित अंश अंत:कथाओं के रूप में वर्णित हैं। ये संदर्भित कथाएँ परंपरा तथा साहित्य में अति प्रचलित रही होंगी तथा जनमानस में सुगमता से ग्राह्य होंगी, ऐसी संभावना है। ऐसी अंत:-कथाओं में इंद्र-अहल्या, गंगावतरण, नहुष, ययाति, हरिश्चंद्र, गणिका, अजामिल, गजेंद्र आदि की कथाएँ मानस में प्रयुक्त हुई हैं।

जैसा कि हमने पहले ही प्रतिपादित किया है मानस की अनेक अंत:कथाओं के बीज संहिता ग्रंथों में हमें मिल जाते हैं, जिनका विकास अनवरत रूप में

१. मानस २।१५५।२ २. मानस २।१७४।४ ३. मानस २।२२८

ब्राह्मण और आरण्यक ग्रंथों में होता हुआ पुराणों में प्राप्त हुआ है। वैदिक काल संबंधी अंतःकथाओं में अगस्त्य की उत्पत्ति की कथा, वसिष्ठ के पुनर्जन्म की कथा, अहल्या के साथ इंद्र के संबंध की कथा, दधीचि की कथा, राजा पृथु की कथा, वामनावतार की कथा, वसिष्ठ-विश्वामित्र की कथा, हरिश्चंद्र की कथा का प्रभाव है। ये कथाएँ ऋग्वेद, अथर्ववेद, तैत्तरीय संहिता, सतपथ ब्राह्मण ऐतरेय ब्राह्मण आदि में उपलब्ध हो जाती हैं। इनमें अगस्त्य की उत्पत्ति की कथा के सूत्र ऋग्वेद के सातवें मंडल के सूक्त ३३ ऋक् १०-१३ में मिल जाते हैं। ऋग्वेद के व्याख्या ग्रंथ वृहद्देवता में इस कथा का विस्तार से उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार वशिष्ठ-विश्वामित्र-द्वेष तथा वशिष्ठ के पुनर्जन्म की कथा का आभास भी ऋग्वेद में उपलब्ध हो जाता है। अहल्या-इंद्र की कथा के सूत्र शतपथ ब्राह्मण में हमें मिले हैं। यहाँ 'इंद्रोअहल्याजारः' कहकर इस कथा का सूत्रपात किया है। दधीचि की परोपकार-वृत्ति का वर्णन ऋग्वेद में कई स्थानों पर हुआ है। दधीचि द्वारा इंद्र को दिए गए अस्थि-दान का प्रसंग भी ऋग्वेद में मिल जाता है। इनके अतिरिक्त हरिश्चंद्र की कथा ऐतरेय ब्राह्मण में, हिरण्याक्ष-वराह की कथा तैत्तिरीय संहिता में तथा नारदमोह की कथा अथर्ववेद तथा ऐतरेय ब्राह्मण में सर्वप्रथम मिलती है। ये कथाएँ परवर्ती पुराणों की कथाओं से भिन्न हैं, फिर भी पुराणों में वर्णित कथाओं के बीज वैदिक ग्रंथों में अवश्य निहित हैं।

मानस में वैदिक ग्रंथों के अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण से भी बहुत कुछ लिया गया है। मानस की अंतःकथाओं में से अनेक कथाएँ वाल्मीकि रामायण में विस्तार से वर्णित हैं। हो सकता है कि आदि कवि ने इन्हें लोक-मानस से ग्रहण किया हो अथवा यह भी संभव है कि उन्होंने स्वयं अपनी कल्पना से उन्हें उद्भूत किया हो। रामायण से प्रभावित अंतःकथाओं में कैकेयी को दशरथ द्वारा दो वर की प्राप्ति कथा, दशरथ को अंध तापस के शाप की कथा, बालि, सुग्रीव और हनुमान की उत्पत्ति की कथा, नल-नील और स्वयंप्रभा की कथा, रावण का बालि और सहस्रार्जुन से पराभव की कथा, दंडक बन और सिय-निंदक रजक की कथाएँ आदि, ऐसी प्रसिद्ध कथाएँ हैं, जो संदर्भ रूप में मानस में तुलसी द्वारा ग्रहण की गई हैं और जिनका विस्तार से वर्णन वाल्मीकि रामायण में हुआ है।

महाभारत में प्रधान रूप से चंद्रवंशी राजाओं का जीवन-चरित्र वर्णित है। मानस में अनेक अंतःकथाएँ चंद्रवंशी राजाओं से संबंधित हैं। अतः मानस में

प्राप्त अनेक कथाए महाभारत से प्रभावित हैं। इस प्रकार की कथाओं में मुख्यतः गालव की कथा, अंबरीष और दुर्वासा की कथा, दक्ष-यज्ञ-विध्वंस की कथा, परशुराम सहस्रबाहु की कथा, भक्तराज रंतिदेव की कथा, कद्रू-विनता की कथा तथा राजा नहुष की कथा आदि हैं। मानस में इन कथाओं को संदर्भ रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। विस्तार से ये कथाएँ सर्वप्रथम महाभारत में ही मिली हैं, अतः निःसंदेह यह कहा जा सकता है कि तुलसी को इन कथाओं की प्रेरणा महाभारत से ही मिली होगी।

पुराणों में कथाओं का अतुल भंडार है। जीवन के किसी सत्य को अभिव्यक्त करने के लिए पुराणकारों ने कहानियों का आश्रय लिया है। पुराणों में कुछ पुराण शैव मत के, कुछ शाक्त मत के और कुछ वैष्णव मत के पोषक हैं। तुलसी वैष्णव होते हुए भी समन्वयकारी वृत्ति के पोषक हैं अतः मानस में इन तीनों संप्रदायों से संबंधित अनेक कथाएँ उपलब्ध हैं। इस प्रकार की कथाओं में चंद्रमा-तारा, राजा हरिश्चंद्र, ध्रुव और प्रहलाद की भक्ति, काशी माहात्म्य, अजामिल, गजेंद्र, गणिका, जय-विजय, चित्रकेतु, जलंधर, महिषासुर तथा गजानन आदि की कथाएँ हैं। कथाओं के वर्ण्य-वस्तु के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराणों में इन कथाओं को संप्रदाय-विशेष के प्रचार का साधन बनाया गया है और तुलसी ने भी सोद्देश्य कथाओं को विशिष्ट परिप्रेक्ष्य में मानस में ग्रहण किया है।

नीचे हम उद्देश्य विशेष का ध्यान रखकर मानस में प्राप्त अंतःकथाओं का विश्लेषण कर रहे हैं। उद्देश्य की दृष्टि से मानस की अंतःकथाओं को हम धार्मिक, नैतिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक आदि वर्गों में विभक्त कर सकते हैं :

(अ) **धार्मिक वर्ग :** धर्म शब्द बड़ा ही व्यापक है। धर्म सामूहिक भी होता है और व्यक्तिगत भी। सामूहिक धर्म में लोकोपकार की भावना निहित होती है और व्यक्तिगत धर्म में आत्म-कल्याण के संस्कार कार्य करते हैं। मानस की अंतःकथाओं में भक्तिमूलक जितने भी आख्यान हैं वे सब धर्म की व्यक्तिगत साधना की कोटि में आते हैं तथा जिन आख्यानों में लोकमंगल की कामना से ईश्वर के अवतार की चर्चा है, वे सभी सामूहिक धर्म-साधना के अंतर्गत हैं। धर्म को अभिव्यक्त करने वाली मानस की अंतःकथाओं में मुख्यतः अजामिल, अंबरीष, गणिका, गजेंद्र ध्रुव, प्रह्लाद, शिवि, शुक, हरिश्चंद्र आदि की कथाएँ हैं। ये कथाएँ व्यक्तिगत धर्म-साधना की अभिव्यक्ति करती हैं। इनके अतिरिक्त

अगस्त्य, कार्तिकेय, जलंधर, जय-विजय, मधु-कैटभ, महिषासुर आदि की कथाएँ ऐसी हैं जिनमें सामूहिक धर्म-साधना का महत्त्व है और परोपकार का प्राधान्य है ।

(आ) नैतिक वर्ग : नीति का संबंध चरित्र से है । अतः इन कथाओं के अंतर्गत उन आख्यानों को लिया जा सकता है जिनमें पात्र चारित्रिक दोषों से अभिभूत हैं । प्रायः मनुष्य काम-क्रोधादि दूषित मनोवृत्तियों के कारण सद्धर्म से विमुख होता है, इसी विमुखता में उसका नैतिक पतन भी संभव है । मानस की अंतःकथाओं में इंद्र-अहल्या, चंद्रमा तारा, त्रिशंकु, नहुष तथा निमि-वसिष्ठ आदि की ऐसी कथाएँ हैं जिनमें नैतिक दोषों की अभिव्यक्ति है ।

(इ) आध्यात्मिक वर्ग : इस वर्ग में मानस की वे अंतःकथाएँ परिगणित की जा सकती हैं जिनमें जगत के प्रपंच और वास्तविक सत्ता के स्वरूप का परिचय दिया गया है । चित्रकेतु और नारद को दक्ष का शाप आदि मानस की कथाएँ इसी वर्ग की हैं ।

(ई) सामाजिक वर्ग : इस वर्ग की भी कुछ कथाएँ मानस में प्राप्त हैं । इन कथाओं का मूल उद्देश्य धर्म आदि के प्रभाव को न दिखाकर समाज के व्यवहारों का ज्ञान कराना है । घरेलू जीवन की झाँकी मात्र प्रस्तुत करना इन कथाओं का लक्ष्य है । इस वर्ग की कथाओं में कद्रू-विनता, सिय निंदक रजक तथा कैकेयी की कथा को रखा जा सकता है । कद्रू-विनता की कथा में सौतों के संबंधों की, रजक कथा में पत्नी के स्वातंत्र्य की तथा कैकेयी की कथा में पुत्र के प्रति माँ के संबंधों की अभिव्यंजना हुई है ।

हमने उपर्युक्त वर्गीकरण कथाओं के मूल उद्देश्य को ध्यान में रखकर ही किया है । मानस में ये कथाएँ किस संदर्भ में ली गई हैं, इसका विश्लेषण हम नीचे कर रहे हैं । संदर्भों की व्याख्या में हमें कवि की मानसिक विचार-धारा तथा आदर्शों के ग्रहण की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि का परिचय मिल जाता है । इससे कथा के उद्देश्य की व्याख्या भी सरलता से हो जाती है । प्रतिपाद्य अर्थ की सिद्धि के लिए मानस में ये अंतःकथाएँ प्रयुक्त हुई हैं :

१—सत्संगति के प्रसंग में : मानस में इस प्रसंग के अंतर्गत वाल्मीकि, नारद, अगस्त्य की उत्पत्ति की कथाएँ आई हैं । तुलसी ने बालकांड में 'मुनि आचरजु करै जनि कोई सतसंगति महिमा जनि गोई' कहकर वाल्मीकि, नारद और अगस्त्य की उत्पत्ति का प्रसंग वर्णित किया है । नारद जन्म से दासी पुत्र

थे, वाल्मीकि निषाद थे तथा अगस्त्य का जन्म उर्वशी वेश्या के गर्भ से हुआ था। इतना होने पर भी ये कितने महान और तेजस्वी हुए, यह सब सत्संगति का ही परिणाम है। इस प्रकार सत्संगति के माहात्म्य को दिखाने के लिए ये कथाएँ आई हैं।

२—खल-कर्म-वर्णन : इस प्रसंग में मानस में राहु द्वारा चंद्र-ग्रहण की तथा महिषासुर की कथाएँ आई हैं। मानस के बालकांड में तुलसी ने संत और खल दोनों की वंदना की है। इसी प्रसंग में 'बहुरि बंदि खलगन सतिभायें, जे बिनु काज दाहिनेहु बायें' कहकर इन प्राचीन कथाओं का निरूपण किया गया है।

३—नाम-रूप-माहात्म्य-प्रसंग : इस संदर्भ में मानस में बहुत-सी कथाएँ वर्णित हैं। गणपति, अहल्या-उद्धार, प्रह्लाद-ध्रुव की भक्ति, अजामिल, गजेंद्र गणिका के उद्धार की कथाएँ इसी कोटि में आती हैं। तुलसी ने बालकांड में भगवान के नाम-रूप-माहात्म्य की व्याख्या की है। रूप-माहात्म्य में दंडक-वन और अहल्या-उद्धार की कथाएँ हैं लेकिन नाम-माहात्म्य में वाल्मीकि, ध्रुव प्रह्लाद आदि की कथाएँ मानस में उपलब्ध हैं। बालकांड के २६ वें दोहे की चौपाइयाँ इसकी साक्षी हैं।

४—प्रभुता का मद : इस संदर्भ में तुलसी ने चंद्रमा, नहुष, बेन, सहस्रबाहु इंद्र तथा त्रिशंकु आदि की कथाओं को ग्रहण किया है। भरत चित्रकूट पहुँचते हैं, लक्ष्मण उन पर संदेह करते हैं। इसी संदेह की पुष्टि के लिए इन कथाओं का प्रसंग उठाया गया है।

५—हरि-अवतार के कारण : इस संदर्भ में मानस में कई कथाएँ वर्णित हैं। जय-विजय की कथा, जलंधर की कथा, नारद-मोह की कथा आदि ऐसी ही कथाएँ हैं जो राम के अवतार ग्रहण की प्रस्तावनाएँ हैं। रामजन्म से पूर्व इन कथाओं पर बालकांड में विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

६—भक्ति-माहात्म्य का प्रसंग : वैसे तो नाम-रूप-माहात्म्य तथा अवतार ग्रहण के प्रसंग में जितनी कथाएँ आई हैं, वे सभी भक्ति के अंतर्गत भी रखी जा सकती हैं, लेकिन तुलसीदास द्वारा पृथक् नाम-निर्देश के कारण कुछ कथाएँ इस शीर्षक में भी आबद्ध हुई हैं। 'लोकहुँ बेद बिदित इतिहासा, यह महिमा जानहिं दुरवासा' में आगत अंबरीष की कथा में भक्ति की महिमा स्पष्ट रूप से प्रकट हो रही है।

७–**धर्म तथा नीति-वर्णन** : इस प्रसंग में महात्मा तुलसी ने शिवि, दधीचि, बालि, हरिश्चंद्र, गालव, नहुष आदि की कथाओं को ग्रहण किया है। ये कथाएँ विशुद्ध रूप से धर्म और नीति के प्रसंग में ही मानस में वर्णित हैं।

इन संदर्भों के अतिरिक्त अन्य कुछ छोटे-छोटे संदर्भों में भी मानस की बहुत सी अंतःकथाएँ वर्णित हैं जैसे तेजवंत व्यक्तियों के कर्म-वर्णन में अगस्त्य द्वारा समुद्र-शोषण की कथा, शिव-निंदक को निंदा-फल मिलने में दक्ष-यज्ञ-विध्वंस की कथा, अवधपुरी की पावनता प्रसंग में सिय-निंदक रजक की कथा, इतिहास वर्णित प्रसंग में विश्वामित्र-वशिष्ठ-द्वेष की कथा, गंगावतरण की कथा तथा दशरथ को अंधतापस के शाप की कथा आदि हैं। मानस में अंतःकथाएँ आलंकारिक वर्णन के प्रसंग में भी वर्णित हैं जैसे चंद्रमा के क्षय होने की कथा व्यतिरेक अलंकार में, कद्रू-विनता की कथा दृष्टांत अलंकार में तथा ययाति की कथा उत्प्रेक्षा रूप में।

डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी

रामचरितमानस की धर्म और समाज-भावना

गोस्वामी तुलसीदास प्रणीत रामचरितमानस का तात्त्विक रूप हृदय का विषय है। इसका महत्त्व बौद्धिक विवेचना का विषय न होकर अनुभूति का विषय है। अनुभूति व्यक्ति के चेतना-विकास के स्तर-अनुरूप होती है। इसके लिए श्रद्धा और विश्वास का होना अनिवार्य है।

रामचरितमानस के सबसे अधिकारी वक्ता एवं श्रोता शिव-पार्वती श्रद्धा विश्वास रूप माने गये हैं :

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्।[1]

रामचरितमानस में यद्यपि साहित्य, समाजनीति, राजनीति आदि सबकी चर्चा उपलब्ध होती है, तथापि यह एक धार्मिक ग्रंथ है जिसमें भगवान राम की भक्ति की प्रतिष्ठा की गई है।

रामचरितमानस का उपक्रम इस प्रकार होता है कि पार्वती जी शिवजी से कतिपय प्रश्न करती हैं। शिवजी उनके उत्तर देते हैं। बस यही रामचरित-मानस का वस्तु विस्तार है। पार्वती जी का प्रथम प्रश्न यह है कि भगवान क्यों, किसलिए तथा किसप्रकार जन्म लेते हैं :

प्रथम सो कारण कहहु विचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी।[2]

पार्वती जी के इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप भगवान शिवजी भारतीय अवतारवाद का पूर्ण विवेचन कर डालते हैं। इस विवेचन का सारांश यह है कि निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म वस्तुतः अभिन्न हैं, वे सापेक्ष हैं। जिस प्रकार

१. मानस १। श्लोक २ २. मानस १।११०।२

अंधकार के बिना प्रकाश की चर्चा अर्थहीन है, उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म को समझने के लिए सगुण ब्रह्म की चर्चा अनिवार्य है :

ज्ञान कहै अज्ञान-बिनु, तम-बिनु कहै प्रकास।
निरगुन कहै जो सगुन-बिनु, सो गुरु तुलसीदास।[1]

निर्गुण ब्रह्म यदि काष्ठ में व्याप्त अग्नि के सदृश है, तो सगुण ब्रह्म की समता लोक में प्रकट अग्नि, उसके व्यक्त स्वरूप के साथ की जा सकती है। गोस्वामीजी की स्थापना है कि ज्ञान के क्षेत्र में जो एकत्त्व (unity) है, व्यवहार के क्षेत्र में वही 'प्रेम' है। सर्वव्यापी अव्यक्त ब्रह्म ही 'प्रेम' के रूप में व्यक्त ब्रह्म बनता है :

व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद।[2]

जहाँ प्रेम और सदाचार का व्यवहार है, वहीं विश्व-चेतना रूप भगवान राम की लीला स्थली अयोध्या (युद्ध रहित भूमि) है। 'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद' का भी यही अभिप्राय है।

'रामचरितमानस' भारतीय पौराणिक परंपरा का ग्रंथ है। भारतीय पुराण वस्तुतः रूपक काव्य ग्रंथ हैं जिनके अंतर्गत प्रतीकात्मक शैली में तत्व-ज्ञान का निरूपण किया गया है। पौराणिक पात्र व्यक्ति न होकर चेतना-विकास के विभिन्न स्तरों के प्रतीक हैं। प्रत्येक पात्र का नामकरण चेतना-विकास के स्तर विशेष का द्योतक होने के कारण अभिप्राय गर्भित है। राम प्रत्येक परमाणु में व्याप्त चेतनाशक्ति हैं। 'शिव' लोककल्याण के प्रतीक है। 'पार्वती' पर्वत-पुत्री होने से भौतिक समृद्धि की प्रतीक हैं। भौतिक समृद्धि जब लोक-कल्याण के प्रति उन्मुख होती है, तभी विश्वव्यापी चेतना स्वरूप लोकरंजक राम का प्रादुर्भाव होता है।

तुलसी प्रणीत रामचरितमानस चतुर्विधि कहा जाता है। चतुर्विधि रामचरितमानस के चार वक्ता हैं—शिव, कागभुशुंडि, याज्ञवल्क्य तथा तुलसीदास। तदनुरूप चार श्रोता हैं—पार्वती, गरुड़, भरद्वाज तथा संतजन। मानस के चारों घाटों पर रामचरित की कथा होती है। प्रत्येक घाट पर वक्ता-श्रोता उपस्थित हैं। वक्ता-श्रोता की ये चार जोड़ियाँ इस प्रकार हैं—शिव-पार्वती, कागभुशुंडि-गरुण, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज तथा तुलसीदास और संतगण। वेद के ज्ञानतत्त्व के अनुसार परब्रह्म राम की कथा का निरूपण शिव करते हैं; शास्त्र सम्मत

१. दोहावली २५१ २. मानस १।१६८

साधना-पद्धति पर दृष्टि रखकर कागभुशुंडि विष्णु के अवतार राम की कथा का वर्णन करते हैं, दाशरथि राम की लोक विश्रुत कथा याज्ञवल्क्य कहते हैं और अवतार प्रसंगों एवं प्रासंगिक कथाओं की चर्चा चौथे घाट पर गोस्वामी तुलसीदास करते हैं। रामचरितमानस के कथा-प्रबंध का यही सौष्ठव है कि प्रत्येक श्रोता अपने विकास-स्तर के अनुरूप रामचरित का सुधा-पान करने में समर्थ होता है।

मानव-चेतना को विकास-क्रम के अनुसार स्थूलत: चार स्तरों में विभाजित किया जा सकता है, यथा—मूलवृत्ति (Instinct), आवेग (Impulse), बौद्धिकता (Intelligence) तथा अंतःज्ञान (Intiution), इन्हीं के अनुरूप मानव-समाज का श्रेणी-निर्धारण भी किया जा सकता है। गोस्वामीजी ने चारों प्रकार के व्यक्तियों के लिए राम-कथा के कथन-श्रवण की व्यवस्था की है। प्रत्येक व्यक्ति अपने विकास स्तर के अनुसार अपने मनोनीत घाट पर जाकर रामचरित-सुधा का श्रवण करले, उसको रामकथा में रस आ ही जाएगा :

श्रोता सुमति सुसील सुचि कथा रसिक हरिदास।
पाई उमा अति गोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकास।[1]

समाज के व्यक्तियों के उक्त चार वर्ग ही गोस्वामीजी के चार वर्ग हैं। निम्नतम विकास-स्तर पर स्थित व्यक्ति मजदूर यानी शूद्र है और उच्चतम विकास स्तर पर स्थित मनुष्य ज्ञानी अर्थात् ब्राह्मण है। समसामयिक सामाजिक व्यवस्था एवं परंपरा के अनुसार गोस्वामीजी मजदूरी करने वाले शूद्र को ज्ञानी ब्राह्मण के समकक्ष पूजनीय नहीं मानते हैं, यद्यपि साधना के क्षेत्र में सब समान हैं :

भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु समप्रिय मोहि सोई।
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी।[2]

साधना की दृष्टि से वह प्रत्येक वर्ग से समान निष्ठापूर्वक कर्तव्य-पालन की अपेक्षा करते हैं। द्रष्टव्य यह है कि रामचरितमानस में जिनको राम का सर्वाधिक श्रेष्ठ भक्त बताया गया है, वे सब निम्नवर्ग, शूद्र वर्ग, सेवा करके पेट पालने वाले वर्ग में उत्पन्न प्राणी हैं। गुह निषाद, शबरी, गिद्धराज जटायु और कागभुशुंडि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। रामचरितमानस को आद्यंत पढ़ने पर हम देखते हैं कि केवल केवट ही भगवान राम के 'मर्म' को जानता है, अन्य

१. मानस ७।६६ ख २. मानस ७।८६।५

कोई नहीं। शिव कहते हैं 'उमा मरम यह काहू न जाना' गोस्वामीजी कहते हैं 'लछिमन हुँ यह मरम न जाना' अथवा 'जाना मरम न मात पिता हू।' परंतु केवट कहता है कि मैं तुम्हारा मर्म जानता हूँ :

माँगी नाव न केवट आना। कहिय तुम्हार मरम मैं जाना।[1]

और वह मर्म को प्रकट करते हुए कहता है कि :

चरण कमल रज कहुँ सबु कहई। मानुष करनि भूरि कछु अहई।[2]

अर्थात् चरणों से उत्पन्न शूद्र वृत्ति रूपी सेवाभाव में कुछ ऐसी शक्ति है, जो मनुष्य को मानव बना देती है। निस्वार्थ भाव से, अर्थ निरपेक्ष भाव से श्रम करने वाला निषाद सच्ची सेवा का अधिकारी बना था और वह विश्व चेतना का संस्पर्श प्राप्त कर सका था।

सेवाधर्म की रसात्मक अनुभूति वस्तुतः रामचरितमानस के अंतर्गत प्रतिपाद्य भक्ति का मूलमंत्र है। भगवान राम स्वयं कहते हैं :

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।[3]

सेवा के अवसर पग-पग पर उपस्थित हैं। हम दो मीठे शब्द कह कर यदि किसी दुःखिया के आँसू पोंछ दें—यह बहुत बड़ी सेवा है। अपने विकास-स्तर के अनुरूप निर्धारित मान्यताओं के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति सेवा के अवसर निकाल सकता है। केवल यह सोचना अपेक्षित है कि जिस समाज के बीच रहकर मैं इतना बड़ा हुआ हूँ, उसके प्रति मैं क्या कुछ कर सकता हूँ ? समाज-सेवा की भाव-भूमि पर ही भारतीय धर्म-साधना का विधान हुआ है। गोस्वामी जी प्रणीत रामचरितमानस की धर्म-भूमि का आधार भी लोक-रंजन है :

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।[4]

रामचरितमानस में प्रतिपादित 'धर्म' किसी संप्रदाय विशेष से संबंधित नहीं है। उसका संबंध केवल मानवोचित कर्त्तव्यों के प्रति आस्था एवं निष्ठा से है। वह धर्म किसी व्यक्ति के द्वारा गौरवान्वित होने वाला धर्म नहीं है, वह प्रत्येक व्यक्ति को गौरव प्रदान करने वाला धर्म है। वह ऐक्य का प्रतिपादक एवं अभेद-बुद्धि की प्रतिष्ठा करने वाला धर्म है। भक्त विभीषण के प्रति धर्मरथ का निरूपण करते हुए भगवान राम का कथन है कि :

सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें।

१. मानस २।१००।२
२. मानस २।१००।२
३. मानस ४।३
४. मानस ७।४१।१

महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।
जाकें अस रथ होई दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर।[1]

तुलसी के धर्मरथ का निर्माण करने वाले अवयव मानवोचित समस्त उदात्त गुण हैं :

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे।
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा।
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना।
कवच अभेद्य बिप्र गुरु पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा।[2]

तुलसी का 'धर्म' किसी व्यक्ति पर विजय की बात नहीं करता है, वह आत्म-विनय की प्रेरणा प्रदान करता है, वह व्यक्ति को नहीं अवगुणों को प्रबलतम शत्रु मानता है। भारतीय परंपरा लोहे की विजय की नहीं, धर्म की विजय की परंपरा रही है।

इस धर्म-पालन के क्षेत्र में कामना का प्रवेश नहीं है, वहाँ युक्ति और मुक्ति दोनों ही त्याज्य हैं। मोक्ष की कामना अथवा कामना रहित हो जाने की कामना सबसे बड़ी कामना है। इस कारण भक्त जन मोक्ष की कामना नहीं करते हैं। वे तो बस अनंत सौंदर्य, अनंत शक्ति, अनंत शील के सागर राम की रूप-तरंगों के आनंद को ही जीवन का सर्वस्व मानते हैं।

रामचरितमानस में निरूपित 'धर्म' का अर्थ आचार-संहिता में निरूपित कर्त्तव्य का पालन है, जबकि आधुनिक बौद्धिक युग में 'धर्म' का अर्थ संविधान में उल्लिखित अधिकारों का उपभोग मात्र है। इसीकारण आज के शंकालु नागरिक को रामचरितमानस में वर्णित 'धर्म' के स्वरूप को समझने में कठिनाई का अनुभव होता है। रामचरितमानस का 'धर्म' हृदय की आँखों से समाज को देखने की शिक्षा देता है, जबकि आज के बुद्धिवादी अपने चर्म चक्षुओं को 'धर्म' की सीमा मान लेते हैं।

'रामचरितमानस' के राम लौकिक और पारलौकिक सभी दृष्टियों से शील, विनय, सद्भाव, सहिष्णुता, उदारता, प्रेम आदि उदात्त वृत्तियों के सजीव रूप और साक्षात् अवतार हैं। राम की उपासना और मानवोचित गुणों का निर्वाह एक ही बात है। धर्म का विरोध राम का विरोध है। जो व्यक्ति इस तथ्य को समझता है, वह 'रामचरितमानस' के धर्म के मर्म को समझता है।

१. मानस ६।८०।६, दोहा २. मानस ६।८०।३-५

डॉ० स्वर्णकिरण

शकुन विचार और मानस

शकुन शब्द शक् धातु में उनन प्रत्यय के योग से बना है जिसका व्युत्पत्ति-लब्ध अर्थ है शक्नोति शुभाशुभं विज्ञातुं अनेन इति अर्थात् शुभाशुभ बतलाने वाला चिह्न[1] वृहत् हिंदी कोशकार ने कदाचित् इसे ही वृहत् रूप दिया है—विशिष्ट पशु, पक्षी, व्यक्ति, वस्तु, व्यापार के देखने सुनने आदि से मिलनेवाली शुभ-अशुभ की पूर्व सूचना, सगुन।[2] शकुन शब्द का अँग्रेजीपर्याय Omen (ओमेन) लैटिन के Osmen (ओसमेन) that which is uttered by the mouth[3] (जो मुख से कहा जाए) से बना है। मतलब यह है कि जिसके द्वारा किसी भाव का संकेत मिले वह शकुन है। इन्साइक्लोपेडिया ब्रिटेनिका, ब्रिटेन के विश्वकोष में ओमेन का अर्थ है—a sign in divination, favourable, or unfavourable as the case may be[4] अर्थात् अनुकूल अथवा प्रतिकूल दैवी चिह्न है। फंक एंड वैग्नेल्स न्यू स्टैंडर्ड डिक्शनरी में ओमेन का अर्थ है—To foreshadow as or to foretell by an omen, presage forebode, as to omen misfortune[5] किसी चिह्न के द्वारा पूर्वाभास देना या कहना,

१. संस्कृत हिंदी कोश, वामन शिवराम आप्टे, १९६६
२. वृहद् हिंदी कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस, द्वि० सं० २०१३ वि०
3. Chamber's Twentieth Century Dictionary, 1948
4. Encyclopedia Britannica, Vol 16, 1957
5. Funk & Wagnalls New Standard Dictionary of English Language Vol III, 1952.

चेतावनी देना या पूर्व कथन यथा, दुर्भाग्य प्राप्ति। मनोविज्ञान कोश के संपादक जेम्स ड्रेभर ने Omen का व्यवहार उस तत्त्व के लिए किया है जो भावी घटना की पूर्व सूचना देता है यथापि भावी घटना और उस तत्त्व में कार्यकारण का सिद्धांत नहीं लागू होता (Omen—a phenomenon supposed to freshadow a future event, the two having no caused connection[1].

भारतवर्ष में शकुन को प्राय: दैवी भविष्यत् कथन के रूप में समझा जाता है। वास्तव में ऋषियों एवं मनीषियों के अनुभव से संवलित ज्योतिष विज्ञान के आधार पर शकुन की जो कल्पना हमारे यहाँ की गयी है वह बिल्कुल निराधार नहीं है। भारतवर्ष में अंग फड़कने, छींक आने, छिपकली गिरने तथा गिरगिट चढ़ने पर विभिन्न प्रकार के शकुनों की व्यंजना की गई है।[2]

पश्चिमी मनोविज्ञानवेत्ता शकुन को देवता की इच्छा के संकेत मानते हैं और इन्हें पाँच वर्गों में विभाजित करते हैं (१) आकाशीय संकेत बिजली यदि बायें से दायें जाए तो शुभ, दायें से बायें जाए तो अशुभ (२) पक्षियों के संकेत विशेषत: उनकी उड़ान और आवाज पर विचार, पक्षियों के दो उपविभाग—(अ) बाज तथा गृद्ध शुभ (ब) कौवा तथा काक (काला कौवा) अशुभ (३) पक्षियों के आहार ग्रहण के संकेत–यथा मुर्गी दाना चुगाने के समय यदि कोई दाना गिरा दे तो शुभ (४) पशुओं के संकेत–चौपाये अथवा कीड़े-मकोड़े के संकेत–विभिन्न प्रकार की आवाजें तथा (५) मंदिर की छड़ी का गिरना, चूहे का कें-कें करना छींकना अथवा मृगी के दौरे की पकड़ इत्यादि।[3] स्पष्ट है, शकुन के संबंध में जो भारतीय दृष्टिकोण है, पश्चिम का दृष्टिकोण विरोधी नहीं है पर शुभ-अशुभ जानने का पश्चिम के लोगों का अपना ढंग है। शारीरिक अंगों का फड़कना मनोविज्ञान वेत्ता मन:विकार का द्योतक समझते हैं और पशु-पक्षी, अन्य जंतु या आकाशीय घटना के द्वारा व्यक्त पूर्व सूचना को आकस्मिक संयोग मानते हैं। शकुन का शुभ-अशुभ वस्तुत: एक प्रकार की प्राप्ति है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने विकास का मार्ग तय करता है।

गोस्वामी तुलसीदास का शकुन में अविश्वास नहीं है। स्थान-स्थान पर

1. A dictionary of Psychology, James Drever Renguin Reference Books, 1952, Third issue 61.
2. चिंताहरण जंत्री, प्र० ठाकुर प्रसाद एंड संस, वाराणसी २०२५-२६ पृ० १३३
3. Augur, Encyclopedia Britannica, Vol. 2.

उन्होंने शकुन का स्पष्ट-अस्पष्ट वर्णन अपनी रचनाओं में विशेषतः रामचरितमानस में किया है :

जानि गौरि अनुकूल सिय हिय हरषु न जाइ कहि।
मंजुल मंगल मूल बाम अंग फरकन लगे।[१]

गौरीपूजन के अनंतर जनकनंदिनी सीता को वांछित वरदान की प्राप्ति गौरी पार्वती की अनुकूलता का द्योतक है और यह जनकनंदिनी सीता के हर्ष का कारण है। ऐसे अवसर पर बायें अंग का फड़कना भावी शुभफल का द्योतक है। जनकनंदिनी सीता के अनुभाव के अंकन के बहाने गोस्वामी तुलसीदास ने शकुन के प्रति विश्वास को व्यक्त किया है :

शारीरिक अंगों के माध्यम से शकुन की अभिव्यक्ति अन्यत्र भी दीखती है। गोस्वामी तुलसीदास का कथन है।

(क) मंगल सगुन होहिं सब काहू। फरकहिं सुखद बिलोचन बाहू।
भरतहि सहित समाज उछाहू। मिलिहहिं रामु मिटिहि दुख दाहू।[२]

(ख) भरत नयन भुज दच्छिन, फरकत बारहिं बार।
जानि सगुन मन हरष, अति लागे करन बिचार।[३]

छींक-विचार पर भी गोस्वामी तुलसीदास का ध्यान गया है :

दीख निषादनाथ भल टोलू। कहेउ बजाउ जुझाऊ ढोलू।
एतना कहत छींक भए बाँए। कहेउ सगुनिअन्ह खेत सुहाए।
बूढ़ु एकु कह सगुन बिचारी। भरतहिं मिलिअ न होइहि रारी।
रामहि भरतु मनावन जाहीं। सगुन कहइ अस बिग्रहु नाहीं।[४]

अर्थात् दल-बल के साथ भरत के आगमन पर जब निषादराज की टोली में भिन्न-भिन्न प्रकार की बातें होने लगीं, जुझाऊ ढोल बजाने की बात निषादराज ने कही तो बायें छींक सुनाई पड़ी और शकुन विचार करनेवालों ने कहा कि खेत सुंदर है—जीत होती—भरत राम से मिलने जा रहे हैं, रार करने, झगड़ा मोल लेने के लिए नहीं जाते हैं। शकुन कह रहा है कि भरत राम को मनाने के लिए जाते हैं, यहाँ युद्ध की आशंका नहीं है। यहाँ बायीं दिशा में छींक का शुभ कहना गोस्वामी तुलसीदास का अभीष्ट प्रतीत होता है।

पशु, पक्षी, अन्य मनुष्य भी शकुन के आधार हैं या हो सकते है यह भी

१. मानस १।२३६ २. मानस २।२२५।१ ३. मानस ७।१
४. मानस २।१९२ (२-३)

गोस्वामी तुलसीदास का रामचरितमानस स्पष्टतः बतलाता है। गोस्वामी जी ने अयोध्यानरेश दशरथ के बारात ले जाने के समय शकुन का वर्णन इस प्रकार किया है :

चारा चाषु बाम दिसि लेई। मनहुँ सकल मंगल कहि देई।
दाहिन काग सुखेत सुहावा। नकुल दरसु सब काहूँ पावा।
सानुकूल बह त्रिविध बयारी। सघट सबाल आव बर नारी।
लोवा फिरि-फिरि दरसु देखावा। सुरभी सनमुख सिसुहि पिआवा।
मृगमाला फिरि दाहिनि आई। मंगल गन जनु दीन्हि देखाई।
छेमकरी कह छेम बिसेषी। स्यामा बाम सुतरु पर देखी।
सनमुख आयउ दधि अरु मीना। कर पुस्तक दुइ बिप्र प्रबीना।
मंगलमय कल्यानमय अभिमत फल दातार।
जनु सब साचे होन हित भए सगुन एक बार।[1]

ननिहाल से अयोध्या लौटते समय भरत को नगर-प्रदेश के समय होने वाले अपशकुन के माध्यम से गोस्वामी तुलसीदास ने हमारा ध्यान इस प्रकार आकर्षित किया है :

असगुन होहिं नगर पैठारा। रटहिं कुभाँति कुखेत करारा।
खर सिआर बोलहिं प्रतिकूला। सुनि-सुनि होइ भरत मन सूला।
श्रीहत सर सरिता बन बागा। नगरु बिसेषि भयावनु लागा।
खगमृग हय गय जाहिं न जोए। राम बियोग कुरोग बिगोए।[2]

मानव या प्रकृति निर्मित पदार्थ भी शकुन के आधार हैं या हो सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदास प्रमाण हैं :

संख निसान पनव बहुबाजे। मंगल कलस सगुन सुभ साजे।[3]

अर्थात राम-विवाह के उपरांत मिथिलानरेश जनक जानकी की विदाई के अवसर पर शकुन का अनुभव कर रहे हैं—विभिन्न प्रकार के बजते हुए शंख, ढोल के माध्यम से अथवा मंगल कलश के माध्यम से। शंख, ढोल की ध्वनि तथा मंगल कलश यहाँ शकुन के आधार हैं।

विवाह के अनंतर माताएँ रामचंद्र के 'परिछन' के लिए तैयारी कर रही हैं—विभिन्न प्रकार के बाजे बजते हैं, सुमित्रा चौका पूरती हैं, हल्दी, दूब, दही, पल्लव, फूल, पान, पूगफल, सुपारी तथा अक्षत, अंकुर लोचन (गोरोचन), लाजा (चावल, खील), आम की मंजरी, तुलसी, सगुन सुगंध (कस्तूरी चंदन,

१. मानस १।३०३ २. मानस २।१५८।२-४ ३. मानस १।३१३।२

सुगंधित तेल नहीं) कुल चौदह मंगल द्रव्यों से माताएँ स्वर्णथाल सजाती हैं। सफेद मिट्टी के स्वर्णघट हैं जो सहजरूप में सुशोभित हैं और शुभ की सूचना देते हैं।[1] सब लोग प्रसन्न हैं, उधर रामचंद्र दशरथ के साथ बरसते हुए फूलों को शुभ शकुन मानते हैं :

होहिं सगुन बरषहिं सुमन सुर दुंदुभी बजाइ।
बिबुध बधू नाचहिं मुदित मंजुल मंगल गाइ।[2]

प्राय: निराधार रूप में भी गोस्वामी तुलसीदास ने यत्र-तत्र शकुन को संकेतित किया है :

(क) बिप्रन्ह कहेउ बिदेह सन जानि सगुन अनुकूल।[3]
(ख) लगे होन मंगल सगुन मुनि गुनि कहत निषादु।[4]
(ग) सगुन होहिं सुंदर सकल मन प्रसन्न सब केर।
प्रभु आगवन जनाव जनु नगर रम्य चहुं फेर।[5]

पश्चिमी मार्क्सवादी चिंतकों की तरह गोस्वामी तुलसीदास शकुन को अनास्था से बचाव का माध्यम नहीं मानते। संभव है, शकुन कुछ की दृष्टि में श्रम के प्रति हुए अविश्वास को दूर करने के लिए किसी बाहरी शक्ति के आह्वान का आधार हो और व्यक्ति को श्रमच्युत, भाग्यवादी, अकर्मण्य बनाने का माध्यम हों पर सभी लोगों के लिए इसे स्वीकार्य कैसे समझा जाए ? रोम के शासक उपनिवेश के स्थापन, युद्धारंभ, सैन्य निमंत्रण अथवा सैन्य एकत्रीकरण, अधिवेशन, प्रारंभ, शांति अथवा युद्ध के निर्णय आदि विभिन्न अवसरों पर प्राय: शकुन निकालने वाले से शकुन निकलवाते थे अथवा शकुन पर विचार करवाते थे। पश्चिम से यह परंपरा पूर्व की ओर आयी अथवा पूर्व से ही यह परंपरा पश्चिम की ओर गयी, कहना कठिन है पर यह अवश्य अविश्वसनीय नहीं है कि मनुष्य भविष्य की बात जानना चाहता है और समय-असमय बाहरी शक्तियों का सहारा लेना चाहता है। शकुन विभिन्न माध्यमों से शारीरिक स्फुरण द्वारा, पशुओं के द्वारा, पक्षियों के द्वारा, आकाशीय अथवा प्राकृतिक उपकरणों के द्वारा, अप्राकृतिक तत्त्वों इत्यादि के द्वारा बाहरी शक्ति प्रदान करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास रमल ज्योतिष के पंडित थे अथवा नहीं पर शकुन के उपयोग-प्रयोग के द्वारा रमल-ज्योतिष के

१. मानस १।३४६।२-४ २. मानस १।३४७
३. मानस १।३६२ ४. मानस २।२३४ ५. मानस ७।१

प्रति प्रकट अपने अनुराग को संकेतित करते हैं । अनुकूल शकुन के द्वारा आनंद की प्राप्ति और आनंद के द्वारा शरीर का विकास, शरीर में शक्ति का अनुभव सहज स्वाभाविक हैं । प्रतिकूल शकुन के फल इसके विलोम हैं, यह भी सहज अनुमेय है । गोस्वामी तुलसीदास अनास्थावादी संत अथवा विचारक नहीं हैं और व्यक्ति-व्यक्ति को असीम शक्ति संपन्न मानते हैं । 'सियाराम मय सब जग जानी' के विश्वासी गोस्वामीजी मनुष्य के मन : प्रदेश में ईश्वर को अधिष्ठित मानते हैं । अतः ईश्वरीय इच्छा का पूर्व या अपर संकेत मिलते रहना अस्वाभाविक नहीं है । शकुन गोस्वामी तुलसीदास की दृष्टि में अनिवार्यता नहीं होकर आकस्मिकता है । विभिन्न क्रियाकलापों के बीच मनुष्य शकुन के द्वारा प्रेरित-प्रोत्साहित होते हैं और जीवन-यात्रा को सुचारु रूप से चलाते हैं यह गोस्वामी तुलसीदास का जैसे प्रतिपाद्य है । शकुन व्यक्ति के आस्तिकतापरक आस्थावादी जीवन दर्शन के आकस्मिक स्फुरण हैं और उपयोगितावाद को अपने अंदर समेट कर चलते हैं ।

डॉ० कन्हैयालाल सहल

रामचरितमानस में मनोबल और औचित्य का शंखनाद

धर्मराज युधिष्ठिर सहायतार्थ जब अपने मामा शल्य के पास पहुँचे तो उन्होंने विजयी होने का आशीर्वाद दिया। धर्मराज ने कहा—कौरवों की ओर से आपके युद्ध करने पर हमारी विजय कैसे हो सकती है ? इस पर शल्य ने उत्तर दिया—कर्ण अर्जुन को छोड़ कर और किसी से युद्ध नहीं करेगा। कर्ण मुझे अपना सारथी बनाना चाहेगा। मैं सारथी बनना तो स्वीकार कर लूँगा किंतु इस शर्त पर कि सारथी बनने पर मैं कर्ण को जो भी बुरा-भला कहूँ, वह उसे सुनता रहे और प्रत्युत्तर न दे। मैं उस समय कर्ण का आत्म-बल कम करता रहूँगा और आत्म-बल ही योद्धा का सर्वस्व है। आत्म-बल कम होने पर कर्ण भी युद्ध में विजयी नहीं हो सकेगा। महाभारत के पाठक जानते हैं कि आगे चलकर हुआ भी ऐसा ही। शल्य ने कर्ण का आत्म-बल कम किया। कहीं शशक सिंह से युद्ध कर सकता है ? आदि कटूक्तियाँ अपने ही सारथी से बारबार सुनते रहने के कारण कर्ण का युद्धोत्साह मंद पड़ गया, उसका आत्मबल जाता रहा और वह युद्ध में परास्त हो गया। कर्ण के युद्ध में परास्त होने के चाहे और भी बहुत से कारण रहे हों किंतु निश्चय ही, जैसा महाभारतकार ने कहा है, उसकी पराजय का एक प्रमुख कारण आत्मबल का कम हो जाना रहा होगा।

रामचरितमानस के संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि रावण जैसा विश्वविजयी और देवविजयी लोक-विश्रुत योद्धा राम से युद्ध में क्यों परास्त

हो गया, इसका कारण था कि उसका आंतरिक बल थक गया था—गर्जा अति अंतर बल थाका।[१] किंतु प्रश्न यह है कि रावण का अंतर-बल क्यों गिरा ? रामचरितमानस में स्वयं रावण की स्त्री मंदोदरी ही, रावण को एक बार नहीं, चार-चार बार उपदेश देती है कि सीता को लौटा देने से ही राक्षस-कुल का भला हो सकता है और मंदोदरी अकेली ही क्यों, विभीषण भी तो लंका में रहता था। मंत्रियों द्वारा ठकुरसुहाती होते देख विभीषण ने कहा—हे दशशीश ! मैं बार-बार आपके चरणों में लगकर विनती करता हूँ कि मान, मोह और मद को त्याग कर आप कौसलपति राम का भजन कीजिए।[२]

माल्यवंत नाम का एक बहुत ही बुद्धिमान मंत्री था। उसने भी विभीषण की बात का समर्थन करते हुए कहा—'हे तात ! आपके भाई विभीषण नीति-विभूषण हैं। उनकी बात को आप हृदय में धारण कीजिए।[३] विभीषण और माल्यवंत दोनों ही शत्रु की महिमा का बखान कर रहे थे।

मारीच का प्रसंग तो सुरक्षित ही है। स्वयं रावण मारीच के घर गया और उससे कपट-मृग का रूप धारण करने को कहा। मारीच ने रावण से कहा, 'राम चराचर के स्वामी हैं, उनसे आप बैर न कीजिए।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि रावण की हार जहाँ उसके अभिमान के कारण हुई वहाँ स्वयं उसके पारिवारिक जनों द्वारा भी उसके मनोबल को गिराया गया है जो उसकी हार का कारण हो सकता है।

रामचरितमानस की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसमें औचित्य का अद्भुत निर्वाह हुआ है। गोस्वामीजी को अनौचित्य तनिक भी सह्य नहीं है। रावणेतर पद में भी जहाँ-जहाँ गोस्वामीजी को अनौचित्य दिखाई दिया है, उसकी भर्त्सना करने से वे नहीं चूके हैं। कैकेयी को ही लीजिये, राम-वनवास और भरत राज्याभिषेक के रूप में उसने जो वरदान माँगे थे, उससे दशरथ-मरण आदि के रूप में जो अनिष्ट घटित हुआ, उससे रामचरितमानस के पाठक भली-भाँति परिचित हैं किंतु स्वयं औचित्य के अवतार भरत भी इस प्रकार के अनौचित्य को कैसे सहन कर सकते थे ? उनसे भी यही कहते बना :

हंसबंस दशरथ जनकु रामलखन से भाइ।
जननी तू जननी भई, बिधि सन कछु न बसाइ।[४]

जिस भरत के लिए कैकेयी ने वह सब प्रपंच किया, वे भरत ही अपनी

१. मानस ६।६२।१ २. मानस ५।३९ क ३. मानस ५।४०।१
४. मानस २।१६१

माता के इस कुकृत्य पर आत्मग्लानि से गलने लगे और बड़े तीखे शब्दों में उन्होंने अपनी माता को आड़े हाथों लिया। शत्रुघ्न भी क्रोधाग्नि में जल उठे और इसकी प्रतिक्रियास्वरूप जो रुख अपनाया, उससे कैकेयी और मंथरा दोनों पर जो गुजरी होगी, उसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

दशरथ ने राम जैसे पुत्र को वनवास दे दिया, यह भी कहाँ तक उचित है ? तुलसीदासजी ने सत्य-पालन और पुत्र-प्रेम के आंतरिक द्वंद्व से पीड़ित दशरथ का अच्छा चित्रण किया है और इसी अंतर्द्वंद्व में दशरथ को अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ा है। 'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्राण जाहिं पर बचन न जाई।[1] आदि के द्वारा गोस्वामीजी ने यद्यपि दशरथ के सत्य-पालन का आदर्श उपस्थित किया है तथापि कैकेयी के प्रति दशरथ की आसक्ति को देख कर उन्होंने यह भी कहा है :

तुलसी नृपति भवितव्यतावश, काम कौतुक लेखई।[2]

राम जैसे पितृभक्त पुत्र से यद्यपि यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे अपने पिता के संबंध में कुछ कड़वी बात कहें तथापि लक्ष्मण के द्वारा, चाहे व्यंग में ही सही गोस्वामीजी ने कहलवा ही दिया :

'पुनि कछु लखन कही कटु बानी। प्रभु बरजे बड़ अनुचित जानी।[3]

स्वयं राम ने बाली को छिप कर मारा, इसके औचित्य पर प्रायः शंका की जाती है। गोस्वामी तुलसीदास ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम के सभी क्रिया-कलापों को उचित ठहराया है। 'अनुज वधू' आदि का प्रसंग उठा कर उन्होंने बाली वध के अनौचित्य को दूर करने का प्रयास किया है। मैं बैरी सुग्रीव पियारा। कारन कवन नाथ मोहि मारा।[4]

यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास ने अपने ढंग से बाली के औचित्य को सिद्ध किया है, तथापि आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे समीक्षक का भी इससे समाधान नहीं हुआ है। उन्होंने कहा है कि राम में किसी प्रकार की कमी का होना ही उन्हें मानव बने रहने देता है और साहित्य में अवतार या देवता की अपेक्षा हम मानव को ही पसंद करते हैं।

रामचरितमानस में भी राम-रावण-युद्ध न होने देने के लिए अनेक प्रयत्न हुए हैं।

---

१. मानस २।२८।२ २. मानस २।२५।छंद ३. मानस २।९६।२
४. मानस ४।९।३

रामचरितमानस के पाठक भलीभाँति जानते हैं कि युद्ध से पहले अंगद को दूत बनाकर रावण के दरबार में भेजा गया था। राम ने अंगद से कहा था :

काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई।[1]

तुम शत्रु से वही बातचीत करना जिससे हमारा काम हो और उसका कल्याण हो। रावण की सभा में अंगद ने रावण से कहा कि तुम्हारा उत्तम कुल है, पुलस्त्य ऋषि के तुम पौत्र हो। शिव और ब्रह्मा की तुमने बहुत सी पूजा की है। उनसे वर पाए हैं और सब काम सिद्ध किये हैं। लोकपालों और राजाओं को तुमने जीत लिया है। राजमद से या मोहवश तुम जगज्जननी सीता को हर लाए हो। यदि तुम 'हे शरणागत-पालक रघुवंशमणि, मेरी रक्षा कीजिए, मेरी रक्षा कीजिए, मेरी रक्षा कीजिए,' इस प्रकार आर्त प्रार्थना करोगे तो उसे सुनकर प्रभु तुम्हें निर्भय कर देंगे। किंतु रावण अंगद के उपदेश को कब मानने लगा? अंत में राम-रावण युद्ध हुआ और परिणाम वही हुआ जो होना था। यहाँ यह उल्लेख्य है कि राम ने अंगद को जब दूत बना कर भेजा तो उनके संदेश में कहीं भी प्रतिशोध की भावना नहीं दिखाई दी।

जब युद्ध में रावण की मृत्यु हो गई तो विभीषण को दुखी देख कर राम ने लक्ष्मण को भेजा कि जाकर विभीषण को धीरज बँधाओ। लक्ष्मण ने विभीषण को अनेक प्रकार से समझाया। जब विभीषण राम के पास पहुँचे तो राम ने उनसे कहा कि शोक छोड़ कर विधिवत् रावण की अंत्येष्टि-क्रिया करो। यदि कोई सामान्य व्यक्ति होता हो तो वह कह सकता था—'ठीक है, हटाओ, रावण को समुद्र में फेंक दो।' किंतु वाल्मीकि के राम ने तो यहाँ तक कहा था—'रावण महान् योद्धा था, वह महान् व्यक्ति था, वह महान् राजा था और उसकी मृत्यु भी महान् हुई। अतः शास्त्रानुसार उसका दाह-संस्कार करो। इससे तुम्हारे गुणों में वृद्धि होगी।' असंमजस में पड़े हुए विभीषण का इन वचनों से समाधान हो गया। राम को औचित्य का कितना ध्यान है?

रामचरितमानस के एक प्रसंग को विद्वानों ने 'रामगीता' का नाम दिया है। इस गीता के प्रारंभ में ही राम प्रजा को यह स्पष्ट कर देते हैं कि राजा होने के कारण ही कोई राम के उपदेश को स्वीकार न करें, अच्छी तरह विचार कर लेने के बाद यदि प्रजा को उनका उपदेश ग्राह्य हो, तभी वे उसे स्वीकारें, अन्यथा नहीं। गुरु, द्विज, पुरवासी सबको एक बार बुला कर राम ने उन्हें संबोधित करते हुए कहा :

---

१. मानस ६।१७।४

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी।
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहिं सोहाई।
जो अनीति कछु भाषौं भाई। तो मोहि बरजहु भय बिसराई।'[1]

राम स्पष्ट कर देते हैं कि जो कुछ मैं कह रहा हूँ, उसमें ममत्व और प्रभुता का लेश भी नहीं है। प्रजा को यदि कहीं भी अनीति की आशंका हो और यदि उसे राम का मत उचित प्रतीत नहीं होता हो तो प्रजा को अधिकार है कि वह निर्भीकतापूर्वक अपना विरोध प्रकट करे और कहीं यदि अनौचित्य होरहा हो तो ऐसा करने से मुझे रोक दे।

राम की यह उक्ति बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और आज के जनतंत्रवादी युग में तो इसका विशेष महत्त्व है। शासकों में प्रायः यह देखा जाता है कि वे अहंवादी होते हैं। उनका आग्रह रहता है कि यदि उन्होंने उचित, अनुचित किसी भी प्रकार का निर्णय कर लिया हो तो वह मान्य होना चाहिये। लार्ड ऐक्टन ने कहा था कि शक्ति शासक को भ्रष्टाचारी बना देती है और निरंकुश सत्ता से शासक पूर्णतः भ्रष्ट हो जाता है किंतु राम के मन में ऐसा कोई दुराग्रह नहीं है— यह राम की उक्ति है, इसलिए ग्राह्य है— राम यह नहीं मानते। वे तो कहते हैं कि यदि मैं अनीति की बात कह रहा हूँ तो प्रजा को पूर्ण स्वतंत्रता है कि वह निर्भयतापूर्वक यह कहे कि जो कुछ मैं कह रहा हूँ, वह अनुचित है। 'जो अनीति कछु भाषौं भाई' में तो 'भाई' द्वारा संबोधन है, उससे भी राम प्रजा के साथ समीपता स्थापित करना चाहते हैं। संबंध की वह दूरता, जो अहंवादी शासकों में होती है, राम में नहीं है। साधारणतः निरंकुश और अहंवादी शासक अपने शब्द को कानून समझते आये हैं और जो भी इस कानून का उल्लंघन करता, वह दंडनीय समझा जाता था किंतु राम ने जिस ढंग से बात कही है, उससे पुरजन छोटे भाई के तुल्य लगते हैं और राम बड़े भाई के तुल्य। बड़ा भाई भी यदि कोई अनीतिपूर्ण बात कह देता है तो छोटे भाई भी सलाह देते हैं और मना करते डरते नहीं। राम के कथन का स्पष्ट आशय यह है कि मैं अनीति की बात नहीं कहूँगा किंतु कदाचित् यदि भूल से अनीति की बात मेरे मुँह से निकल जाय तो सब प्रकार का भय छोड़ कर तुम मुझे मना कर देना।

राम के उक्त विचारों से यदि रावण के विचारों की तुलना की जाय तो आकाश-पाताल का अंतर दिखाई देगा। रावण का समूचा जीवन इस बात का

१. मानस ७।४३।१-२

साक्षी है कि उसने हित की बात पर कभी ध्यान नहीं दिया, जिसने भी उसे सत्पथ पर लगाने की कोशिश की, उसका उसने सदा विरोध किया। मंदोदरी, विभीषण, माल्यवान्, प्रहस्त, मारीच और कुंभकर्ण आदि सब कहते ही रह गये और रावण पर उसका कोई असर नहीं हुआ। परिणाम वही हुआ जो होना था। किंतु राम ने जिस आदर्श ढंग से शासन किया, उसके परिणाम-स्वरूप आदर्श राज्य के अर्थ में 'रामराज्य' एक मुहावरा ही बन गया।

डॉ० बिपिन बिहारी ठाकुर

रामचरितमानस में रस-योजना

साहित्यिक संदर्भ में रस का अभिप्राय काव्यानंद से लिया जाता है। भारतीय सहित्याचार्यों का एक महत्त्वपूर्ण संप्रदाय ऐसा है जो रस को काव्य की आत्मा का गौरव प्रदान करता है। भरत मुनि आचार्यों की इस रसवादी परंपरा के आद्य आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने अपने नाट्य-शास्त्र में रस की शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके प्रख्यात सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' के अनुसार विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। वस्तुतः रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया में कोई विशेष स्थायी-भाव किसी आश्रय के हृदय में आलंबन और उद्दीपन के द्वारा क्रमशः उत्तेजित और उद्दीप्त होता है, संचारी भावों के द्वारा पुष्ट होता है और तदुपरांत अनुभावों के व्याज से उसकी अभिव्यक्ति होती है। यही वह विशिष्ट प्रक्रिया है जिसके माध्यम से किसी स्थायी-भाव की रसानुभूति संभव हो पाती है। रस को उसकी अलौकिक प्रकृति के कारण ब्रह्मानंद सहोदर भी माना गया है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से रस नौ माने गये हैं—शृंगार, हास्य, रौद्र, करुण, वीर, वीभत्स, भयानक, अद्भुत तथा शांत।

रामचरितमानस कवि चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास की सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यात्मक कृति है। इसकी रस-योजना वैविध्यपूर्ण एवं सर्वांगपूर्ण है। इसमें शृंगार, करुण, रौद्र, वीर, हास्य, शांत आदि रसों का शास्त्रीय विधान मिलता है। इन्हीं विविध रसों का विश्लेषण करना हमारा अभिप्रेत है।

शृंगार-रस : शृंगार का मूलाधार 'रति' स्थायी भाव है। मानव-जीवन

के ही समान काव्य-साहित्य में भी श्रृंगार का अतिशय महत्त्वपूर्ण स्थान है। और इसीलिए इसे रसराज की संज्ञा दी गई है।

मानस में श्रृंगार रस के दोनों रूपों संयोग और विप्रलंभ की अवस्थिति पाई जाती है। संयोग श्रृंगार की दृष्टि से पुष्पवाटिका में राम और सीता का परस्पर-आकर्षण-प्रसंग अत्यधिक रसात्मक है। उक्त प्रसंग की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

कंकन-किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन-सन राम हृदय गुनि।
मानहुं मदन दुंदभी दीन्ही। मनसा बिस्व-बिजय-कहँ कीन्ही।[1]

उपर्युक्त उदाहरण में राम आश्रय हैं और सीता आलंबन। यहाँ सीता के कंकन, करधनी और नूपुरों का स्वर राम के मन के श्रृंगार रति भाव को उदीप्त करता है और वह अनुज लक्ष्मण के समक्ष अपनी श्रृंगार-भावना की अभिव्यक्ति करते हैं।

मानस में संयोग के अतिरिक्त विप्रलंभ की भी बड़ी मनोरम अभिव्यंजना हुई है। सीताहरण के उपरांत विरहाकुल राम की अंतर्व्यथा विप्रलंभ श्रृंगार का सर्वोत्तम उदाहरण है :

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैंनी।
खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना।[2]

उपर्युक्त पंक्तियों में सीता के लिए राम के हृदय की स्नेह-भावना ही विरह-जन्य विलाप के रूप में उपस्थित हुई है। यहाँ सीता आलंबन हैं और राम आश्रय।

विप्रलंभ श्रृंगार का एक और उदाहरण अपहृता सीता की विरहकातर वाणी में उपलब्ध होता है। वियोगिनी सीता असह्य विरह-पीड़ा से त्रस्त होकर मृत्यु की कामना करती है और इसी क्रम में वह आकाश के अंगारों से तथा अशोक के अग्नि के सदृश लाल-लाल पत्तों से अग्नि-प्राप्ति की आशा करती है। निश्चय ही यहाँ सीता की विरह-व्यथा अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई है।[3]

रामचरितमानस में वर्णित संयोग श्रृंगार में जहाँ पूर्णरूपेण मर्यादित अभिव्यक्ति प्राप्त होती है, वहीं विप्रलंभ श्रृंगार में अतिरंजना अथवा बौद्धिक विलक्षणता से युक्त मानवीय मनःस्थितियों की नैसर्गिक एवं रसात्मक व्यंजना उपलब्ध होती है। दूसरे शब्दों में महाकवि तुलसी की श्रृंगार भावना मध्य-

---

१. मानस १।२३०।१ २. मानस ३।३०।५ ३. मानस ५।१२।१-६

युगीन साहित्य की ऐंद्रिकता से मुक्त रहकर संवेदनशीलता एवं मार्मिकता को अधिक महत्त्व प्रदान करती है।

करुण-रस : 'शोक' स्थायी भाव की रसात्मक परिणति करुण रस में होती है। इस रस के प्रभावस्वरूप मानवीय चित्त करुणा से द्रवित हो जाता है। इस विशिष्ट रस-विधान की दृष्टि से रामचरितमानस के रामवनगमन, दशरथ-निधन और लक्ष्मण-मूर्च्छा के प्रसंग अत्यधिक मर्मस्पर्शी माने जा सकते हैं। अयोध्याकांड के अंतर्गत राम-वन-गमन के परिणामस्वरूप दशरथ मृत्यु का प्रसंग करुण रस की उद्‌भावना में अत्यधिक प्रभावी सिद्ध हुआ है।

दशरथ की मृत्यु से राजमहल से लेकर अयोध्या के घर-घर तक शोक की लहर फैल जाती है।[1]

लंकाकांड में लक्ष्मण मूर्च्छा के उपरांत राम का प्रलाप करुण रस का उत्कृष्ट उदाहरण है :

जथा पख बिनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करिबर कर हीना।
अस मम जिवन बंधु बिनु तोही। जौं जड़ दैव जिआवै मोही।
अब अपलोकु सोकु सुत तोरा। सहिहि निठुर कठोर उर मोरा।
निज जननी के एक कुमारा। तात तासु तुम्ह प्रान अधारा।
सौंपेसि मोहि तुम्हहि गहि पानी। सब बिधि सुखद परम हित जानी।
उतरु काह दैहऊँ तेहि जाई। उठि किन मोहि सिखावहु भाई।[2]

हास्य रस : हास्य रस के मूल में आकृति, वेश-विन्यास, कार्य-कलाप आदि की असंगतियाँ निहित रहती हैं। रामचरितमानस में नारद-मोह का प्रसंग हास्य रस का उत्कृष्ट प्रयोग माना जा सकता है। इस प्रसंग में नारद की आकृति मूलक असंगति के द्वारा हास्यरस की नियोजना की गई है। राजाशील निधि ने अपनी पुत्री के लिए स्वयंवर-सभा का आयोजन किया है। उक्त सभा में नारद बंदर का मुख लेकर बैठे हुए हैं, किंतु उन्हें अपनी इस आकृतिगत विकृति का बिल्कुल ही ज्ञान नहीं है। वह राजकन्या को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए बार-बार उचकते और छटपटाते हैं। उनकी इस आकुल स्थिति को देखकर शिवजी के दोनों गण मुस्कराते हैं :

जेहि दिसि बैठे नारद फूली। सो दिसि तेहिं न बिलोकी भूली।
पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं। देखि दसा हर गन मुसुकाहीं।[3]

१. मानस २।१५६।२-४ २. मानस ६।६१।५-७,८, ३. मानस १।१३५।१

रामचरितमानस में आकृति एवं वेशभूषाजन्य असंगतियों पर आधारित हास्य के अतिरिक्त मनोविनोद जैसे हास-परिहास तथा साहित्यिक हास्य-व्यंग्य की रसात्मक योजना भी उपलब्ध होती है। 'मानस' के हास्य-प्रसंगों में सर्वत्र स्थिति की अनुकूलता का संतुलित निर्वाह मिलता है।

शांतरस : निर्वेद स्थायी भाव की रसात्मक परिणति ही शांतरस है। इसमें संसार की क्षण भंगुरता को केंद्रीय भाव-भूमि के रूप में स्वीकारा जाता है। परिणामतः संत-समागम, तीर्थ-दर्शन आदि के माध्यम से ईश्वर-भक्ति का प्रतिपादन कवि का अभिप्रेत हुआ करता है। रामचरितमानस में स्तुतियों एवं वंदनाओं में शांतरस की प्रभूत परिव्याप्ति है। वैसे तो अरण्यकांड, किष्किंधाकांड एवं सुंदरकांड में छिटपुट रूप से शांतरस की योजना हुई है किंतु प्रमुख रूप से इसका विधान उत्तरकांड में ही हुआ है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी ने अपनी समस्त भक्तिमूलक धारणाओं को उत्तरकांड में ही संचित कर दिया है।

वीररस : वीररस का स्थायी भाव उत्साह है। मानस में बालकांड के धनुर्भंग प्रसंग और लक्ष्मण-परशुराम-संवाद, अयोध्याकांड में भरत के सेना सहित आगमन की निषादराज पर हुई प्रतिक्रिया तथा किष्किंधाकांड में हनुमान द्वारा समुद्र लाँघने के प्रसंग वीररस के प्रमुख उदाहरण हैं। लंकाकांड में तो वीररस के उदाहरण प्रभूत मात्रा में उपलब्ध होते हैं जिनमें राम रावण युद्ध का प्रसंग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है।

धनुर्भंग प्रसंग में लक्ष्मण का निम्नलिखित कथन वीररस का उत्तम उदाहरण है :

जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्माण्ड उठावौं।
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी।[1]

रौद्ररस : रौद्ररस का स्थायी भाव क्रोध है जो किसी प्रतिपक्षी की दुश्चेष्टा की प्रतिक्रिया में उत्पन्न होता है। इस रस में शत्रु आलंबन होता है और उसके प्रति आश्रय का क्रोध ही रौद्ररस में परिणत हो जाता है।

भरत के चित्रकूट आगमन की प्रतिक्रिया स्वरूप लक्ष्मण की निम्नलिखित उक्ति इसी रस को उदाहृत करती है :

आइ बना भल सकल समाजू। प्रगट करउँ रिस पाछिल आजू।
जिमि करि निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू।

१. मानस १।२५३।२-३

तेसहिं भरतहि सेन समेता । सानुज निदरि निपातउँ खेता।
जौं सहाय कर संकरु आई। तौ मारउँ रन राम दोहाई।[1]

अद्भुत रस : अद्भुत रस के मूल में आश्चर्य नामक स्थायी भाव रहता है। रामचरितमानस में अद्भुत रस के प्रयोग यत्र-तत्र मिलते हैं। उदाहरणार्थ जब सती के द्वारा राम के परम ब्रह्म-रूप की परीक्षा ली जाती है तो वह अपने प्रभाव से अपने अनेकानेक रूपों की सृष्टि कर देते हैं। इस प्रकार सती जिधर देखती हैं, उधर भगवान राम आश्चर्यजनक रूप में दृश्यमान होते हैं।[2]

अद्भुत रस की दृष्टि से बालकांड का बाललीला प्रसंग भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।[3]

भयानक रस : भय नामक स्थायी भाव की रसात्मक परिणति को ही शास्त्रीय शब्दावली में भयानक रस कहा जाता है। भयानक रस-योजना की दृष्टि से रामचरितमानस में बालकांड के अंतर्गत शिव विवाह एवं धनुर्भंग के प्रसंग, अयोध्याकांड के अंतर्गत कैकेई कोप तथा राम-वन-गमन के प्रसंग और लंकाकांड के अंतर्गत युद्ध-प्रसंग अधिक महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। राम के द्वारा धनुर्भंग किये जाने के उपरांत जो विश्वव्यापी प्रतिक्रिया होती है वह भयानक रस के उत्कृष्ट उदाहरण रूप में द्रष्टव्य है :

भरे भुवन घोर कठोर रव रबि बाजि तजि मारगु चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरुम कलमले।
सुर असुर मुनि कर कान दीन्हें सकल बिकल बिचारहीं।
कोदंड खंजेउ राम तुलसी जयति बचन उचारही।[4]

बीभत्स रस : जुगुप्सा स्थायी भाव का रसात्मक परिपाक बीभत्स रस में होता है। रुधिर, कच, हाड़, मांस इत्यादि दुर्गंधपूर्ण एवं अभद्र वस्तुएँ आलंबन हुआ करती हैं। बीभत्स रस की योजना मूलतः रामचरितमानस के लंकाकांड में मिलती है। लंकाकांड के अंतर्गत युद्ध-प्रसंग में इस रस का सुंदर विधान हो गया है। भीषण राम-रावण-युद्ध के फलस्वरूप युद्ध-भूमि में प्रवाहित होने वाली रक्त की सरिता ही इस बीभत्स रस का मूलाधार है :

खैंचहि गीध आंत तट भए। जनु बंसी खेलत चित दए।
बहु भट बहहिं चढ़े खग जाहीं। जनु नावरि खेलहिं सरि माहीं।

१. मानस २।२३०।२-३ २. मानस १।५४-५५१ ३. मानस १।२०१-२०२
४. मानस १।२६१ छंद

जोगिनि भरि भरि खप्पर संचहिं। भूत पिसाच बधू नभ नंचहिं।
भट कपाल करताल बजावहिं। चामुंडा नाना बिधि गावहिं।[1]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि रामचरितमानस की रस योजना मानव जीवन की वैविध्यपूर्ण परिस्थितियों को उजागर करती है। मानस का रस-विधान मानवीय भावनाओं और अनुभूतियों की व्यंजना करने के साथ-साथ कवि के उदात्त सांस्कृतिक बोध को भी अभिव्यक्ति प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में गोस्वामी तुलसीदास की प्रस्तुत काव्यकृति अपनी रस-योजना के व्याज से मानवीय अनुभूतियों को ठोस सांस्कृतिक आधार प्रदान कर अपनी गरिमापूर्ण विशिष्टता का प्रतिपादन करती है।

---

१. मानस ६।८८।६३-४

डॉ॰ श्याम प्रकाश

रामचरितमानस में लोक-जीवन संबंधी शब्दावली

गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरितमानस का प्रणयन लोक-भाषा में किया, जो भारतवर्ष के जन-मानस की भाषा है। यद्यपि रामचरितमानस लिखने में उनका वास्तविक उद्देश्य लोक-जीवन का यथार्थ चित्रण करना नहीं था, तथापि इस मे लोक-जीवन की झलक कई रूपों में देखने को मिल जाती है। लोक-जीवन के अनेक आचार-विश्वास और प्रथाएँ इस में सम्मिलित हैं, जिन पर सम्यक् प्रकाश तत्संबंधी शब्दावली द्वारा पड़ता है। तुलसी की इस लोक-जीवन संबंधी शब्दावली द्वारा तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्वरूप का भी आकलन सहज ही हो जाता है। 'मानस' में प्रयुक्त लोक-जीवन संबंधी शब्दावली का अध्ययन हम प्रस्तुत निबंध में निम्नलिखित वर्गों के अंतर्गत करेंगे।

(१) दैनिक जीवन संबंधी शब्दावली, (२) संस्कार सूचक शब्दावली, (३) लोक-विश्वासों की सूचक शब्दावली, (४) लोक-जीवन संबंधी मुहावरे और (५) लोक-जीवन संबंधी कहावतें।

(१) दैनिक-जीवन संबंधी शब्दावली :

इस वर्ग के अंतर्गत आने वाली शब्दावली का अध्ययन विभिन्न उपवर्गों में किया गया है।

(क) संबंधियों के लिए प्रयुक्त शब्द : 'रामचरितमानस' में प्रसंगा-

नुसार विभिन्न संबंधियों के लिए लोक-जीवन में प्रचलित कुछ विशिष्ट शब्दों का प्रयोग हुआ है।

महतारी—राम सरिस सुत मैं महतारी।[1]
बेटा—अंगद नाम बालि कर बेटा।[2]
भरतार—चाहिअ सदा सिवहिं भरतारा।[3]
देवर—नामु लखनु लघु देवर मोरे।[4]
सास-ससुर—सासु ससुर गुर सेवा करेहू।[5]
समधी—सम समधी देखे हम आजू।[6]
जामाता—सादर पुनि भेंटे जामाता।[7]
नाती—उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती।[8]
सौत (सवत)—जिअत न करबि सवति सेवकाई।[9]

(ख) शिष्टाचार-सूचक-शब्द : शिष्टाचार सूचक शब्दों के अंतर्गत प्रणाम अथवा अभिवादन के लिए, 'जयजीव' शब्द, राज-दरबारों में विशेष आदरसूचक समझा जाता था। इस का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है :

(क) कहि जयजीव सीस तिन्ह नाए।[10]
(ख) कहि जयजीव बैठ सिरु नाई।[11]
(ग) देखि सचिव जयजीव कहि कीन्हेउ दंड प्रनामु।[12]

संत-समाज में प्रशंसात्मक 'साधु' शब्द का प्रयोग प्रचलित था :

साधु सराहि सुमन सुर बरषे।[13]

अयोध्याकांड के अंतर्गत चित्रकूट की सभा में, राम और भरत आदि के संवादों में शिष्टाचार संबंधी सर्वोत्तम शब्दावली का प्रयोग हुआ है।

(ग) दिनचर्या-सूचक शब्द : प्रातःकाल मुर्गे की आवाज सुनकर उठना, शौच जाना तथा तदनंतर स्नान करना, संध्या-वंदन आदि करना, पूजन के लिए पुष्पादि का आहरण, भोजन के उपरांत कुछ कथा-वार्ता में समय व्यतीत करना आदि इन सभी दिनचर्या-सूचक शब्दों का प्रयोग हुआ है :

१. मानस २।१६६।४ २. मानस ६।२१।२ ३. मानस १।७८।५
४. मानस २।११७।३ ५. मानस १।३३४।३ ६. मानस १।३२०।३
७. मानस १।३४१।१ ८. मानस ६।२०।२ ९. मानस २।२१।१
१०. मानस २।५।१ ११. मानस २।३८।३ १२. मानस २।१४८
१३. मानस २।२१०।४

(क) उठे लखनु निसि बिगत सुनि, अरुनसिखा-धुनि कान।[1]

(ख) सकल सौच करि जाइ नहाए।[2]

(ग) सबही संध्या बंदनु कीन्हा।[3]

(घ) लेन प्रसून चले दोउ भाई।[4]

(ङ) करि भोजन मुनिवर बिग्यानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी।[5]

(च) वेषभूषा-सूचक शब्द : तुलसीदासजी ने जन-साधारण में प्रचलित आभूषणों एवं वस्त्रों का भी उल्लेख किया है :

कंठा—कुंजर-मनि-कंठा कलित उरन्हि तुलसिका-माल।[6]

कंगन, किंकिणी और नूपुर—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन रामु हृदय गुनि।[7]

अंगूठी—मनि मुदरी मन मुदित उतारी।[8]

चूड़ामणि—चूड़ामनि उतारि तब दयऊ।[9]

मणियों की माला—उर मनिमाल कंबु कल गीवा।[10]

कुंडल—कल कपोल, श्रुति-कुंडल लोला।[11]

ताटंक (तर्की)—मंदोदरी श्रवन ताटंका।[12]

कर्ण-फूल—कानन्हि कनक-फूल छबि देहीं।[13]

उपर्युक्त इन आभूषणों में से कुछ ऐसे थे, जिनका प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों करते थे।

वस्त्रों में चौकोनी टोपी का अधिक प्रचलन था :

(क) रुचिर चौतनीं सुभग सिर मेचक कुंचित केस।[14]

(ख) पीत चौतनी सिरन्हि सुहाई।[15]

पीत-वसन—पीत बसन परिकर कटि भाथा।[16]

साड़ी—सोह नवल तन सुंदर सारी[17]

झंगुली—पीत झगुलिआ तनु पहिराई।[18]

---

१. मानस १।२२६ २. मानस १।२२७।१ ३. मानस १।२२६।१
४. मानस १।२२७।१ ५. मानस १।२३७।३ ६. मानस १।२४३
७. मानस १।२३०।१ ८. मानस २।१०२।२ ९. मानस ५।२७।१
१०. मानस १।२३३।४ ११. मानस १।२४३।२ १२. मानस ६।१३।३
१३. मानस १।२१९।४ १४. मानस १।२१९ १५. मानस १।२४३।४
१६. मानस १।२१९।२ १७. मानस १।२४८।१ १८. मानस १।१९९।६

(ड) खानपान संबंधी शब्द : भोज्य-सामग्री के अंतर्गत दैनिक-जीवन के उपयोग में आने वाली वस्तुओं का भी उल्लेख हुआ है। सूप (दाल), ओदन (भात), सुरभि-सरपि (गाय का घी) का प्रयोग खाने में होता था :

सूपोदन, सुरभी-सरपि, सुंदर, स्वादु, पुनीत।[१]

दही-चूड़ा और दही-भात का भी वर्णन आया है :

(क) दधि चिउरा उपहार अपारा। भरि भरि काँवरि चले कहारा।[२]

(ख) भोजन करत चपल चित इत उत अवसरु पाइ।
भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ।[३]

अनेक प्रकार के मेवा और पकवान खाये जाते थे :

बिबिध भाँति मेवा-पकवाना। भोजन साजु न जाइ बखाना।[४]

भोजन के बाद पान खाने की भी प्रथा थी :

देइ पान पूजे जनक, दसरथ सहित समाज।[५]

खान-पान में प्रयुक्त होने वाले बरतनों के सूचक शब्दों में थाल, परात, कलश, पत्तल, दोना आदि का उल्लेख हुआ है :

(क) कनक कलस मनि-कोपर रूरे। सुचि-सुगंध-मंगल जल पूरे।[६]

(ख) कनक-कलस भरि कोपर, थारा।
भोजन ललित अनेक प्रकारा।[७]

(ग) सादर लगे परन पनबारे। कनककील, मनि-पान सँवारे।[८]

(घ) कंद मूल फल भरि भरि दोना। चले रंक जनु लूटन सोना।[९]

(२) संस्कार-सूचक शब्दावली :

इस प्रकार की शब्दावली का अध्ययन हम दो उपवर्गों के अंतर्गत प्रस्तुत करेंगे :

(i) विभिन्न संस्कार सूचक शब्द : तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में जिन विभिन्न संस्कारों का उल्लेख किया है, वे निम्नलिखित हैं :

(अ) जाति कर्म संस्कार :

नंदी मुख सराध करि जातकरम सब कीन्ह।
हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह।[१०]

---

१. मानस १।३२८ २. मानस १।३०५।३ ३. मानस १।२०३
४. मानस १।३३३।२ ५. मानस १।३२६ ६. मानस १।३३४।३
७. मानस १।३०५।१ ८. मानस १।३२८।४ ९. मानस २।१३५।१
१०. मानस १।१९३

(आ) नामकरण संस्कार :

नाम करन करु अवसरु जानी। भूप बोलि पठए मुनि ग्यानी।[1]

(इ) चूड़ा कर्म संस्कार :

चूड़ा करन कीन्ह गुरु जाई। बिप्रन्ह पुनि दछिना बहु पाई।[2]

(ई) यज्ञोपवीत या उपनयन संस्कार और कर्णबेध

(क) भए कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेउ गुरु-पितु-माता।[3]

(ख) करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा।[4]

(उ) विवाह संस्कार : रामचरितमानस में शिव-विवाह और राम-विवाह, इन दो वैवाहिक प्रसंगों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन हुआ है।

(ऊ) अन्त्येष्टि संस्कार : इस संस्कार का उल्लेख दशरथ[5], जटायु[6] और रावण[7] की मृत्यु पर हुआ है। इस संस्कार के अर्थ में लोक-जीवन में प्रचलित 'क्रिया' शब्द का प्रयोग भी देखने को मिलता है :

(क) करि पितु क्रिया बेद जसि बरनी।
भे पुनीत पातक तम तरनी।[8]

(ख) तेहि-की क्रिया जथोचित, निज कर कीन्ही राम।[9]

(ग) कृपादृष्टि प्रभु ताहि बिलोका।
करहु क्रिया परिहरि सब सोका।
कीन्हि क्रिया प्रभु आयसु मानी।
बिधिवत देस काल जियँ जानी।[10]

(ii) **संस्कारगत रीति-रिवाज और प्रथाएँ** : संस्कारों से संबंधित रीति-रिवाजों और प्रथाओं का विवरण भी रामचरितमानस में मिलता है। ये आज भी लोक-जीवन में प्रचलित हैं।

(अ) रीति-रिवाज :

१. पुत्रोत्पत्ति होने पर बाजा बजवाना :

परमानन्द पूरि मन राजा। कहा बोलाइ बजावहु बाजा।[11]

---

१. मानस १।१९७।१ २. मानस १।२०३।२ ३. मानस १।२०४।२
४. मानस २।१०।३ ५. मानस २।१७० ६. मानस ३।३२
७. मानस ६।१०५ ८. मानस २।२४८।१ ९. मानस ३।३२
१०. मानस ६।१०५।४ ११. मानस १।१९३।३

२. जयमाल डालना :

चतुर सखीं लखि कहा बुझाई। पहिरावहु जयमाल सुहाई।
सुनत जुगल कर माल उठाई। प्रेम बिबस पहिराइ न जाई।
सोहत जनु जुग जलज सनाला। ससिहि सभीत देत जयमाला।
गावहिं छबि अवलोकि सहेली। सियँ जयमाल राम उर मेली।[१]

३. घुड़सवारी :

(क) जेहि तुरंग पर रामु बिराजे।
गति बिलोकि खगनायकु लाजे।[२]

(ख) जेहिं बर बाजि रामु असवारा।
तेहि सारदउ न बरनै पारा।[३]

४. बारात का परिछन करना :

सजि आरती अनेक बिधि मंगल सकल सँवारि।
चलीं मुदित परिछनि करन गजगामिनि बर नारि।[४]

५. बारात की अगवानी लेना :

सजि गज रथ पद चर तुरंग, लेन चले अगवान।[५]

६. मंगल-गान तथा पाँवड़े पड़ना :

पंच सबद धुनि मंगल गाना।
पट पाँवड़े परहिं बिधि नाना।[६]

७. अर्घ्य-दान तथा वर का मंडप-प्रवेश :

करि आरती अरघु तिन्ह दीन्हा।
राम गमनु मंडप तब कीन्हा।[७]

८. पाणि-ग्रहण :

बर कुअँरि कर तल जोरि साखोचारु दोउ कुलगुरु करैं।
भयो पानिगहनु बिलोकि बिधि सुर मनुज मुनि आनद भरैं।[८]

९. भाँवरे फिरना और सिंदूर-दान :

प्रमुदित मुनिन्ह भाँवरी फेरीं। नेग सहित सब रीति निबेरीं।
राम सिय सिर सेंदुर देहीं। सोभा कहि न जाई बिधि केही।[९]

---

१. मानस १।२६४।३-४ २. मानस १।३१६।४ ३. मानस १।३१७।१
४. मानस १।३१७ ५. मानस १।३०४ ६. मानस १।३१९।२
७. मानस १।३१९।२ ८. मानस १।३२४। छंद ४६
९. मानस १।३२५।४

१०. वर-वधू का कोहबर-गमन और लहकौर :

'कोहबरहिं आनें कुअँर कुअँरि सुआसिनिन्ह सुख पाइकै।
अति प्रीति लौकिक रीति लागीं करन मंगल गाइ कै।
लहकौरि गौरि सिखाव रामहि सीय सन सारद कहैं।
रनिवासु हास बिलास रस बस जन्म को फलु सब लहैं।'[१]

११. भोजन के समय गाली गाना :

'जेवँत देहिं मधुर धुनि गारी। लै लै नाम पुरुष अरु नारी।'[२]

१२. निछावर देना :

नाऊ बारी भाट नट राम निछावरि पाइ।
मुदित असीसहिं नाइ सिर हरषु न हृदय समाइ।[३]

(आ) प्रथाएँ : कुछ प्रथाओं का भी उल्लेख रामचरितमानस में हुआ है :

१. दहेज-प्रथा : इस में दी जाने वाली वस्तुओं में कंबल, गज, रथ, दास, दासी, गाय, तुरग, स्वर्ण, वस्त्र, मणि, महिषी आदि विशेष उल्लेख्य हैं :

(क) कहि न जाइ न कछु दाइज भूरी। रहा कनक मनि मंडपु पूरी।
कंबल बसन बिचित्र पटोरे। भाँति-भाँति बहु मोल न थोरे।
गज रथ तुरग दास अरु दासी। धेनु अलंकृत कामदुहा सी।
बस्तु अनेक करिअ किमि लेखा।
कहि न जाइ जानहिं जिन्ह देखा।[४]

(ख) दाइज अमित, न सकिअ कहि, दीन्ह बिदेहँ बहोरि।
जो अवलोकत लोक-पति, लोक-संपदा थोरि।[५]

२. विवाहोपरांत सुदिन सोध कर कंगन खोलने की प्रथा :

सुदिन सोधि कल कंकन छोरे। मंगल मोद बिनोद न थोरे।[६]

(३) लोक-विश्वासों की सूचक शब्दावली :

इस वर्ग में आने वाली शब्दावली का अध्ययन हम चार उपवर्गों में प्रस्तुत करते हैं :

(क) शकुन

(ख) अपशकुन

(ग) स्वप्न-दर्शन

---

१. मानस १।३२७। छंद ५७ २. मानस १।३२९।३ ३. मानस १।३१९
४. मानस १।३२६।१-३ ५. मानस १।३३३ ६. मानस १।३६०।१

(घ) अन्य विश्वास

(क) शकुन : रामचरितमानस के अंतर्गत लोक-प्रचलित विश्वासों में शुभ-शकुन सूचक सभी उपादानों की व्यंजना तुलसी ने लोक मान्यताओं के आधार पर की है। रामचंद्रजी की बारात के प्रस्थान करते समय शुभ-शकुन के अंतर्गत बायीं दिशा में चापु (नीलकंठ) का चारा लेना, दाहिनी ओर कौए का खेत में रहना, नकुल-दर्शन, त्रिविध वायु का अनुकूल दिशा में प्रवाहित होना, श्रेष्ठ स्त्रियों का भरे हुए घड़े और गोद में बालक लिये हुए आना, लोमड़ी का बार-बार दिखलाई पड़ना, सामने दूध पिलाती हुई गायों का दर्शन, मृग-समूह का दाहिनी ओर आना, क्षेमकरी (सफेद सिर वाली चील) और श्यामा पक्षियों का दिखाई देना, दही और मछली का सामने आना, पुस्तक लिये ब्राह्मण का मिलना आदि सभी शुभ शकुन एक साथ वर्णित हुए हैं।[१]

(ख) अपशकुन : रामचरितमानस में अपशकुनों का वर्णन विशेष रूप से दो स्थलों पर हुआ है। एक, जब भरत दशरथ-मृत्यु के बाद लौटकर आते हैं :

असगुन होंहिं नगर पैठारा। रटहिं कुभाँति कुखेत करारा।
खर सिआर बोलहिं प्रतिकूला। सुनि सुनि होइ भरत मन सूला।[२]

और दूसरा रावण के रण-प्रयाण तथा रावण-वध के अवसर पर :

चलत होंहिं अति असुभ भयंकर।
बैठहिं गीध उड़ाइ सिरन्ह पर।[३]

(ग) स्वप्न दर्शन : स्वप्नों को भी लोक में शुभ अथवा अशुभ सूचक माना जाता है। रात्रि में देखे गये स्वप्नों के प्रति लोक-जीवन में बड़ी आस्था रही है और इन स्वप्नों के फलाफल समाज में प्रचलित और मान्य रहे हैं। रामचरितमानस में कई स्थलों पर इस स्वप्न-दर्शन की बात का उल्लेख हुआ है।[४]

(घ) अन्य विश्वास : लोक-जीवन में प्रचलित कतिपय अन्य विश्वास एवं मान्यताओं का भी उल्लेख रामचरितमानस में हुआ है। कैकेयी मंथरा से कहती है कि काने, खोरे और कुबड़े व्यक्ति कुटिल और कुचाली होते हैं :

काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि।
तिय बिसेषि पुनि चेरि कहि भरतमातु मुसुकानि।[५]

---

१. मानस १।३०३।१-४ २. मानस २।१५८।२-३ ३. मानस ६।८६।१
४. मानस १।७२, २।२०।३, २।२२६।३-४, ५।११।२-४ ५. मानस २।१४

छींक के संबंध में भी अनेक विश्वास हैं। निषादराज जब राम-मिलन के लिए चित्रकूट जाते हुए भरत से लड़ने को तत्पर होता है, तब बायीं ओर छींक होती है, जिस का अर्थ रामचंद जी से भरत का मिलन लगाया जाता है :

एतना कहत छींक भइ बाँए। कहेउ सगुनिअन्ह खेत सुहाए।
बूढ़ एकु कह सगुन बिचारी। भरतहि मिलिअ न होइहि रारी।[1]

(४) लोक-जीवन संबंधी मुहावरे :

मुहावरे भाषा की प्राण-शक्ति होते हैं इनकी सबसे बड़ी विशेषता होती है—थोड़े में अधिक कह देने की सामर्थ्य। रामचरितमानस में तत्कालीन लोक-जीवन में प्रचलित मुहावरों का समावेश अत्यंत स्वभाविक रूप में हुआ है। इनके द्वारा लोक-मानस की वास्तविक अभिव्यक्ति हो सकी है। 'मानस' में प्रयुक्त कतिपय मुहावरे इस संदर्भ में देखे जा सकते हैं :

(क) सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे।[2]
(ख) चहत बारि पर भीति उठावा।[3]
(ग) पन बिदेह कर कहहिं हम भुजा उठाइ बिसाल।[4]
(घ) पुर नारि सुर सुंदरीं बरहिं बिलोकि सब तिन तोरहीं।[5]
(ङ) जरि तुम्हारी चह सवति उखारी।[6]
(च) रेख खँचाइ कहउँ बलु भाखी।[7]
(छ) भामिनि भइहु दूध कइ माखी।[8]
(ज) मागहु आजु जुड़ावहु छाती।[9]
(झ) करौं तोहि चख पूतरि आली।[10]
(ञ) मानहुँ लोन जरे पर देई।[11]
(ट) सिरु धुनि, लीन्हि उसास असि, मारेसि मोहिं कुठायँ।[12]
(ठ) छुअत चढ़ी जनु सब तन बीछी।[13]
(ड) पालव बैठि, पेड़ु एहिं काटा।[14]

---

१. मानस २।१६२।२ २. मानस १।६।५॥ ३. मानस १।७८।४
४. मानस १।२४६ ५. मानस १।३२७।छंद ५६ ६. मानस २।१७।४
७. मानस २।१६।४ ८. मानस २।१६।४ ९. मानस २।२२।३
१०. मानस २।२३।२ ११. मानस २।३०।४, १२. मानस २।३०
१३. मानस २।४६।३, १४. मानस २।४७।३,

(५) लोक-जीवन संबंधी कहावतें

कहावतें लोक-भाषा की स्थायी निधि हैं। 'मानस' की कई उक्तियाँ आज भी कहावतों के रूप में लोक-जीवन में प्रचलित हैं :

(क) बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा।[1]

(ख) कोउ नृप होइ हमहिं का हानी।[2]

(ग) निज हित अनहित पसु पहिचाना।[3]

(घ) को न कुसंगति पाइ नसाई।[4]

(ङ) लिखत सुधाकर, गा लिखि राहू।[5]

(च) नहिं बिष बेलि अमिअ फल फरहीं।[6]

(छ) जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी।[7]

(ज) नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं।[8]

(झ) फूलइ फरइ न बेत जदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरख हृदयँ न चेत जौं गुरु मिलहिं बिरंचि सम।[9]

(ञ) भय बिनु होइ न प्रीति।[10]

(ट) डाटेंहिं पइ नव नीच।[11]

(ठ) खल सन कलह न भल नहिं प्रीति।[12]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के पश्चात्, संक्षेपतः, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास जी के रामचरितमानस में लोक-जीवन संबंधी शब्दावली का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। प्रस्तुत निबंध तो मात्र दिशा-निर्देश है। वस्तुतः, इसका अध्ययन एक स्वतंत्र शोध की अपेक्षा रखता है, जो निःसंदेह अत्यंत रोचक और उपादेय होगा।

---

२. मानस १।९७, २. मानस २।१६।३ ३. मानस २।१६।१
४. मानस २।२४।४ ५. मानस २।५५।१ ६. मानस २।१८६।४
७. मानस ४।७।१ ८. मानस ६।१६।१ ९. मानस ६।१६।ख
१०. मानस ५।५७ ११. मानस ५।५८ १२. मानस ७।१०६।७

डॉ० अंबाप्रसाद 'सुमन'

रामचरितमानस के कुछ कूटोन्मुखी शब्द

'कूट' (√कूट्+=अच्) शब्द का कोशगत सामान्य अर्थ 'अटल', 'ढेर', 'निहाई', या 'यथार्थ वस्तु का ढका होना' है। शब्दार्थ की दृष्टि से 'कूट' शब्द वे कहलाते हैं जिनके अर्थ पेचदार तथा गूढ़ होते हैं अर्थात् जिन शब्दों के अर्थज्ञान में हमारी बुद्धि शीघ्र प्रवेश नहीं कर पाती वे शब्द 'कूट' कहलाते हैं। काव्य में कूटोन्मुखी शब्दों का प्रयोग प्राचीनकाल में भी होता था। व्रजभाषा कवि सूर के तो कूटपद बहुत प्रसिद्ध ही हैं। उनकी 'साहित्य-लहरी' तो एक प्रकार से कूट काव्य ही है। भावातिरेक के क्षणों में कवि की हृदयभूमि में जन्म लेने वाली कविता की सृष्टि करते-करते जब कवि का मानस-लोक थक-सा जाता है, तब कुछ क्षणों के लिए कवि की मनीषा को अपना पांडित्य या चमत्कार दिखाने की इच्छा बलवती हो जाती है। उन क्षणों में ही कवि की लेखनी कविता में कूटार्थी प्रयोग किया करती है। ऐसे कूटोन्मुखी शब्द पाठकों से भी पर्याप्त बुद्धि-व्यायाम करा लेते हैं। कभी-कभी तो पाठक कई दिनों तक निरंतर बुद्धिव्यायाम करने पर भी कूट शब्द का वास्तविक अर्थ नहीं समझ पाता। कूट शब्द का वास्तविक अर्थ पाठक की समझ में जल्दी से इसलिए भी नहीं आता है कि कवि उसका प्रयोग सामान्य या बहु-प्रचलित अर्थ में नहीं किया करता, अपितु विशेष अथवा अप्रचलित अर्थ में किया करता है। तुलसी के 'रामचरितमानस' में भी ऐसे अनेक शब्द हैं, जिनका प्रयोग तुलसी ने विशेष अथवा अप्रचलित अर्थ में किया है। ऐसे शब्दों को हमने कूटोन्मुखी शब्द कहना ही उचित समझा है।

प्रस्तुत लेख के कूटोन्मुखी एवं विशिष्ट शब्द प्रायः आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र संपादित 'रामचरितमानस' (काशिराज संस्करण सन् १९६२ ई०) से लिये गये हैं। विशिष्ट स्थलों पर अन्य संस्करणों का भी संकेत है। शब्द के साथ प्रमाण-संदर्भ के रूप में लिखी हुई पहली संख्या दोहे की और दूसरी संख्या अर्द्धाली को सूचित करती है। यदि कहीं शब्द के साथ कोष्ठक में अयो० १७५।७ लिखा हुआ है तो प्रस्तुत लेख के पाठकों को समझ लेना चाहिये कि विशिष्ट शब्द का प्रयोग तुलसी ने 'रामचरितमानस' में अयोध्याकांड के १७५ वें दोहे की सातवीं अर्द्धाली में किया है।

अकनि—[सं० आकर्ण्य >अकनि=सुनकर]

'अकनि' पूर्व कालिक क्रिया है। यह 'मानस' में चार बार प्रयुक्त हुई है 'कर्ण' संज्ञा से 'कर्णयिते' (=सुनता है) नामधातुक क्रिया पद हैं इसकी धातु से ल्यप् प्रत्यय के योग से (आ+√कर्ण+ल्यप्) 'आकर्ण्य' (=सुनकर) की सिद्धि होती है। अपभ्रंशकाल में पूर्वकालिक क्रियाओं के प्रायः ल्यबंत प्रयोग ही मिलते हैं, क्त्वा वाले नहीं। हेमचंद्र के व्याकरण में अपभ्रंश भाग के अंतर्गत ल्यबंत प्रयोग पर्याप्त हैं। सं० 'कृ' धातु से विकसित अप० √ 'कर्' धातु से बनी पूर्वकालिक क्रिया 'करि' (=करके) का प्रयोग हेमचंद्र ने किया है यथा—१ हिअउ फुट्टि तडत्ति करि' (हेम० व्या० ८।४।३५७।३)

अर्थ—हे हृदय ! तड़ तड़ करके फट जा।

अपभ्रंश प्रत्यय	मानस में प्रत्यय
(१) करि (हेम० व्या० ८।४।३५७।३)=कर्+इ	=अकनि (बाल० ३०२) अ+√कन्+-इ

महात्मा तुलसी लिखते हैं :

'तुरग नचावहि कुअँरबर, अकनि मृदंग निसान'

अर्थ—सुंदर कुंवर मृदंग और नगाड़े को सुनकर घोड़ों को नचाते हैं।

उपबरहन—(सं० उपवर्हण=तकिया)

'तकिया' अर्थ में संस्कृत में 'उपवर्हण' शब्द प्रचलित था। उप+√बर्ह +ल्युट्=उपवर्हण। उप+वर्ह+घञ=उपवर्ह। 'उपवर्ह' भी 'तकिया' अर्थ में ही प्रचलित था। संस्कृत साहित्य में 'तकिया' के अर्थ में परस्पर मिलते-जुलते से चार शब्द मिलते हैं – (१) उपबर्ह (२) उपवर्ह (३) उपबर्हण उपवर्हण

संस्कृत में √ वर्ह् धातु 'ढाँकना' अर्थ में आती है। पाणिनि की अष्टाध्यायी के धातुपाठ के आधार पर कहा जा सकता है-- 'वर्ह् आच्छादनेषु'

मनुष्य जब लेटता है या सोता है तब उसके शरीर से बिछौना ढंक जाता है। अतः बिछौना 'वर्हण' हुआ। बिछौने से छोटी वस्तु जो ढाँकी जाती है 'तकिया' है। अतः तकिया 'उपवर्हण' हुआ। सं० उपवर्हण > उपबरहन—यह विकास क्रम है। तुलसी लिखते हैं :

'उपबरहन' बर बरनि न जाहीं[1]

अर्थ—सुंदर तकिये वर्णित नहीं किये जाते।

'तकिया' के अर्थ में 'उपधान' शब्द भी 'मानस' में प्रयुक्त है

'बिबिध बसन उपधान तुराई' > (अयो० ९१।१) सं० उपधान (उप + √धा + ल्युट) में √धा धातु का अर्थ है—'रखना' या 'सहारा लगाना'। अतः 'उपधान' का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ हुआ--जिसका सहारा लगाया जाता है।

खगहा = (सं० खड्गहा > प्रा० खग्गहा > खगहा)

'खगहा' शब्द का प्रयोग 'मानस' में एक बार हुआ है। रामचंद्रजी के निवास-वन को एक राज-प्रदेश की उपमा देते हुए तुलसी लिखते हैं :

खगहा करि हरि बाघ बराहा
देखि महिष वृष साजु सराहा[2]

अर्थ—गैंडा, हाथी, सिंह, बाघ, सुअर, भैंसें और बैलों को देखकर लोग राजा के साज को सराहते हैं।

टीकाकारों ने 'खगहा' का अर्थ 'गैंडा' लिखा है कुछ प्रामाणिक हिंदी कोशों में भी यही अर्थ लिखा गया है किंतु 'खगहा' का अर्थ 'गैंडा' क्यों है? इसका रहस्य नहीं बताया गया। वास्तव में इसका मूल तत्सम शब्द 'खड्गहा' है जिसका अर्थ है—खड्ग से मारने वाला (खड्गेन हन्ति, इति खड्गहा)। गैंडे के मुंह के ऊपर एक तलवारनुमा नुकीला वक्र सींग होता है। उसी सींग से वह प्रहार करता है वह सींग ही खड्ग है। सं० खड्गहा > खगहा—यह विकास-क्रम संभव है।

चाँड या चाड़ = सं० चाण्ड > चाँड, चाँड़ = प्रचंडता, उग्रता, बलवत्ता।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त संपादित संस्करण में 'चाँड' पाठ है, जो अर्थ की दृष्टि से समीचीन मालूम पड़ता है। सं० चण्ड + भावार्थे अण् = चाण्ड = (चण्डता) 'चाण्ड' का अर्थ है—प्रचण्डता, तीक्ष्णता, बलवत्ता

१. मानस १।३५६।३ २. मानस २।२३५।३

राजा कहते हैं कि धनुष तोड़ने से बलवत्ता सिद्ध नहीं होती--तोरें धनुष चाँड़ नहिं सरई' (माताप्रसाद गुप्त) १।२६६।४)। सूरसागर में भी 'बलवत्ता' के अर्थ में चँड़ाई (सूरसागर १०।८११) का प्रयोग हुआ है।

मानस के कुछ टीकाकारों ने 'चाड़' का अर्थ 'चाह' (इच्छा, ललक) भी किया है। बिहारी ने भी 'चाड़' का प्रयोग 'इच्छा' या 'लालसा' के अर्थ में किया है--

"कुच-गिरि चढ़ि अति थकित ह्वै, चली डीठि मुँह चाड़"

(बिहारी रत्नाकर दो० २६)

'मानस' की जिन प्रतियों में 'चाड़' पाठ है वहाँ अर्थ 'इच्छा' या 'चाह' भी किया जा सकता है। जैसे--तोरें धनुष चाड़ नहिं सरई [1]

हमारे विचार से 'चाँड' पाठ अधिक संगत है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी इसे ही ठीक माना है।

चूड़ामनि (सं० चूड़ामणि > चूड़ामनि)

'चूड़ामनि' शब्द का प्रयोग संपूर्ण 'रामचरितमानस' में केवल दो बार हुआ है और वह भी सुंदरकांड में। बालकांड (दो० २०३।३) में एक शब्द संस्कार विशेष के अर्थ में 'चूड़ाकरन' प्रयुक्त हुआ है। 'चूड़ाकर्म' संस्कार को ही 'चूड़ाकरण' भी कहते हैं। इसमें बालक के सिर पर चुटिया कुल्ला छेके जाते हैं। नाई चुटिया-कुल्ला छेकता है। आचार्य पंडित शास्त्रीय विधि से संस्कार कराते हैं।

'चूड़ामनि' शब्द का प्रयोग करते हुए तुलसी लिखते हैं :

चूड़ामनि उतारि तब दएऊ। हरष समेत पवनसुत लएऊ।[2]

चलत मोहि चूड़ामनि दीन्हीं। रघुपति हृदय लाइ सोइ लीन्हीं।[3]

उपर्युक्त अर्द्धालियों में आये हुए 'चूड़ामनि' शब्द का अर्थ टीकाकारों ने 'चूड़ामणि' ही लिख दिया है। इस अर्थ में यह पता नही चलता कि 'चूड़ामणि' क्या वस्तु थी, कैसी थी? वह हाथ की चूड़ी जैसी कोई वस्तु थी अथवा सिर आदि पर धारण किये जाने वाला कोई आभूषण था? संस्कृत साहित्य में चूड़ा शब्द दो अर्थों में मिलता है— (१) चोटी, शिखा (२) कंकण जैसा एक आभूषण जो कलाई पर पहना जाता है। परंतु 'चूड़ामणि' शब्द संस्कृत में एक विशेष शिरोभूषण के लिए प्रयुक्त होता था। अमरकोश—कंठस्थ पंडित तथा

१. मानस १।२६६।४ २. मानस ५।२७।२ ३. मानस ५।३१।१

महाकवि तुलसीदास ने चोटी की मणि के लिए ही 'चूड़ामनि' शब्द का प्रयोग किया है। अमरकोश में शिर की मणि के लिए दो शब्द लिखे गये हैं :
(१) चूड़ामणि और (२) शिरोरत्न

'चड़ामणि शिरोरत्नम्' (अमरकोश २।६।१०)

जिस 'चूड़ामणि' (सं० चूड़ामणि) का प्रयोग तुलसी ने मानस में किया है और उससे जो अर्थ लिया जाता है वही अर्थ आज 'सीसफूल' 'बोल्ला' या 'टीका' शब्दों से गृहीत है। 'सीसफूल' शिरोभूषण ही है, जिसे नवविवाहिता सधवा नारियाँ सौभाग्य चिह्न के रूप में धारण करती हैं। 'चूड़ा' की मणि ही 'चूड़ामणि' कहलाई। 'मणि' के स्थान पर जब स्वर्ण का उपयोग होने लगा तब कालांतर में 'सीसफूल' (सं० शीर्षफुल्ल) का रिवाज चालू हो गया। अत: आज के चालू आभूषणों के संदर्भ में 'चूड़ामनि उतारि तब दएऊ' का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है 'तब सीताजी ने हनुमानजी को सीसफूल उतार कर दिया' यहाँ यह भी स्पष्टत: समझ लेना चाहिए कि नारी के सिर के बालों का विन्यस्त ऊपरी भाग 'चूड़ा' कहलाता है और बालों का जुट्टा 'जूटक' कहलाता है। सं० 'जूटक' से ही हिंदी में 'जूड़ा' शब्द विकसित है।

आबद्ध एवं विशेष विधि से विन्यस्त जूटक को 'चूड़ापाश' भी कह सकते हैं। आप्टे ने अपने कोश में 'चूड़ापाश' शब्द के अर्थ को 'Mass of hair' लिखकर व्यक्त किया है। अलकापुरी की स्त्रियाँ अलकों में ताजे कुंद फूल गूंथती थी और चूड़ापाश में ताजे कुरबक पुष्प लगाया करती थीं। तभी तो कालिदास ने मेघदूत में लिखा :

'चूड़ापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमंते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्।'[1]

कालिदास के समय में नारियों के श्रृंगार तथा अलंकरण के प्रमुख साधन पुष्प थे। अलकापुरी की नारियाँ चूड़ापाश में कुरबक के फूल, माँग में कदंब के फ़ूल और कानों में सिरस के फूल लगाया करती थीं। वास्तव में सिरस का फूल प्रकृति के कमनीय करों से निर्मित एक सुंदर कर्णफूल (आभूषण विशेष) ही है। पुष्पों द्वारा सिर को किस प्रकार अलंकृत एवं सुसज्जित किया जाता है उसे मद्रास तथा केरल प्रांत की नारियों में आज भी देखा जा सकता है। श्रीमद्भागवद् में भी नारियों द्वारा केशों में फूल गूँथे जाने का वर्णन मिलता है।

---

१. मेघदूत उत्तर २

जनेत (सं० जन्यैत=जन्य+एत (आ+इत्)=जन्य का आगमन

पछाँही हिंदी में 'वर' के साथ जाने वाली जनमंडली को 'बारात' (सं० वरयात्रा) कहते हैं। लेकिन पूर्वी हिंदी में 'जनेत' शब्द प्रचलित है। अवधी क्षेत्र का लोक शब्द होने के कारण सामान्य पाठक इसका अर्थ समझ नहीं पाता। समझता भी है तो केवल इतना भर समझता है कि 'जनेत' शब्द का अर्थ 'बारात' है किंतु व्युत्पत्तिसहित इतनी गहराई से नहीं जानता कि 'जनेत' 'बारात' को क्यों कहते हैं? तुलसी के 'मानस' में 'जनेत' शब्द केवल एक बार ही प्रयुक्त हुआ है, जब दशरथ की बारात जनकपुरी से चल कर अवध के पास आ पहुँची है :

अवध समीप पुनीत दिन पहुँची आइ **जनेत**[1]

अर्थ—शुभ दिन में बारात अवध के समीप आ गई।

प्रश्न यह है कि 'जनेत' का अर्थ 'बारात' क्यों है? यह मूल शब्द 'जन्यैत' है। मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत-इँगलिश कोश में 'जन्य' का अर्थ लिखा है—'दूल्हे के साथी' तात्पर्य बारात से है। √इण् (गतौ) धातु से निष्ठा प्रत्यय 'क्त' के योग से 'इत' शब्द बनता है, जिसका प्रयोग साहित्य में संज्ञा और भूतकालिक कृदंत के रूप में होता है। 'क्त' प्रत्यय के योग से बने हुए शब्द 'स्वागत' 'स्मित' 'जीवित' 'गीत' आदि हैं जो संज्ञा अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं इसी आधार पर आ+इत=एत से पहले 'जन्य' शब्द लगाने से 'जन्यैत' (जन्य+एत) शब्द बनेगा जिसका अर्थ है दूल्हे के साथियों का आगमन अर्थात् बारात का आगमन (आना) बारात अवधपुर को वापस आई भी है—अतः 'जनेत' शब्द का प्रयोग ठीक ही है—सं जन्यैत>जनेत। सं० वरयात्रा> बारात, बरात! तुलसीदास ने 'जनेत' का प्रयोग ठेठ अवधी भाषा की दृष्टि से किया है। अयोध्यावासियों के मुख से सहसा निकल भी पड़ा होगा कि 'राम की जनेत आ गई। हमको 'जनेत' का प्रयोग कठिन तथा गूढ़ भले ही लगे, किंतु यह अवधी भाषा का लोक प्रचलित शब्द है। इसी तरह का एक शब्द 'सुआर' (बाल० ३२८) है, जिसे तुलसी ने 'रसोई बनाने वाला' के अर्थ में प्रयुक्त किया है। सं० सूपकार>सूअआर>सुआर। लेकिन ब्रजभाषा में 'सुआर' उन बड़ी पूड़ियों को कहते हैं जो मैदा से बनाई जाती हैं।

'जनवासा' और 'जनेत' शब्दों के मूल में सं० 'जन्य' शब्द ही है। सं० जन्यवासक>जणणवासअ>जनवासा। सं० जन्यैत>जण्णेत>जनेत। स्वार्थ

१. मानस १।३४३

'कन्' प्रत्यय होने के कारण 'वास' और 'वासक' का एक ही अर्थ है । सं० वासक > प्रा० वासअ > वासा । महाराष्ट्री प्राकृत में संस्कृत की स्वर मध्यम ध्वनियाँ क् ग् त् द् प् प्रायः लुप्त हो गई थीं अतः मध्य भारतीय, आर्य भाषा काल में सं० 'वासक' का 'वासअ' हुआ और फिर संधीकृत रूप 'वासा' हो गया । मानस में 'जनेत' का प्रयोग एक बार और 'बरात' का उन्नीस बार हुआ है ।

विशेष––सं० जन्यवासक (=दूल्हे के साथियों का वासस्थान) से विकसित 'जनवासा' शब्द ब्रजक्षेत्र में बहुत प्रचलित है । शब्द काल-यात्रा करते-करते इतना क्षीण हो जाता है कि उसके शरीर को देखकर उसकी छवि एवं आकृति से उसके वंश तथा पूर्वज का पता लगाना कठिन हो जाता है । कौन कह सकता है कि हि० 'झा' सं० उपाध्याय के वंश में उत्पन्न है और पंजाबी 'नूँह' (=पुत्र-वधू) सं० स्नुषा की वंश परंपरा में है ।

पुरइन (सं० पुटकिनी > पुरइनी, पुरइनि, पुरइन)

गड्ढेदार स्थान के लिए संस्कृत में 'पुट' शब्द प्रचलित था––'अंजलिपुट' में वही अर्थ समाविष्ट है । पुट + स्वार्थे कन् = 'पुटक' शब्द का भी वही अर्थ हुआ । संस्कृत साहित्य में 'पुटक' शब्द निम्नांकित अर्थों में मिलता है—(१) उथला तथा गड्ढेदार कटोरा (२) दोना (३) कमल या कमल का पत्ता ।

कमलों के समूहों के लिए 'कमलिनी' और पुटकों के समूह के लिए 'पुटकिनी' शब्द संस्कृत में प्रचलित थे । 'कमल का पत्ता' अर्थ में 'पुटक' शब्द इसलिए प्रचलित हुआ कि कमल का पत्ता उथला सा तथा कुछ गड्ढेदार होता है । दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि कमल के पत्ते की आकृति उथले कटोरे की भाँति होती है । अतः उथले कटोरे के आकार के अनेक पत्तों का समूह 'पुटकिनी' कहलाया । सं० पुटकिनी > पुरइनि > पुरइन––यह विकास क्रम है । तुलसी ने 'पुरइन' का प्रयोग 'कमलों का समूह' या 'कमल के पत्तों का समूह' अर्थ में ही किया है पुटकिनी = कमलिनी = कमलों का समूह । उदाहरण :

पुरइन सघन चारु चौपाई[1]

अर्थ––'रामचरितमानस' को 'मानसरोवर' बताते हुए तुलसीदास कहते हैं सुंदर चौपाइयाँ ही इसमें सघन पुरइन (कमलिनी = कमलों का समूह) है :

१. मानस १।३७।४

पुरइन सघन ओट जल, बेगि न पाइअ मर्म ।
मायाछन्न न देखिअ, जैसे निर्गुण ब्रह्म ।[1]

अर्थ–सघन कमलों के समूह की आड़ में जल का मर्म जल्दी नहीं मिलता, जिस तरह कि माया से ढका हुआ निर्गुण ब्रह्म नहीं दिखाई देता ।

प्रारंभ में 'पुरइन' (सं० पुटकिनी) शब्द समूह वाची था । इसीलिए तुलसी के 'मानस' में भी उपर्युक्त स्थलों पर 'पुरइन' के साथ 'सघन' विशेषण आया है । कालांतर में समूहवाची अर्थ समाप्त हो गया और 'एक कमल' के लिए ही 'पुरइन' शब्द प्रयुक्त होने लगा । 'प्रसाद' ने अपने 'आँसू' काव्य में 'पुरइन' का प्रयोग 'कमलों का समूह' अर्थ में न करके 'एक कमल' अर्थ में किया है ।

कुछ लोग तो 'कमलिनी' तथा पुटकिनी' शब्द को क्रमशः 'कमल' तथा 'पुटक' का स्त्रीलिंग रूप समझते हैं । यह भ्रांति संभवतः इसीलिए उत्पन्न हुई कि 'मालिनी', 'हस्तिनी', 'मानिनी' आदि शब्द 'माली', 'हस्ती' 'मानी' के स्त्रीलिंग होते हैं । सादृश्य ने प्रभाव डाला है । वास्तव में 'पुटकिनी' या 'कमलिनी' शब्द स्त्रीलिंग तब बन सकते थे जब पुल्लिग शब्द 'पुटकी' या 'कमली' होते हैं । किंतु मूल शब्द 'कमल' या 'पुटक' है । अतः 'कमलिनी' या 'पुटकिनी' स्त्रीलिंग नहीं, अपितु समूहवाची है । पुटकिनी=पुटकों का समूह, कमलों का समूह, कमलिनी ।

इसी प्राचीन अर्थ में तुलसीदास ने भी 'पुटकिनी' से विकसित 'पुरइन' शब्द का प्रयोग किया है । 'सघन' विशेषण पद का सहयोग इसकी प्रमाण पुष्टि कर रहा है ।

---

१. मानस ३।३९

आचार्य बैजनाथ राय

रामचरितमानस में साहित्य-चिंतन

गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरितमानस को विश्व-साहित्य की शीर्षस्थ रचनाओं में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। भारतीय महाकाव्यों की विशाल परंपरा को विकसित करने में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान है। आदिकवि वाल्मीकि कृत रामायण पर आधृत होते हुए भी यह ग्रंथ मानसकार की मौलिक उद्भावनाओं के कारण अपने आप में पूर्णतः मौलिक है। इसके आदि में ही महाकवि ने लिखा है :

नानापुराण निगमागम संमत यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि
स्वांत : सुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथा
भाषानिबद्धमतिमंजुलमातनोति।[1]

इस श्लोक द्वारा ही मानस की मौलिकता, महत्ता एवं मानसकार की सर्वांगीणता तथा सर्वतोन्मुखी प्रतिभा का परिचय मिल जाता है।

चिरंतन नूतनता ही शारीरिक सौंदर्य की भाँति काव्यगत सौंदर्य का प्राण है, उसकी आत्मा है :

क्षणें क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः

संभवतः इसी कारण महाकवि बिहारी ने अपनी नायिका के अनिर्वचनीय सौंदर्य का वर्णन करते हुए लिखा है :

लिखन बैठि जाकी सबीह, गहि-गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर।[2]

---

१. मानस १। श्लोक ७   २. बिहारी रत्नाकर ३४७

ठीक यही दशा रामचरितमानस के साहित्यिक सौंदर्य-निर्धारण की भी है। इसमें नित्य नये सौंदर्य के दर्शन होते हैं। निस्संदेह गोस्वामी जी की यह आज से चार सौ वर्ष पूर्व लिखी काव्य-कृति चिरस्थायी और नितनवीन है।

यद्यपि इस महाग्रंथ की रचना के विषय में महाकवि ने काव्य-शास्त्र संबंधी अपनी अज्ञानता व्यक्त करते हुए लिखा है कि 'कबित बिबेक एक नहिं मोरे, सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।'[1]

परंतु सत्य तो यह है कि वे काव्य-शास्त्र के पूर्णज्ञाता थे। वास्तव में अज्ञानता की यह अभिव्यक्ति उनकी विनम्रता की द्योतक है, क्योंकि इसके बाद ही काव्य की परिभाषा करते हुए वे कहते हैं :

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी।[1]
नृप किरीट तरुनी-तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई।
तैसेहिं सुकबि कबित बुध कहहीं। उपजहिं अनत-अनत छबि लहहीं।[2]
जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कबि करहीं।
कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।[3]

इससे अधिक स्पष्ट काव्य की परिभाषा क्या हो सकती है ? यही कारण है कि रामचरितमानस गोस्वामी जी के लिए जितना स्वांतः सुखाय सिद्ध हुआ उतना ही परांतः सुखाय भी। मानसकार की कला विषयक इसी विशाल धारणा के फलस्वरूप उनकी कला में सत्यं शिवं सुंदरम् का पूर्ण समावेश स्वतः हो जाता है। मानस में गोस्वामी जी के हृदय के शुद्ध, सात्विक एवं सच्चे लोकोपकारक उद्‌गार हैं। अतः इसमें सत्यत्व, श्रेयत्व एवं प्रेयत्व का स्वयमेव समावेश हो जाता है।

प्रबंधात्मकता ही 'रामचरितमानस' की सबसे बड़ी विशेषता है। गोस्वामी जी ने कथा के केवल स्वस्थ प्रसंगों को अपना कर उसे मानस के सात सोपानों में अभिव्यक्त किया। उन्होंने कथा के अनावश्यक प्रसंगों को सर्वथा त्याग कर केवल मर्मस्पर्शी प्रसंगों को ही अपनाया। यही कारण है कि इसकी व्यवस्थित महत् कथा का प्रभाव जनमानस पर अत्यधिक और गंभीर है।

पात्रों के चरित्रांकन में भी गोस्वामी जी ने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि अपनाई है। वे कुछ आदर्शों को ही प्रस्तुत करना चाहते थे, अतः तदनुकूल ही उन्होंने पात्र भी चुने। राम को तो उन्होंने शक्ति, शील तथा सौंदर्य की विभूतियों का

१. मानस १।६।६ २. मानस १।११।१-२ ३. मानस १।१४।४-५

मूर्तिमान रूप ही स्वीकार किया, क्योंकि भगवान की यही तीन विभूतियाँ मानव के लिये मंगलकारिणी हैं। सत्यं शिवं सुंदरम् की प्रति रूप होने के कारण ये साहित्य की आराध्य भी हैं। गोस्वामी जी ने राम के रूप में अपनी वाणी से इन्हीं की आराधना कराई है। शक्ति, शील और सौंदर्य की महत्ता उसके प्रति उत्पन्न श्रद्धा और भक्ति में है। इसी प्रकार सीता, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न आदि मानस के सभी पात्र किसी न किसी आदर्श को व्यक्त करते हैं।

काव्य कला के दो पक्ष होते हैं: आभ्यंतर तथा बाह्य अथवा भाव-पक्ष और कला-पक्ष। इस दृष्टि से जब हम रामचरितमानस पर विचार करते हैं तो हम देखते हैं कि इसका भाव-पक्ष अत्यंत पुष्ट एवं सशक्त है। इसमें राम-जन्म, राम-विवाह, दशरथ-मरण, राम-वन-गमन, सीताहरण, राम-रावण-युद्ध, लक्ष्मण शक्ति तथा अन्य सभी मार्मिक स्थलों को विस्तार के साथ स्थान दिया गया है। इस संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि 'उन्हें (गो० तुलसीदास को) मानव-जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का व्यापक ज्ञान था क्योंकि मानव-जीवन का कोई भी ऐसा अंग अछूता नहीं है जिसको मानस में स्थान नहीं दिया गया हो। क्या परिवार, क्या समाज, क्या राजा, क्या प्रजा सभी दृष्टिकोणों से उन्होंने मानव-जीवन के लिए आदर्श प्रस्तुत किया है तथा मर्यादा की रक्षा भी की है।'

रामचरितमानस में व्यक्त कवि की भावुकता, संवेदनशीलता एवं सहृदयता के प्रसंग हृदयस्पर्शी तथा सजीव हैं। फुलवारी का वर्णन करते हुए राम-जानकी के प्रथम दर्शन का जो चित्र मानसकार ने अंकित किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है:

देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने।
थके नयन रघुपति छबि देखे। पलकन्हिहूं परिहरीं निमेषें।
अधिक सनेहँ देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।
लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी।
जब सिय सखिन्ह प्रेम बस जानी। कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी।[1]

मानस के ऐसे प्रसंगों में शृंगार, तन्मयता, भक्ति तथा प्रेम आदि का एक साथ दर्शन होता है। राम के वन-गमन पर पशु-पक्षी, जड़ चेतन, सबके सब करुणार्द्र हो आँसू की अविरल धारा प्रवाहित करने लगते हैं। चित्रकूट में

---

१. मानस १।२३२।२-४

राम और भरत का मिलन-प्रसंग भी पाठक को मंत्र-मुग्ध कर देता है। यद्यपि भरत अपनी माता के व्यवहार द्वारा राम के प्रतिद्वंद्वी बन चुके थे, परंतु फिर भी उन्हें देखते ही राम धनुष-वाण तथा वस्त्र इत्यादि का ध्यान रखे बिना सुधबुध खोकर उनसे मिलने के लिए दौड़ पड़ते हैं। वे भरत के प्रति तनिक भी संदेह नहीं करते अपितु सहोदर का ही स्नेह प्रदर्शित करते हैं :

उठे राम पुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट, कहुं निषंग-धनु-तीरा।
बरबस लिए उठाइ उर, लाए कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि, बिसरे सबहिं अपान।[1]

इसीप्रकार गंगापार करते समय केवट-का प्रसग, वनगमन करते समय कोमल किशोरी सीता का प्रसंग तथा रामजानकी को कंटकाकीर्ण मार्ग से बिना पदत्राण के चलते देख वन मार्ग की ग्राम-वधुओं की उक्तियाँ आदि प्रसंग अत्यधिक हृदयस्पर्शी हैं।

इसीप्रकार ग्रामवधुओं के प्रश्न पर जानकी का राम के साथ अपना संबंध व्यक्त करना भी आकर्षक एवं हृदयग्राही है।

सीता-हरण के पश्चात् भगवान राम द्वारा साधारण मनुष्य के समान व्यग्र भाव से वन के सभी जीव जंतुओं से जानकी का पता पूछना मानसकार की भावुकता एवं सहृदयता का अद्भुत उदाहरण है।[2]

रामचरितमानस में हमें रागात्मक-तत्त्व, बुद्धि-तत्त्व तथा कल्पना-तत्त्व के उत्कृष्ट रूप दृष्टिगोचर होते हैं।

पाश्चात्य-समीक्षक भावतत्त्व, कल्पनातत्त्व, बुद्धितत्त्व और शैलीतत्त्व को काल का आवश्यक अंग मानते हैं। वर्ड्सवर्थ के काव्य में भाव की प्रधानता है तो शेक्सपियर के काव्य में कल्पना की। इसी प्रकार कॉलरिज ने अपने काव्य में अभिव्यक्ति को प्रधानता दी है तो डॉ० जॉनसन ने समन्वयात्मक बुद्धितत्त्व को। परंतु मानसकार ने तो रामचरितमानस में इन चारों तत्त्वों का सुंदर समन्वय किया है। भावों के अनुरूप परिस्थितियों की योजना मानसकार तुलसी की अपनी विशेषता है। इनके भावचित्र अत्यंत सूक्ष्म, सशक्त, गंभीर एवं मनोवैज्ञानिक हैं। कोमल भावों के चित्रण में गोस्वामी जी को अद्भुत सफलता मिली है।

रामचरितमानस की भाषा मूलतः अवधी है, स्तुतियाँ और मंगलाचरण संस्कृत में लिखी गई हैं। ब्रजभाषा, भोजपुरी, बुंदेलखंडी, खड़ीबोली बंगला

१. मानस २।२४०।४, दोहा २. मानस ३।३०।५

तथा गुजराती आदि शब्दों के सुंदर प्रयोग भी अनेकत्र हुए हैं। अरबी फारसी के शब्दों में साहिब, गरीबनेवाज, लगाम, दरबार, फौज, खसम, कागज आदि का प्रयोग भी बहुत हुआ है। 'हमहुँ कहब अब ठकुर सोहाती' 'भामिनि भयउ दूध कै माखी', 'हँसबि ठठाइ बजाउब गाला,' आदि लोकोक्तियों तथा मुहावरों के प्रयोग द्वारा मानस की भाषा अत्यंत सजीव, स्वाभाविक एवं प्रभावात्मक बन गई है और इसी कारण मानस की भाषा अत्यंत सहज, सुबोध एवं सर्वग्राह्य है। भाषा गोस्वामी जी की भावानुगामिनी थी और उस पर उनका पूर्ण अधिकार था।

वास्तव में गोस्वामी जी भाषा के वह जादूगर हैं जो भाषा के माध्यम से सर्वत्र मनोनुकूल चित्र उभारते चले गए हैं। इसप्रकार मानस की भाषा जन-साधारण की भाषा होते हुए भी व्याख्यात्मकता के संपूर्ण लक्षणों से भरपूर है। वह ग्रामीण होने के कारण जितनी ही जनता के समीप है उतनी ही संस्कृत गर्भित होने के कारण पंडितों की रुचि को संतुष्ट करने वाली है। ओज, माधुर्य और प्रसाद गुणों के सुंदर समन्वय के साथ ध्वनि बलिष्ठता का अत्यंत निखरा रूप मानस की भाषा में मिलता है। यही कारण है कि रामचरितमानस का आदर झोंपड़ी से लेकर राजप्रसाद तक समान रूप से होता है।

रामचरितमानस में दोहा, चौपाई, सोरठा, हरगीतिका, त्रिभंगी उल्लाला आदि छंदों का सफल प्रयोग हुआ है। इसमें उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, अपह्नुति, पर्यायोक्ति, समासोक्ति, प्रतीप, विभावना व्याज निंदा, व्याज स्तुति, वक्रोक्ति, सादृश्यमूलक आदि सभी प्रमुख अलंकारों के सुंदर उदाहरण मिलते हैं। ये सभी अलंकार मानस में अवसरानुकूल स्वयं उपस्थित हो गए हैं, मानसकार उनके लिए कहीं भी आग्रही नहीं है।

रामचरितमानस में यद्यपि शांतरस की प्रधानता है परंतु अन्य-रसों की अभिव्यंजना भी अत्यंत मार्मिक है। ये रस भी अलंकारों के समान ही मानस में अवसरानुकूल स्वयं उपस्थित होते गए हैं, इनके प्रति कवि का कहीं आग्रह नहीं है।

श्री उदयशंकर दुबे

रामचरितमानस की एक अज्ञात हस्तलिखित प्रति

रामचरितमानस की रचना के उपरांत उसमें निहित लोकाराधन की असीम शक्ति से आकृष्ट होकर तत्कालीन काव्य-प्रेमियों ने उसकी अनेक प्रतियाँ तैयार कीं। यह दूसरी बात है कि तुलसी के स्वाक्षरों में या उनके काल की एक भी प्रामाणिक प्रति आज हमें प्राप्त नहीं किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि तुलसी के जीवनकाल में मानस की प्रतियाँ नहीं तैयार की गईं। स्वयं गोस्वामी तुलसीदास ने मानस की प्रतिलिपि तैयार करके अपने इष्ट मित्र टोडरमल तथा भक्त ब्रजबल्लभदास भट्ट को प्रदान की थी। संभव है ये प्रतियां कालचक्र के प्रवाह में नष्ट हो गई हो या किसी मंदिर या घर में बेठनों में बँधी अपने प्रकाश की घड़ियाँ गिन रही हों। मानस की सर्वाधिक प्रतियाँ १८ वीं व १९ वीं शताब्दी में तैयार की गईं। इस काल की प्राप्त प्रतियों के अध्ययन से पता चलता है कि बहुत से राजाओं और महाराजाओं ने रामचरितमानस की प्रतिलिपि तैयार करने के लिए प्रतिलिपि कर्ताओं को स्वर्ण मुद्रायें भेंट में दी थीं। १९ वीं शताब्दी के अंत तक देश के विभिन्न भागों में मानस की प्रतिलिपियाँ तैयार हो चुकी थीं। यही नहीं नागरी प्रचारिणी सभा, काशी में सुरक्षित मानस की अधिकांश प्रतियाँ मिलिट्री छावनियों में पुरोहितों द्वारा लिखी गई हैं। इससे ज्ञात होता है कि हमारे सैनिक वर्ग में मानस का विशेष प्रचार था। इसी क्रम में हमं संवत् १८५१ वि० में तैयार की गई मानस की

एक विशाल प्रति की चर्चा करेंगे जो अब तक ज्ञात मानस की प्रतियों से सर्वथा भिन्न है।

रामचरितमानस की यह नवोपलब्ध प्रति पूर्ण है। इसका आकार १२·६" × ७·५" इंच है। संपूर्ण पत्र संख्या ४५८ है। लिखावट आद्यंत एक है। पूरी प्रति काली चमकदार स्याही से लिखी हुई है। छंद अलगाव के लिये लाल मसि का भी प्रयोग हुआ है। प्रति चमड़े की जिल्द से आबद्ध है। लिपि कैथी तथा कागज हाथ का बना बांसी है। उत्तरकांड की पुष्पिका इस प्रकार है— 'इति श्री हरिचरित्रे मानसे सकल कलि कलुष विध्वंसने विमल विग्यान सम्पादनो नाम सप्तम् सोपानम्। समाप्तम्। श्री श्रीरस्तु। पुनः–'सुभ संवत् १८५१ समै नाम कार्तिक सुक्ला चौथ्यां चंद्रवासरे विलिष्य श्री आत्मारामस्यात्मज रामप्रसाद काएस्थ मो० बसंतपुर पाठार्थक भगतराम सुत मनसाराम कै।। लीखल एक खतें सातों कांड रामाएनइ है।'[1] 'लीखल एक खतें' से अभिप्राय एक लिखावट से है। यह प्रति बलिया (उ० प्र०) जिले में स्थित बसंतपुर ग्राम के निवासी श्री मनसाराम के पुत्र भगतराम के पढ़ने के लिये भृगु आश्रमवासी श्री रामप्रसाद कायस्थ के पुत्र श्री आत्माराम कायस्थ ने तैयार की थी। बालकांड की पुष्पिका द्रष्टव्य है: 'इति श्री रामचरितमानसे सकल कलि कलुख विध्वंसने विमल विग्यान संपादनो नाम प्रथम सोपानम् ।।१।। समाप्त ।। शुभ संवत् १८५१ समै नाम आस्विनि क्रीश्ना पंचम्यां रविवासरे विलीष्य श्री आत्मारामस्यात्मज रामप्रसाद काएस्थ मोकाम भृगु आश्रम पाठार्थक भगतराम सुत बाबू मनसाराम कै मा० बसंतपुर कल्यानं करोति श्री सुभमस्तु सुभम् ।।"[2] प्रस्तुत प्रति भारी भरकम है और ज्ञात मानस की प्रतियों से दुगुनी नहीं तो डेढ़ गुनी अवश्य है। इस प्रति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें बालकांड से उत्तरकांड पर्यंत विविध कथाओं का समावेश है जो प्रकाशित या अप्रकाशित किसी भी मानस प्रति में अबतक मेरे देखने में नहीं आई। विद्या-वारिधि पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र द्वारा शुद्ध की गई "संपूर्ण क्षेपकों सहित" मानस की प्रति में क्षेपक कथाओं को स्थान मिला है, साथ ही उन्होंने 'लवकुश-कांड को अलग से रखा है।[3] इसके अतिरिक्त, पं० विश्वनाथप्रसाद

---

१. रामचरितमानस की हस्तलिखित प्रति, पत्र संख्या ४५८।

२. रामचरितमानस की हस्तलिखित प्रति, पत्र संख्या १८१।

३. द्रष्टव्य–तुलसीकृत रामायणम् (संपूर्ण क्षेपकों सहित), संशोधक : पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र, प्रकाशित श्री वेंकटेश्वर (स्टीम) यंत्रालय बंबई।

मिश्र द्वारा संपादित 'काशिराज संस्करण' में क्षेपकों को अलग से रखा गया है।[१] किंतु प्रस्तुत प्रति में वर्णित ऐसे प्रसंग (जिन्हें क्षेपक स्वीकार किया गया है) उपर्युक्त दोनों प्रतियों में दी गई क्षेपक कथाओं से भिन्न हैं।

रामचरितमानस "कुंजी" (उत्तरकांड अंतर्गत कागभुशुंडी गरुड़ संवाद-मूल रामायण अंश) भी इस प्रति में प्रकाशित प्रतियों से अलग है। जिस 'मूल रामायण अंश' को मानस के अध्येताओं ने 'मानस की कसौटी' माना था, जिसके आधार पर मानस की ग्रंथ संख्या (छंद संख्या) निर्धारित की गई है, उस में भी परिवर्तन एक अद्‌भुत बात है। प्राप्त प्रति के 'मूल रामायण अंश' को यदि हम आधार मान लें तो रामचरितमानस का वर्तमान स्वरूप भिन्न हो जायगा। 'मूल रामायण अंश' में कब परिवर्तन हुआ, क्षेपककर्ता ने इतनी भारी हेरा फेरी क्यों की, आदि बातें विचारणीय हैं। मानस का उत्तरकांड ही एक ऐसा अछूताकांड शेष रहा जिसमें क्षेपकों को स्थान नहीं मिल सका था किंतु इस नवोपलब्ध प्रति में सबसे अधिक क्षेपक इसी कांड में मिलते हैं। समाविष्ट कुछ क्षेपकों की नामावली इस प्रकार है : १. सीता की तीन सखियों की कथा, २. राम द्वारा कैकयी को वर प्रदान, ३ कंकपा की कथा, ४. अयोध्या से विदेह नगर दूत का जाना, जनक जी का अयोध्या आगमन और दोनों राजसभाओं की समुपस्थिति में राम का राज्याभिषेक, ५. कौशल्या द्वारा कुलदेवता की पूजा, ६. चौगान खेल, ७. लवणासुर से शत्रुघ्न का युद्ध, ८. स्वान की कथा, ९. श्रीराम स्वप्न दर्शन तथा सीता वनवास, १०. दुष्ट काग का झगड़ा, ११. ब्राह्मण की कथा, १२. कंकन प्रसंग, १३. गंधर्व वध, १४. लवकुश की कथा, १५. लक्ष्मण का त्याग, १६. लवकुश को राज्य प्राप्ति आदि। इनके एक उपरांत उमा-शिव-संवाद है। इन सभी कथाओं को एक साथ तुलसी की शैली में लिखकर उसे मानस में उचित ढंग से समाहित करना बड़े ही कुशल क्षेपककार का कार्य रहा होगा। लवकुश की संपूर्ण कथा को उत्तरकांड में इस प्रकार पिरोया गया है कि कथा क्रम न टूट पाये। कुछ ऐसी भी कथायें हैं जिनके विषय में यह कहना कि क्षेपक है, युक्तिसंगत नहीं लगता। क्षेपकों के अतिरिक्त बीच बीच में पंक्तियों की अभिवृद्धि भी हुई है। उदाहरणार्थ :

---

१. रामचरितमानस, काशिराज संस्करण, (परिशिष्ट), स० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र,

सागर निज मरजादा रहहीं ।डारहिं रतन तटहिं नर लहहीं । ७।२३।९।

इस पंक्ति के बाद हस्तलिखित प्रति में निम्नलिखित दोहा :

मंगन जाति न चहहिं कछु चाहहिं मन क्रम एहु ।
विनु विकार निति नूतन, चहिय राम पद नेहु ।

—हस्तलिखित मानस की प्रति

'मूल रामायण अंश' से यह तथ्य प्रकट होता है कि जिन कथाओं को क्षेपक मानकर छोड़ दिया गया है, वे सभी कथाएँ इस प्रति में पिरोहित हैं। यहाँ पर 'मूल रामायण अंश' प्रस्तुत हैं :

चौपाई - प्रथमहिं अति अनुराग भवानी । रामचरित सर कहेउ बखानी ।
गिरिजा कहेसि काम जिमि जारा । पुनि नारद कर मोह अपारा ।

दोहा—मोह संभवत कठिन दुख हरे देवरिषि केर ।
निज इच्छा मुनि श्राप बस कीन्हे चरित घनेर ।

चौपाई—जिमि हरिगन को श्राप उचारा । तिन्हहिं सुनाए ब्रह्म कुमारा ।
मो कह बायस निति नव गिनी । विधि बस तप ते कहा बखानी ।
स्वयंभू मनु अरु सतरूपा । दियो जो वर हरि परम अनूपा ।
सो सुनाए वायस खगपतिही । मुदित निरखि अति दिज नरपतिही ।
सत्यकेतु सुत कै जस करनी । तुम सन पूर्वहिं मैं जो बरनी ।
सो अनुराग समेति सुनाएसि । नृप द्विज श्राप लगे सो गाएसि ।
कहेसि बहुरि रावन अवतारा । तिन्हकर तप समेत परिवारा ।
प्रभु अवतार कथा पुनि गाई । पुनि सिसु चरित कहेसि मन लाई ।
ब्रह्मा सिव चंडी वरदाना । जेहि जो दिएसि सो कहेसि बखाना ।

दोहा—दसकंधर बस जगत जिमि भयो भ्रष्ट आचार ।
तिमि सप्रेम कहि खगपति कहेउ भूमि दुख भार ।
बालचरित कहि विविध विधि मन यह परम उछाह ।
रिखि आगम (न) कहेसि पुनि श्री रघुवीर विवाह ।
कहि ब्रतबंध विधान सुचि रिखि आगमन सुनाइ ।
पुनि भौ हरत चले जिमि सहित लखन रघुराइ ।

चौपाई—मारग चलत देखि दोउ वीरा । गाधि सुअन मुनि अति रनधीरा ।
लहेउ प्रेम सो वरनेउ कागू । सुनि हरखे श्रोता बड़ भागू ।
बधेउ तारिकहि पुनि भगवाना । गएउ बंधुजुत मुनि अस्थाना ।
निसि नेवास करि भये प्रभाता । मुनि मख राखेउ सब जग भाता ।

बिनु प्रआस हति मुनि दुखदाई। मुनि आसीस लही दोउ भाई।
विद्यानिधि पुनि विद्या लहेऊ। तहवां रहि सब कहं सुख दैऊ।
गुर संग चले जनकपुर जबहीं। मग मह मुनिहि बूझी प्रभु तबहीं।
रिखि पतिनी उद्धार सुनाई। नहुख इंद्र पदवी जिमि पाई।

दोहा—बहुरि नहुख नृप श्राप बस भए ग्राह जिमि जाइ।
तिन्ह सों श्राप उधार कहि काग हरिहि सिर नाइ।
सुनासीर लोचन सहस पाए जेहि उपचार।
कहेउ बहुरि जिमि कीर्ति निज प्रगटे वाएकुमार।

चौपाई—गंगाचरित सुंदर तेइ बरनी। पुनि कृपाल पालन सुर धरनी।
सहित रिखिन्ह सानुज रघुनाथा। गै मिथिला सो कहि गुन गाथा।
मुनि मिथिलेस्वर मिलन सोहावा। पुर प्रवेस रघुपति कर गावा।
सिय रघुवर वाटिका प्रवेसू। कहेउ कागपति सुभ उपदेसू।
धनुख गहत खल नृप जिमि हारे। मही अभट कहि जनक पुकारे।
जो सुनि लखन कीन्ह अति क्रोधा। सहजहिं जिमि प्रभु अनुज प्रबोधा।
धनुखभंग कहि रघुकुल नाएक। तिहुं पुर सुखद दयो खल धाएक।
सिय प्रभु उर मेलेउ जयमाला। जिमि सुमंगली किये विशाला।

दोहा—कहि जमदग्नि तनै चरित मुनि परसंग सुनाइ।
अवध पठाये जनक चर सजि बरात हरषाइ।

सोरठा—अवध नृपति सिर नाइ दिए पत्र जिमि जनक चर।
सजि बरात हरषाइ गवने तिरहुति राउ जहं।

दोहा—मिलि आगे कहि परसपर जिमि दीन्हे जनवास।
सिअ आग्या लहि सिधि सब कीन्ही भूप सुवास।
गाधि सुअन दसरथ मिलन कहि अति मन आनंद।
पुर प्रमोद नृप पहुनई वरनि काग कुलचंद।
जो जो मैं तुम सन कहा भआ सो विमल उछाह।
सो सब क्रम क्रम सब कही मुदित काग कुल नाह।
पुनि निज उर हरिपद सुमिरि काग सुमति अवगाह।
मंगलमय मंगल कहेसि सिअ रघुवीर विवाह।

चौपाई—पुनि भरतादिक रघुपति भ्राता। व्याहे नृप सो कहि विख्याता।
गए कोहवर तब दोउ विधि रीती। कीएउ कहेउ सो सब विधि प्रीती

मुनि भ्रातन्ह समेत रघुनन्दन। पितु पहं आये सब जग बंदन।
नृप गौ दान बखानि अपारा। कीन्ह अजाचक सब संसारा।
रहि मिथिला एक मास भुआला। दै लोगन्ह कहँ मोद बिसाला।
दोउ कुल गुर पुनि भूप पठाये। तिरहुति नार्थाहि तिन्ह समुझाये।
दोउ गुर विवस सकुचि नर नाथू। तब किए विदा जोरि जुग हाथू।
लेइ देइ नृप विभव अपारा। हनेउ अनेक बाघ बहुवारा।

दोहा—त्रिभुवन जननी जनकन्ह सहित सकल परिवार।
गौनहि अवधहि औधपति कहेउ सो काग भुआर।
पुर प्रवेस क्रीत अवसर भरत आनंद बधाव।
कहि पुनि निज कुल आनंद वरनेउ प्रेम प्रभाव।

सोरठा—रुचि विचारि पहिराउ सबहि देइ नृप विदा किय।
कंकम गहि पुनि पात्र जिमि जिमि नृप सन मागेउ।

दोहा—भरत सत्रुहन सहित जिमि गृह गए केक कुमार।
राम अनुज दोउ देखि तहाँ भा जस मंगलचार।
धनमुख केतेहि बधेउ जिमि भरत महा बलवीर।
उमा चरित सो बरनेउ बायस पुलक सरीर।

चौपाई—हनि रिपु भरत सत्रुहन आये। निज निज कुटी सो रिषय सोहाऐ।
भरत शत्रुहन जस रिषि गाऐ। भए केकपुर मोद बधाऐ।
पाइ भरत रुख सचिव कुमारा। गए अवध संग सुभट अपारा।
नृपहि सुनाएउ भरत प्रभाऊ। सहित नगर प्रमुदित मुनिराऊ।
द्विज मंगन जन कीन्ह अजाचा। कहेउ केकई से सब सांचा।
कहेउ राम अभिषेक प्रसंगा। पुनि नृप बचन राम कर भंगा।
पुरवासिन्ह कर विरह विषादा। कहेसि राम लछिमन संवादा।

—हस्तलिखित प्रति, पत्र सं० ४४०–४१

ये हैं मूल रामायण अंश में बढ़ी हुई पंक्तियाँ। 'प्रथमहि अति अनुराग भवानी। रामचरित सर केहसि बखानी।" (७।६४।७) के पश्चात् हस्तलिखित प्रति में एक दोहा सात अर्द्धाली अधिक हैं। पुनः 'कहेसि बहुरि रावन अवतारा।………… पुनि सिसु चरित कहेसि मन लाई। (७।६४।८-९) एक अर्द्धाली तथा एक दोहा अधिक है। इसी प्रकार 'बालचरित कहि………… (७।६४) के बाद प्रकाशित मानस की प्रतियों जहाँ 'बहुरि राम अभिषेक

प्रसंगा .... आता है वहीं हस्तलिखित प्रति में बिलकुल भिन्नता हो जाती है। 'गंगा चरित' को क्षेपक मानकर छोड़ दिया गया है। उसका भी वर्णन कागभुशुंडी-गरुड़ संवाद के अंतर्गत मिलता है। साथ ही इसमें 'धनमुखकेतु का वध' एक नया प्रसंग मिलता है। ऊपर वर्णित 'मूल रामायण अंश' की बहुत सी कथायें मानस में हैं जिनको स्वीकार किया गया है, यथा—नारद मोह, हरगणों का श्राप उद्धार, स्वयंभू मनु और सतरूपा की कथा आदि। क्या ये सभी अंश प्रक्षिप्त हैं ? यदि सभी अंश प्रक्षिप्त हैं तो क्षेपककार ने इतनी चालाकी क्यों की, आदि प्रश्न अपने आप उठते हैं। मानस के अन्य स्थलों पर क्षेपकों को समाहित करने का तो उद्देश्य भी है किंतु 'मूल रामायण अंश' को घट बढ़ करने का कारण समझ में नहीं आता। यह तो निर्विवाद है कि मानस की ऐसी कोई भी प्राचीन संपूर्ण प्रति हमें आज तक उपलब्ध नहीं हो सकी है जिसको 'दृढ़ विश्वास' के साथ प्रामाणिक मान लें। समय-समय पर तैयार की गई विभिन्न प्रतियों के आधार पर मानस का संपादन हुआ है, स्वयं गोस्वामी तुलसीदास ने मानस की कोई ग्रंथ संख्या निर्धारित नहीं की। रामचरित मानस की ग्रंथ संख्या का निर्धारण करते समय मानस मराल श्री शंभुनारायण चौबे ने लिखा है कि "यह उत्तरकांड 'कागभुसुंडि-गरुड़-संवाद' के अंतर्गत मूल रामायण नामक अंश है। इसमें गोस्वामी जी ने बहुत ही सारगर्भित प्राचीन रीति से सुंदरता के साथ रामचरितमानस के प्रायः सभी मुख्य मुख्य कथा प्रसंगों और विषयों का क्रमबद्ध वर्णन कर दिया है। इसके कारण यह प्रकरण समग्र ग्रंथ के परीक्षण के लिए अत्यंत प्रामाणिक और सुलभ कसौटी बन गया है।"[१] किंतु नवोपलब्ध प्रति में प्राप्त 'मूल रामायण अंश' को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि "यह सुलभ कसौटी भी सही परख बताने में असमर्थ है। क्यों कि जिन प्रसंगों को क्षेपक मानकर छोड़ दिया गया था वे सभी प्रसंग "सुलभ कसौटी" में मिलते हैं। ऐसी स्थिति में मानस का मूल स्वरूप क्या था यह विवाद और भी उलझ जाता है। अभी तक मानस की एक भी ऐसी प्रति ज्ञात नहीं थी जिसमें लवकुश की कथा को उत्तरकांड में ही समाहित किया गया हो। यही कारण है कि क्षेपककर्ताओं ने बाद में अलग से 'लवकुशकांड' जोड़ दिया। 'मूल रामायण अंश' में प्रक्षिप्तांश का आ

---

१. द्रष्टव्य—मानस अनुशीलन पृष्ठ १९८, सं० सुधाकर पांडेय, ना० प्र० सभा-काशी।

जाना मानस की रूपरेखा को परिवर्तित कर देता है। इससे मानस के साधारण पाठक भ्रम में पड़ जायँ तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं होगी।

रामचरितमानस का सर्वाधिक विवादास्पद प्रसंग 'तापस प्रसंग' की कथा का सविस्तार वर्णन इस प्रति में मिलता है। प्रथम सोपान में तापस के पूर्व जन्म की कथा और उसकी तपस्या का तथा द्वितीय सोपान में जमुना के तट पर श्रीराम से मिलन का वर्णन हुआ है। अकेले अयोध्याकांड में तापस की कथा ५६ चौपाई, ८ दोहा, ५ सोरठा तथा ४ छंद में वर्णित है। इस पूरे प्रसंग से ज्ञात होता है कि तापस गालव ऋषि का पुत्र था जिसका नाम पल मुनि था। पूर्व जन्म में पल मुनि ने शंकर की घोर आराधना की थी जिससे प्रसन्न होकर शंकर ने उसको वरदान दिया था। मानस की प्रकाशित प्रतियों में जिनमें तापस प्रसंग गृहीत है एक दोहा और आठ अर्द्धाली में मिलता है। इतना अधिक अंतर कैसे हो गया, क्या तापस प्रसंग भी क्षेपक है आदि बातें पुनः विचारणीय हैं।

तुलसी के आत्मविषयक दोहे 'मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकर खेत। समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत।' (१।३०।) का पाठ आलोच्य प्रति में भिन्न है जिससे ज्ञात होता है कि तुलसी ने अपने गुरु से कुरुक्षेत्र में रामकथा सुनी। प्रति का पाठ इस प्रकार है :

मैं पुनि निज गुरु पहं सुनी कथा जाइ कुरखेत।
समुझी नाहीं बालपन तब मैं रहेउँ अचेत।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नवोपलब्ध मानस की प्रति हमारे सामने मानस का एक नया रूप ही प्रस्तुत करती है। इस प्रति में आद्यंत चार चौपाइयों के बाद दोहा, सोरठा या छंद का विधान अपनाया गया है। बालकांड से उत्तरकांड पर्यंत यही क्रम मिलता है। बहुत कम स्थल ऐसे हैं, जहाँ इस विधान में व्यतिक्रम है। ध्यान देने योग्य बात है कि इस प्रति में 'मूल रामायण अंश' के अंतर्गत संकेत रूप में निर्दिष्ट बहुत सी कथाओं का वर्णन मानस में मिलता है यथा, स्वयंभू मनु की कथा, राजा भानुप्रताप की कथा आदि। अतः सबको क्षेपक कहना भी उचित नहीं जँचता। संभव है कि प्रारंभ की प्रतियों में गोस्वामीजी ने कुछ कथाओं को विस्तार के साथ लिखा हो और बाद में उसे संक्षिप्त कर दिया हो, या बाद में विस्तार करके मिला दिया हो। यह तो हमें मानना ही पड़ेगा कि मानस की रचना के बाद (यदि संवत् १६३५ वि० मानस की रचना का अंत मान लें। वे ४५ वर्ष तक जीवित रहे। इस लंबी अवधि में

गोस्वामीजी ने मानस का अनेक बार पारायण किया होगा और कुछ न कुछ हेर-फेर करना स्वाभाविक है। ऐसी दशा में मानस में हेर-फेर गोस्वामीजी के जीवनकाल में और उन्हीं के द्वारा अवश्य हुआ होगा आज भले ही वह अंतर हमें ज्ञात नहीं। गोस्वामीजी ने स्वयं मानस की कुछ प्रतियाँ तैयार की थीं। संभव है कि बाद की प्रतियों में उन्होंने कुछ कथाओं का विस्तार किया हो और उसी के साथ 'मूल रामायण अंश' में भी परिवर्तन कर दिया हो। संप्रति, यह प्रति अपने आप में रहस्यपूर्ण है। रामचरितमानस की और भी हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं जिनमें क्षेपकों को स्थान प्राप्त है किंतु किसी भी प्रति में न तो इतनी अधिक कथाओं का समावेश हुआ है, और न ही 'मूल रामायण अंश' को विस्तृत किया गया है।

यद्यपि काल की दृष्टि से यह बहुत बाद की प्रति है किंतु इसकी भी तो अपनी एक परंपरा होनी चाहिए क्योंकि संवत् १८५१ वि० में न तो इतने अधिक कथा-प्रसंग प्रतिलिपिकर्ता लिखता और न उन्हें मानस में समाहित कर नई प्रति तैयार करता। मानस की प्रतियों की कई शाखाएँ हमे मिलती हैं। मुख्यतः स्थान विशेष के आधार मानस की चार शाखाएँ हमें प्राप्त हैं-- १. अयोध्या की शाखा, २. गिरिजापुर (मिर्जापुर) की शाखा, ३. काशी की शाखा तथा ४. ब्रह्मपुर (बलिया) की शाखा। इन शाखाओं की प्रतियों में विशेष अंतर विद्यमान है। मानस में समय समय पर क्षेपकों का भी समावेश होता रहा है। इन क्षेपकों के कारण मानस के मूल प्रारंभिक रूप का पता लगाना बहुत जटिल कार्य हो गया है। जिस प्रति को आधार मानकर आलोच्य प्रति तैयार की गई, उसका भी रूप यही होगा, इसमें संदेह नहीं है। बाद की प्रति होने से इसको त्यागा नहीं जा सकता; क्योंकि इसको भी अपनी अलग परंपरा है। यह परंपरा है ब्रह्मपुर (बलिया) की। इस परंपरा की और भी प्रतियाँ मिलती हैं।[1] अतएव इस प्रति पर पूर्ण रूप से विचार करने के बाद ही अंतिम निर्णय लिया जा सकता है।

---

१. इस परंपरा की बालकांड की एक प्रति श्री रामेश्वर सिंह जी, नेपाली खपरा-वाराणसी के पास सुरक्षित है। श्री सिंह बलिया जिले के ही रहने वाले हैं। यह प्रति संवत् १६६६ वि० में तैयार की गई थी। इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। अभी तक इस प्रति का उपयोग नहीं हुआ है।

श्री शचींद्र भटनागर

मानस के राम

एक लंबी पौराणिक परंपरा विरासत में मिलने पर भी मानस के रचयिता ने राम का चरित्र जिस ढंग से प्रस्तुत किया वह तत्कालीन समाज की दृष्टि से ही नहीं वरन् आज के समाज की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। ६०० ई० पू० से ४०० ई० पू० तक के मध्य की रचना 'वाल्मीकिरामायण' प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से समस्त राम-काव्यों की प्रेरणा-स्रोत रही है। लेकिन 'वाल्मीकिरामायण' से तुलसी तक पहुँचते-पहुँचते एक लंबी यात्रा के पश्चात् राम का चरित्र बहुत परिवर्तित हो चुका था। जिस रामचरित का निर्माण तुलसी ने किया है वह नाना पुराण निगमागम सम्मत होने पर भी सबसे अलग एवं सबसे अधिक प्रभावोत्पादक है। यह तुलसी की लेखनी का ही प्रताप है जिसके मौलिक स्पर्श ने भयंकर सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक वैषम्य के युग में राम के चरित्र को सर्वग्राह्य एवं लोकप्रिय कर दिया तथा वाल्मीकिरामायण, अध्यात्मरामायण एवं अन्य समस्त पूर्ववर्ती तथा सम-कालीन राम-काव्यों के राम की अपेक्षा उसे उत्कृष्ट कर दिया। राम मानस के नायक हैं। नायक का चरित्र तथा उससे संबंधित घटनायें काव्य के उद्देश्य पर निर्भर रहती हैं। रामचरितमानस का उद्देश्य महान है। इसकी रचना भले ही 'स्वांतः सुखाय' हुई हो किंतु तुलसी का अंतःकरण लोकहित के लिये लालायित है।[1]

मानस का उद्देश्य लोकहित है। ऐसे लोकोपकारी काव्य का नायक आदर्श

१. मानस १।१४।५

एवं अनुकरणीय चरित्र वाला होना ही चाहिये किंतु साथ ही साथ उसका प्रभावोत्पादक भी होना आवश्यक है। यही कारण है कि मानस के राम एक ओर तो 'अनीह, अरूप, अनाम, अगुण, अखंड, अनंत, अनादी' हैं तो दूसरी ओर सगुण, साकार, भक्तवत्सल, प्रजापालक, आज्ञाकारी, त्यागी एवं अनंत आदर्श लौकिक गुणों से विभूषित नायक हैं। राम का यही वह स्वरूप है जिसमें तुलसी ने 'भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की आदर्शमयी ऐसी जीवंत प्रतिमा प्रतिष्ठित की है जो विश्व भर में अलौकिक, असाधारण, अनुपम एवं अद्भुत है, जो धर्म एवं नैतिकता की दृष्टि से सर्वोपरि है तथा जिसमें त्याग, विराग एवं साधु प्रकृति के साथ-साथ लोकहित एवं मानवता का साकार रूप विद्यमान है।'[१] मानस के राम 'अनुज अनुहारी' कार्य करते हुये भी 'विधि हरि संभु नचावन हारे' हैं। वास्तव में तुलसी के राम 'न केवल ब्रह्म हैं (निर्गुण ब्रह्म तथा सगुण अशरीरी परमात्मा हैं) न केवल महाविष्णु हैं (सगुण शरीरी परमात्मा हैं) न केवल मर्यादा पुरुषोत्तम हैं (आदर्श मनुष्य हैं) वरन् तीनों के सामंजस्य से पूर्ण परम आराध्य हैं।[२]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार मानस के राम में शील, शक्ति और सौंदर्य की पराकष्ठा है किंतु इनमें भी प्रधानता शील की है।[३] वाल्मीकि ने राम के शक्ति सूचक सौंदर्य को ही प्रधानता दी है परतु तुलसी ने राम के शक्ति सूचक सौंदर्य और सौकुमार्य सूचक सौंदर्य में संतुलन रखा है। कहीं-कहीं तुलसी ने द्वितीय पक्ष की प्रधानता दिखलाई है। 'वाल्मीकि के राम की शक्ति उनके सौंदर्य से अधिक उनके भुजबल में है, मानस के राम की शक्ति भुजबल से अधिक उनकी अमोल चितवन, शीतल दृष्टि में है। वाल्मीकि के राम के शक्ति प्रधान सौंदर्य से तुलसी के राम की सौंदर्य प्रधान शक्ति कम शक्तिशाली नहीं सिद्ध हुई है।[४]

राम के शील गुण का विस्तार प्रत्येक क्षेत्र में देखा जा सकता है। मानस के राम वाल्मीकिरामायण के राम के समान विपत्ति काल में कभी विचलित

---

१. हिंदी के प्राचीन प्रतिनिधि कवि—डॉ० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना, पृ० २२१-२२
२. तुलसी दर्शन—डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र, पृ० १२५
३. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ६० तथा चिंतामणि भाग, १—पृ० २१८
४. वाल्मीकि और तुलसी : साहित्यिक मूल्यांकन—श्री रामप्रकाश अग्रवाल पृ० १२५

नहीं होते। वाल्मीकिरामायण के राम अपनी विमाता कैकेयी पर मन ही मन क्षुब्ध हो सकते हैं, पिता दशरथ के व्यवहार पर भी आश्चर्य प्रगट कर सकते हैं, अनुज भरत की ओर से भी उनके मन में शंका उत्पन्न हो सकती है और शत्रु-गृह में रहकर आने वाली पत्नी पर भी वह निस्संकोच अविश्वास कर सकते हैं, परंतु मानस के राम ऐसा नहीं करते हैं इसके विपरीत वे अपनी विमाता से यह कहते हैं :

सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी।[1]

चित्रकूट पहुँचने पर भी राम सर्वप्रथम कैकेयी से ही मिलते हैं और अयोध्या लौटने पर भी राम सर्वप्रथम कैकेयी के भवन में जाते हैं। मानस के राम को पिता के व्यवहार पर आश्चर्य करने के स्थान पर आश्चर्य इस बात पर होता है कि 'थोरिहिं बात पितहि दुःख भारी'।[2]

अपने भाई भरत की ओर से भी राम के मन में कोई शंका उत्पन्न नहीं होती। उन्हें भरत के निश्छल स्वभाव पर अटूट विश्वास है :

मसक फूंक मकु मेरु उड़ाई। होइ न नृपमदु भरतहि भाई।
लखन तुम्हार सपथ पितु आना। सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना।[3]

मानस के राम लंका में रहकर आने वाली पत्नी पर अविश्वास करते हुए वाल्मीकि के राम के समान, यह नहीं कहते कि मेरी आज्ञा है कि दसों दिशाओं में तुम जहाँ जाना चाहो चली जाओ, मुझे तुमसे अब कोई प्रयोजन नहीं, तुम जिस किसी दूसरे को चाहो स्वीकार कर लो। वे केवल 'कछुक दुर्बाद' कहकर ही समाप्त कर देते हैं। वस्तुतः मानस के राम का चरित्र-चित्रण कहीं अधिक मनोवैज्ञानिक है अतः प्रभावोत्पादक एवं उत्कृष्ट बन पड़ा है।

राम के शीलगुण का पूर्ण विस्तार पारिवारिक क्षेत्र में आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, आदर्श पति, आदर्श शिष्य, आदर्श स्वामी एवं अपने सास श्वसुर के प्रति माता-पिता जैसे आदर्श भाव-प्रदर्शन में हुआ है। सामाजिक क्षेत्र में भी राम का शील-प्रसार जन-जन तक है। मिथिला, शृंगवेरपुर और वनमार्ग के अपरिचित दर्शकों को भी उनका शील आकृष्ट कर लेता है। राम का शील उन्हें समानता के आदर्श की ओर उन्मुख करता है। उन्हें पश्चाताप होता है कि यह कैसी सामाजिक विषमता है जिसमें सब भाइयों को छोड़कर केवल बड़े का ही राज्याभिषेक किया जाता है :

१. मानस २।४१।४ २. मानस २।४२।३ ३. मानस २।२३२।२

बिमल बंस यहु अनुचित एकू । बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ।[१]

मानस के राम की महत्ता उनके 'छोटों से अपनापन निभाने' में है । अहिल्या, केवट, शबरी आदि के निकट पहुँचकर राम भूल जाते हैं कि वे इक्ष्वाकु वंश के प्रतिनिधि है । अहिल्या को शापमुक्त कर देने के पश्चात् भी राम संतुष्ट नहीं हैं । केवट की सहज ढिठाई राम को गदगद कर देती है । शबरी के आश्रम में जाकर उसके जूठे बेर खाने में तो राम के शील की पराकाष्ठा हो जाती है । 'राम के आदर्श में संकीर्णता के लिए अवकाश नहीं है । न वहाँ वह संकुचित जातीयता की भावना है जिसको आजकल सांप्रदायिकता कहा जाता है । न वहाँ वर्गवाद का समर्थन मिलता है और न दलबंदी का । उस आदर्श में तो नीति और धर्म का, संस्कृत और समाज का, नेता और जनता का तथा राजा और प्रजा का एक ऐसा सामंजस्य है जिसको अपनाए बिना मानवता पनप नहीं सकती और सुख शांति से टिक नहीं सकती ।[२]

राजनीतिक क्षेत्र में मानस के राम की दृष्टि व्यापक है । रावण द्वारा सीता हरण के पश्चात् राम यदि चाहते तो अयोध्या से आर्थिक, सैनिक तथा अन्य समस्त सहायता प्राप्त कर सकते थे परंतु उनकी दृष्टि इतनी स्वार्थपूर्ण, आत्म केंद्रित एवं संकुचित नहीं थी । निर्वासित राम ने सीता-हरण को व्यक्तिगत समस्या मानते हुए उसके लिए राजकोष रिक्त करना अथवा सेना बुलाना राष्ट्रीय धन-जन का अपव्यय समझा ।

वस्तुतः राम का चरित्र अकमर्ण्यता का विलोम है । उनमें किसी भी क्षण पलायन की प्रवत्ति नहीं दिखाई देती है । वनवासी राम द्वारा बिना शासकीय सहायता प्राप्त किये हुए उपलब्ध साधनों के द्वारा ही रावण की सेना को पराजित करके सीता को मुक्त कराने में सफल होना कर्मशीलता का उत्कृष्ट उदाहरण है । निर्वासित राम के चरित्र द्वारा तुलसी ने परोक्ष रूप से परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़ी हुई समकालीन अभावग्रस्त जनता को मुगल शासकों की दासता से मुक्त होने के लिये संगठित होकर संघर्ष करने का आह्वान किया था। सीता प्रतीक थीं राष्ट्रीय स्वतंत्रता की ।

राम एक कुशल सैनिक एवं सबल शासक थे, किंतु सहृदयता उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। उनके इस गुण का परशुराम तक ने अनुभव किया और अपना कार्य उन्हें सौप कर राजनीति से संन्यास ले लिया । 'शासक राम की

१. मानस २।१०।४ २. राष्ट्रपुरुष राम-स्वामी राघवाचार्य

प्रबंध चातुरी का अंदाजा इसी से लग सकता है कि चौदह वर्ष तक उनके वनवासी रहने पर भी न तो किसी दूसरे नरेश ने अयोध्या पर धावा करने की हिम्मत की न स्वत: उनके संबंधियों ने ही राज्यशासन के लिए कोई सतृष्णता प्रकट की।[1] कोल, किरात, निषाद, शबर, वानर आदि अनार्य जातियाँ तथा अत्रि, अगस्त्त, वाल्मीकि, सुतीक्ष्ण, शरभंग आदि बड़े-बड़े महात्मा सभी राम के शील के वशीभूत हो गए थे परंतु अपने लिये राम में कोई स्वार्थ लिप्सा नहीं पनपी।

राम युद्ध के पक्षपाती नहीं थे। उनकी कभी यह लिप्सा न रही कि युद्ध हो ही। जहाँ तक उनसे बन पड़ा, उन्होंने युद्ध टाला। किंतु जब युद्ध टाला नही जा सका तब भी उन्होंने युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् विजित राज्य को हड़पने का प्रयत्न कभी नहीं किया। विस्तारवाद के विरोधी राम ऐसा कर भी कैसे सकते थे? किष्किंधा और लंका की विजय इसके उदाहरण हैं।

राजतंत्र में यदि कमियां हैं तो उसकी आलोचना होनी चाहिये। राम निरंकुश राजतंत्र की अपेक्षा प्रजा को अनुशीलन पूर्वक विचार स्वातंत्र्य की खुली छूट देना अधिक पसंद करते हैं।[2]

डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र के शब्दों में 'जिस जमाने में इतनी विशृंखला थी कि क्षत्रियों और ब्राह्मणों में भी संघर्ष हो रहे थे, उस जमाने में पहले तो राम ने विश्वामित्र के आश्रम में जाकर ब्राह्मण क्षत्रियों के बीच प्रेम की ग्रंथि बाँधी फिर मिथिला जाकर क्षत्रिय-क्षत्रिय के बीच प्रेम-संबंध स्थापित कर उत्तर भारत को एक किया। फिर वनवास के लिये उत्तराखंड की ओर बढ़े, जहाँ अपने व्यवहार से निषादों का हृदय जीतकर द्विजों और अंत्यजों को प्रेमसूत्र में बाँधा। आगे बढ़कर किष्किधा में आर्यों और अनार्यों (वानरों) का एका स्थापित किया। लंका पहुँचकर उन्होंने भारतीयों और अभारतीयों को एक बनाया। किष्किधा और लंका को स्वशासन देकर उन्होंने राजनीति का एक अनोखा मोड़ दिया और अंत में रामराज्य का आदर्श शासन स्थापित करके विश्व के लिए एक सर्वकालिक कल्याणमय ध्येय सामने रख दिया।'

---

१. तुलसी दर्शन—डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र, पृ० १५३

२. मानस ७।४३।२-३

डॉ० भोलानाथ भ्रमर

रामचरितमानस और बीसवीं शताब्दी का भारतीय समाज

क्या मानस बीसवीं शताब्दी के भारतीय समाज के लिए उपयोगी है ? यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है और इसलिए इस पर विचार करते समय अपने समस्त आग्रहों, दुराग्रहों, हठधर्मियों, रूढ़िवादिताओं एवं कट्टरताओं को छोड़ देना पड़ेगा। मानस प्रतीक है उन समस्त धारणाओं, विश्वासों, नीतियों-रीतियों, जीवन-विधियों एवं दर्शनों का जो विशेषतः रामचरितमानस में अभिव्यंजित हैं। तुलसी ने मध्ययुग के विघटनोन्मुखी हिंदू समाज को मिटाने से बचाया। इसी कारण हम तत्कालीन युग में हिंदू-संस्कृति या भारतीयसंस्कृति का एक अवतार कह सकते हैं। हमको इस दृष्टि से भी विचार करना है कि क्या तत्कालीन हिंदू-संस्कृति आज के युग के लिए अनुपयोगी हो चुकी है ? इसप्रकार अध्ययन करने के लिए हम सोलहवीं और बीसवीं शताब्दियों के भारतीय समाज के स्वरूपों और प्रवृत्तियों पर भी विचार करें।

सोलहवीं शताब्दी के हिंदू समाज पर एक पराधर्मी शासक शासन कर रहा था, बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के भारतीय समाज पर भी एक परधर्मी एवं परदेशी ही शासन कर रहा था। उस युग का हिंदू उस परधर्म एवं परधर्मी की जड़ता एवं क्रूरता के विरुद्ध संघर्ष करता रहा। वह उसकी महानता एवं महत्ता से समझौता करने लगा था और उनकी जीवन-विधि के निरापद स्वरूपों को अपनाने लगा था, इस युग का भारतीय भी जवाहरलाल नेहरू के कथनानुसार, दो इंगलैंडों में अशोभनीय एवं अवांछित इंगलैंड से भयानक

संघर्ष करता रहा था और इस परधर्मी, परदेशी एवं पर-संस्कृति के श्रेष्ठतम् एवं निरापद अंशों को,सभ्यता को दूसरे इंगलैंड को उदारता, सतर्कता और समझदारी से अपनाए था । उस युग का हिंदू भी धार्मिक दृष्टि से बहुत सतर्क एवं सेंसिटिव था और इस युग का भारतीय भी धार्मिक दृष्टि से उतना ही सतर्क एवं सेंसिटिव है । सुरक्षा की भावना से संवलित उदारता उस युग में भी थी और वैसी ही उदारता इस युग में भी है । कुछ तथाकथित प्रगतिवादी ऐसा मानते हुये लगते हैं कि क्रांति या प्रगति इसी बीसवीं शताब्दी की उपज है और वह भी विशेष रूप से साम्यवाद के संदर्भों में ही । लोगों की बद्ध एवं जड़ बुद्धि यह नहीं समझ पा रही है कि वह भारतीय संस्कृति या हिंदू संस्कृति की आत्मा है । मानस ने जिस उदारता से शिव और राम को एक दूसरे का सेवक, पूज्य और साध्य बना दिया है वह किसी क्रांति से कम नहीं है । आधुनिक युग के क्रांतिकारियों में अभी वह क्षमता, शक्ति और उदारता आनी है कि वे राम और शिव की तरह हिंदू और मुसलमानों को मिला सकें । एक अजीब बात है कि उसी शिव के उपासक राम और उसी शिव के उपासक रावण और राम और रावण में युद्ध हो तथा विजय का आधार बने नैतिकता तथा शक्ति की उपासना । बीसवीं शताब्दी के भारतीय समाज में मुसलमानों को भी शिव (कल्याणकारी व्यवस्था या आजादी) चाहिए और हिंदुओं को भी । दोनों में वैसा ही अंतर्विरोध है जैसा राम और रावण में था । नोआखली और लाहौर तथा अमृतसर और बिहार में नवीन राम-रावण-युद्ध हुआ, और उस युद्ध का एक रूप अब भी चल रहा है—रणक्षेत्र बना है कश्मीर, खेमकरन, कच्छ, छंब, राजस्थान और बंगाल ।

मुझसे कई बार मित्रगण विवाद कर चुके हैं–हिंदुस्तान बिना अणुबम के क्या करेगा ? हमें अपनी रक्षा के लिये सैन्य संधियाँ अवश्य करनी चाहिए । हर बार मुझे मानस की याद आ जाती है जिसके अनुसार "सौरभ धीरज ·· सत्य सील ······ बल बिबेक दम पर-हित···· छमा कृपा समता··· ईस भजन······· बिरति धर्म······· कृपा समता······· संतोष······· दान ···· बुधि···· सक्ति······ बर बिग्यान······· अमर अचल मन······ सम जम नियम······· अभेद······· बिप्र······· गुरु-पूजा······· सखा धर्ममय अस रथ जाके । जीतन कहुँ न कतहुँ रिपु ताके । महा अजर संसार-रिपु, जीति सकइ सो बीर ।"[1]

१. मानस ६।८०

संशयशील व्यक्ति तनिक उपर्युक्त शब्दों पर विचार करें और सोचें। इतने पर भी क्या कोई कह सकता है कि बीसवीं शताब्दी में तुलसी या रामचरितमानस अनुपयोगी हो चुके हैं। इसी से प्रेरणा और शक्ति पाकर ही तो हम कभी निराश नहीं होते। भले ही इंदिरा, जगजीवनराम, स्वर्णसिंह, सुभाष या मुजीब ने रामचरितमानस न रटी हो परंतु क्या भारतीय वीरों और नेताओं के अंदर उपर्युक्त पंक्तियों में निहित नीतियाँ नहीं पायी जातीं और क्या इन्हीं के सहारे वे आग-पानी-तूफान के बीच अडिग चट्टान जैसे अपराजेय नहीं रहे? बांगला देश, अमरीका और भारत के संबंधों के संदर्भ में उपर्युक्त उद्धरण का एक-एक शब्द सही उतरता है।

मैं कह रहा था कि तुलसी और उनका मानस भी क्रांतिकारी थे। भारत के पूर्व मध्य-युग और उत्तर प्राचीन काल में अंत्यजों एवं शूद्रों की स्थिति बड़ी दयनीय थी। जगद्गुरु शंकराचार्य ने वाराणसी में एक चांडाल को अपने रास्ते से हटने को कहा था। भक्ति आंदोलन के आचार्यों ने बाद में सिद्धांत रूप से तो शूद्रों को पूजा का अधिकार दे दिया था परंतु वे व्यावहारिक जीवन में उसे अपना न सके थे। तुलसी ने शबरी और निषाद के संदर्भ में राम, भरत एवं वशिष्ठ का जो व्यवहार दिखाया है, वह क्याआधुनिक युग में प्रकाश स्तंभ नहीं हो सकता?

दोनों युगों की उपर्युक्त तुलना को और अधिक न बढ़ाकर कहना यह चाहता हूँ कि 'दिनकर' के अनुसार हिंदू समाज की जो रूपरेखा सम्राट हर्षवर्द्धन के युग में बनगई थी, (कुछ छोटे-मोटे अस्थायी परिवर्तनों को छोड़कर) आज भी लगभग वैसी ही है। यदि यह बात सही है — जिसमें संदेह करने की कोई भी संभावना नहीं—तो जो चीज उसके लिये कभी उपयोगी सिद्ध हो चुकी है वह कभी भी उपयोगी सिद्ध हो सकती है अर्थात् अनुपयोगी न होगी। आगे भी उपयोगी ही सिद्ध होगी। कारण यह है कि उसकी जड़ हिंदू संस्कृति में है जो भारतीय समाज की नस-नस में रमी है—वह समाज चाहे हिंदुओं का हो, चाहे मुसलमानों का, चाहे ईसाइयों का हो और चाहे पारसीयों का। इनके धार्मिक विश्वास भिन्न-भिन्न भले ही हों किंतु जीवन के तत्त्व एक हैं—संस्कृति के मूल तत्त्व एक हैं। उसकी सबसे ऊपरी सीमा पर है, आस्तिकता और सबसे निचली सीमा पर धरती माता। उसी हिंदू संस्कृति पर आधारित तुलसी का मानस उस युग के भारतीय मानव के लिये भी उपयोगी था और इस युग के भारतीय मानव के लिये भी उपयोगी है। उसके

अनुपयोगी होने की मैं कल्पना भी नहीं कर पाता। जो बदलेगा नहीं वह मिटेगा, जो मात्र मिट्टी का होगा वह टूटेगा, किंतु जो सूक्ष्म है और जो समयानुसार बदल सकता है वह कैसे मिट सकेगा, कैसे अनुपयोगी हो जायगा कैसे असामयिक या सीमित हो जायगा ?

बीसवीं सदी का भारतीय समाज राजनीतिक स्वतंत्रता के लिये संघर्षशील, अपनी उन्नति और अपने सुधार के लिये प्रयत्नशील तथा अपने आत्मरूप की प्राप्ति के लिये गतिशील रहा है। ऐसा ही मानस रचना के युग का समाज था। बीसवीं शताब्दी का समाज कुछ नई और कुछ पुरानी, कुछ अपनी और कुछ पराई तथा कुछ भीतरी और कुछ बाहरी बातों का समन्वय कर रहा है। गंभीरता पूर्वक विचार करके देखिये तो तुलसीदास के युग में भी ऐसा ही कुछ होता हुआ दिखाई देगा।'अंग्रेज'की जगह 'मुसलमान'या मुसलमान की जगह अंग्रेज शब्द रख दीजिए, सारी बात स्पष्ट हो जायगी। यही कारण है कि तुलसीदास का 'मानस' तब भी उपयोगी सिद्ध हुआ था और बीसवीं शताब्दी में भी उपयोगी सिद्ध हुआ है और सिद्ध हो रहा है। बेईमान, ढोंगी और नासमझ न युग के प्रतिनिधि होते हैं, न मान्य और न उदाहरणीय। तुलसी का मानस पढ़कर भी उसे ईमानदारी से व्यवहार में न लाने वाले और उससे अपने जघन्य पापों के प्रायश्चित की आशा करने वाले और इस प्रकार मानस को—तुलसी को— कलंकित करने वाले यदि आज—बीसवी शताब्दी में बहुत हैं तो वे न तो युग के प्रतिनिधि हैं और न उनसे तुलसी और उनके मानस की तात्त्विक उपयोगिता कम होती है, और यदि मध्य युग में भी ऐसे मानवों की संख्या कम नहीं थी तो इससे तो न वे नगण्य सिद्ध हुए और न उनकी ऐतिहासिक महत्ता नष्ट हुई।

'तो सम पुरुष न मो सम नारी। यह सँजोग बिधि रचा बिचारी' कथन पर राम का शूर्पणखा-नासिका-कर्तन नारीत्व का अपमान नहीं,बल्कि नारी की धर्म-विहीन काम-भावना का अपमान है। इस पंक्ति की आत्मा अमर है मगर शरीर—? आप किसी वेश्या की नाक काट कर देखिये ? रूपाकर्षण से अनर्थ होता है। कल्याण सीता ही द्वारा ही होगा—इसे न समझने वाले बीसवीं सदी के अनेक उच्छृंखल युवकों की 'सीताएँ' घर में सिसकती रहती हैं। इस बीसवीं शताब्दी में मानस कहाँ अनुपयोगी है ? हाँ देखने वाली दृष्टि चाहिए।

आज के भारतीय समाज में तीन प्रकार के मानव समुदाय हैं— एक वे जो प्राचीनता को उसके उसी रूप में पाना चाहते हैं और इसी में वे व्यक्ति, देश

और जाति का कल्याण समझते हैं। नासमझ, जड़ एवं रूढ़िवादी इसी में आते हैं। दूसरे वे हैं जो नवीनता को उसके उसी रूप में अपनाना चाहते हैं और उसी में वे अपना और अपने देश का कल्याण समझते हैं। इसमें साम्य-वादी आते हैं। तीसरे वे हैं जो पुराने में से उतना ही छोड़ते हैं जो अनुपयोगी हो चुका है तथा नए में से उतना ही अपनाते हैं जो अनिवार्य हो उठा है। इसमें शेष सभी आ जाते हैं। रामचरितमानस के पाठ, पारायण, चौपाइयों का जप, रामलीला आदि के रूप में मानस प्रथम वर्ग के लिए इस शताब्दी में भी उपयोगी है।

तीसरा वर्ग नई-नई व्याख्याओं द्वारा और घटनाओं में से नैतिक तत्त्व या निष्कर्ष निकाल-निकाल कर मानस को अपने लिये अनिवार्यतः उपयोगी पा रहा है। सीता-बनवास पर टिप्पणी है कि एक ही दृष्टि—रूढ़िवादी या एकांगी दृष्टि—से देखने वाला (काना) व्यक्ति जब-जब सीताओं (स्वयं सेविकाओं या महिला नेताओं) को (जो वस्तुतः पवित्र तथा निर्दोष होती हैं) जड़ क्रिया (घूंघट खोलकर बाहर आने तथा पुरुषों के साथ रहने) के कारण दोषी ठहराता है तब-तब मर्यादावादी व्यक्तियों का पारिवारिक जीवन विघटित हो जाता है।

रामचंद्र शुक्ल के अनुसार मानस के राम शक्ति, शील और सौंदर्य के समन्वित रूप हैं। क्या बीसवी शताब्दी में दुःशील, अशक्त एवं असुंदर नेता चाहिए? राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। मानस द्वारा प्रस्तुत यह राम-रूप क्या २० वीं सदी में अनुपयोगी होगा? क्या हमें ऐसा नेता चाहिए जो सब कुछ तोड़ता ही रहे? ध्यान रहे कि न गाँधी ऐसे थे, न विनोबा ऐसे हैं, न लालबहादुर शास्त्री ऐसे थे न सरदार पटेल। रामचंद्र शुक्ल के अनुसार ऐसे पवित्र एकांतिक जीवन का चित्रण जिसमें प्रभविष्णुता न हो रामायण का लक्ष्य नहीं है। यह जितना १६ वीं शताब्दी में सही था उतना ही २० वीं शताब्दी में भी सही है। यह ढंग है आधुनिक युग में मानस की उपयोगिता का मूल्यांकन करने का।

अस्तु, बीसवीं शताब्दी के इस अणुयुग में भी मानस और तुलसीदास सामान्यतः विश्व एवं विशेषतः भारतीय समाज के लिए इस कारण उपयोगी नहीं हैं कि मानस घर-घर में है, छोटे-बड़े, धनी-निर्धन, विद्वद्ज्जन, सामान्य जन हिंदू-मुसलिम-ईसाई सभी उसे पढ़ते हैं और सराहते हैं कि साहित्यिक, धार्मिक, सामाजिक आदि समारोहों पर मानस की पंक्तियाँ दुहराई जाती हैं कि उसकी मनोवैज्ञानिक शाश्वता निर्विवाद है, कि वह गंभीरतम अध्ययन,

मनन एवं अनुसंधान की वस्तु है, कि उसका पाठ होता है जिससे यह लोक और परलोक दोनों सुधरते हैं बल्कि इसलिये उपयोगी हैं कि वह इस युग की अनंत विषम परिस्थितियों में भी व्यक्ति को शक्ति, प्रेरणा एवं उत्साह प्रदान करता है और आत्मरूप प्रदान करने में समर्थ है। वह व्यक्तित्व का विघटन नहीं होने देता और इसलिए भारतीय युवक पाश्चात्य युवकों की तरह विक्षिप्त एवं असंतुलित नहीं होने पाते। विज्ञान जब सूक्ष्म को (अणु परमाणु को) तोड़ रहा है तब मानस मानव में आस्था, श्रद्धा, निष्ठा, विश्वास की पुनःस्थापना करता है। वह राष्ट्रीय संकट एवं तुमुल संघर्ष की घड़ियों में शक्ति एवं प्रेरणा का स्रोत हो जाता है। मानस रीति-नीति का जड़ यथार्थ नहीं बल्कि आत्मा की प्रेरणा है, आत्म तत्त्व है, वह सूक्तियों की पुष्प वाटिका ही नहीं हैं बल्कि परिमल पूरित वातावरण भी है। वह सुधामयी चंद्रिका है।

डॉ० कैलाश शरण श्री वास्तव

रामचरितमानस का मूल स्रोत : अध्यात्मरामायण

विद्वानों ने तुलसी पर अध्यात्मरामायण का प्रभाव मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। परतु तुलसी पर अध्यात्मरामायण का इतना अधिक प्रभाव क्यों है ? अनेक स्थानों पर तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे तुलसी ने उसका अनुवाद-सा कर दिया है। इन कारणों पर विद्वान अभी तक मौन हैं। रामचरितमानस के कुछ स्थल ऐसे भी हैं जो विषय और शैली की दृष्टि से अध्यात्म-रामायण से सर्वथा भिन्न हैं। यह तो सब विद्वान जानते हैं कि संपूर्ण रामचरितमानस की रचना एक साथ नहीं हुई। भले ही उनमें रचनाक्रम के विषय में मतभेद है। पर्याप्त अध्ययन और मनन के उपरांत मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि अध्यात्मरामायणकार का तुलसी से विशेष संबंध था और इसीकारण मानस पर आध्यात्मरामायण का इतना अधिक प्रभाव है।

अध्यात्मरामायण और रामचरितमानस की कथावस्तु की तुलना से यह स्पष्ट होता है कि मिथिला-प्रसंग और अंगद-रावण-संवाद को छोड़कर बालकांड के रामावतार से लेकर उत्तरकांड के रामराज्य तक की मानस की कथा पूर्णतया अध्यात्मरामायण के छह कांडों पर आधारित है। मानस और अध्यात्मरामायण की कथा में पूर्ण साम्य होने पर भी दो महत्त्वपूर्ण तथ्य विचारणीय हैं। प्रथम यह कि मानस के उपर्युक्त दो अंशों पर अध्यात्मरामायण का कोई प्रभाव नहीं

है और शेष कथा अध्यात्मरामायण पर पूर्णतः आधारित है। द्वितीय यह कि अध्यात्मरामायण के उत्तरकांड से मानस का कोई संबंध नहीं है। इस समस्या को सुलझाने के लिए डॉ० माताप्रसाद गुप्त, श्री रामनरेश त्रिपाठी प्रभृति विद्वानों ने मानस-रचना के तीन सोपान माने हैं, रामचरित, शिवरामायण और रामचरितमानस। यद्यपि ये विद्वान तीनों सोपानों के अंश के संबंध में एक मत नहीं किंतु यह सभी स्वीकार करते हैं कि मानस रचना के द्वितीय सोपान पर अध्यात्मरामायण का प्रभाव है। अब हम इन विभिन्न मतों पर विचार करते हुए यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि अध्यात्मरामायण का प्रभाव कवि के जीवन में किस समय से पड़ना प्रारंभ होता है और फिर अपनी जीवन-धारा में पूर्णतया मोड़ देने वाले इस ग्रंथ का तुलसी ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किस प्रकार उल्लेख किया है ?

श्री रामनरेश त्रिपाठी ने मानस का प्रारंभ अयोध्याकांड से माना है। आपके प्रमुख तर्क है : अयोध्याकांड के छंदों की क्रमबद्धता, आठ अर्द्धालियों के बाद एक दोहा, पच्चीस दोहों के पश्चात् हरिगीतिका और सोरठा तथा रचना की निश्चित प्रौढ़ता और उमा-महेश्वर, याज्ञवल्क्य, भरद्वाज, गरुड़, काकभुशुंडि आदि संवादों का एवं मानसरूपक की कल्पना का अभाव। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी अयोध्याकांड को पूर्ववर्ती माना है। आपके तर्क त्रिपाठीजी के तर्कों के अनुरूप हैं अर्थात् अपवादों को छोड़कर निश्चित छंदबद्धता और पौराणिक वक्ताओं का अभाव। इतना अंतर आपने अवश्य किया है कि बालकांड के कुछ अंश को आपने प्रथम पांडुलिपि में स्वीकार कर लिया है। आप बालकांड में रामजन्म की कथा से प्रथम पांडुलिपि, अर्थात् रामचरित का, प्रारंभ मानते हैं।

इसी परिकल्पना को आगे बढ़ाते हुए शार्लोतबोदविल ने प्रथम पांडुलिपि में बालकांड के उत्तरार्द्ध और अयोध्याकांड के साथ अरण्यकांड के प्रथम छह दोहे भी सम्मिलित किये हैं। इसी तथ्य पर विचार करते हुए डॉ० कामिल बुल्के ने अयोध्याकांड के साथ प्रस्तावना का पूर्वार्द्ध भी जोड़ा है। इसप्रकार सभी विद्वानों ने छंदबद्धता और वक्ता को दृष्टि में रखते हुए मानस के प्रथम रूप को रामचरित की संज्ञा दी है। मानस के प्रारंभ की कुछ भूतकालिक और वर्तमान कालिक क्रियायें विभिन्न सोपानों में मानस की रचना की धारणा की पुष्टि करती हैं। उदाहरणार्थ :

सादर सिवहि नाइ अब माथा। बरनउँ बिसद राम गुन गाथा।

संवत् सोरह सै एकतीसा। करउँ कथा हरि पद धरि सीसा।[1]

इसमें शिव भक्ति का स्पष्ट उल्लेख है और वर्तमानकालिक क्रिया है परंतु इससे तुरंत आगे कवि ने भूतकालिक क्रिया का प्रयोग किया है :

नौमी भौम बार मधुमासा। अवधपुरीं यह चरित प्रकासा।[2]

यहाँ स्पष्ट है कि रामचरित अयोध्या में पहले लिखा गया था और समय एवं स्थान के भेद से कवि ने वहाँ का प्रयोग किया है और उसके तुरंत उपरांत मानस रूपक में वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग है :

रामचरितमानस मुनि भावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन।
कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई।[3]

मेरी सम्मति में रचनाक्रम इसप्रकार होना चाहिये—वे अंश जिन पर अध्यात्मरामायण का बिलकुल प्रभाव नहीं है, वे अंश जो पूरी तरह अध्यात्म-रामायण से प्रभावित हैं और वे अंश जो अप्रत्यक्ष रूप से अध्यात्मरामायण से प्रभावित होते हुए भी भुशुंडि रामायण से प्रभावित हैं। इन सभी विद्वानों ने द्वितीय भाग को शिवरामायण की संज्ञा दी है। इसका शिव-चरित अध्यात्म-रामायण से घनिष्ठ रूप से संबंधित है। अयोध्याकांड को प्रथम सोपान न मानने की मेरी धारणा के कई आधार हैं। प्रथम तो अयोध्याकांड किसी दृष्टि से एक स्वतंत्र काव्य-रचना का विषय नहीं हो सकता और इस तथ्य को दृष्टिगत करते हुए डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने रामजन्म से प्रथम सोपान का प्रारंभ माना हैं। अयोध्याकांड कथा की दृष्टि से अध्यात्मरामायण के बहुत निकट है। स्वयं श्री रामनरेश त्रिपाठी ने भी रामजन्म से अयोध्याकांड की समाप्ति तक अनेक ऐसे उद्धरण दिये हैं जिनमें तुलसी ने अध्यात्मरामायण का शुद्ध अनुवाद-सा किया है।[4] त्रिपाठी जी ने अयोध्याकांड के प्रारंभ में की हुई शिव-वंदना को महत्त्व नहीं दिया है जबकि यह स्पष्टतः अध्यात्मरामायण के प्रभाव की द्योतक है।[5] डॉ० माताप्रसाद गुप्त की स्थापना में दो प्रमुख आपत्तियाँ हो सकती हैं। बालकांड का १८७ वाँ और १९९ वाँ पद्य अनियमित है और तीन बार शिव वक्ता के रूप में उपस्थित होते हैं।[6] एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि रामजन्म से मिथिला-गमन तक की मानस की कथा स्पष्टतः अध्यात्मरामायण पर आधारित होने से द्वितीय सोपान शिव-रामायण के अंतर्गत है प्रथम सोपान के नहीं।

१. मानस १।३४।२ २. मानस १।३४।३ ३. मानस १।३५।५-७
४. तुलसी और उनका काव्य, पृ० १२४-१२६ ५. मानस २। श्लोक १
६. मानस १।१८५।२, १९६।२, २००।१

उस समय विवाह के प्रसंग स्वतंत्र काव्य-विषय माने जाते थे और तुलसी ने भी 'पार्वती-मंगल' और 'जानकी-मंगल' पृथक् ग्रंथ लिखे। मेरी दृष्टि में बालकांड का उत्तरार्द्ध राम-सीता-विवाह की पूर्ण घटना के रूप में प्रथम लिखा गया था और इस अंश की सफलता के उपरांत तुलसी ने रावण-अंगद-संवाद के रूप में संक्षिप्त खंडकाव्य लिखा। इस धारणा के समर्थन में मेरे आधार इस प्रकार हैं :

(१) इन अंशों में अध्यात्मरामायण का प्रभाव नहीं है। जनकपुरी में राम-सीता का मर्यादित शृंगार पूर्वराग, धनुर्भंग की नाटकीय स्थिति, धनुर्भंग के तुरंत उपरांत परशुराम का आगमन और लक्ष्मण का व्यंग्यपूर्ण कथोपकथन तथा राम-सीता-विवाह की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अभिव्यक्ति तुलसी पर प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटक के प्रभाव के द्योतक हैं। अंगद-रावण-संवाद भी हनुमन्नाटक पर आधारित है।

(२) यह अंश नाटकीयता प्रधान है और अभिनय-तत्त्व के कारण ही ये दोनों अंश रामलीलाओं में लोकप्रिय बने हैं। लक्ष्मण का चरित इस अंश में विदग्ध नवयुवक का है और अंगद के उपर्युक्त अंश में वर्णित चरित्र के अनुरूप है। इन अंशों में दोनों चरित्र शेष मानस के इन दोनों चरित्रों से भिन्न हैं।

(३) विवाह का चित्रण और नारी विषयक तुलसी का दृष्टिकोण उनके सद्यः विवाह का द्योतक है जबकि मानस में वैराग्य-तत्त्व की प्रधानता और नारी-विरोध की प्रवृत्ति है।

अध्यात्मरामायण में इस प्रश्न का विस्तृत उत्तर है कि क्या निर्गुण निराकार, परब्रह्म राम और दशरथ-सुत मानव राम एक ही व्यक्ति हैं। रामचरितमानस में भी ये प्रश्न उठाया गया है। मानस में सती की शंका इस प्रकार है :

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद।[1]
बिष्णु जो सुर हित नरतनुधारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारि।
खोजइ सो कि अग्य इव नारी। ग्यान धाम श्रीपति असुरारी।[2]

यह अर्थ की दृष्टि से ही नहीं प्रसंग की दृष्टि से अध्यात्मरामायण की शंका के अनुरूप है :

---

१. मानस १।५०
२. मानस १।५।१।

वदंति रामं परमेकनाथं, निरस्तमायागुणसंप्रवाहम् ।

× × ×

यदि स्म जानाति कुतो विलापः सीताकृते नेन कृतः परेण ।[१]

दोनों दशाओं में विरही राम के ब्रह्मत्व के विषय में शंका है । इस शंका की तुलना मानस में पार्वती की शंका से कीजिये :

'रामु सों अवध नृपति सुत सोई । की अज अगुन अलखगति कोई ।
जों नृप तनय न ब्रह्म किमि, नारि बिरहँ मति भोरि ।
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि ।[२]

और इन प्रसंगों में सती और पार्वती को दिये सगुण राम के ब्रह्मत्व संबंधी उपदेशों का साम्य देखिये :

मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत विमल मन जेहि ध्यावही ।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं ।
सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी ।
अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी ।
लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिवँ बार बहु ।
बोले बिहसि महेसु हरिमाया बलु जानि जियँ ।[३]

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा । गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ।
अगुन अरूप अलख अज जोई । भगत प्रेम बस सगुन सो होई ।[३]

फिर क्या कारण है कि शिव यहाँ सती के भ्रम का परिहार न कर सके किंतु आपने पार्वती को राम के ब्रह्मत्व के संबंध में आश्वस्त कर दिया । दोनों प्रसंगों की तुलना में यह स्पष्ट हो जायेगा कि उपदेश से ब्रह्म राम और सगुण-राम के एकत्व का ज्ञान तो हो सकता है किंतु विश्वास नहीं होता, न शंका मिटती है, न मोह का परिहार होता है, किंतु सगुण राम की कथा से भ्रम और मोह मिट जाता है ।

बालक तुलसी ने गुरु से रामकथा (सगुण-निर्गुण राम की कथा) नहीं सुनी और सती, भारद्वाज[४] आदि की भाँति उन्हें राम के ब्रह्मत्व के संबंध में शंका उत्पन्न हो गयी । वही शंका इतनी बार प्रदर्शित कर तुलसी ने इसे

---

१. अध्यात्मरामायण १।१।१२, १४ २. मानस १।१०८।४ दोहा

३. मानस १।५१ ४. मानस १।११६।१ ५. मानस १।४६।४-४७।१

युगगत शंका के रूप में स्वीकार किया है। उस युग में कबीर आदि निर्गुण ज्ञानाश्रयी संतों ने दशरथ-सुत राम के ब्रह्मत्वको अस्वीकार कर जनता को भ्रम में डाल दिया था :

दशरथ कुल अवतरि नहीं आया। नहीं लंक के राव सताया।[1]

तुलसी की युगगत शंका का निवारण तुलसी के गुरु ने उन के बाल्यकाल में भाँति-भाँति के उपदेश से किया। स्वभावतः तुलसी की शंका का समाधान न हो सका :

मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा जो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत।
श्रोता बकता ग्याननिधि कथा राम कै गूढ़।
किमि समुझौं मैं जीव जड़ कलि मल ग्रसित बिमूढ़।[2]

दशरथ-सुत राम के ब्रह्मत्व के अतिरिक्त राम-कथा में ऐसा अंश कौन-सा है जिसे तुलसी गुरु के बार-बार कहने पर समझ न सके जबकि उनके सम्मुख वाल्मीकि-रामायण थी जिसने राम-कथा को अतीव बोधगम्य बना दिया था।[3] इस संबंध में श्री शिवनंदन सहाय का मत द्रष्टव्य है, 'लड़कपन में ही विद्याध्ययन प्रारंभ करने पर उस अवस्था में तो कभी ये ऐसे निर्बोध नहीं हो सकते थे कि रामचरित संबंधी बातें समझने में अतिचेतन हों तथा गुरु के बारंबार कहने पर भी कुछ नहीं समझते हों।'[4]

रामकथा साहित्य के अध्येता तुलसी ने अपनी प्रारंभिक रचना (रामचरितमानस के प्रथम सोपान) में केवल रामकथा का साहित्यिक पक्ष लिया है, रामकथा की मर्म संबंधी शंका का उल्लेख भी नहीं किया है।

ऊपर कहा जा चुका है कि केवल दशरथ-सुत राम की कथा से शंका उत्पन्न होती है और केवल उपदेश से शंका का समाधान नहीं होता किंतु सगुण निर्गुण राम की कथा से शंका दूर हो जाती है। मानस के द्वितीय सोपान को लिखने से पूर्व तुलसी अपनी मति के अनुसार मर्म समझ चुके हैं :

तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा।
भाषाबद्ध करबि मै सोई। मोरे मन प्रबोध जेहिं होई।

१. कबीर बीजक रमैनी ७५
२. मानस १।३०। दोहा (क) (ख)
३. मानस १।३५।५, दोहा
४. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० २९

जस कछु बुधि बिबेक बल मेरें। तस कहिहउँ हियँ हरि के प्रेरें।
निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करउँ कथा भव सरिता तरनी।[1]

इस संबंध में श्री शिवनंदन सहाय ने लिखा है— 'गोसाईं जी ने उसी कथा को अपने मन के प्रबोध के हेतु भाषाबद्ध करके अपने ग्रंथ का नाम रामचरितमानस रखा है। अपने मन के प्रबोध के ही हेतु क्यों ? संसार के परम कल्याण के लिये इसकी अवतारणा हुई इसमें अणुमात्र भी संदेह नहीं।[2] अतः सगुण-निर्गुण राम की शंका मिटाने वाली कथा अध्यात्मरामायण का रचनाकाल तुलसी के बाल्यकाल और यौवनकाल के मध्य निश्चित होता है।

किंतु तुलसी ने शंका समाधान का सारा श्रेय गुरु को दिया है और गुरु की शंका-निवारक राम-कथा का भाषाबद्ध रूप अपने (तथा अपने युग के) मन के प्रबोध के हेतु आपने लिखा और केवल वही कथा लिखी जो शिव ने पार्वती के प्रश्न के उत्तर में कही :

कीन्ह प्रस्न जेहि भाँति भवानी। जेहि बिधि संकर कहा बखानी।
सो सब हेतु कहब मैं गाई। कथा प्रबंध विचित्र बनाई।[3]

अध्यात्मरामायण तथा मानस के द्वितीय सोपान के साक्ष्य को स्वीकार कर यह धारणा निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि अध्यात्मरामायण तुलसी के गुरु का सगुण-निर्गुण राम-संबंधी शंका का समाधान करने का कथामय उपदेश है।

गुरु ने शिव को इस उपदेशात्मक कथा का वक्ता बनाया है, तुलसी ने भी राम-कथा को शिव-चरित तथा शिव द्वारा कथित कहते हुए गुरु और शंकर का एकीकरण कर दिया है। अध्यात्मरामायणकार ने स्वयं शिव को गुरु माना है। वंदे सदगुरुं शंकरं स्वयम्।[4] तुलसी ने शिव रूपी गुरु की वंदना की है : वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।[5] और इसप्रकार तुलसी ने अध्यात्मरामायण के रचनाकार का अप्रत्यक्ष रूप से निर्देश कर दिया है।

प्रश्न यह है कि तुलसी के गुरु कौन हैं ? तुलसी के गुरु के विषय में अभी तक सर्वसम्मत निर्णय नही हुआ है। श्री रामनरेशत्रिपाठी ने तुलसी के गुरु नरसिंह माने हैं और इस संबंध में नर रूप हरि को आधार बनाकर हरि का अर्थ सिंह लिया है।[6] डॉ० माता प्रसादगुप्त ने नरहरि नाम के अनेक व्यक्तियों

---

१. मानस १।३१।१-२
२. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १४२
३. मानस १।३३।१
४. अध्यात्मरामायण प्रथम वंदना
५. मानस १। श्लोक-३
६. तुलसी और उनका काव्य, पृ० १०-११

के होने के कारण गुरु के प्रश्न को महत्त्व नहीं दिया है क्योंकि 'नरहरि या नरसिंह आदि को गुरु मानने से हमारी वास्तविक ज्ञान वृद्धि नहीं होती।'[1] एक विद्वान ने तुलसी के गुरु को अपार्थिव माना है और 'नर रूप हरि' से हनुमान् जी का अभिप्राय लिया है और 'गुरुम् शंकर रूपिणम्' से इसी मत की पुष्टि की है क्योंकि हनुमान शिव के रूप में हैं।[2]

किंतु हमारा गुरु से अभिप्राय उस पार्थिव व्यक्ति से है जिन्होंने बाल्यकाल से तुलसी की बाँह पकड़ कर अपना लिया : मीज्यो गुरु पीठ अपनाइ गहि बाँहि बोलि।[3] और जिन्होंने तुलसी को बार-बार रामकथा सुनाई एवं अंत में अध्यात्मरामायण के द्वारा उनकी शंका का समाधान किया। उस पार्थिव गुरु का नाम विद्वानों ने नरसिंह या नरहरि माना है। बाबू श्याम-सुंदरदास के अनुसार 'नरहरयानंद जी ने अपने शिष्य गोस्वामी तुलसीदास को प्रेरणा करके उनके कर्तृत्व से सगुण-राम-भक्ति का एक और ही स्रोत प्रवाहित कराया।[4] श्री भद्रदत्तशर्मा शास्त्री का मत है, 'उनके गुरु का वास्तविक नाम केवल नृसिंह है। 'तात नाम गुरोनाम नामाति कृपणस्यव' के अनुसार गुरु जी का नाम स्पष्ट नहीं लिखा है।'[5] डॉ० रामदत्त भारद्वाज भी यही मानते हैं, 'गोस्वामी तुलसीदास के गुरु नरसिंह (अर्थात् नृसिंह) एक आदरणीय ब्राह्मण व्यक्ति थे।'[6] डॉ० राजाराम रस्तोगी के अनुसार, 'संभावना यही होती है कि तुलसी के गुरु नरहरिदास ही हैं।'[7] किंतु इस विवाद में न पड़ते हुए हम तुलसी के गुरु को नरहरि की संज्ञा देते हैं। मानस में उल्लिखित इस एकमात्र अंतर्साक्ष्य को अस्वीकार करने का कोई पुष्ट कारण नहीं है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सर्वप्रथम संवत् १६३१ वि० में अवधपुरी में तुलसीदास ने रामचरित लिखना प्रारंभ किया और राम के मिथिलागमन से अयोध्या-प्रत्यावर्तन तक मर्यादित श्रृंगार-प्रधान काव्य लिखा। वाक्चातुर्य, नाटकीयता, लक्षणा और व्यंजना शक्तियाँ और नारी के

१. तुलसीदास, पृ० १७८
२. साहित्य संदेश भाग ११ १० अप्रैल १९५०, तुलसी के गुरु—फूलचंद जैन, पृ० ३६१
३. विनयपत्रिका पद ७६
४. कबीर ग्रंथावली, पृ० १३
५. तुलसी जन्मभूमि सूकर खेत, पृ० १४८
६. तुलसीदास घरबार, पृ० २३७
७. तुलसीदास, जीवन और विचारधारा, पृ० १२३

प्रति कोमल भाव इस काव्य की विशेषतायें हैं। राम के मर्म की बातें, सगुण राम के ब्रह्मत्व का प्रतिपादन इस काव्य का विषय न था। इस अंश की सफलता से प्रोत्साहित हो तुलसी ने अंगद-रावण-संवाद लिखा जिसका लक्ष्मण-परशुराम-संवाद से शैलीगत साम्य द्रष्टव्य है। इन दोनों अंशों के वाग्विदग्ध-रामभक्त मात्र लक्ष्मण और अंगद युवक तुलसी के व्यक्तित्व की प्रतिकृति है।

इस समय तुलसी के व्यक्तिगत जीवन में विप्लव उठ खड़ा हुआ और गृहस्थ तुलसी वैरागी तुलसी बन गये। इस समय तक नरहरिदास अध्यात्म-रामायण राम-हृदय से युद्धकांड की समाप्ति तक लिख चुके थे। तुलसी ने गुरु से अध्यात्मरामायण को ग्रहण किया। रामकथा का मर्म जो वह अब तक न समझ पाये थे अपनी मति अनुसार उनकी समझ में आगया और मर्म संबंधी युगगत् शंका को तथा अपनी शंका को निर्मूल करने के लिये और अपने मन के प्रबोध के लिये तुलसी ने सगुण राम के ब्रह्मत्व के संबंध में होने वाले पार्वती के मोह को दूर करने वाली गुरु-प्रणीत, शिव कथित अध्यात्म-रामायण की कथा को भाषाबद्ध करने का निश्चय कर लिया। नरहरिदास का देहावसान हो गया किंतु तुलसी नियमित रूप से अध्यात्मरामायण का बराबर पाठ करते रहे और उनका जीवन अध्यात्मरामायणमय हो गया। तुलसी ने अध्यात्मरामायण की छह कांडों की कथा को परंपरागत सात कांडों में लिखने के लिये युद्धकांड को लंकाकांड और उत्तरकांड में विभाजित कर दिया है और कथा की समाप्ति पर कालांतर में प्रारंभ में कुछ उपाख्यान और अंत में ज्ञान भक्ति की चर्चा मानस के तृतीय सोपान के रूप में सम्मिलित कर मानस को वर्तमान रूप दिया।

इसप्रकार तुलसी ने अध्यात्मरामायण के प्रथम अनुयायी होने का सौभाग्य प्राप्त किया और इस गुरु काव्य को, जिसमें शिव-पार्वती का वार्तालाप था, श्रद्धापूर्वक स्वीकार करते हुए गुरु का 'शंकररूपिणम्'[१] कहकर स्मरण किया। इन्हीं 'श्रीगुर'[२] की 'पद-नख-मनि की ज्योति से हृदय के निर्मल नेत्र खुल जाने पर जिस रामचरित मनिगानक[३] के दर्शन हुए उसी के रहस्य को इन्होंने भाषाबद्ध[४] कर दिया।

---

१. मानस १। श्लोक ३ २. मानस १।१।२
३. मानस १।१।४ ४. मानस १।३१।१

श्री श्रीरंजन सूरिदेव

रामचरितमानस और पउमचरिउ

राम अपने युग में ही युगपुरुष प्रमाणित हुए, अतएव समस्त भारत में ही नहीं, अखिल विश्व में भी इनकी कथा ने विस्तार पाया। बौद्धों ने राम को बोधिसत्व मानकर अपनी जातक-कथाओं में इन्हें प्रतिष्ठित किया, तो जैनों ने राम को 'पद्म' (=पउम) की संज्ञा से अभिहित कर रामकथा का प्रवर्तन किया। फलतः रामकथा काव्य की दो परंपराएँ प्रचलित हुईं : ब्राह्मण या वैदिक धर्म द्वारा स्वीकृत रूप और उसका जैन-बौद्ध रूपांतर। जैनों ने यद्यपि संस्कृत को भी रामकथा का माध्यम बनाया, तथापि मूलतः उनका माध्यम प्राकृत और अपभ्रंश रहा।

प्राकृत में रामकथा का काव्यनिबद्ध रूप प्रवरसेन के 'सेतुबंध' में उद्‌भावित हुआ है, किंतु समग्रता तथा प्रशस्त काव्य शिल्प की पुष्टि से समृद्ध जैन-रूपांतर विमलसूरि कृत 'पउमचरिय' में प्राप्त होता है, जिसकी रचना ईसा की तीसरी-चौथी शती में हुई। 'पउमचरिय' मूलतः प्राकृत में है, जिसका पल्लवित संस्कृत रूपांतर रविषेण ने ईसा की सातवी शती में 'पद्म चरित' नाम से किया है। इसप्रकार, बहुसंख्य जैन कवियों ने रामकथा को अपनी रचनाओं में अनुगुंफित किया एवं उनके माध्यम से धार्मिक जैनाचारों और जैन मान्यताओं को प्रतिष्ठा दी। इनमें कवि स्वयंभूदेवकृत अपभ्रंश जैनरामायण 'पउमचरिउ' (सातवीं-आठवीं शती) विशेषतया उल्लेखनीय है।

तुलसीदास-कृत 'रामचरितमानस' का मुख्य कथास्रोत संस्कृत की 'वाल्मीकिरामायण तथा कथा-संरचना का प्रमुख आधार संस्कृत 'अध्यात्म

रामायण' एवं अपभ्रंश के 'पउमचरिउ' को मानना अयुक्तियुक्त न होगा। क्योंकि, 'भक्तमाल' (नाभादास) का कथन है : 'कलि कुटिल जीव निस्तार हेतु वाल्मीकि तुलसी भये।' और, स्वयं तुलसी ने अपने 'रामचरितमानस' के बालकांड के मंगलाचरण में लिखा है : 'नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।' इस कथन में 'अन्यतोऽपि' से स्वयंभू कृत अपभ्रंश के 'पउमचरिउ' की ओर भी इंगित किया गया है, ऐसा कतिपय मानस विश्लेषकों का मत है। इस बात की परिपुष्टि एक प्रकार से 'रामचरितमानस' के अंतः साक्ष्य से भी होती है। तुलसी ने ग्रंथ-समाप्ति की पुष्पिका में लिखा है :

यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं।
श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यै तु रामायणम्।
मत्वा तद्रघुनाथनाम निरतं स्वान्तस्तमः शान्तये।
भाषाबद्धमिदंचकार तुलसीदासस्तथा मानसम्।[१]

उक्त श्लोक में 'कृतं सुकविना श्रीशम्भुना' आदि शब्दावली के प्रयोग के आधार पर कतिपय टीकाकारों ने यह संकेतार्थ निकाला है कि सुकवि स्वयंभू ने पहले जिस दुर्गम रामायण की रचना की, उसी को तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' के रूप में भाषाबद्ध किया।

जो भी हो, इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि तुलसी ने 'वाल्मीकि रामायण', 'अध्यात्मरामायण' और 'पउमचरिउ' की रामकथा का अपने 'मानस' में विशेष दृष्टिकोण से नव्य संयोजन किया। मर्यादावादी तुलसीदास में संशोधन-संस्कार की विलक्षण प्रतिभा ही नहीं थी विलक्षण दृष्टि भी थी। उन्होंने अपनी रामकथा का संयोजन विशेषतया सामाजिक संस्कार की दृष्टि से किया है, जिसे उनके शास्त्रीय ज्ञान तथा प्रतिभा और परंपरा को आत्मसात् करने की दुर्लभ शक्ति ने काव्य की शाश्वती महत्ता प्रदान की है।

'रामचरितमानस' और 'पउमचरिउ' श्रेष्ठ चरितकाव्यों में अपने वरेण्य स्थान अधिकृत करते हैं। चरितकाव्यों में, लौकिक साहित्य में प्राप्य तत्त्वों के कथात्मक आख्यान का महत्त्व तो सन्निविष्ट रहता ही है, धार्मिक भावों की अभिव्यक्ति के लिए काव्यगुणों का विन्यास भी पाया जाता है। तत्त्वतः, कथोपकथनों की शृंखला के नैरंतर्य द्वारा उपदेशमूलक या नीतिपरक इतिवृत्त का चित्रलेखन ही चरितकाव्य का प्रयोजन होता है। छंदों की विविधता एवं

१. मानस ७।१३० ख श्लोक १

यथाप्रसंग अलंकृत वर्णनों के द्वारा चरितात्मक काव्यकल्प को नवीन स्फूर्ति, नूतन गति और अभिनव भंगिमा प्रदान की जाती है। जाति और वंश का अनुवर्त्तन एवं साधना, आचार और दर्शन के साथ ही वैचारिक चिंतन चरित काव्य को विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। कुल मिलाकर, चरित्रोद्भावक सांस्कृतिक चेतना ही चरितकाव्य का प्रमुख प्रतिपाद्य तथ्य है। वस्तुतः, प्रबंध काव्य का ही एक मनोरम रूपयोजना चरितकाव्य है। चरितकाव्य के कवि अपनी मनोहारिणी कल्पना एवं समग्रात्मक समानुभूति के द्वारा ऐतिहासिक एवं पौराणिक तथ्यों और तिथियों को मधुमय बनाकर धार्मिक आच्छादन में उपन्यस्त करते हैं। निष्कर्ष यह कि आदर्शात्मक निबंधन प्रबंधकाव्य के लिए आग्रह बना, तो चरितनायक के उत्कर्ष-पूर्ण लौकिक जीवन का चरित्रोद्घाटन ही चरितकाव्य का लक्ष्य हो गया। 'रामचरितमानस' और 'पउमचरिउ' यद्यपि अपने उदात्त काव्यगुणों के कारण महाकाव्य की कोटि में परिगणनीय हैं, तथापि इन्हें हम महाकाव्यगुणभूयिष्ठ चरितकाव्यों में शीर्षण्य मानते हैं।

अपभ्रंश या हिंदी-काव्य बहिरंतः प्राकृत-काव्य की परंपरा से अविच्छिन्न अभिन्न रूप से संबद्ध है। अतः, प्राकृत-चरितकाव्यों की जो विशेषताएँ विद्वानों ने निर्धारित की हैं, वे पूर्णरूप से अपभ्रंश और हिंदी के चरितकाव्यों में भी उपलब्ध होती हैं। उनके परिप्रेक्ष्य में 'पउमचरिउ' और 'रामचरितमानस' का परिशीलन पर निम्नांकित विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं।

कथावस्तु की व्यापक और गहन अन्विति; कथावस्तु के प्रवाह एवं उसकी हृत्स्पर्शिनी शक्ति के संतुलन के लिये संधियों, सोपानों या कांडों के संयोजन में प्रगाढ़ संश्लिष्टता; कथानक में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए परिस्थितियों का निपुण नियोजन; जीवन और जगत संबंधी उपदेश; कथावस्तु में रोचकता और रमणीयता बनाये रखने के लिए मूल कथानक से संबंध और असंबद्ध देश, काल एवं पात्रों का प्रभावक परिन्यास, पात्रों के चरित्रों का द्वंद्वात्मक विकास; पाठकों का साधारणीकरण या मधुमती भूमिका में पहुँचाने के लिए पात्रों के शील वैचित्र्य की उत्कृष्टता का रसात्मक रमणीय वर्णन; चरित-वर्णन में अस्वाभाविकता और तज्जन्य नीरसता से पाठकों को बचाने के लिए सर्वसाधारण मानवों की भाँति पात्रों के चरितों में उतार-चढ़ाव का तारतम्य; जीवन के विविध सामान्य व्यापारों, जैसे प्रेम, विवाह, वियोग, मिलन, सैनिक अभियान, युद्ध, जय-पराजय आदि का चित्रण; नानाप्रकार के विघ्नों एवं उपसर्गों का निरूपण; परिस्थितियों के कौशलपूर्ण एव मनोवैज्ञानिक नियोजन

द्वारा नायक के चरित का उद्भावन; कथात्मक घटना एवं काव्यात्मक वर्णन में समन्वय; पात्रों और परिस्थितियों के संपर्क और संघर्ष से सामाजिकों के हृदय में रसनिष्पत्ति; धार्मिक वृत्तियों, पौराणिक विश्वासों और विस्मयकारी औत्सुक्यपूर्ण प्रवृत्तियों की प्रतिष्ठा; जीवन की समग्रता के चित्रण के साथ पात्रों के चरित्र-विकास के हेतु जीवन के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन; मूलकथा और अवांतर कथाओं के वर्णन में सामंजस्य; भावों, विभावों, अनुभावों एवं संचारी भावों का समीचीन विन्यसन; शैली की रोचकता, गंभीरता, उदात्तता एवं भाषा की सुष्ठुता, सरलता, सारगर्भता आदि। कहना न होगा कि तुलसीदास और स्वयंभू ने अपने-अपने महाकाव्यात्मक चरितकाव्यों में उक्त समस्त रचनाधर्मों का सुप्रयोग किया है।

साहित्यिक अपभ्रंश में निबद्ध 'पउमचरिउ' की रामकथा ब्राह्मणों की राम-कथा से भिन्न जैनधर्मानुसारिणी है। पूरा ग्रंथ पाँच कांडों और नब्बे संधियों में विभक्त है। सर्ग समाप्ति की सूचना, 'संधि' से दी गई है। कहीं-कहीं 'बीसहिं आसासएहिं' (बीसवाँ आश्वास) या 'णवतिमो सग्गो' (नब्बेवाँ सर्ग) द्वारा भी समाप्ति-सूचना मिलती है। बीच-बीच में संस्कृत-पद्यों का भी प्रयोग मिलता है। तुलसीदास की तरह स्वयंभू ने भी प्रारंभ में सज्जनों के साथ ही दुर्जनों का भी स्मरण किया है एवं गर्वोक्ति-परिहार के साथ वे अपनी अज्ञता एवं विनय का प्रदर्शन करना भी नहीं भूले हैं। कथा के प्रधान पात्रों में जिन-भक्ति की पराकाष्ठा दिखलाई गई है। काव्योपयोगी अनेकानेक सुंदर एवं रुचिर वर्णन तो हैं ही, महाकाव्यों के अनुकूल ऋतु-वर्णन भी बड़ा मनोहारी बन पड़ा है। काव्य के विषय-विस्तार के क्रम में सृष्टि-वर्णन के साथ ही जंबूद्वीप की स्थिति, कुल-करों की उत्पत्ति एवं लंका में स्थित देवताओं, विद्याधरों आदि के वंशों का चित्रण भी उपन्यस्त हुआ है। वर्ण्य विषय में धार्मिक भावना का रंग चढ़ाया गया है, जिसमें जैनों के धार्मिक आचार, संस्कार एवं पौराणिक धर्मविरोधी धाराएँ भी अभिव्यक्त हुई हैं। वीररस के साथ ही करुणरस और शृंगार के साथ ही शांतरस का पुंखानुपुंख उद्भावन हुआ है।

'पउमचरिउ' में रामकथा के काव्यात्मक, परंतु धर्माश्रयी रूप के प्रति कवि विशेष आग्रही दिखाई पड़ते हैं। जैनकवि धार्मिकता-पूर्ण उपदेश की बहुलता के चित्रकार रहे हैं, इसीलिए 'पउमचरिउ' के कवि में भी मिथ्यात्व और वैराग्य वर्णन की सहज अभिभूति परिलक्षित होती है। कवि स्वयंभूदेव ने प्रकृति-वर्णन में अलंकारप्रियता के साथ ही लोकनिरीक्षण-पटुता का बड़ा पुष्ट परिचय प्रस्तुत

किया है। सीता के सौंदर्य-निरूपण के क्रम में वाग्विदग्ध कवि ने अनेक परंपरागत उपमानों का प्रयोग किया है :

थिर कलहंस-गमण मइ-मंथर। किस मज्झारे णियंबे सुवित्थर।
रोमावलि मयरहरुतिण्णी। णं पिंपिल-रिंछोलि विलण्णी।
रेहइ वयण-कमलु-अकलंकउ। णं माणस-सर विअसिउ पंकउ।
घोलइ पुट्ठिहि वेणि महाइणि। चंदण लयहिं ललइ णं णायणि।
घत्ता : किं बहु जंपिएण तिहिं भुयणिहिं जं जं चंगउ।
तं तं मेलवेवि णं, दइवे णिम्मिउ अंगउ।[1]

उपर्युक्त वर्णन में कलहंसगमना, कृशमध्या, विशालनितंबा आदि विशेषण परंपराभुक्त हैं। मुख को कमल से, पीठ पर लहराती वेणी को चंदनलता पर लिपटी नागिन से उपमा देकर जहाँ परंपरा का पालन किया गया है, वहीं रोमावली की पिपीलिका-पंक्ति से उपमा देकर कवि ने लौकिक जीवन की निरीक्षण पटुता का परिचय दिया है। इन सब विशेषणों से सीता के स्थूल अंगों का ही चित्र पाठकों की आँखों के समक्ष उभर कर आता है, उनके आंतरिक सौंदर्य का कुछ भी आभास नहीं मिलता। किंतु, तुलसीदास की सीता सामान्य नायिका न होकर जगज्जननी-स्वरूपा हैं, इसलिए उन्होंने मर्यादापुरुषोत्तम राम की धर्म पत्नी सीता के आंतरिक सौंदर्य का ही साग्रह अंकन किया है। सीता के सात्विक सौंदर्य के वर्णन में रससिद्ध कवि तुलसी ने अपनी जिस मर्यादित काव्य-प्रतिभा को प्रतिष्ठा दी है, उसकी द्वितीयता नहीं है :

सुंदरता कहुँ सुंदर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई।
सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहिं पटतरौं बिदेहकुमारी।[2]
सिय बरनिअ तेइ उपमा देई। कुकबि कहाइ अजसु को लेई।
जौं पटतरिय तीय सम सीया। जग असि जुबति कहाँ कमनीया।
जौं छवि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छपु सोई।
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू।
एहि बिधि उपजै लच्छि जब सुंदरता सुखमूल।
तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय समतूल।[3]

सीता के उक्त सौंदर्य-वर्णन में मानस के टीकाकारों ने विवेचना करते हुए कहा है कि जिस सुंदरता के समुद्र को कामदेव मथेगा, वह सुंदरता भी प्राकृत या लौकिक सुंदरता ही होगी ; क्योंकि कामदेव स्वयं भी त्रिगुणमयी प्रकृति का

१. पउमचरिउ ३८।३ २. मानस १।२३०।४ ३. मानस १।२४७।२,४ दोहा

ही विकार है। अत:, उस सुंदरता को मथकर प्रकट की हुई लक्ष्मी भी उपर्युक्त लक्ष्मी की अपेक्षा कहीं अधिक सुंदर और दिव्य होने पर भी प्राकृत ही होगी, अत: उसके साथ भी जानकीजी की तुलना करना कवि के लिए बड़े संकोच की बात होगी। जिस सुंदरता से जानकीजी का दिव्यातिदिव्य परम दिव्य विग्रह बना है, वह सुंदरता उपर्युक्त सुंदरता से भिन्न अप्राकृत है। वस्तुत:, लक्ष्मीजी का अप्राकृत रूप भी यही है। वह अप्राकृत रूपवाली लक्ष्मी कामदेव के मथने से नहीं आ सकती। साथ ही, वह लक्ष्मी जानकीजी का ही प्रतिरूप है, अत: सीता उनसे (लक्ष्मी से) भिन्न नहीं हैं और उपमा दी जाती है भिन्न वस्तु के साथ। इसके अतिरिक्त जानकी जी प्रकट हुई हैं स्वयं अपनी महिमा से, उन्हें प्रकट करने के लिए किसी भिन्न उपकरण की अपेक्षा नहीं है। अर्थात्, शक्ति शक्तिमान् से अभिन्न, अद्वैत तत्त्व है, इसीलिए अनुपमेय है। इसी गूढ़ दार्शनिक तत्त्व को भक्तशिरोमणि कवि तुलसी ने अभूतोपमालंकार द्वारा बड़ी शुचिता और रुचिरता से व्यक्त किया है। कहना न होगा, कवि स्वयंभू तुलसीदास की इस वर्णन-वैदग्ध्य की गंभीरता तक पहुँचने में असमर्थ रहे हैं। लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि स्वयंभू द्वारा वर्णित सीता-सौंदर्य-माधुरी की स्थूलता को आंतरिकता प्रदान कर पूर्ववर्ती भक्तिधारा का सांस्कृतिक उपबृंहण (स० रा० में) किया है। इतना ही नहीं, पूरे 'रामचरितमानस' के विषय और प्रवृत्तिगत प्रस्तुतीकरण में तुलसी की दृष्टि नितांत आध्यात्मिक रही है।

कविराज स्वयंभूदेव, कला और भाव-संवेदना की दृष्टि से निश्चय ही प्रौढ़ शिल्पी हैं, किंतु तुलसीदास शास्त्रदीक्षित कवि होने के साथ ही सांस्कृतिक जागरण के संघटक हैं। स्वयंभूदेव की काव्य-संपदा रामचरित का वैशिष्ट्य है, तो रामाख्यान की अध्यात्मिक भावभूमि पर नवीन संरचना तुलसी का कृतित्व है। तुलसी के 'रामचरितमानस' की रचनाशैली का बहिरंग स्वयंभूदेव के 'पउमचरिउ' को अनुकृत करता है, तो अंतरंग 'वाल्मीकि रामायण' एवं 'अध्यात्मरामायण' पर आश्रित है। भाषा की दृष्टि से स्वयंभू की अपभ्रंश की प्रांजल परंपरा का विकास तुलसी की हिंदी में आकर हुआ, इसीलिए 'पउमचरिउ' प्राकृत-काव्यधारा और मध्यकालीन हिंदी-काव्यधारा की अनिवार्य पीठिका के रूप में स्वीकृत हुआ।

कथानक की दृष्टि से भी स्वयंभू ने अनेक विस्मयकर वर्णन-योजनाएँ उपन्यस्त की हैं। 'पउमचरिउ' के कतिपय आख्यान 'रामचरितमानस' के आख्यानों से इतने विपरीत हैं कि वे भारतीय जनता के परंपरागत रामकथा-

संस्कार को उद्वेलित कर देते हैं। जैसे : विभीषण द्वारा जनक और दशरथ के मरवाने का असफल प्रयत्न; जनक के घर में सीता और उसके भाई भामंडल की उत्पत्ति; नारद का सीता पर कोप; विद्याधर चंद्रगति द्वारा जनक के अपहरण का आदेश; भामंडल का अपनी बहन सीता के प्रति कामासक्त होना; वन-प्रस्थान-बेला में राम का अयोध्यानगर में सुरत-युद्ध देखना; शूर्पणखा की जगह चंद्रनखा तथा चंद्रहास खड्ग की जगह सूर्यहास खड्ग की चर्चा; सीता के प्रति रावण की कामवासना और कामदशाएँ; राम का मूर्च्छित होना; रावण का सीता को यान द्वारा लंका घुमाना आदि-आदि प्रमुख कथाओं के अतिरिक्त अनेक ऐसी अवांतर कथाएँ हैं, जिनमें काव्यानंद तो है, किंतु तुलसी के द्वारा निरूपित कथा प्रसंगों जैसी प्रेम की अंतरंगता, भक्ति की उदात्तता और मर्यादा की पवित्रता का सर्वथा अभाव है। 'पउमचरिउ' में घटना और काव्यत्व दोनों की प्रचुरता विद्यमान है, किंतु 'रामचरितमानस' जैसी सामाजिक संरक्षणात्मक संरचना का परिपुष्ट विनियोग नहीं।

'पउमचरिउ' के राम सामान्य नायक हैं और सीता सामान्य नायिका। किंतु 'रामचरितमानस' के राम मानव-रूप में परब्रह्म के अवतार हैं। उन्होंने सामाजिक अव्यवस्था को दूर करने के निमित्त अवतार ग्रहण किया था। ऐसी स्थिति में सीता शक्तिस्वरूपा हैं, राम के समस्त कार्यों की प्रेरणा हैं एवं सामाजिक आचार की मर्यादा या प्रतिष्ठा हैं। 'पउमचरिउ' में वैदिक आचार-पद्धति और उसके ज्ञान का प्रत्याख्यान है, किंतु 'रामचरितमानस' में धार्मिक उत्थान के माध्यम से सांस्कृतिक एकीकरण का पावन संदेश है।

स्वयंभू के स्थितिकाल (ईसा की ७ वीं शती के अंत या ८ वीं शती का प्रारंभ) से तुलसी का स्थितिकाल (१६ वीं शती) सर्वथा भिन्न है। स्वयंभू का पारिवारिक जीवन सुखी, संपन्न एवं भरा पूरा था। आश्रयदाताओं के बीच एवं समाज में उनकी अच्छी ख्याति थी। निराश और कटुता की झलक उन्होंने कम देखी थी। उनके समय सामाजिक स्थिति अनुद्वेलित थी। किंतु, तुलसी का व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन निराशा, कटुता और जटिलता से भरा हुआ था। उनके समय में गार्हस्थ्य-जीवन टूट रहा था और समाज में विघटन, अनाचार तथा अराजकता का विस्तार हो रहा था। राज्यशक्ति चंचल हो रही थी और सामाजिक व्यवस्था विचलित। यही कारण है कि स्वयंभू ने जहाँ 'पउमचरिउ' में केवल काव्य की चिंता की, वहाँ तुलसी ने 'रामचरितमानस' में काव्य को समाज के उद्धारक के रूप में प्रस्तुत किया। तुलसी के राम अयोध्या

के नरेश थे, सम्राट थे, अनुशासन स्थापित करने वाले थे, इसीलिए उन्होंने सामाजिक व्यवहार की रक्षा के लिए सीता का समुद्धार किया था।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने तुलसीदास के प्रादुर्भाव को हिंदी काव्य क्षेत्र का चमत्कार स्वीकार किया है और उन्हें उत्तरी भारत की समग्र जनता का प्रतिनिधि कवि घोषित किया है। ज्ञातव्य है कि बारहवीं से पंद्रहवीं शती तक रामकथा का व्यापक प्रसार होता रहा और भारत की प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं में रामकाव्य की रचना हुई। राम के ईश्वरत्व की घोषणा करने वाले संस्कृत-ग्रंथों का भी अभाव नहीं है, किंतु सोलहवीं शती में रचित तुलसी का 'रामचरितमानस' अपने ग्रंथनकौशल से संपूर्ण राष्ट्र का प्रतिमान बन गया, राष्ट्रीय ग्रंथ हो गया।

स्वयंभू राम-साहित्य के अधिकांशतः श्रृंगारी रूप के प्रवर्त्तक हैं, किंतु तुलसी के रामचरित की विशेषता उसका वैचारिक एवं आधुनिक संतुलन है, जो संपूर्ण मानव जीवन के परिवृत्त को मर्यादित करता है स्वयंभू ने 'जिन भक्ति' का महात्म्य तो प्रदर्शित किया है। लेकिन, तुलसी की तरह वे अपने रामचरित के पात्रों को राम की व्यापकता से अभिभूत नहीं कर सके हैं। तुलसी और राम के व्यक्तित्व में इतना सफल समन्वयवाद संघटित हो गया है कि राम और तुलसी का अंतर ही मिट गया है। ईश्वर जिस प्रकार अखिल चराचर में व्याप्त है, उसी प्रकार तुलसी के राम भी मानस के प्रत्येक सदसत् पात्रों में अंतर्व्याप्त हैं। कहना न होगा कि तुलसी ईश्वरानुभूति के परिप्रेक्ष्य में नव्य जागरण की अभिव्यंजना के कौशल में संपन्न समाजसुधारक कविर्मनीषी थे।

'पउमचरिउ' के विद्वान कवि परंपरागत काव्य-विधाओं और शैलियों से परिचित हैं, साथ ही काव्य की काव्यशास्त्रीय चिंता के लिए भी उन्निद्र हैं; किंतु 'रामचरितमानस' के बहुश्रुत कवि तुलसीदास सुदुर्लभ काव्यशक्ति से समेधित तो हैं ही, अल्पधी व्यक्तियों के लिए सुखात् चतुर्वर्ग-फलप्राप्ति कराने की सारस्वत क्षमता से भी समलंकृत हैं, साथ ही जागरणधर्मा कवि होने के कारण उनका काव्यादर्श भी उच्चकोटि का है इसीलिए, हिंदी-साहित्त्य का नया इतिहास के कृतधी लेखक डॉ० रामखेलावन पांडेय ने तुलसी को मुख्यतया संवेदनात्मक सजगता, सचेत संबोधि एवं भावात्मक उदात्तता के कवि के रूप में स्वीकार किया है। केवल वर्णाश्रमाश्रित लोक मंगल-विधान करने के कारण

ही तुलसी हिंदी-साहित्य के इतिहास के उल्लेख्य कवि नहीं हैं, अपितु उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में भी नवीन दृष्टि का सफल और सबल विनियोग किया है।

'पउमचरिउ' के राम प्रबंधात्मक विधाओं के नायक हैं, किंतु 'रामचरित मानस' के राम मर्यादापुरुषोत्तम लोकनायक हैं। स्वयंभू राज्याश्रित कवि हैं, राजसभाओं की गतिविधि एवं रुचि-संस्कार से पूर्ण परिचित हैं। 'पउमचरिउ' और 'रामचरितमानस' में लगभग आठ सौ वर्षों का अंतर है। तुलसी अपने ही चार चने पर पलने वाले मनस्वी कवि हैं। उनको किसी राजा-महाराजा की परवाह नहीं है। उनके लिए संपूर्ण सर्वस्व तो केवल राम ही हैं। इसीलिए, उन्होंने तद्गतेन मनसा राम के चरित्र की अवतारणा की है। वाग्वैदग्ध्य, वाक्यपटुता, प्रत्युत्पन्नमतित्व, चमत्कारपूर्ण भंगिमा एवं कथन में अंतर्निहित प्रौढ़ व्यंजना आदि राजसभाओं के सम्मानित गुण थे, इसलिए राजसभाश्रित स्वयंभू के 'पउमचरिउ' से सर्वहारावर्ग के प्रतिनिधि तुलसी के रामचरितमानस की कथाभूमि सर्वथा भिन्न हो गई। स्वयंभू और तुलसी, दोनों के संस्कार भी भिन्न हैं। दोनों के पाठकों और श्रोताओं में काल और प्रवृत्तिगत पार्थक्य है। दोनों में परंपरागत भिन्नता का भी संश्लेष है। तुलसी की प्रवृत्ति संघटनात्मक है, अतः भावात्मक प्रसंगों की ओर उनकी दृष्टि सहजभाव से गई है; किंतु स्वयंभू ने नाटकीय पद्धति का प्रबंधात्मक संयोजन किया है। स्वयंभू की इसमें महत्ता भी है, विवशता भी।

फिर भी, ज्ञातव्य है कि तुलसी की आंकाक्षा जिस परिवेश में जीवित रह कर पुष्पित-पल्लवित हुई, उसी परिवेश में उनके पूर्व स्वयंभू की रामकथा वहाँ के जन-जीवन में परिव्याप्त हुई थी। तुलसी ने सम्मिश्रित या समन्वितिपूर्ण भाव और भाषा-शैली में अपने ढंग से रामकाव्य का निर्माण करके स्वयंभू की राम-कथा की परिव्याप्ति को तात्कालिक एवं तत्कालीन युगबोध के रूप में सार्वभौमता प्रदान की, इसमें संदेह नहीं। कवि स्वयंभू ने, प्रबंध काव्य-शैली की पारंपरिक प्रासंगिकता के अनुरोध के कारण, 'पउमचरिउ' में शृंगारी वर्णन अधिक किये हैं, किंतु तुलसी का कविकर्म इसीलिए अतिशय दुष्कर एवं अननुकरणीय है कि उन्होंने प्रत्येक रस की स्थिति का वर्णन करके भी अपनी काव्यशक्ति एवं भाषा-विन्यास-नैपुण्य तथा जल-वीचिसम शब्द और अर्थ की प्रयोगपुंगवता से अपनी मानस-रचना को कूटस्थ ब्रह्म की तरह उदात्त और सार्वभौम रूप देने में पार्यंतिक या सीमांतभेदिनी सफलता आयत्त की है। स्वयंभू की रामकथा का विस्मय-कारी उत्तर विकास 'रामचरितमानस' है, जो सामाजिक संघटन को समर्थ

बनानेवाले अपने धार्मिक आग्रह से परिपूर्ण समाज के स्थिरीकरण की अंतरंग क्षमतावाली मान्त्रिक वाणी सिद्ध हुआ है।

संरचना की दृष्टि से, 'रामचरितमानस' में 'पउमचरिउ' का अनुसरण किया गया है। जैसा पहले भी कहा गया है, 'पउमचरिउ' के पाँच कांड नब्बे संधियों में समाप्त हुए हैं। पाँचों कांडों की अभिधाएँ इस प्रकार हैं : विधाधर कांड, अयोध्याकांड, सुंदरकांड, युद्धकांड, और उत्तरकांड। किंतु, 'रामचरित-मानस' को तुलसी ने सात कांडों या सोपानों (नवाह्न पारायण के नौ तथा मासपारायण के तीस विश्रामों) में पूरा किया है। सातों कांडों के नाम हैं : बालकांड, अयोध्याकांड, अरण्यकांड, किष्किंधाकांड, सुंदरकांड, लंकाकांड और उत्तरकांड। 'पउमचरिउ' में 'कड़वक' के बाद 'घत्ता' रखा गया है, और बीच-बीच में संस्कृत के श्लोकों के अलावा दुवई, मंजरी, शाल-भंजिका, आरणाल, पद्धडिका, विलासिनी, प्रमाणिका, समानिका, भुजंगप्रयात आदि अनेक छंदों का प्रयोग किया गया है। 'रामचरितमानस' में भी 'चौपाई' के बाद 'दोहा' आया है, और बीच-बीच में सोरठा एवं छंदों तथा संस्कृत के विविध छंद प्रयुक्त हुए हैं। प्रत्येक कांड के प्रारंभ में अनेक प्रकार के छंदों (उपजाति, शार्दूलविक्रीडित स्रग्धरा, तोटक आदि) में सुललित संस्कृत-श्लोकों द्वारा मंगलाचरण प्रस्तुत किया गया है और अंत में रामचरितमानस को 'सकलकलिकलुषविध्वंसन' कहकर संस्कृत में समाप्ति-पुष्पिका दी गई है। समाप्ति में 'सोपानों' की सूचना है। 'कांड' की नहीं। जैसे : 'इति श्रीमद्रामचरितमानससे सकलकलिकलुषविध्वंसने प्रथमः सोपानः समाप्तः।' लेकिन, 'पउमचरिउ' में 'कांड' की ही समाप्ति-सूचना है। जैसे : अउज्झाकांड समत्तं।

यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि अयोध्याकांड की समाप्ति-पुष्पिका में स्वयंभू की जगह उनकी पत्नी आदित्य देवी द्वारा उक्त कांड के लिखे जाने की सूचना दी गई है। जैसे: 'आइच्चुएवि पडिमोवमाए आइच्चम्विमाए। वीअमउज्झाकांड सयम्भु-घरिणीए लेहवियं। (अर्थात्, आदित्यदेवी की प्रतिमा से उपमित स्वयंभू कवि की पत्नी आदित्यदेवी द्वारा लिखित यह दूसरा अयोध्याकांड समाप्त हुआ।) स्वयंभू के दो विदुषी पत्नियाँ थीं : अमृतांबा और आदित्यांबा। स्वयंभू कवि के पिता का नाम मारुत और माता का नाम पद्मिनी था। कहते हैं, इनके पुत्र त्रिभुवन ने स्वयंभू की प्रस्तुत कृति 'पउमचरिउ' के अधूरेपन को पूरा करते हुए इसमें अपनी ओर से कुछ संधियाँ जोड़ दी हैं। स्वयंभू ने धनाधिप धनंजय के आश्रय में रहकर 'पउमचरिउ' की रचना की थी। किंतु, तुलसी

अभुक्तमूल नक्षत्र में उत्पन्न होने के कारण माता-पिता द्वारा त्यक्त एवं पत्नी रत्ना द्वारा प्रताड़ित दर-दर के भिखारी थे और उन्होंने अपने जीवन में केवल रामकृपा का ही भरोसा किया। इसलिए, तुलसी का जो कुछ भी वैशिष्ट्य है। स्वार्जित एवं स्वात्त है। भगवत्कृपा से ही उन्हें भव्यता प्राप्त हुई और देवदया से ही उन्होंने दिव्यता उपलब्ध की।

भाषा की दृष्टि से, प्रस्तुत दोनों ही चरितकाव्यों की सरलता एवं प्रसाद-गुणयुक्तता की द्वितीयता नहीं है। दोनों कवियों ने ऐसे उपमानों के प्रयोग किये हैं, जिनसे उनके जनसाधारण के साथ निकट परिचय का संकेत मिलता है। तुलसी वेद-वेदांगपारंगत एवं साहित्यशास्त्र के निष्णात कवि थे, इसलिए उनके वर्णन कहीं भी असंबंध या कवि-संप्रदाय-विरुद्ध नहीं हुए हैं, किंतु स्वयंभू के वर्णनों में आवेग एवं कवि-संप्रदाय विरुद्ध आसंग भी आये हैं। तुलसी यदि मर्यादित ऋतु वर्णन के लिए प्रसिद्ध हैं, तो स्वयंभू उद्दाम जलक्रीड़ा-वर्णन के लिए प्रख्यात हैं। कुल मिलाकर, 'पउमचरिउ' के वर्णन में जहाँ काव्य-परंपरा के विषयगत विस्तार का अधिक आग्रह है, वहाँ 'रामचरितमानस' में काव्योपयुक्त प्रसंग का सुंदरता के साथ परिष्कृत अंकन हुआ है। स्वयंभू रसात्मकता के पक्षपाती हैं, तो तुलसी रमणीयता के आग्रही। स्वयंभू ने जहाँ प्रकृति के उद्दीपक रूपों के वर्णन में अधिक अभिरुचि ली है, वहाँ तुलसी ने प्रायः आलंबनात्मक रूपों का आश्रय लिया है। किंतु, अलंकारप्रियता, सूक्ष्मनिरीक्षण-शक्ति एवं लोकदर्शन की भावना की अभिव्यक्ति का जहाँ तक प्रश्न है, दोनों कवि अपनी-अपनी जगह अतुलनीय क्षमता की वर्चस्विता से विभासित हैं। फलतः, 'को बड़ छोट कहत अपराधू' की स्थिति उपस्थित हो गई है। फिर भी, तुलसी ने अपने मानस के द्वारा राम का सगुण भक्ति के माध्यम से भारत की सामाजिक स्थिति के यथार्थबोध का संरचनात्मक रूप उपस्थित करने की जो महनीय प्रचेष्टा की, उससे उन्होंने जन-जीवन के परिप्रेक्ष्य में कवि धर्म की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध कर दी है।

राजा ईश्वर का पार्थिव प्रतिनिधि है, समाज का या राज्य का व्यवस्थापक है। तुलसीकालीन भारत के मध्यकाल की सामाजिक स्थिति अराजक थी भारतीय समाज विघटित हो रहा था। ऐसी स्थिति में तुलसी ने इस बात की आवश्यकता का तीव्रता से अनुभव किया था कि समाजकल्प की व्यवस्था के लिए ऐसे आदर्श की अपेक्षा है, जो उपयुक्त संरचनात्मक संघटन के आग्रह को समन्वित भाव से रूपायित कर सके। फलस्वरूप, उन्होंने समाज को राम का आदर्श

दिया, जो सामाजिक स्थिति के कारण उत्पन्न सांस्कृतिक संकट से मुक्ति की भव्योज्वल परिणति सिद्ध हुआ। तुलसी ने मानस की रचना स्वांतः सुखाय की थी। अतः हृदयगत भाव की सहज अभिव्यक्ति के कारण भावानुभूति में स्वभाविकता का सुंदर समावेश हुआ है। किंतु, स्वयंभू की काव्यरचना प्रचार-दृष्टात्मक होने के कारण उसमें वैसी तीव्रता और सुंदरता का स्पष्ट अंकन नहीं हो पाया है। स्पष्ट है कि कलाकार यदि कला-प्रदर्शन, कला-प्रचार, यशोलिप्सा आदि भावों से निरपेक्ष रहकर अपने हृदय की तीव्रानुभूति को गंभीरता से अभिव्यक्त करना ही अपना लक्ष्य समझता है, तो उसकी कला में एक विशिष्ट सौंदर्य दृष्टिगत होता है। स्वयंभू की प्रचार-भावना के कारण उनके काव्यत्व की ज्योति कुछ मद्धिम हो गई है, किंतु कथा की लौ तेज है। कहना अप्रासंगिक न होगा कि आगे चलकर हिंदी में जिस उपन्यास-विधा का विकास हुआ, उसका आभास इस प्रकार के चरित्र काव्यों में ही मिलता है।

स्वयंभू और तुलसी, दोनों युगधर्मा कवियों ने रामकथा को सर और सरिता से उपमित किया है :

(क) रामचरितमानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा।
मन करि विषय अनल बन जरई। होई सुखी जौं एहिसर परई।[1]

(ख) राम कहा सरि एह सोहंती।[2]

तुलसी का 'रामचरितमानस' यदि भक्ति, ज्ञान और वैराग्य से लबालब अगाध सरोवर है, तो स्वयंभू का 'पउमचरिउ' काव्यकथा के प्रवाह से सतत गतिशील सरिता। तुलसी का मानस-सरोवर यदि अतलस्पर्श है, तो स्वयंभू के 'पद्मचरित' की सरिता का स्रोत सदानीर बना हुआ है।

निष्कर्षतः अपभ्रंश में रामकथा की क्रोशशिला बने स्वयंभू, किंतु रामभक्ति का सार्वभौम प्रतिमान बने तुलसीदास। स्वयं ने 'पउमचरिउ' द्वारा रामकथा को लोकजिह्वा का स्पर्श दिया, तो तुलसी ने 'रामचरितमानस' के द्वारा रामकथा में भक्ति और माधुर्य का सहज समन्वयन करके उसे जन-जन के अंतर्मन में प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार, दोनों कविपुंगव अजस्रवाहिनी रामाश्रयी काव्यधारा के कूटस्थ युग-प्रतिनिधि बन गये हैं।

---

१. मानस १।३५।४ २. पउमचरिउ १।२

डॉ० रामेश्वरदयालु अग्रवाल

रामचरितमानस और कंबरामायण

रामकथा भारत के जन-जन का प्राण है। भारतवर्ष की अधिकांश प्रादेशिक भाषाओं में वाल्मीकीय रामायण या अध्यात्मरामायण का आधार लेकर रामकाव्यों की रचना की गई, पर ये इन ग्रंथों के अनुवाद न होकर इनके आधार पर रचे गये मौलिक ग्रंथ हैं, जिनमें अपने-अपने प्रदेश की विशिष्ट संस्कृतियों का प्रकाशन किया गया है। इस प्रकार के समस्त भारतीय रामकाव्यों में तुलसीकृत 'रामचरितमानस' और तमिल महाकवि कंबन्-कृत 'रामायणमू' का प्रमुख स्थान है।

तुलसी के समान ही कंबन् का भी प्रामाणिक जीवनवृत्त उपलब्ध नहीं, पर जिन बातों के विषय में कुछ विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है वे इस प्रकार हैं: कंबन् का जन्म तमिलनाडु के तिरुवलुन्दूर् ग्राम (जिला तंजौर) में हुआ। इनके माता-पिता का पता नहीं। कुछ लोग इन्हें आदित्य नामक ब्राह्मण का पुत्र बताते हैं, पर अधिकांश विद्वान् इन्हें ब्राह्मणेतर मानने के पक्ष में हैं। पर एक बात लगभग निश्चित है कि पास ही के गाँव तिरुवेण्णेय्नल्लूर् के जमींदार शैडयप्पन् नामक एक अत्यधिक दानी एवं उदार महानुभाव ने इनके पालन-पोषण एवं शिक्षा-दीक्षा में बहुत सहायता की। इनको तत्कालीन चोलनरेश कुलोत्तुंग तृतीय (शासनकाल-११७८ ई० से १२१८ ई० तक) से भी सम्मान मिला। इनकी रामायण की रचना ११७८ ई० से ११८५ ई० तक के सात वर्षों में हुई, ऐसा मानने का बहुत-कुछ प्रामाणिक आधार विद्यमान है। शेष बातों के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता, पर यदि

रामायण-रचना के समय इनकी आयु ४० वर्ष की मान ली जाए तो इनका जन्म ११३८ ई० का अनुमित किया जा सकता है। तुलसी का मानस १५७४ ई० से १५७७ ई० के बीच के ३ वर्षों में रचा गया।

कंबरामायण ४४००० पंक्तियों का विशाल काव्यग्रंथ है। इसका आधार वाल्मीकिरामायण है। कंबन् ने युद्धकांड तक केवल ६ ही कांड रचे और राम के राज्याभिषेक के साथ ही अपना ग्रंथ समाप्त कर दिया। तुलसी ने उत्तरकांड भी रचा पर सीता-परित्याग का प्रसंग छोड़ दिया। कंबन् ने अपने ग्रंथ में कथांतर्गत आनेवाले अनेक प्रसंगों का बहुत विस्तार किया है; उदाहरणार्थ, वाल्मीकि ने अयोमुखीप्रसंग[1] केवल ९ श्लोकों में समाप्त कर दिया पर कंबन् ने उसके लिए पूरे पटल (सर्ग) की रचना की। इसी प्रकार शूर्पणखा-प्रसंग को भी कंबन् ने बहुत विस्तार दिया।

कंबन् कवि पहले हैं, भक्त बाद में। तुलसी पहले भक्त और फिर कवि हैं। दोनों कवियों के इस दृष्टिकोण-भेद का प्रभाव कथानक पर पड़ना स्वाभाविक था। कंबन् ने अपने काव्य को महाकाव्य के समस्त लक्षणों से समन्वित करने का पूरा प्रयास किया; उदाहरणार्थ, राम-विवाहार्थ दशरथ के मिथिला-प्रयाण का वर्णन कवि ने कई पटलों में किया जिनमें शैलविहार, पुष्पचयन, जलक्रीड़ा, मधुपानोत्सव आदि कई प्रसंगों की योजना द्वारा शृंगाररस का परिपाक किया। इसकी प्रेरणा कवि को भारवि के 'किरातार्जुनीय' एवं माघ के 'शिशुपालवध' जैसे संस्कृत महाकाव्यों से मिली। इसी प्रकार कवि ने सूर्योदय, सूर्यास्त, चंद्रोदय आदि अन्य महाकाव्य-लक्षणों का भी समावेश किया है। तुलसी की दृष्टि रामभक्ति के प्रतिपादन पर अधिक रही, फलतः उन्होंने काकभुशुंडि-चरित एवं ज्ञान-दीप (उत्तरकांड) जैसे प्रसंगों की उद्भावना की।

तमिल संस्कृति की दृष्टि से भी कंबन् ने रामकथा में कुछ परिवर्तन किये; उदाहरणार्थ, तमिल संस्कृति के अनुसार 'कलवु' (पूर्वराग) के उपरांत ही 'कर्पु' (विवाहित जीवन) का प्रसंग उठता है, उससे पहले नहीं, अर्थात् विवाह से पहले वर-कन्या की परस्पर भेंट आवश्यक है। यह यूरोपीयों के 'कोर्टशिप' जैसी प्रथा है। फलतः कंबन् ने जनकपुरी-प्रवेश के समय राम-लक्ष्मण और विश्वामित्र का सीता के प्रासाद के सामनेवाले मार्ग से होकर जाना दिखाया है। संयोगवश सीता भी उस समय अपने प्रासाद के अलिंद (छज्जे) पर खड़ी थीं, अतः राम से उनका दृष्टि-विनिमय हो जाता है और दोनों एक-दूसरे पर

---

१. अरण्यकांड, ७०।११-१९

आसक्त हो जाते हैं। तुलसी ने पुष्प-वाटिका-प्रसंग की योजना द्वारा पूर्वराग का विधान किया है, जिसकी प्रेरणा उन्हें 'प्रसन्नराघव' नामक संस्कृत नाटक से मिली। तुलसी ने इस प्रसंग को राम-लक्ष्मण तथा सीता और उनकी सखियों के परस्पर वार्तालाप द्वारा और अधिक सरस एवं हृदयग्राही बना दिया है।

कंबन् ने रावण द्वारा सीताहरण के प्रसंग में भी एक महत्त्वपूर्ण संशोधन किया है। उनका रावण सीता का स्पर्श न कर उन्हें कुटिया-सहित उठाकर ले जाता है। इसका सूत्र कंबन् को अध्यात्मरामायण से मिला। उसमें रावण सीता को उस समस्त भूमि-सहित ले जाता है जिस पर वे खड़ी थीं :

ततो विदार्य धरणीं नखैरुद्धृत्य बाहुभिः।
तोलयित्वा रथे क्षिप्त्वा ययौ क्षिप्रं विहायसा।[1]

तमिल काव्य में श्रृंगार और वीर—दो ही रस प्रधान हैं, यद्यपि प्रसंगतः अन्य रसों का भी समावेश हो जाता है। अतः कंबन् ने श्रृंगार और वीर रसों का प्रधानतया और अन्य रसों का गौणतया वर्णन किया है। तुलसी ने संस्कृत-साहित्य की परंपरा का अनुसरण करते हुए नवों रसों को महत्त्व दिया है। वाल्मीकि, व्यास जैसे पुरातन कवियों ने श्रृंगाररस के आलंबन नायक और नायिका दोनों के सौंदर्य-चित्रण को समान स्थान दिया है, पर परवर्ती कवियों ने नारी के रूपांकन में ही अधिक रुचि दिखाई। कंबन् ने यद्यपि पुरुष और नारी दोनों का सौंदर्य-चित्रण किया है पर अधिक रुचि नारी के रूपांकन में दिखाई। तुलसी ने मर्यादावाद के कारण सीता का सौंदर्य-वर्णन बहुत कम किंतु राम का बहुत अधिक किया। फिर भी वे कुछ ही शब्दों में सीता की असीम शोभा का चित्र-सा खड़ा कर देते हैं :

सुंदरता कहुँ सुंदर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई।
सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहि पटतरौं बिदेहकुमारी।[2]

कंबन् में इसी से मिलता-जुलता एक चित्र उपलब्ध होता है। विवाह के समय सखियाँ सीता को विविध आभूषण पहनाती हैं। कवि कहते हैं कि सखियों का यह कार्य ऐसा ही था जैसा अमृत को अधिक स्वादिष्ट अथवा सुंदरता को अधिक सुंदर बनाने का प्रयास करना :

अमिल्दिनैच्चुवै शेय्देन्न, अलगिनुक्कलगुशेय्दार्।[3]

---

१. अध्यात्मरामायण ३।७।५१-२ २. मानस १।२३०।४
३. कंबरामायण १।२८।३

किंतु सामान्यतः कंबन् ने सौंदर्यवर्णन में नख-शिख-वर्णन वाली परिपाटी को ही अपनाया है। इस दृष्टि से स्त्री-अंगों के उपमान-रूप में उन्होंने कतिपय ऐसे विशिष्ट तमिल्-अप्रस्तुतों का विधान किया है जो अपनी अभिनवता के कारण हिंदीपाठकों को विशेष रोचक प्रतीत होंगे। उदाहरणार्थ, सुंदरियों के केशों को उन्होंने पके अमलताश या काली रेत के सदृश, रक्ताधरों को पलाश-पुष्प सदृश, कंठ को सुपारी वृक्ष के तने के सदृश, स्तनों को पके नारियल सदृश, स्तनद्वय को चक्रवाकमिथुन सदृश, उदर को वटपत्र सदृश, नितंबों को रथ के मध्यभाग (जहाँ रथी बैठता है) के सदृश अथवा सर्पफण के सदृश, एवं भुजाओं को हरे बाँस के सदृश बताया है।

कंबन् में पुरुष-सौंदर्य के हृदयग्राही चित्र नहीं मिलते, तुलसी में इनकी प्रचुरता है।

दोनों महाकवियों द्वारा अंकित करुण-रस की भी एक-एक झाँकी देखिए। कंबन् के दशरथ राम के वनप्रयाण के निश्चय को अडिग जान विलाप करते हुए कहते हैं :

'हे पुत्र! अश्रुप्रवाह नेत्रमार्ग से मेरे द्रवीभूत प्राणों को भी बहाये लिए जाता है। मेरा मरणकाल आ पहुँचा है इसलिए मैंने तुम्हारे अभिषेकार्थ जो पुण्यजल विभिन्न तीर्थों से मँगाकर रखा था उससे अब मुझ पापी का ही तर्पण कर निश्चित हो तुम कानन को जाना।'[1]

'बेटा, तुम बड़े निठुर हो जो मुझे इस दशा में देखकर भी नहीं पसीजते, किंतु मेरा मन तुम्हारे जैसा नहीं। वह प्रेम से द्रवित होने वाला है, और मेरा शरीर तुम्हारे प्रेमवश प्राण त्यागने को तत्पर है। भला अपनी जिन आँखों से मैंने तुम्हें सुलक्षणा जनकसुता का पाणिग्रहण किए अयोध्या में प्रवेश करते देखा था उन्हीं से अब तुम दोनों को नगर छोड़कर वन जाते कैसे देख सकूँगा?'[2]

गोस्वामी जी ने राम को गंगातट पर पहुँचाकर अयोध्या लौटते हुए सुमंत्र की दशा के वर्णन में करुणरस को मूर्तिमान् कर दिया है :

लोचन सजल डीठि भइ थोरी। सुनइ न श्रवन बिकल मति भोरी।
सूखहिं अधर लागि मुहँ लाटी। जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी।
बिबरन भयउ न जाइ निहारी। मारेसि मनहुँ पिता महतारी।[3]

---

१. कंबरामायण २।४।५६ २. कंबरामायण २।४।६०
३. मानस २।१४५।२-३

दोनों कवियों में चित्त को चमत्कृत करने वाले उक्ति-वैचित्र्य की कमी नहीं, यद्यपि कंबन् की रुचि चमत्कार प्रदर्शन की ओर अधिक है। नीचे दोनों कवियों के काव्यों से एक-एक उदाहरण प्रस्तुत है। दशरथ का वर्णन करते हुए कंबन् कहते हैं :

'महाराज दशरथ ने याचक-रूपी समुद्र को दान-रूपी नौका से, ज्ञान-रूपी समुद्र को शास्त्र-रूपी नौका से, शत्रु-रूपी समुद्र को खड्ग-रूपी नौका से, एवं ऐश्वर्य-रूपी सागर को भोग-रूपी नौका से पार किया।[1]

तुलसी रामराज्य का आदर्श इस प्रकार बताते हैं :

दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य-समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र के राज।[2]

तुलसी और कंबन् के धार्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक विचारों में भी बहुत-कुछ समानता दीख पड़ती है। धार्मिक विचारों की दृष्टि से दोनों कवि विशिष्टाद्वैत दर्शन से प्रभावित हैं। दोनों ही ने शिव तथा विष्णु को एक-दूसरे से बड़ा या छोटा बताने की निंदा की है और व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण अपनाने पर बल दिया है। राजनीति में कंबन् राजतंत्र की निरंकुशता के विरोधी हैं। उन्होंने राजा के अस्तित्व की सार्थकता प्रजाहित में मानी है, इसीलिए वे प्रजा को प्राण और राजा को शरीर बताते हैं। तुलसी ने भी लोकरंजन को ही सर्वोपरि ठहराया है :

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी।[3]

सामाजिक दृष्टि से दोनों ने वर्णाश्रम-धर्म-परिपालन, सदाचरण, सत्य-भाषण आदि सामाजिक एवं नैतिक गुणों पर बल दिया है। रामभक्ति में सामाजिक ऊँच-नीच का भाव तिरोहित हो जाता है। बड़ों का बड़प्पन इसमें है कि वे छोटों को अपनाएँ और छोटों की सदाशयता इसमें है कि वे बड़ों का आदर करें। स्त्रियों के विषय में कंबन् का दृष्टिकोण तुलसी की अपेक्षा अधिक उदार है। कंबन् ने स्त्रीनिंदा कहीं नहीं की, अपितु कोसलदेश की स्त्रियों को सुशिक्षिता तथा अतिथि-सत्कार आदि गृहस्थ-धर्म-पालन में बहुत तत्पर बताया है। दोनों कवियों के स्त्रीविषयक इस दृष्टि-भेद का मूल कदाचित् दोनों की समकालीन सामाजिक परिस्थितियों में निहित है।

अंत में हम यह कह सकते हैं कि दोनों ही कवियों ने अपनी लोकोत्तर प्रतिभा के बल पर रामकाव्यपरंपरा को समृद्ध कर अक्षय कीर्ति अर्जित की।

१. कंबरामायण १।४।५ २. मानस ७।२२ ३. मानस २।७१।३

डॉ० हरिश्चंद्र दीक्षित

रामचरितमानस और भानुभक्त की नेपाली रामायण

नेपाली कवि भानुभक्त तुलसीदास के परवर्ती थे। तुलसी का जीवन काल सं० १५५४-१६८० विक्रमीय था और भानुभक्त का जीवन काल सं० १८७१-१९२५ वि० था। जहाँ तक अनुमान है, भानुभक्त को तुलसी का साहित्यिक और वैयक्तिक परिचय नहीं था। यदि रहा भी हो, तो यह निश्चित है कि उन्होंने रामचरितमानस का अध्ययन कर उससे कोई लाभ नहीं उठाया। भानुभक्त की अपनी कोई साहित्यिक मान्यताएँ थी ही नहीं और न तुलसी की भाँति आदर्श-स्थापन और हिंदू धर्म का संस्कार ही उनका उद्देश्य था। अतः इन दोनों की तुलना का क्षीण आधार केवल विषय साम्य है।

भानुभक्त की रामायण मौलिक कृति नहीं है। कह नहीं सकता इस तथ्य का उद्घाटन कमला सांकृत्यायन कृत शोध में हुआ है कि अथवा नहीं, क्योंकि वह मुझे प्रकाशित रूप में देखने को नहीं मिला। भानुभक्त कृत नेपाली रामायण प्रसिद्ध संस्कृत ग्रंथ अध्यात्मरामायण का अनुवाद है। इस तथ्य का सर्वप्रथम उल्लेख भानुभक्त के प्रथम जीवनी लेखक नेपाली कवि मोतीराम भट्ट ने किया है।

अब यदि अध्यात्मरामायण का तुलसीकृत रामचरितमानस से कुछ साम्य हो, तो नेपाली रामायण की इसके साथ तुलना का आधार मिल सकता हैं। संयोग से वह साम्य विद्यमान है। ऐसी स्थिति में वर्ण्य विषय की दृष्टि से वस्तुतः यह तुलना अध्यात्मरामायण और रामचरितमानस में होगी।

रामचरितमानस किसी पूर्ववर्ती ग्रंथ का अविकल अनुवाद नहीं है, यद्यपि इस पर पूर्वकालीन रामकथाओं का प्रभाव सर्वविदित है। इस प्रभाव के परिमाण का कुछ अनुमान स्वयं तुलसी की इस उक्ति से हो जाता है—'नानापुराण निगमागमसम्मतं यद्रामायणेनिगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।'[१] अन्वेषी आलोचकों को स्वयं तुलसी का इतना ऋण स्वीकार करना पर्याप्त नहीं लगा, और उन्होंने यहाँ तक कह डाला है कि तुलसी की प्रत्येक चौपाई का मूल खोजा जा सकता है। यह मिथ्या है। रामचरितमानस तुलसी के विचारों, वर्णनों और चरित कल्पनाओं से पूर्ण है, भले ही उसके कई स्थल पूर्वग्रंथों के आंशिक अनुवाद हैं—यथा वर्षा और शरत् के वर्णन श्रीमद्भागवत से तथा ताराविलाप अध्यात्मरामायण से। ऋतुवर्णन संबंधी अनुवाद को तुलसी ने अपनी कथा के अनुकूल विघटित और परिष्कृत भी किया है। अतः वह अनुवाद सदृश लगता भी नहीं है। शरद्वर्णन की तो दो चार पंक्तियाँ ही अनुवादित हैं। शेष सब तुलसी की रचना है।

तुलसीकृत रामचरितमानस में मुख्य घटनाक्रम वाल्मीकीय रामायण का है। किंतु राम और उनसे संपृक्त पात्रों के व्यवहार में मानव चरित्र की पराकाष्ठा का आधान तथा हरि और हर की भक्ति में और विविध दार्शनिक वादों में समन्वय, तथा व्यक्तियों और वस्तुओं का अपनी कथा कल्पना के अनुकूल वर्णन तुलसी का अपना भावना-विस्तार है। पूर्वकथा से अपने प्रयोजन के अनुकूल अंशों का ग्रहण और प्रतिकूल अंशों का त्याग या संस्कार तुलसी की मौलिकता है।

इन सब बातों पर विचार करने से रामचरितमानस पूर्ण मौलिक कृति सिद्ध होती है जबकि भानुभक्तकृत नेपाली रामायण पूर्णतः अनुवादित कृति है। किंतु फिर भी दोनों की तुलना करने का पर्याप्त आधार विद्यमान है, और वह है इन दोनों ग्रंथों का स्रोत-संबंध। नेपाली रामायण यदि अध्यात्म रामायण का अनुवाद है, तो रामचरितमानस की कथा-रचना पर भी अध्यात्म रामायण की छाया है। गीता प्रेस से प्रकाशित अध्यात्मरामायण के अनुवादक ने लिखा है "आजकल जिस रामचरितमानस में अवगाहन कर करोड़ों नर-नारी अपने को कृतकृत्य मान रहे हैं, उसके कथानक का आधार भी अधिकांश में यही ग्रंथ है। श्री रामचरितमानस की कथा जितनी अध्यात्म

१. मानस १। श्लोक ७

रामायण से मिलती-जुलती है उतनी और किसी से नहीं मिलती। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्री गोस्वामी तुलसीदास ने भी सबसे अधिक प्रामाण्य इसी का स्वीकार किया है। अनुवादक का यह कथन विचारणीय है। अध्यात्म रामायण से रामचरित की कथा मिलती जुलती है, किंतु वह उसका अनुवाद नहीं है। इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि मोतीराम भट्ट ने नेपाली रामायण को अनुवाद ही कहा है, किंतु मैंने लक्षित किया है कि यह अनुवाद तो अवश्य है, किंतु इसमें यत्रतत्र संक्षेपीकरण की प्रवृत्ति भी विद्यमान है। इसमें नेपाली कवि के कवित्व के स्तर का आभास मिल जाता है। इस संदर्भ में विचार करने पर दोनों की तुलना से कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकल सकते हैं।

भानुभक्तीय रामायण में पार्वती की प्रार्थना पर महादेव उन्हें रामकथा सुनाते हैं। रामचरितमानस में भी रामकथा पार्वती को शंकर द्वारा सुनाई गई है। किंतु वहाँ इसके आगे और पीछे दो संवाद और हैं। प्रयाग में भरद्वाज के प्रश्न पर याज्ञवल्क्य मुनि शंकर और पार्वती का संवाद उद्धृत करते हैं, और पार्वती के प्रश्न पर शंकर काकभुशुंडि और गरुड़ के संवाद को। इसके अतिरिक्त रामचरितमानस में पार्वती के सती के रूप में पूर्व जीवन वृत्तांत और राम पर उनके संदेह आदि का वर्णन भी किया गया है, जो नेपाली रामायण में नहीं है।

तुलसीदास ने रामचरितमानस में जिन राम की या (राम के रूप में विष्णु के जिस अवतार की) कथा का वर्णन किया है, वे मनु और शतरूपा के, उन्हीं (विष्णु) के वरदान से, दशरथ और कौशल्या के रूप में पुनर्जन्म में उन्हें पुत्ररूप में प्राप्त हुए थे। भानुभक्तीय रामायण में भी राम, दशरथ और कौशल्या के यज्ञप्राप्त पुत्र कहे गए हैं, किंतु यह नहीं बताया गया है कि वे पूर्वजन्म में कौन थे, जब कि अध्यात्मरामायण में उन्हें पूर्वजन्म का कश्यप और अदिति बताया गया है।

ब्रह्मावतार राम दशरथ और कौशल्या के पुत्ररूप में उत्पन्न होकर और शैशवावस्था प्राप्तकर शिशुयोग्य लीलाएँ करने लगे। तुलसीदास ने अध्यात्म-रामायण का आधार लेकर और उसमें कुछ अपने भावों का योग कर राम की बाललीलाओं का संक्षिप्त वर्णन किया है :

भोजन करत बोलावत राजा, नहिं आवत तजि बाल समाजा।
कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुकु ठुमुकु प्रभु चलहिं पराई।

निगमनेति सिव अंत न पावा। ताहि धरे जननी हठि धावा।
धूसर धूरि भरें तनु आए। भूपति बिहँसि गोद बैठाए।
भोजन करत चपल चित इत उत अवसरु पाइ।
भाजि चले किलकात मुख दधि ओदन लपटाइ।[1]

भानुभक्त ने अध्यात्मरामायण का यह अंश अग्रहीत छोड़ दिया है।

एक बार राम के माँगने पर जब गृहकार्य में मग्न कौशल्या ने उन्हें तत्काल भोजन नहीं दिया, तो उन्होंने **क्रोध** में डंडा उठाकर छींके पर रक्खे मक्खन और दही के भांड फोड़ डाले और दूध दही भाइयों को बांट दिया। तुलसीदास ने ऐसी शिशु चेष्टाओं का वर्णन नहीं किया है। कारण स्पष्ट है। वे भावी मर्यादा पुरुषोत्तम को शैशव से ही मर्यादित दिखाना चाहते थे।

राम ब्रह्म थे—इस तथ्य को अध्यात्मरामायण, रामचरितमानस और नेपाली रामायण में पूर्णतः समान रूप से स्वीकृत किया गया है। किंतु तुलसीदास ने प्रारंभ से ही जिस प्रकार बार-बार राम के ब्रह्मत्व पर बल दिया है उस प्रकार किसी ने नहीं।[2]

तुलसीदास ने कदाचित् ऐसा वर्णन श्रीमद्भागवत (और तदनुसार सूर काव्य में भी) कृष्ण की यशोदा को स्वमुख में ब्रह्मांडप्रदर्शन की लीला के सादृश्य पर किया है। ये तुलसीदास की मौलिक उद्भावनाएँ हैं, और इनसे रामचरितमानस के पुराने कथानक में नवीन काव्यत्व का समावेश हुआ है। भानुभक्त की नेपाली रामायण में एक भी ऐसी मौलिक उद्भावना नहीं है। इस तथ्य को एक अन्य उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। वाल्मीकीय रामायण में रामादि के जन्म ग्रहण के पश्चात् उनकी बाललीला और सुंदरता का वर्णन नहीं है। जन्म के पश्चात् उनके महत्पौरुष का ही वर्णन किया गया है। अध्यात्मरामायण में बाललीला और सुंदरता का संक्षिप्त वर्णन है। किंतु तुलसीदास ने राम की सुंदरता का अधिक एवं स्वकल्पित वर्णन किया है :

काम कोटि छबि स्याम सरीरा। नील कंज बारिद गम्भीरा।
अरुन-चरन पंकज नख जोती। कमल दलन्हि बैठे जनु मोती।
रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे। नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे।[3]

---

१. मानस १।२०३।३-४॥, दोहा
२. मानस १।२०१।१-४ दोहा
३. मानस १।१९९।१-२

इसके विपरीत नेपाली रामायण में अध्यात्मरामायण का राम-सौंदर्यवर्णन संबंधी अंश छोड़ दिया गया है, और कवि ने शीघ्रता में लिख दिया है :

बाल काल बिति गै गयो प्रभु जि को सब बाल लीला गरी।
चारै को व्रतबंध पढ़ि सक्या सब शास्त्र खुप् क्षोद्गरी।।

अर्थात् प्रभु (राम) का बाललीला करते बाल्यकाल बीत गया, चारों का यज्ञोपवीत हो गया और उन सबों ने सब शास्त्र भली-भांति पढ़ लिए।

तुलसीदास को जहाँ कहीं अवसर मिला उन्होंने बलात् प्रसंग उपस्थित कर नीतितत्त्व का निरूपण कर दिया है। ऐसा ही एक अवसर उस समय आया है जब युद्ध करने के लिए रावण रथारूढ़ होकर आया और राम के पास रथ नहीं था। वाल्मीकि के अनुसार देव, गंधर्व, किन्नरों के कहने पर इंद्र ने यह जान कर मातलि को आदेश दिया कि वह राम की सहायतार्थ उनका दिव्यरथ ले जाए। इसी बात को कुछ संक्षेप से अध्यात्मरामायण में दुहरा दिया गया है। उसका और संक्षेप कर नेपाली रामायण में केवल इतना कहा है :

त्यो रावण रथमा थियो रघुपती खाली जमिन् माथिया।
राम् का खातिर इन्द्र ले अति असल रथ एक पठाई दिया।

अर्थात वह रावण रथ में था, रघुपति केवल भूमि पर थे। राम के लिए इंद्र ने एक उत्तम रथ भेज दिया।

इसके विपरीत रामचरितमानस में देखिए। राम को विरथ देख कर स्वर्ग में इंद्र चिंतित हों और उनके निकटस्थ साथी इस तथ्य पर आँख मूंदे रहें—यह कैसे हो सकता है। अतः रामचरितमानस में कहा गया है :

रावनु रथी बिरथ रघुबीरा। देखि बिभीषन भयउ अधीरा।
अधिक प्रीति मन भा संदेहा। बंदि चरन कह सहित सनेहा।
नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना। कैसे जितब बीर बलवाना।[1]

विभीषण के ये शब्द सुन कर भौतिक बल से आध्यात्मिक बल को श्रेष्ठ बताते हुए राम उत्तर देते हैं :

सुनहु सखा कह कृपा निधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना।
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य-सील दृढ़ ध्वजा पताका।
सखा धरममय अस रथ जाके। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके।[2]

---

१. मानस ६।८०।१-२ २. मानस ६।८०।२, ३, ६

ऐसे ही प्रसंगों के समावेश से रामचरितमानस की मौलिकता के साथ-साथ आध्यात्मिक और काव्यात्मक महिमा बढ़ी है। नेपाली रामायण में ऐसा एक भी आरोपित प्रसंग नहीं है।

तुलसी के राम मर्यादा पुरुषोत्तम अर्थात् धर्म की मर्यादा मानने वाले पुरुषों में उत्तम हैं ही, उनके संपर्क में आगत अन्य सभी पात्र भी यथासंभव मर्यादाबद्ध हैं। अध्यात्मरामायण के अनुसार राम के द्वारा राक्षसों का प्रतिदिन घोर विनाश देख कर उन्हें दुर्जेय मान कर रावण अपनी विजय सिद्धि के लिए दैत्यकुल शुक्राचार्य के परामर्श से भूमिगत गुप्त स्थान में यज्ञ करने लगा। विभीषण ने राम को रावणक्रियमाण होम का धुवाँ उठता दिखाकर उसका उद्देश्य बताया। इस पर राम ने अंगद हनुमान आदि वानरों को रावण का होम विध्वस्त करने का आदेश दिया। वे सब हवन मंडप में पहुँचकर निनाद करते हुए यज्ञ सामग्री इधर-उधर उठाकर फेंकने लगे। रावण मौन हवन करता रहा। उसे अविचलित देख कर बंदर उस पर घात करने लगे। फिर भी वह सिद्धि की आशा से अडिग रहा। कोई उपाय चलता न देख कर अंगद रावण के अंतःपुर में घुस गए और वहाँ से मंदोदरी को बाल पकड़ कर खींच लाए और रावण के सामने उसके वस्त्राभूषण उतार-उतार कर फेंकने लगे। जिससे मंदोदरी आक्रोश करे, और रावण क्रोध में हवन छोड़ कर उठ खड़ा हो। भानुभक्त ने इस प्रसंग का यथामूल अनुवर्णन कर दिया है :

ध्यानै मा मन दृढ़ गरी अचल रावण बसेथ्यो जस।
लाया अंगद लेत खैंचिन जिकै मंदोदरी पो तसै।
ती मंदोदरि लाइ रावणनजिक पौंचाइ हुमंत लिया।
चोली खोलि अफालि फेरि पट्ठुकी कटिको ववसाली दिया।
लाया का गहना समेत शरिर का वस्त्रै अफाल्या जसै।
रुँदै रावण का नजिक रहँदी बिन्ती गरिन् यो तसै।

रावण जब ध्यान में ही मन अचल कर बैठा था, तब अंगद मंदोदरी को उसके निकट खींच कर लाए और उसका अपमान करने लगे। उन्होंने मंदोदरी की चोली खोल डाली और कटि प्रदेश का वस्त्र खींच लिया। जब अंगद उसके गहने उतार कर अन्य वस्त्र खींचने लगे, तो वह रावण को लक्ष्य कर विनय करती हुई रोने लगी।

तुलसीदास राम के अतिशय भक्त बने हुए अंगद, हनुमान आदि का ऐसा आचरण कैसे सहन कर सकते थे ? अतः रामचरितमानस में रावण का यज्ञ-

ध्वंस करने के लिए वे नारियों को केश खींचकर ले तो आते हैं, किंतु उनके वस्त्रादि नहीं उतारते। इससे अधिक सहन करना रावण के लिए भी लज्जा जनक होता :

रन ते निलज भाजि गृह आवा। इहाँ आइ बक ध्यान लगावा।
अस कहि अंगद मारेउ लाता। चितव न सठ स्वारथ मन राता।
छंद—नहिं चितव जब करि कोप कपि गहि दसन लातन मारहीं।
धरि केस नारि निकारि बाहेर तेऽति दीन पुकारहीं।
तब उठेउ क्रुद्ध कृतांत सम गहि चरन बानर डारई।
एहि बीच कपिन्ह बिधंस-कृत मख देखि मन महुँ हारई।[1]

भानुभक्त कृत नेपाली रामायण संस्कृत के ग्रंथ विशेष का संक्षेपीकृत अनुवाद है। अतः उसका कवि की मातृभाषा नेपाली में ही लिखा जाना संभव था। रामचरितमानस एक ग्रंथ पर आधारित न होकर अनेक ग्रंथों पर आधारित होने तथा मौलिक वर्णनों और विचारों से युक्त होने के कारण संस्कृत में भी लिखा जा सकता था। किंतु फिर भी लोक प्रचार के हेतु तुलसी ने तत्कालीन लोक-प्रचलित भाषा में लिखा। इस प्रकार इन दोनों रामायणों में भाषा रूप ग्रहण का साम्य है। किंतु फिर भी तुलसी की भाषा साधु और काव्योचित संस्कार से युक्त है। इसके विपरीत नेपाली रामायण की भाषा असाधु, असंस्कृत या अति साधारण है। रामचरितमानस में भाषा को भाव गौरव के अनुरूप बनाने के लिए उसमें तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग किया गया है। 'कागद' आदि बहुत थोड़े और वे भी अति परिचित विदेशी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग हुआ है। नेपाली रामायण में तद्भव शब्दों की भरमार है और 'हुक्म', 'खराब', 'खूब' आदि विदेशी शब्द बार-बार आए हैं। भाषा की इस लघुता के कारण नेपाली रामायण में काव्य लघुत्व भी आ गया है।

नेपाली रामायण में शब्द विकार अत्यधिक परिमाण में होने के कारण वह काव्यत्व का घातक बन गया है। रामचरितमानस में शब्द विकार की अत्यल्पता और नेपाली रामायण में अधिकता का कारण यह है कि रामचरितमानस मात्रिक वृत्तों में लिखा गया है, और नेपाली रामायण वार्णिक वृत्तों में। भानुभक्त ने अधिकांशतः शार्दूल विक्रीडित छंद का प्रयोग किया है। वार्णिक वृत्त स्वभावतः संस्कृत भाषा के अनुकूल हैं। इसका कारण उसकी संधि, समास और थोड़े शब्दों में अधिक कथ्य के समावेश की विशेषताएँ हैं। अन्य भाषाओं में इन

१. मानस ६।८५।४, छंद

विशेषताओं के अभाव में संस्कृत भाषा के वर्णिक वृत्तों का निश्चित परिणाम अत्यधिक शब्द विकार है, जब तक बहुत अधिक धैर्य और समय का उपयोग न किया जाए।

कोई भी व्यक्ति जो नेपाली और अवधी भाषा से परिचित है—एक दृष्टि में ही समझ सकता है कि रामचरितमानस की तुलना में नेपाली रामायण कवित्व गुण में अतिन्यून है।

अध्यात्मरामायण में रामचरित की वे सभी घटनाएँ वर्णित की गई हैं, जिनका वर्णन वाल्मीकीय रामायण में है। किंतु एक में वर्णन संक्षिप्त है, दूसरी में विशद। यहाँ एक उदाहरण देकर दिग्दर्शन किया जा सकता हैं। अन्य वर्णन स्वयं द्रष्टव्य हैं। वाल्मीकि रामायण में ऋष्यमूक पर्वत पर राम और लक्ष्मण के बसते हुए कवि ने विभिन्न ऋतुओं का वर्णन स्वयं किया है, और राम तथा लक्ष्मण से कराया है। ये वर्णन कई सर्गों में प्रसरित हैं, और अपनी व्यापकता के कारण संश्लिष्ट दृश्यों और नाना वस्तु व्यष्टियों के आह्लादकारी सांगोपांग चित्र प्रस्तुत करते हैं। इसकी तुलना में अध्यात्मरामायण के उसी प्रसंग में ऋतुवर्णन के एक दो श्लोक सुंदर होते हुए वाल्मीकीय ऋतुवर्णन का शतांश चारुत्व भी नहीं प्रकट करते। नेपाली रामायण में संक्षेपीकरण की प्रवृत्ति के कारण अध्यात्मरामायण का वर्षा वर्णन संबंधी वह श्लोक भी छोड़ दिया गया है। परिणामस्वरूप उसमें इस प्रसंग में लेशमात्र सौंदर्य भी नहीं रह जाता। तुलसीदास ने इसी प्रसंग में वर्षा और शरद् का विशद वर्णन किया है। परिणामतः वहाँ काव्य-सौंदर्य अध्यात्मरामायण से अधिक है। नेपाली रामायण के क्षीण काव्यत्व का एक अन्य कारण भी है। किसी एक प्रसंग में एक ही भाव का वर्णन करने वाले अंशों को अध्यात्मरामायण, रामचरितमानस और नेपाली रामायण में देखा जाए, तो नेपालीरामायण-गत वर्णन सबसे तुच्छ प्रतीत होगा। इसका कारण भाषा की क्षुद्रता है। एक ही भाव को एक ही प्रकार से वर्णित किया जाते हुए भी यदि एक काव्य में ग्राम्य, अशुद्ध या साधारण भाषा का प्रयोग किया जाए, और दूसरे काव्य में शिष्ट, शुद्ध और असाधारण भाषा का, तो निश्चय ही दूसरा काव्य सुंदर होगा। नेपाली रामायण के इस रूप में भी काव्यत्व का आदान हो सकता था, यदि उसमें भाषा-सौंदर्य होता। वाली का बध कर और सुग्रीव को राज्य प्रबंधार्थ किष्किंधा प्रेषित कर राम वर्षाकाल में निवासार्थ प्रवर्षण गिरि के शिखर पर एक गुहा खोजते है। उस गिरिशिखर का अध्यात्मरामायण में इस प्रकार वर्णन किया गया है :

दिव्यमूलफलपुष्पसंयुते
मौक्तिकोपम जलौध-पल्वले ।
चित्रवर्णमृगपक्षिशोभिते
पर्वते रघुकुलोत्तमोऽवसत् ।

भानुभक्तीय रामायण में उस शिखर का वर्णन केवल एक पंक्ति में किया गया है :

फल-फुल ताँहि खचित् थियो नजिक मैं थियो तलाऊपनी ।

अर्थात् फल-फूल वहाँ शोभित थे, निकट में तालाब भी था ।

तुलसीदास ने प्रवर्षण गिरि का वर्णन इन शब्दों में किया है :

सुंदर बन कुसुमित अति सोभा गुंजत मधुप निकर मधु लोभा ।
कंद मूल फल पत्र सुहाए । भए बहुत जब ते प्रभु आए ।
देखि मनोहर सैल अनूपा । रहे तहँ अनुज सहित सुरभूपा ।
मधुकर खग मृग तनु धरि देवा । करहिं सिद्ध मुनि प्रभु कै सेवा ।
मंगल रूप भयउ बन तब ते । कीन्ह निवास रमापति जब ते ।[1]

भाषा-लालित्य और ईषत् श्लिष्ट रूपता के कारण अध्यात्मरामायण का वर्णन चारुकाव्य है । भाषा के अनगढ़पन और अति वर्णन-संक्षेप के कारण नेपाली रामायण का वर्णन काव्यत्व हीन है । तुलसीदास के वर्णन में अध्यात्म-रामायण की अपेक्षा भाषा-लालित्य तो कम है, किंतु फिर भी वह पर्याप्त परिष्कृत भाषा-सौंदर्य और अपेक्षाकृत वर्णन-विशदता के कारण अध्यात्म रामायण के उद्धृत अंश से अधिक कवित्वमय है ।

---

१. मानस ४।१३।१-३

डॉ० अमरेश पाठक

रामचरितमानस तथा मैथिली रामायण

महाकवि तुलसीदास की कृतियों में रामचरितमानस का सर्वोत्कृष्ट स्थान है। मानस में एक आदर्श समाज की कल्पना को मूर्त्त रूप दिया गया है। मानस का कला-पक्ष जितना ही उत्कृष्ट एवं मनोरम है भाव-पक्ष उतना ही मौलिक एवं प्राणवंत। मानसकार महाकवि तुलसीदास के समक्ष रामकाव्य की वैभवपूर्ण परंपरा विद्यमान थी। संस्कृत-साहित्य में वर्णित रामकाव्य को आधार मानकर महाकवि ने अपने मानस की रचना की इसमें कोई संदेह नहीं किंतु मानस की मौलिकता अनेक दृष्टियों से हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करती है। मानस के चरित्र-चित्रण, कथा-विन्यास उक्ति-वैचित्र्य, कल्पना की प्रौढ़ता, सूक्तियों के प्राचुर्य, वर्णन-चातुर्य तथा भाव-चित्रण सभी में कवि की मौलिकता दृष्टिगत होती है। यही कारण है कि शताब्दियों से यह काव्य जनमानस को अभिभूत करता आया है।

महाकवि तुलसी ने लोक-जीवन की यथार्थता का वर्णन करने के लिये रामचरित चुना तथा लोकभाषा को इसका माध्यम बनाया। तुलसीदास संस्कृत-भाषा में भी रचना करने में पूर्ण सक्षम थे इसमें संदेह नहीं तथा समकालीन स्थिति को देखकर यह भी अनुमान करना असगंत नही कि लोक भाषा के कवियों को पंडितों के मध्य आदरपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं था। स्वयं तुलसीदास कहते हैं "भाषा भनिति भोरि मति मोरी"। किंतु महाकवि खलों की बंदना तो करते हैं परंतु खलों के परिहास की तनिक भी चिंता नहीं करते। तुलसीदास से लगभग दो शती पूर्व मैथिली भाषा के महाकवि

विद्यापति की रचनाओं में भी खल के परिहास की चर्चा है। विद्यापति को भी, जिनके अलौकिक सौंदर्य-बोध का परिचय उनकी शृंगारिक रचनाओं में होता है, जिनकी लोकप्रियता का आधार सौंदर्य-वर्णन के साथ सूक्ष्म-मनोभावों का चित्रण है तथा जिनकी रचना का माधुर्य भारतीय साहित्य में अद्वितीय है, संस्कृत-पंडितों का उपहास सहना पड़ा था। फिर भी उनकी गर्वोक्ति से यह स्पष्ट है कि महाकवि इन बातों की ओर ध्यान नहीं देते थे :

वालचंद विज्जावई भाषा, दुहु नहि लग्गई दुज्जन हासा।
औ परमेसर हर सिर सोहइ, ईण्चिचइ नाअर मन मोहइ ।

ठीक इसी प्रकार मानस के कवि की स्थिति दीख पड़ती है। मानस की भाषा ऐसी हैं कि सभी वर्गों के लोग इसकी सरलता, चारुता एवं रमणीयता के कारण इस ओर आकृष्ट होते हैं। मानस की भाषा भी इसकी लोकप्रियता का एक प्रधान कारण है। जन-साधारण भी इस अमूल्य निधि का रसास्वादन कर सकने में समर्थ हैं। किंतु इसमें महाकवि ने जिन आधारों का आश्रय लिया है उसके संबंध में वे स्वयं कहते हैं :

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामायणेनिगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।[1]

मानस का कथाविन्यास वाल्मीकिरामायण तथा अध्यात्मरामायण के आधार पर हुआ है। फिर भी अनेक स्थलों पर कथानक के विन्यास में अंतर है तथा यह अंतर कथानक में विशिष्टता लाने के लिये ही किया गया मालूम पड़ता है।

मानस में विभिन्न चरित्रों का निर्माण कवि ने निश्चित उद्देश्य से किया है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र में भी कवि ने सामान्य मानवीय गुणों का समावेश कर उनकी शक्ति को सीमित करने का प्रयत्न किया है। जिन भगवान् राम की महिमा अनेक स्थलों पर गाई गई है उन्हीं राम का संकेत पाकर लक्ष्मण सूर्पणखा की नाक काटते हैं। स्वयं राम बालि-वध में जिस युक्ति का आश्रय लेते हैं वह राम की अनंत शक्ति का परिचायक नहीं है। इस प्रकार राम का चरित्र एक ऐसे आदर्श-नायक का चरित्र है जो अनंत शक्ति रखते हुए भी मानवीय आचरण का प्रदर्शन करता है। लक्ष्मण, रावण, हनुमान, अंगद, भरत आदि पुरुष पात्रों का निर्माण भी निश्चित उद्देश्य से किया गया है, जिस प्रकार अनंत शक्ति के प्रतीक राम हैं उसी तरह

१. मानस १। श्लोक ७

रावण की शक्ति, उसका पांडित्य एवं सबसे अधिक उसकी दृढ़ता में हमें कोई त्रुटि नहीं दीखती परंतु वह अभिमानी, दुराग्रही एवं संयमहीन चरित्र का दृष्टांत है। संपूर्ण रामायण में भरत का चरित्र सबसे आकर्षक है। मानस के कवि ने चरित्र-चित्रण करते समय आधार ग्रंथों की अपेक्षा अधिक संयम दिखलाया है। उनके पात्र आधार-ग्रंथों के प्रधान पात्रों की तरह अनेक स्थलों पर आत्महत्या का सहारा लेते नहीं दीखते। यही कारण है कि मानस के पात्रों का अधिक स्वाभाविक विकास हो पाया है। मानस के स्त्री-पात्रों में सीता, कौशल्या, कैकेई, मंथरा, मंदोदरी आदि प्रमुख हैं। सीता, कौशल्या एवं मंदोदरी के चरित्र की उत्कृष्टता संपूर्ण मानस में देखी जा सकती है। सीता के चरित्र में स्त्री सुलभ चंचलता है जिसका उदाहरण स्वर्णमृग प्राप्त करने की लालसा एवं तत्पश्चात् लक्ष्मण की नीयत पर संदेह करना है। फिर भी सामान्य रूप से मानसकार ने स्त्री पात्रों का जो चरित्र अंकित किया है उसके आधार पर यह स्वीकार करना असंगत नहीं होगा कि उन पात्रों में कवि ने दोष ही अधिक देखा है।

मानसकार ने रामचरित का आधार लेकर तत्कालीन विशृंखलित हिंदू समाज को एक-सूत्र में बाँधने की चेष्टा की है। भरत का त्याग, राम की पितृ-भक्ति, लक्ष्मण का मातृ-प्रेम, हनुमान की भक्ति, सीता का पातिव्रत्य तथा कौशल्या की सहनशीलता को चित्रित करते समय यद्यपि महाकवि तुलसीदास ने अपनी कथा को लौकिक धरातल पर ला दिया है किंतु संपूर्ण रचना में कवि ने राम के देवत्व की महिमा गाकर हिंदू-धर्म के प्रतीक राम के चरित्र को इस लौकिक धरातल से ऊपर उठा दिया है। जिस प्रकार कथा के विन्यास में कवि ने अपनी चातुरी का परिचय दिया है उसी प्रकार वर्णन विन्यास में भी। अपने वर्णन को विशेष लोकगम्य बनाने के लिये कवि ने जीवन के सामान्य अनुभवों को जिन उपमानों का आधार लेकर वर्णित किया है वह अत्यंत आकर्षक हो गया है। मानव की विभिन्न प्रवृत्तियों का ऐसा अनूठा वर्णन अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

मानस के साथ मैथिलीरामायण की तुलना करते समय मैथिली राम-काव्य परंपरा के संबंध में दो शब्द कहना अप्रासंगिक न होगा।

मिथिला की महिमामंडित भूमि अपनी साहित्यिक उपलब्धि के लिए सदा प्रसिद्ध रही है। किंतु प्राचीन एवं मध्यकालीन मैथिली-साहित्य में रामायण की तो रचना नहीं ही हुई, रामकाव्य की रचना भी नहीं के बराबर है। जगज्जननी सीता की जन्मभूमि मिथिला की साहित्यिक भाषा

मैथिली में रामकाव्य की बिरलता देखकर आश्चर्य होता है परंतु इसका कारण यह है कि उत्तर विद्यापतिकालीन मैथिली-साहित्य में शृंगारिक रचना की परंपरा चल पड़ी तथा मिथिला में राम के देवत्व को असंदिग्ध भाव से स्वीकार कर लिया गया। संभव है कि मानस की लोकप्रियता से ही बाद में मैथिली-रामायण-रचना की प्रेरणा मिली हो।

मैथिली में तीन रामायण हैं। चंद्रकवि कृत मिथिला भाषारामायण, लालदास कृत रमेश्वर चरित्र मैथिलीरामायण तथा श्री रामलोचनशरण कृत रामचरितमानस का मैथिली अनुवाद। इन ग्रंथों की रचना बीसवीं शती के आरंभ में हुई है। इनकी रचना से पूर्व की तो बात ही क्या, इन ग्रंथों की रचना के बाद भी 'मानस' की लोकप्रियता मैथिली भाषी क्षेत्र में कम नहीं हुई। वैसे तो रामकथा इतनी प्रशस्त है कि इसमें कथांश की विविधता की अधिक गुंजाइश नहीं है। फिर भी मैथिलीरामायण में जहाँ तहाँ घटनाओं के वर्णन में अंतर है। चंदा झा कृत मिथिला भाषारामायण भी मानस की तरह अध्यात्म रामायण के आधार पर लिखी गई है। मैथिली-भाषा में भिन्न-भिन्न छंदों का प्रयोग कर चंदा झा ने बाद के कवियों के लिये मार्ग प्रशस्त किया है। निश्चय ही इसमें मानस से अधिक छंदों का प्रयोग है। मानस की तरह इसकी भाषा में भी जन-साधारण की भाषा का अत्यधिक प्रयोग है। मैथिली की विभिन्न लोकोक्तियों का प्रयोग कर चंदा झा ने रामायण की भाषा को मानस की तरह लोकप्रिय एवं प्रभावपूर्ण बनाने की चेष्टा की है। रावण के दरबार में हनुमान की निम्नांकित उक्ति में किसप्रकार अनेक लोकोक्तियों का प्रयोग हुआ है वह द्रष्टव्य है :

बानर चर फिरइछ सभठाम, हम लंका ऐलहुँ सुनि नाम।
नीति धर्म हम देल सुनाए, सत्य कहए से मारल जाए।
हृदय अहांक अधिक अछि मैल, झिट्की सं फुटि जाइछ घैल।
पंडित वेश कुपथ की धएल, हाथी सं हथिवेसन कएल।
हमरा मारल बांधल बेश, बुद्धि वृद्धि हो लगलें ठेस।
हसि बजला तखना दशकंठ, ई वानर अधि बरका लण्ठ।

यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि मानस काव्यकला की दृष्टि से मैथिलीरामायण से अधिक सफल कृति है। फिर भी कुछ स्थलों पर चंदा झा की रामायण में घटनाओं का नियोजन विशेष स्वाभाविक दिखाई देता है। कुछ स्थलों पर कथानक में भी कुछ भिन्नताएँ हैं। परशुराम-लक्ष्मण-

संवाद से पहले शतानंद द्वारा राम के गुणों पर प्रकाश डाला गया है। मानस में इस अवसर पर शतानंद नहीं आते हैं। मानस में दशरथ का आगमन परशुराम के चले जाने पर होता है किंतु चंदा झा कृत मैथिलीरामायण में दशरथ परशुराम के आगमन के समय उपस्थित रहते हैं। चंदा झा की रामायण का लक्ष्मण-परशुराम-संवाद बहुत ही आकर्षक है। लक्ष्मण की एक-एक व्यंग्यक्ति में हास का सम्मिश्रण है :

शिव धनु टूटल देत के जोड़ि।
की होअ आब कपारे फोड़ि।

लालदास कृत रमेश्वर चरित्र रामायण यद्यपि वाल्मीकिरामायण के आधार पर लिखी गई है किंतु मानस इनका आदर्श रहा है तथा चौपाई, दोहा, सोरठा आदि छंदों का प्रयोग मानस की तरह इसमें भी हुआ है। यह कहना भी आवश्यक होगा कि मानस की तरह मैथिली की ये दोनों रामायण भक्ति-भाव पूरित हैं। चंदा झा की रामायण में मानस की तरह सात कांड हैं किंतु लालदास की रामायण में आठ कांड हैं। अंतिम कांड पुष्करकांड है, जिसमें सीता का वर्णन आदिशक्ति के रूप में हुआ है। लालदास की रामायण, मानस तथा मिथिला-भाषा-रामायण दोनों से दृष्टिकोण की भिन्नता रखती है। काव्यात्मक उपलब्धि की दृष्टि से रमेश्वर चरित रामायण चंदा झा की रामायण से अधिक सफल कृति है। सुंदरकांड में राम के वियोग में सीता की स्थिति का वर्णन देखें :

अग्नि शिखा सम देहक कांति, व्याप्त विरह दुख धूमक पांति।
पति बिनु मलिन बदन अतिभेल, पूर्ण चंद्र घन घेरिलेल।
मणि भूषण बिनु अंग उदास, यथा लता बिनु कुसुम हताश।
पति वियोग सौं तन भेल ह्रास, जनि विद्यागत बिनु अभ्यास।

रामलोचनशरण कृत मानस का अनुवाद मूल ग्रंथ के अनुरूप ही है फिर भी मानस की प्रौढ़ता इसमें नहीं पायी जाती।

रामचरितमानस का प्रभाव मैथिली की दोनों रामायणों पर स्पष्ट दीखता है। कथानक में थोड़ी भिन्नता रखते हुए भी चंदा झा कृत मिथिला भाषा-रामायण तथा महाकवि लालदास रचित रमेश्वर चरित मैथिलीरामायण मानस के आधार पर लिखी गयी रचनाएँ हैं। फिर भी इनकी अपनी विशेषताएँ हैं।

प्रो० रघुवीरसहाय काश्यप जोशी

रामचरितमानस और राधेश्याम रामायण

महाकवि वाल्मीकि द्वारा जिस रामकथा का प्रारंभ किया गया, उसे गोस्वामी तुलसीदास ने इतनी परिपूर्णता के साथ विकसित किया कि आज भी उनके रामचरितमानस का पाठ, धार्मिक भावना से प्रेरित होकर, घर-घर में किया जाता है। गोस्वामी तुलसीदास द्वारा प्रवाहित राम-कथा की यह धारा उत्तरोत्तर विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं के रूप में विकसित होती चली गयी। भक्तिकाल से लेकर आधुनिकयुग तक के अनेक कवियों को इस कथानक ने आकर्षित किया और राम-कथा पर अनेक काव्यों का प्रणयन किया गया। सन् १९०० ई० के आस-पास का युग यद्यपि राष्ट्रीय चेतना का युग रहा है, किंतु इस काल में भी भक्तिपरक साहित्य की रचना होती रही। इन रचनाओं में मुख्यरूप से तीन-चार प्रबंधकाव्य गिनाए जा सकते हैं—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय कृत 'प्रियप्रवास', पं० रामचरित उपाध्याय कृत 'रामचरित-चिंतामणि', पं० राधेश्याम कथावाचक कृत 'रामायण' एवं श्री मैथिलीशरण गुप्त द्वारा प्रणीत 'साकेत'। 'प्रियप्रवास' और 'रामचरित-चिंतामणि' में कृष्ण तथा राम के चरित्र को नवीन चेतना की पृष्ठभूमि में चित्रित करने का प्रयास किया गया है, तो दूसरी ओर पं० राधेश्याम कथावाचक और श्री मैथिली शरण गुप्त को राम के ईश्वरत्व में पूर्ण विश्वास है। यद्यपि गुप्तजी पर आधुनिक बुद्धिवाद का प्रभाव कम ही है, फिर भी उन्होंने रामकथा के अलौकिक प्रसंगों को बचाने की चेष्टा की है। इसके विपरीत कथावाचक जी ने गोस्वामी जी के संदेश को ज्यों का त्यों सरल भाषा में घर-घर पहुँचाया है। यहाँ तक कि

कथावाचक जी के श्रद्धालु भक्तों ने उन्हें तुलसीदासजी का अवतार ही मान लिया :

समय-समय पर भेजते, भक्तों को श्रीराम।
वाल्मीकि तुलसी हुए, तुलसी राधेश्याम।[1]

पं० राधेश्याम कथावाचक की 'रामायण' को शिष्ट-साहित्य और लोक-साहित्य के बीच की श्रेणी का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ कहा जा सकता है। उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास की परंपरा में ही राम-कथा का गायन किया है। वे अपने समय के प्रसिद्ध कथावाचक भी थे। अतः उन्होंने अपनी 'रामायण' में 'रामचरितमानस' में वर्णित प्रसंगों के साथ-साथ लोक में प्रचलित कतिपय कथानकों का भी समावेश कर दिया है। इन कथानकों को यद्यपि मौलिक तो नहीं कहा जा सकता, किंतु इनको चित्रित करने की कला 'कथावाचक' जी की अपनी है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित प्रसंग द्रष्टव्य हैं :

(१) रामजन्म के समय तुलसीदास ने कौशल्या को राम के विराट् रूप के दर्शन कराये हैं, किंतु राधेश्याम ने राम का केवल प्रकट होना लिखा है :

मंडलेश्वर योग था, अभिजित समय ललाम।
कौशल्या के धाम में, प्रकटे शोभाधाम।[2]

(२) जब विश्वामित्र यज्ञ की रक्षा के लिए दशरथ से राम-लक्ष्मण की याचना करते हैं तो ममता के कारण दशरथ कुछ आनाकानी करते हैं। इस प्रसंग में राधेश्याम जी ने विश्वामित्र के क्रोध का भी चित्रण किया है, जबकि 'मानस' में ऐसा नहीं है :

गाधिसुवन के हो गए, रक्तवर्ण कुछ नैन।
कहे कड़ककर नृपति से, इस प्रकार अब बैन।
दशरथ तुझ जैसे ज्ञानी को, इतनी बच्चों की ममता है।
जा चुकी जवानी दीवानी, फिर भी माया में भ्रमता है।[3]

(३) पुष्पवाटिका-प्रसंग के समय राधेश्याम जी ने पृथ्वी-पुत्री सीता के जन्म की लोक-प्रचलित कथा का भी समावेश कर दिया है, जबकि गोस्वामी जी ने ऐसा नहीं किया है।

---

१. बरेली में २५-११-६० को शिक्षामंत्री को दिए गए अभिनंदन पत्र से।
२. राधेश्याम रामायण, कथा संख्या १, पृष्ठ १४
३. राधेश्याम रामायण, कथा संख्या २, पृष्ठ ४

(४) पुष्पवाटिका में ही राम की सुंदरता को देखने के बहाने तुलसी की सीता पशु-पक्षी एवं वृक्षों को देखने के मिस बार-बार घूम कर राम को देखने लगती हैं :

देखन मिस मृग बिहग तरु, फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छबि, बाढ़इ प्रीति न थोरि।[1]

किंतु राधेश्याम जी की सीता लता में साड़ी उलझ जाने के कारण सखियों से पीछे रह जाती हैं।[2] यहाँ यदि तुलसी का चित्रण अधिक मनोवैज्ञानिक है तो राधेश्याम का अधिक तर्क पूर्ण।

(५) स्वयंवर सभा में राधेश्याम ने जनक के बंदीजनों द्वारा धनुष का वर्णन कराते हुए यह भी कहलाया है कि सीता ने बचपन में इसे उठा लिया था :

दससीस सहस्रबाहु तक ने, तिलभर न जिसे सरकाया है।
सीता ने खेल खेल ही में, जिसको एक दिवस उठाया है।[3]

(६) परशुराम-गर्व-हरण प्रसंग में राधेश्याम के परशुराम का यह कहना कि संसार में दो 'राम' नहीं रह सकते, राधेश्याम की एक मौलिक योजना है। गोस्वामीजी ने परशुराम के मुख से ऐसा कुछ भी न कहलाया है।[4]

(७) वन-गमन-प्रसंग में राधेश्यामजी के लक्ष्मण ने क्रोधित होकर माता सुमित्रा के समक्ष अपने आवेशपूर्ण उद्गार प्रकट किए हैं। यह अत्यंत मौलिक एवं समीचीन है। परशुराम का गर्व हरने वाले लक्ष्मण भला इतना बड़ा अन्याय चुपचाप कैसे सह लेते :

बोले आज्ञा दीजिए, तो हम करें उपाय।
देखा जाता है नहीं, रघुकुल में अन्याय।[5]

(८) गोस्वामी तुलसीदास ने अनन्य राम-भक्ति के कारण उर्मिला को बिल्कुल ही भुला दिया है, किंतु राधेश्याम ने वन-गमन-प्रसंग में लक्ष्मण तथा उर्मिला का संवाद कराया है, तथा इस प्रकार उर्मिला के चरित्र को अत्यंत निर्मल रूप में चित्रित करके उसे उच्चासन पर बिठा दिया है।

(९) राधेश्यामजी ने कैकेयी के चरित्र को भी उठाने का प्रयास किया है।

---

१. मानस १।२३४ २. राधेश्याम रामायण, कथा संख्या ३, पृष्ठ २०
३. राधेश्याम रामायण, कथा संख्या ३, पृष्ठ ७
४. राधेश्याम रामायण, कथा संख्या ५, पृष्ठ ९
५. राधेश्याम रामायण, कथा संख्या ६, पृष्ठ ११

तुलसी के भरत ने माता कैकेयी को अत्यंत कटु शब्द कहे हैं, पर राधेश्याम के भरत ने बड़े शांत शब्दों में केवल अपना क्षोभ ही प्रकट किया है, यद्यपि प्रभाव एक-सा ही हुआ है। आगे चलकर जब भरत अपनी माता की भूल को सुधारने का प्रस्ताव गुरु वशिष्ठ के समक्ष रखते हैं, तो राधेश्याम की कैकेयी भी पश्चात्ताप करती हुई दिखाई देती है :

मैं सहमत हूं, मैं राजी हूँ, मैं कहती हूं उट्ठो बेटा।
मुझ कलंकिनी के माथे का, सारा कलंक धोओ बेटा।[1]

इसी प्रकार चित्रकूट में भी राधेश्याम की कैकेयी पश्चाताप की अग्नि में जलती हुई दिखाई पड़ती है।

(१०) पंचवटी में जब लक्ष्मण सीता के कहने पर मारीच के पीछे गए हुए राम का अनुगमन करते हैं तो वे सीता की रक्षा के लिए कुटी के चारों ओर एक रेखा खींच देते हैं। इसका वर्णन गोस्वामी जी ने नहीं किया है। केवल लंकाकांड में मंदोदरी द्वारा 'रामानुज लघुरेख खचाई, सोउ नहिं नाघेउ असि मनुसाई' कहलाकर संकेत भर कर दिया है। राधेश्याम ने पंचवटी प्रसंग में ही यह पूरा विवरण दे दिया है :

जाते जाते भी उन्हें, इतना रहा विवेक।
सीता के चारों तरफ, रेखा खींची एक।[2]

(११) शबरी के आश्रम में राम शबरी के जूठे बेर स्वयं खाते हैं और लक्ष्मण को भी खाने के लिए देते हैं। एक लोक कथा के अनुसार लक्ष्मण बेरों को फेंक देते हैं और वे ही बेर द्रोणागिरि पर संजीवनी बूटी के रूप में उग जाते हैं जिससे आगे चलकर लक्ष्मण का उपचार होता है। राधेश्याम रामायण में इस लोककथा का समावेश किया गया है।[3]

(१२) सुलोचना-सती का प्रसंग भी रामचरितमानस में नहीं है। अन्य काव्यों के आधार पर यह कथा लोक में बहुप्रचलित है। राधेश्याम जी ने इसको अपनी रामायण में सम्मिलित करके लोकरुचि को महत्ता प्रदान की है।[4]

इसी प्रकार रावण-पुत्र अहिरावण-वध की सारी कथा का भी राधेश्याम

---

१. राधेश्याम रामायण, कथा संख्या ९, पृष्ठ ४

२. राधेश्याम रामायण, कथा संख्या ११, पृष्ठ ११-१२

३. राधेश्याम रामायण, कथा संख्या ११, पृष्ठ १२

४. राधेश्याम रामायण, कथा संख्या १८, पृष्ठ ९-२४

रामायण में एक प्रयोग के रूप में वर्णन किया गया है और इससे भी कथावाचक जी की लोकरुचि का प्रमाण मिलता है।[१]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कथावाचक जी ने अपनी सूझ-बूझ से नई उद्भावनायें की हैं किंतु इतना स्पष्ट है कि उन्हें काव्य का बना बनाया ढाँचा गोस्वामी तुलसीदास ने ही दे दिया था। कथावाचक जी के कथा विन्यास में वह व्यापकता नहीं आ पाई है, जो 'मानस' में है। इसका कारण यही है, कि राधेश्यामजी ने अपनी रामायण की रचना लोक साहित्य की शैली के आधार पर की है। वैसे कथावस्तु को प्रस्तुत करने में तुलसी और राधेश्याम दोनों का लक्ष्य धर्मोपदेश ही है।

जहाँ तक 'रामचरितमानस' और 'राधेश्याम रामायण' के शास्त्रीय तुलनात्मक विवेचन का प्रश्न है 'राधेश्याम रामायण' 'रामचरितमानस' से बहुत पीछे रह जाती है। काव्यशास्त्र की कसौटी पर 'रामचरितमानस' पूर्णतया खरा उतरता है, जबकि 'राधेश्याम रामायण' में काव्यशास्त्रीय मर्यादाओं का कुछ सीमा तक ही पालन हुआ है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में मानसकार की तरह कथावाचक जी न तो व्यापकता ही ला पाये और न मार्मिक स्थलों की पहचान ही कर सके। फिर भी संगीत के प्रभाव के कारण यह कमियाँ खटकती नहीं है। कथावाचक जी ने गोस्वामी जी के कथानक को अपनाते हुए भी चरित्रों को नवीन साँचे में ढालने का प्रयत्न अवश्य किया है। कैकेयी और उर्मिला के चरित्रों को जिस प्रकार कथावाचक जी ने उभारा है उससे यह सिद्ध हो जाता है कि आगे चलकर श्री मैथिलीशरण गुप्त को 'साकेत' की रचना में 'राधेश्याम रामायण' से प्रेरणा अवश्य मिली होगी।

यह हम सभी जानते हैं कि तुलसीकृत 'रामचरितमानस' को वह लोकप्रियता प्राप्त हुई जो हिंदी के किसी दूसरे ग्रंथ को प्राप्त न हो सकी। किंतु यदि 'मानस' भक्तों के गले का हार है तो 'राधेश्याम रामायण' जन-मानस की अमूल्य वस्तु है। जिस कार्य का श्रीगणेश हिंदी में गोस्वामी जी ने लिख कर किया उसे जन-जीवन तक पहुँचाने का श्रेय पंडित राधेश्याम कथावाचक को ही है। उनकी रामायण की लोकप्रियता का केवल एक यही प्रमाण पर्याप्त है कि इस रामायण के प्रत्येक प्रसंग की एक करोड़ से भी अधिक प्रतियाँ बिक चुकी हैं, तथा भारत में ही नहीं, बल्कि दक्षिणी अफ्रीका, मारीशस आदि देशों में बसे हुए भारतीयों में भी इनकी रामायण की माँग है।

---

१. राधेश्याम रामायण, कथा संख्या १९, पृष्ठ १-२४

डॉ० एस० एन० गणेशन

मानस के मलयालम अनुवाद

लोकनायक तुलसीदास की महान् रचना 'रामचरितमानस' की महिमा अन्यादृश है, और उसका विविध भाषा-भाषी जनों में जो स्वागत हुआ है, वह भी आश्चर्यजनक है। पंडितों और पामरों को, दार्शनिकों, भक्तों और सामान्य जनों को एक साथ मुग्ध कर देने वाली रचना मानस की तरह शायद ही और कोई मिलेगी। इसके प्रचार की व्यापकता हिंदीक्षेत्र तक ही सीमित नहीं है, वरन् अन्य भाषा-भाषियों को भी उसने आकृष्ट किया है। भारत की अनेक भाषाओं में और कुछ विदेशी भाषाओं में उसका अनुवाद हुआ है। किंतु केरल में उसका जो अनुवाद हुआ है, वह सचमुच आश्चर्यजनक है। 'मानस' के जो अनुवाद और व्याख्यायें अब तक निकली हैं, उनके अवलोकन से स्पष्ट होगा कि केरल की जनता ने रामचरितमानस का कितना हार्दिक स्वागत किया है।

वैसे रामायण या रामकथा पर आश्रित रचनायें मलयालम में चार सौ से अधिक मिलती हैं। विविध साहित्य-विधाओं में (जिनमें कुछ मलयालम की अपनी ही विधायें हैं, जैसे कथकलि, तुल्लल आदि) रचित रामायणों की संख्या चालीस से अधिक है। महाकाव्य, चंपू, नाटक इत्यादि साहित्यिक रूपों में, तथा लोरी, झूला-गीत, नौका-गीत, इत्यादि लोक-गीत-विधाओं में रचित अनेक कृतियों ने रामकथा को जनता के लिए सुपरिचित बना रखा है। इन सब के बीच में 'मानस' के एक से अधिक अनुवाद भी निकले, इससे तुलसी की महत्ता ही प्रकट होती है। इन सब अनुवादों का अवलोकन करना रोचक होगा। उनका संक्षिप्त परिचय ही यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

पहला अनुवाद

प्रथम रामचरितमानस का मलयालम अनुवाद करने की चेष्टा पेट्टयिल् रामन पिल्ला आशान द्वारा हुई। यद्यपि आशान का अनुवाद केवल बालकांड का मिलता है (यह ज्ञात नहीं है कि उन्होंने पूरे 'मानस' का अनुवाद किया या नहीं। केवल बालकांड का अनुवाद मिलता है, वह भी दुर्लभ है) तो भी उससे कृति की रमणीयता प्रकट होती है। यह अनुवाद सन् १९२७ में निकला था। स्मरण रखने की बात है कि गांधीजी द्वारा मद्रास में हिंदी प्रचार सभा की स्थापना (१९१८) हुए मुश्किल से दस साल हुए थे। इस अल्पकाल में ही मानस की महिमा से अवगत होकर एक मलयालम कवि ने उसका अनुवाद करने की चेष्टा की, यह स्वतः एक महत्त्वपूर्ण बात है। आशान का यह अनुवाद मलयालम के प्रसिद्ध 'किलिप्पाट्टु (शुकीगीत) छंद में है, जिसमें विख्यात कवि रामानुजन एषुत्तच्छन ने अपनी 'अध्यात्मरामायणम्' लिखी है।

पहला गद्यानुवाद

इसके बाद संपूर्ण रामचरितमानस का एक गद्यानुवाद प्रकाशित हुआ, जो बहुत दिनों तक एक मात्र संपूर्ण अनुवाद के रूप में प्रशस्त रहा। अनुवादक थे कावुंगल नीलकंठ पिल्लै, जो मलयालम के विख्यात पंडित थे। दो भागों में प्रकाशित इसका पहला भाग १९२८ में और दूसरा भाग १९३० में निकला। लेखक ने अनुवाद के बारे में लिखते हुए कहा कि अनुवाद करते समय अंग्रेजी अनुवाद से सहायता ली गयी है, पर प्रत्येक पंक्ति की मूल से तुलना करके शुद्ध बनाने की चेष्टा की गयी है। लेखक को रामायण के प्रति अपार श्रद्धा है, जो उनकी गंभीर भूमिका से प्रकट है। रामायण की महिमा के बारे में उनका कथन है, 'रामायण से सीखने की बातें ये नहीं हैं कि राम ने पेड़ की आड़ से एक वानर को मारा और तप करनेवाले एक शूद्र का गला काट दिया। मुहम्मद नबी, ईसा मसीह, शंकरादि आचार्यों और श्रीबुद्ध ने जिन नीति-तत्त्वों के उपदेश दिये, वे सब रामायण में समाविष्ट हैं। सत्यासत्य की विवेचना करने वाले एक सौ आठ उपनिषदों का रत्नसार निकालकर ही रामायण को रंग दिया गया है।' लेखक ने मानस के प्रति अपार भक्ति, और तुलसी के प्रति अनन्य श्रद्धा के साथ ही अनुवाद का कार्य किया है। अतः, यद्यपि अनुवाद गद्य में है, तो भी तुलसी की अंतरात्मा को अभिव्यक्त करने में लेखक को अपार सफलता मिली है। तुलसी के 'अनर्गल भक्ति-रस-प्रवाह को, उनके वज्र तुल्य अभिधा-शब्दों को पूर्णतः उतारने की चेष्टा' लेखक ने की है।

अन्य गद्यानुवाद

दूसरा गद्यानुवाद केरल के प्रथम और विख्यात हिंदी प्रचारक वासुदेवन पिल्लै द्वारा संचालित 'राष्ट्रवाणी' साप्ताहिक में धारावाहिक रूप से १९५३ में निकला। क्योंकि पत्रिका अधिक काल तक नहीं चल सकी, इसलिए अनुवाद भी अपूर्ण रह गया। श्री एन० चंद्रशेखरन् के अनुवाद के भी कुछ अंश ही पत्रिकाओं में प्रकाशित होकर सामने आये हैं। इनके अतिरिक्त ए० वासुमेनोन का एक गद्यानुवाद भी प्राप्य है।

दो संपूर्ण पद्यानुवाद

'रामचरितमानस' का अनुवाद सरल कार्य नहीं है, और पद्यानुवाद तो अत्यंत श्रमसाध्य कार्य है, जो धुरंधर कवियों से ही संभव है। मलयालम के वरिष्ठ कवि वेण्णिक्कुलम गोपाल कुरुप ने यह महान् कार्य करके मलयालम भाषा को भी धन्य बना दिया, उत्तर दक्षिण के बीच की अटूट कडी के रूप में रामचरितमानस को भी प्रतिष्ठित कर दिया। जैसे स्वयं कवि ने माना है, यह अनुवाद उनके लिये अपार साधना का कार्य रहा है। यद्यपि वेण्णिक्कुलम का अनुवाद पूर्णग्रंथ के रूप में १९६८ में ही निकला, तो भी उनका प्रयत्न काफी पहले ही शुरू हो चुका था। गांधी जी ने १९३५ के लगभग 'यंग इंडिया' में रामचरितमानस की महत्ता के बारे में एक लेख लिखा था। प्रसिद्ध मलयालम पत्रिका 'मलयाल मनोरमा' के संपादक मामन माप्पिला ने कवि का ध्यान उस लेख की ओर आकृष्ट किया और उन्हें मानस का अनुवाद करने की प्रेरणा दी। कविवर वेण्णिक्कुलम ने भी बड़े चाव से यह कार्य शुरू किया। 'ग्रंथ का एक बार पारायण करने पर ही ऐसी उत्कृष्ट इच्छा हुई, जो अपनी शक्ति के परे थी; पद्य रूप में ही अनुवाद करने की इच्छा'। इस उत्कट इच्छा के फलस्वरूप उन्होंने बालकांड का अनुवाद किया और वह चार खंडों में मलयाल मनोरमा प्रेस से ही १९३५ के आस-पास प्रकाशित हुआ। मूल के अर्थ को सुरक्षित रखकर अत्यंत सुंदर और स्वाभाविक मलयालम शैली में किया गया यह अनुवाद सहृदयों की प्रशंसा का पात्र हुआ फिर भी न जाने क्यों वह पूर्ण नहीं हुआ। दीर्घकाल के बाद नौकरी से निवृत्त होने पर कवि पुनः इसमें जुट गया और तीन वर्षों में अनुवाद पूरा किया गया। इन तीन वर्षों की अपनी दशा के बारे में वेण्णिक्कुलम लिखते हैं, 'जैसे कोई भक्त अपने इष्टदेव की मूर्ति की उपासना करता है, उसी तरह गत तीन वर्ष से मैं रामचरितमानस की निरंतर उपासना कर रहा हूँ।

एक धर्म-सुभग इतिहास ग्रंथ पर हाथ लगा रहा हूँ—इस बात से अवगत होकर ही मैंने अनुवाद शुरू किया। आरंभ से अंत तक यही भावना बनी रही। काव्य-चैतन्य अनुवाद में प्रतिबिंबित न हो तो वह अपराध होगा। कवि-हृदय को जानकर भावों की अभिव्यक्ति करना ही अपेक्षित है। कविता के आनंद के उपादान-स्वरूप गेयता भी कम नहीं होनी चाहिए। इन भावों से मेरा हृदय आंदोलित था।' वेण्णिक्कुलम का अनुवाद भी इस भावना के अनुरूप बन पड़ा है। वे मलयालम के मौलिक कवियों में उच्च श्रेणी के माने जाते हैं, और उनकी सैकड़ों कविताओं में उत्कृष्ट भाव-कल्पनायें प्रसादपूर्ण शैली में केरल की जनता को मोहित कर चुकी हैं। अत्यंत प्रांजल शैली में 'मानस' का अनुवाद भी मनमोहक बना है। लेखक ने विविध कांडों के लिए विविध मलयालम छंदों का प्रयोग किया है, जिनमें कवि पहले ही अपनी सृजन-दक्षता प्रकट कर चुके हैं। यद्यपि सामान्यतः पद्यानुपद्य अनुवाद ही किया गया है, तो भी भाषांतरण की विवशताओं के कारण जहाँ तनिक परिवर्त्तन आवश्यक ज्ञात हुए, वहाँ ऐसे परिवर्त्तन किये गये हैं। अनुवाद पढ़ने पर ऐसी प्रतीति होती है कि मूल-ग्रंथ ही है, अनुवाद नहीं।

दूसरा पद्यानुवाद टी० के० भट्टतिरि का है। यह भी संपूर्ण है, और बड़े परिश्रम से किया गया है। भट्टतिरि ने वेण्णिक्कुलम की अपेक्षा मूल के अधिक निकट रहने का प्रयास किया है। यहाँ तक कि उन्होंने चौपाई की तरह सोलह मात्राओं के एक नये छंद का उपयोग किया है, जिसका मलयालम में प्रचार नहीं है। भाषाभिव्यंजन की दृष्टि से अनुवाद उत्तम माना जा सकता है। मूल के प्रति पूरी ईमानदारी रखी गयी है। किंतु भाव को सुरक्षित रखने तथा अपरिचित छंद में अनुवाद करने के कारण शैली में स्वाभाविक प्रवाह नहीं आया है। अतः सामान्य मलयालम-पाठक इस में कुछ अस्वाभाविकता देख सकते हैं; पर जो शोध-दृष्टि से तुलसी के भावों तक जाना चाहें, उनके लिये यह अनुवाद निश्चित ही उपादेय है।

'मानस' की मलयालम व्याख्या

इनके अतिरिक्त 'मानस' का एक व्याख्यात्मक अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। इसके लेखक टी० के० शमन मेनोन हैं। मेनोन की यह व्याख्या १९६९ में दो भागों में प्रकाशित हुई है। इसनें लेखक ने मलयालम लिपि में मूल ग्रंथ भी दिया है, जिससे देवनागरी न जानने वाले पाठक भी ग्रंथ का पाठ-पारायण कर सकते हैं (यह उल्लेखनीय है कि केरल में संस्कृत ग्रंथ भी प्रायः मलयालम

लिपि में ही प्रकाशित होते हैं, जिससे संस्कृत का प्रचार बड़ी सरलता से हुआ है) मूल के प्रत्येक छंद के साथ उसका मलयालम अनुवाद दिया गया है, और आवश्यक स्थानोंपर शब्दों की व्याख्या भी की गयी है। लेखक ने संस्कृत के अपने अपार पांडित्य के आधार पर अनेक दार्शनिक तत्त्वों की भी विवेचना की है। यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि कुछ स्थानों पर लेखक ने परंपरागत टीकाओं से भिन्न अर्थ दिये हैं और ऐसे स्थानों पर आधिकारिक ग्रंथों से उद्धरण देकर अपने मतों का समर्थन किया है। इस कारण से यह ग्रंथ हिंदी में पुनः अनूदित हो, तो भी मूल्यवान रहेगा।

इन अनुवादों तथा व्याख्याओं के द्वारा 'रामचरितमानस' और उसके लेखक गोस्वामी तुलसीदास केरलवासियों के लिए सुपरिचित हुए हैं, और उनकी श्रद्धा के पात्र बन चुके हैं। जिन कवियों और लेखकों ने इसमें योगदान दिया है, वे भी सांस्कृतिक संवाहकों के रूप में जनमानस में निवास करेंगे।

डॉ० रमानाथ त्रिपाठी

पूर्वांचलीय रामचरित-काव्य और रामचरितमानस

निरुक्तकार यास्क (७-८ वीं शती) एवं पाणिनि (५ वीं शती) दोनों ने ही मगध की ओर के प्रदेश को प्राच्य कहा है। शुद्धवाणी का दर्प करने वाले आर्यों की दृष्टि में प्राच्य-देश के लोग सुसंस्कृत न थे। महाभारत में अंग-वंग-कलिंग-पुण्ड्र और सुह्म नामक पाँच राज्यों का वर्णन हुआ है। इन पाँचों को मिलाकर पंच-गौड़ कहा जाता था। गौड़ देश के समुन्नत दिनों में आसपास के कुछ अन्य राज्य भी अपने को गौड़ देश के अंतर्गत मानते थे। पंच गौड़ तथा इसके उत्तर प्राग्ज्योतिष एवं पश्चिम में मगध और मिथिला को सम्मिलित रूप से पूर्वभारत कहते थे। यहाँ का शासक जरासंध था। पूर्वभारत के अंतर्गत बिहार, असम, बंग और उत्कल प्रांत का अधिकांश क्षेत्र आ जाता है। यहाँ बोली जाने वाली बोलियों का मूलस्रोत भी एक ही है—मागधी, प्राकृत और अपभ्रंश। मागधी अपभ्रंश की पूर्वी शाखा की भाषाओं के क्षेत्र असम, बंग और उत्कल प्रदेशों की भाषाओं के रामचरित-काव्यों का तुलानात्मक अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया गया है और इसी क्षेत्र को पुकारने की सुविधा के लिए पूर्वांचल कहा गया है।

भारतवर्ष के अन्य अनेक प्रदेशों के समान पूर्वांचल में भी भाषाओं के साहित्य के प्रेरणास्रोत थे रामायण, महाभारत एवं भागवत ग्रंथ। यहाँ कृष्ण भक्ति का प्रबल प्रसार हुआ किंतु रामचरित-काव्य इसके पूर्व लिखे जा चुके

थे। राम के निष्कलंक पारिवारिक आदर्श के प्रभाव ने यहाँ की उपासना-पद्धतियों को नियंत्रित किया है। रामकथाकारों एवं कृष्णभक्त कवियों ने इन प्रदेशों को अनार्य-उपासनाओं के प्रभाव से मुक्त रखने का प्रयास किया है। इनमें अधिक सफलता रामकथाकारों को मिली।

आलोच्य चारों रामायण-लेखकों का प्रामाणिक जीवन-वृत्त उपलब्ध नहीं होता। असमीया-रामायण के लेखक माधव कंदली थे। उन्होंने लंका-कांड के अंत में लिखा कि बराहराजा महामाणिक्य के अनुरोध से उन्होंने रामायण की रचना की। बराहराजा की खोज कर माधव कंदली का जीवनकाल अनुमानित किया गया। इनका जन्म १४०० ई० के आसपास हुआ होगा। इनकी रामायण के कुल पाँच कांड उपलब्ध हैं। दो कांड लुप्त हुए, इन दो कांडों की पूर्ति का प्रयास असम के महान् संत शंकरदेव (१४४६-१५६८ ई०) के द्वारा हुआ। उन्होंने स्वयं उत्तरकांड लिख कर जोड़ा तथा अपने शिष्य माधवदेव कायस्थ (१४८६-१५९६) के द्वारा उन्होंने आदिकांड लिखाया। माधव कंदली की रामायण वाल्मीकि-रामायण का अनुसरण करती है। लेखक को मार्मिक स्थलों की पहचान है, वह रामभक्त है। शंकरदेव एवं माधवदेव ने कंदली की शैली का अनुसरण करते हुए भी कृष्ण-भक्ति का आरोप करने का प्रयास किया है।

बंगला-रामायण लेखक कृत्तिवास का जन्म फुलिया गांव में १५वीं शताब्दी के मध्य हुआ। वे स्वाभिमानी ब्राह्मण थे, किसी गौड़ेश्वर की सभा में जब उन्हें अर्थ-पुरस्कार प्रदान किया जा रहा था, उन्होंने स्वीकार नहीं किया और केवल गौरव माँगा। कृत्तिवासी-रामायण की अतिख्याति उसके शुद्ध-पाठ के लिए घातक बनती गयी। कथक लोग मृदंग और मंजीर के साथ रामायण का गायन करते थे और उसमें प्रसंगानुकूल रोचक कथाएं जोड़ते जाते थे, फलत: पाठ अशुद्ध एवं प्रक्षिप्त होता गया किंतु ख्याति बढ़ती गयी। बंगला-रामायण के रोचक प्रसंगों का प्रभाव असम एवं उड़ीसा तक पहुँच गया था। असमीया विद्वानों को शिकायत है कि उनके प्रदेश के लोग अपनी रामायण की अपेक्षा बंगला की 'रंगचीया' (अर्थात् अवांतर प्रसंगों से युक्त) रामायण की ओर अधिक आकृष्ट रहे हैं। श्रीरामपुर के मिशनरियों ने सर्वप्रथम कृत्तिवासी बंगला-रामायण का संस्करण प्रकाशित किया था, संपादक थे जयगोपाल तर्कालंकार। पहला संस्करण ठीक संपादित हुआ था, दूसरे संस्करण में उन्होंने बहुत परिवर्तन कर दिये। अब प्रथम संस्करण उपलब्ध नहीं है, बंगला में

जितने भी संस्करण बिक रहे हैं वे सब तर्कालंकार के द्वितीय-संस्करण के पुनर्मुद्रण मात्र हैं।

उड़िया-रामायण लेखक बलरामदास १४७०-८० ई० के मध्य कहीं उत्पन्न हुए। १५१० ई० के पूर्व तक उन्होंने रामायण लिख ली होगी। ये शूद्र-जातीय थे। जगन्नाथ स्वामी के परमभक्त बलरामदास प्रतिभाशाली कवि थे, वे कहीं शब्द-कृपण नहीं दिखाई पड़ते। कई स्थलों पर वे आधिकारिक कथा-वर्णन से हट गये हैं। उन्होंने अनेक स्थलों पर ज्योतिष, रागरागिनी, तीर्थ, पत्थर, धातु-रत्न, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे-फूल, देश-नगर-द्वीप, स्वप्न-विचार आदि की विस्तार-सहित चर्चा की है। स्त्री-पुरुष के उत्तेजित कामालाप एवं रतिक्रीड़ा के चित्तात्मक वर्णन में लेखक की रसिकता प्रकट होती है। स्वयं शूद्र होते हुए भी वे ब्राह्मण-विद्वेषी नहीं थे। तपः पूत ब्राह्मणों के आगे वे श्रद्धानत थे, किंतु ढोंगी ब्राह्मणों पर व्यंग करने में वे चूके नहीं हैं।

गो० तुलसीदास ने कम से कम ग्रंथ-रचना का संवत् तो दे दिया है। उनका मृत्यु-संवत् १६८० वि० भी सर्वस्वीकृत है, जन्म-संवत् के विषय में मतभेद है। उनके जन्म-स्थल के विषय में भी मतभेद है—हाजीपुर, हस्तिनापुर, तारी और काशी में तुलसीदास का जन्म नहीं ही हुआ, राजापुर के पक्ष में भी प्रामाणिक सामग्री नहीं है। इधर बांदा जिला के राजापुर के अतिरिक्त दो और राजापुर प्रकाश में आये हैं—बाराबंकी का राजापुर और विहार का राजापुर। अयोध्या और सोरों का पक्ष अधिक पुष्ट है। सोरों-सामग्री सबसे अधिक व्यवस्थित है इसीलिए वह संदिग्ध मानी गयी। रामभक्ति में आकंठ निमज्जित, सरल, सात्त्विक, निरभिमानीभक्त तुलसीदास अत्यंत कोमल स्वभाव के थे। वे सरल थे सज्जन के लिए किंतु दुष्टों को वे तेजोदीप्त वाणी में फटकार लगाया करते थे। राम ऐसे सुंदर, सुशील, सशक्त आदर्श पुरुषोत्तम पर न रीझने वालों के जीवन को घृण्य पशुओं-सा मान कर ऐसे जनों के प्रति वे अत्यधिक अनुदार हो उठते थे। जीवन के घोर यथार्थ का उन्हें ज्ञान था। संसार में दुष्ट लोग फलते-फूलते हैं एवं साधुजन पल-पल में कष्ट उठाते हैं—जीवन के इस कटु सत्य से वे परिचित थे :

फलै फूलैं फैलैं खल, सीदैं साधु पल पल।
खाती दीपमालिका, ठठाइयत सूप हैं।[1]

---

१. कवितावली ७।१७१

प्रत्येक आलोच्य रामायण का अपने-अपने प्रदेश में कुटीर से लेकर प्रासाद तक प्रचार था, जन-जन के कंठ पर इनके छंदों का वास था। अपने-अपने प्रदेशों की समाज-संस्कृति का बिंब भी इन ग्रंथों में मिलता है, यदि इन रामकथाकारों ने रामकथा को अपनी भाषाओं में लिपिबद्ध न किया होता तो वाल्मीकि के राम आकाशकुसुम ही रह जाते। प्रदेशीय प्रतिनिधि रामचरित-काव्य होने के नाते ही इनका तुलानात्मक अध्ययन किया गया है, अन्यथा मानस की तुलना में ये ग्रंथ आते ही नहीं हैं। मानस अपने प्रदेश की सीमाओं को लांघ कर ख्याति अर्जित कर सका है। इस महाकाव्य की तुलनात्मक श्रेष्ठता इस बात से भी प्रकट है कि बंगला एवं उड़िया भाषाओं में इसके दर्जन से ऊपर अनुवाद हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत, फारसी, उर्दू, अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी, नेपाली, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलगू, केरली और असमीया-भाषाओं में भी इसके कई अनुवाद हो चुके हैं।

रामायणों में युगीन-चित्रण पर्याप्त हुआ है। रामायण-रचनाकाल तक हिंदी और बंगला भाषी क्षेत्रों पर विदेशी आततायी शक्ति के अनेक असहिष्णु अत्याचार हो चुके थे, इन दोनों प्रदेशों के लेखकों ने राक्षसों के चित्रण में तत्कालीन अत्याचारियों की झलक देखी है :

जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं।

आदि लिख कर तुलसी ने कहा है :

जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानेहु निसिचर सब प्रानी।

बंगला-लेखक ने भी इसी प्रकार का साम्य देखा। उसने रावण को तत्कालीन अत्याचारी शक्ति के समतुल्य मानकर उसके दरबार में तस्लीम-प्रथा का पालन कराया है। जब कोई राम की सभा में उपस्थित होता है तो केवल एक बार माथा झुकाने की प्रथा पूरी की जाती है—राज्यव्यवहारे कुकुर नोआय माथा। किंतु रावण के दरबार में तीन बार माथा झुकाने की रस्म थी :

तिन बार माथा नोङाय राज्यब्यवहारे।

असमीया-रामायण एवं विशेषतः उड़िया-रामायण में योधन-नीति (स्ट्रेटेजी) का अच्छा परिचय दिया गया है। इस ग्रंथ में विश्वामित्र ने दशरथ से पूछा था—'क्या गढ़ के आसपास खाई है? गढ़ के भीतर पर्याप्त जल और अन्न का संचय है? क्या गढ़ के द्वार पर कुंत, शावल आदि अस्त्र, लाख,

तेल, बारूद-गोली और पत्थर रखे है ? लोहे के किवाड़ों में काँटेदार कीलें लगी हैं या नहीं ? सैन्यभंग होने पर प्रयोग के लिए चोरद्वार है या नहीं ? गढ़ जीतने की कोई संधि तो नहीं जानता ? दूसरे की सेना को गढ़ के भीतर तो नहीं रखा जाता ? मार्ग चलते समय गुप्त बातें तो नहीं कहीं जाती ?' युद्ध की तैयारी का वर्णन इस प्रकार है ? (शत्रु के ऊपर फेंकने के लिए), तेल गरम करो, प्राचीरों पर तीक्ष्ण अस्त्र रखो, निरंतर सीढ़ी लगाये रहो। चोर-द्वारों पर मत्तगज रखो। निरंतर मशालें जलाते रहो। अकेले मत जाओ, एक दूसरे की पीठ की रक्षा करो। मोर्चों पर बिना बोले जागते रहो'। संत तुलसीदास राजप्रभाव से बहुत दूर थे। उन्होंने राजनीति-विषयक अपनी धारणाएँ तो कहीं-कहीं प्रकट की हैं किंतु उन्हें रण-चातुर्य-ज्ञान नहीं था। तत्कालीन बारूद, गोले एवं चौगान खेल का काल-दोष-पूर्ण वर्णन तुलसीदास ने किया है।

सभी रामायणों में शिव, शक्ति, गणेश आदि की उपासना का वर्णन मिल जाता है। शिव-शक्ति के मंगलमय एवं भयंकर दोनों रूपों का चित्रण हुआ है। उड़िया-रामायण के शिव अत्यंत कामुक एवं रसिक हैं, बंगला के शिव साधारण गृहस्थ जैसे हैं। मानस के योगिराज एवं भक्त शिव जैसा चरित्र पूर्वांचलीय ग्रंथों के शिव का नहीं है। उड़िया में हठयोग की साधना वर्णित है। चारों रामायणों में अवैदिक उपासनाओं की उपेक्षा की गयी है। वर्णव्यवस्था, छूआछूत, ब्राह्मण का महत्त्व आदि वर्णन सभी रामायणों में है। नारी के संबंध में भारत-प्रसिद्ध दृष्टिकोण अपनाया गया है—उसे पतिव्रता होना चाहिए, वह अबला है, उसे स्वतंत्रता नहीं देनी चाहिए एवं चंचल स्वभाव की होने के कारण वह विश्वसनीय नहीं। पूर्वांचल के जनों को स्त्री प्यारी होती है, यहाँ रामायण-लेखकों ने परंपरागत निंदा करते हुए भी उसकी प्रशंसा भी की है। उड़िया लेखक ने नारी के स्पृहणीय अतिशय मनोरम रूप का वर्णन करते हुए उसका रमण अत्यंत सुखकर बताया है। नारी निंदा में तुलसी अधिक उग्र हो गये हैं।

ग्रंथों में स्थानीय चित्रण (लोकल कलर) भी आ गया है। प्रायः संस्कार, प्रसाधन, वस्त्रालंकार, भोज्यपदार्थ, पशुपक्षी, वनस्पति, आदिमजाति, धर्म-साधना एवं स्थान-विशेष का वर्णन करते समय कविगण अपने-अपने परिवेश की झलक दे गये हैं। पूर्वांचलीय रामायणों में स्त्रियाँ मंगल अवसरों पर उलुध्वनि करती है। सीता (असमीया-बंगला में) शंखचूड़ी पहने है। नेत वस्त्रों का प्रयोग किया गया है। असमीया-रामायण में बासिबिहा, बंगला-रामायण

में शुभदृष्टि, काल-रात्रि आदि प्रथाओं तथा उड़िया-रामायण में लवणचउरी प्रथा का वर्णन है। मानस में लहकौर और कोहबर की प्रथाओं का पालन कराया जाता है। नारी के शृंगार-प्रसाधन का वर्णन मानस मे भले न मिले किंतु पूर्वांचलीय रामायणों में प्रचुर मात्रा में मिल जायगा। आलता-काजल सिंदूर का प्रायः वर्णन है। नैषधीय-चरित की नारायणीय व्याख्या में लिखा भी है :

प्राच्योहि सुंदर्यो विलोचने नेत्रप्रान्तनिर्गतया कर्णोप्रांतस्पर्शिन्यांजनरेखया भूषयन्ति।

आज भी पूर्वांचलीय नारियाँ नेत्रों में काजल लगा कर उसकी नोकें कानों की ओर निकाल लेती है। उड़िया-रामायण के कई स्थलों पर स्त्रियों द्वारा हल्दी से मुँह धोकर शृंगार करने का वर्णन है :

गाले हलदी ये पुणि नयने कज्जल।
पुणि-पुणि भिड़ि करि बान्धुथन्ति बाल।

आज भी उड़िया नारी हल्दी और काजल से सजधज कर केशों में फूल खोंसती हैं। बंगला-रामायण में सीता के प्रसाधन के विषय में लिखा है :

बिन्दु-बिन्दु गोरोचना शोभा करे अति।
अलकातिलका रेखा अर्द्ध अर्द्ध पाति।

अलकातिलका एक पत्र-रचना थी जिसे भ्रू-युग्म के ऊपर चंदन कुंकुम से रचा जाता था।

वाल्मीकि के राम अथवा कैकेयी आदि पात्रों के गुण-दोष मानवीय थे, उनमें दुर्बलताएँ थीं तो वे भी मानवीय थीं। भाषा-रामायणों के रचनाकाल तक राम के ब्रह्मत्व का प्रचार हो जाने के कारण राम अथवा राम से संबंधित कई पात्रों की दुर्बलता को ढकने की चेष्टाएँ की गयीं। अनेक आख्यानों की कल्पना कर उनके चरित्रों को नया रंग दिया गया। राम को अवतार मान लेने से चरित्र-विषयक दृष्टिकोण में एक नया परिवर्तन यह भी देखा गया कि उन्हें अत्यंत मधुर एवं सुकुमार चित्रित किया गया। वाल्मीकि की कौशल्या को चिंता है कि राम लोहदंड (परिध) के समान कठोर भुजाओं का तकिया बना कर कैसे सो पाते होंगे। वाल्मीकि के ऐसे पुष्ट सशक्त राम क्रोध करने पर नाग के समान फुफकारते हुए, धनुषबाण लेकर कालाग्नि के समान पर्वत की चोटियाँ काट गिराने, सागर को सोख लेने तथा वन को जलाकर भस्म कर देने को प्रस्तुत हो जाते हैं। भाषा रामायणों में ऐसे उग्र आवेशमय राम सजल-कांति, पुष्प-

सुकुमार एवं नवनीत-कोमल चित्रित हुए। भक्तों को सुख देने के लिए वे अवतरित हुए थे न ! कोमलमन न होते तो आर्त्तजनों की पीड़ा की अनुभूति उन्हें कैसे होती ? मन की छाया तन पर भी होती है अतएव उनका तन भी कोमल हो गया। कहाँ परिध-सा तन और कहाँ दूर्वादल श्याम सुकोमल शरीर। इस ब्रह्मत्व के दृष्टिकोण के कारण ही अग्नि के समान तेजस्वी एवं आदित्य के समान दुष्प्रेक्ष्य उद्दंड अत्याचारी रावण भाषा-रामायणों में शापग्रस्त भक्त बना दिया गया। वाल्मीकि का रावण केवल भोगी है, भाषा-रामायणों का भोगी और भक्त दोनों ही। वह अपने उद्धार के लिए राम से विरोध करता है।

भाषा-रामायणों में चित्रित ऋषि अथवा ब्रह्मचारीवर्ग पर युगीन प्रभाव अधिक है। मध्यकाल के शक्तिहीन दुर्बल ब्राह्मण भी रामायणों के ऋषि एवं ब्राह्मण-वर्ग के रूप में प्रतिबिंबित हुए हैं। असमीया के दुर्वासा मथुरा के भोजन भट्ट चौबे जैसे हैं। बंगला के विश्वामित्र तथा अन्य पात्र दुर्बल, चिड़चिड़े एवं अत्यंत भीरु बंगाली ब्राह्मण हैं। उड़िया के ऋषि लोग छाता, पोथी, डंडा आदि धारण कर उड़िया ब्राह्मण की भाँति जीवनयापन करते हैं। मानस के ऋषियों में अवश्य ही गांभीर्य है, किंतु नहीं है तो वाल्मीकि के ऋषियों का तप: तेज। मध्यकालीन नारी के सहज कुतूहल, भय, दुराव, छुईमुई होने का भाव आदि गुण इन रामायणों के नारी पात्रों में मिल जाते हैं।

अन्य रामायणों एवं मानस के पात्रों में पारस्परिक अंतर की मुख्य विशेषता है मानसकार के अद्‌भुत संयम-चित्रण की। अन्य रामायणों में राम के ब्रह्मत्व एवं नरत्व का गड़बड़घोटाला है। एक ओर वे वाल्मीकि के राम की भाँति आवेश का परिचय देते हैं तो दूसरी ओर वे ब्रह्म भी हैं। मानस में वे सदैव ब्रह्म हैं इसलिए उनके चरित्र में विरोधाभास नहीं है। वनवास का समाचार पाकर असमीया के राम का मुख गोधूलि के सूर्य सा मलिन हो गया था। सीता के पाताल-प्रवेश कर जाने पर वे रात-रात भर सो न पाते थे एवं सोते हुए बच्चों को कंठ से लगाकर रोते रहते थे। बंगला रामायण के राम अभिषेक एवं वनवास के समाचारों से क्रमश: प्रसन्न एवं क्षुब्ध हुए हैं। रावण द्वारा फेंकी गयी शक्ति को लक्ष्मण की ओर आता देख वे गिड़गिड़ाकर शक्ति की प्रार्थना करते हैं। ये राम उस ब्रह्म के अवतार हैं जो अवतार-ग्रहण की प्रतिज्ञा कर विच्छेद के भय से लक्ष्मी के गले में बाँहें डालकर रोये हैं। उड़िया के राम भी साधारण मनुष्य जैसा सत्य व्यवहार करते हैं। वे एकांतमिलन में सीता के प्रति कामुक पति के समान वासनानुकूल भाषा का

प्रयोग करते हैं। सीता के विरह में यही राम सुध-बुध खोकर प्रमत्तों की भांति प्रलाप भी करते हैं। मानस के राम के चित्रण में पूर्ण ब्रह्मत्व है, उसमें असंगति नहीं हैं। वे सर्वत्र ब्रह्म रहते हैं। जहाँ वे शोक-हर्ष के आवेग का प्रकाश करते हैं, वहाँ स्मरण दिला दिया जाता है कि वे नरलीला कर रहे हैं।

वाल्मीकि रामायण के समान पूर्वांचलीय रामायणों के अन्य पात्र भी आवेश पूर्ण हैं, प्रेम, शोक अथवा क्रोध के आवेग में कहनी-अनकहनी कह जाते हैं। वनवास का समाचार ज्ञात कर कौशल्या और लक्ष्मण क्रोध-शोकपूर्ण अविवेक का परिचय देते हैं, सीता मारीच की कपट-ध्वनि से व्याकुल होकर लक्ष्मण के प्रति अति कटु वचनों का प्रयोग करती है। यह अविवेकपूर्ण भाव-चित्रण मानवीय सहज-व्यक्तित्व अंकन की दृष्टि से अत्यंत उत्तम है। मानस के पात्र ऐसे प्रसंगों पर भावों के आवेग का उग्र अनुभव करते हुए भी असंयम एवं अविवेक का परिचय नहीं देते। यहाँ कौशल्या न तो दशरथ को कोसती हैं और न कैकेयी को। वे राम के साथ चलने का हठ कर उन्हें धर्मसंकट में भी नहीं डालना चाहती। अन्य रामायणों का अंगद-सीता न खोज पाने पर सुग्रीव के विरुद्ध षड्यंत्र करता है, बंगला रामायण में वह राम पर भी संदेह करता है, किंतु मानस में कोई भी पात्र राम के ब्रह्मत्व एवं उनकी सत्यता पर शंका नहीं करता। अत्यंत साधारण पात्रों में भी विवेकमय संयम देखा जाता है। तुलसीदास की यह विशेषता अन्य ग्रंथों के चरित्र में दुष्प्राप्य है। इस दृष्टिकोण से उनके पात्र वाल्मीकि के पात्रों से भी विशिष्ट हैं।

पूर्वांचलीय सभी रामायणों की मूलकथा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से वाल्मीकि के अनुसार ही है, किंतु दृष्टिकोणों एवं अनेक प्रसंगों में अंतर भी पर्याप्त है। भाषा रामायणों के काल तक रामकथा-विषयक अनेक काव्य-नाटकों की रचना हो चुकी थी, किसी ने कहीं से प्रेरणा ली और किसी ने कहीं से। सभी में समानता का आधार भक्ति-परक दृष्टिकोण है। यदि समस्त भाषा रामायणों को किसी भी भारतीय भाषा में अनूदित किया जाय, तो उनकी कथा अथवा प्रतिपाद्य विषय से भारतीय जनमात्र तादात्म्य कर लेगा। पूर्वांचलीय रामायणों की मुख्य कथा एवं दृष्टिकोणों में मूलतः एकता है। भिन्न-भिन्न प्रेरणा-स्रोतों के अतिरिक्त कथा की भिन्नता का दूसरा कारण है रामभक्ति का प्रचार। वाल्मीकि के राम थे महामानव, वे अब हो गये ब्रह्म के अवतार। अब राम से संबंधित अनेक पात्रों (जैसे कि अहल्या, कैकेयी, विभीषण आदि) के चरित्रों को निष्कलंक सिद्ध करने के लिए कई कल्पित आख्यान जोड़े गये। उदाहरण

के लिए कैकेयी की कलंक-मुक्ति-विषयक आख्यान लिए जा सकते हैं। मंथरा कैकेयी के मायके की दासी थी। अतएव स्वाभाविक था कि वह कैकेयी का पक्ष ले, एक साधारण माता के समान कैकेयी ने भी सच ही भरत के कल्याण के लिए राम को निर्वासित किया था। भरत जैसे चरित्र की माता के गौरव को लघु न करने के लिए अनेक आख्यानों की कल्पना हुई। वाल्मीकि रामायण के पश्चिमी एवं गौड़ीय पाठ के अनुसार एक ब्राह्मण ने उसे शाप दिया था कि तेरा अपशय होगा। बंगला और उड़िया रामायणों में भी इस शाप का उल्लेख है। उड़िया रामायण में देवताओं का हित करने के लिए खल कैकेयी में और दुर्बल दशरथ में प्रवेश कर उन्हें क्रमशः खल-बुद्धि एवं दुर्बल-बुद्धि बनाते हैं।

इसी प्रकार मंथरा के विषय में भी तीन उद्भावनाएँ की गयीं—१. वह अप्सरा है और देव-हित के लिये कैकेयी को भड़काती है—महाभारत के रामोपाख्यान एवं बंगला-उड़िया रामायणों में। २. मोहित-बुद्धि—अध्यात्म रामायण एवं मानस में सरस्वती उसकी बुद्धि फेर जाती है। ३. राम से शत्रुता—उड़िया रामायण में राम-विवाह के अवसर पर मंथरा अश्लील गीत गाती है, राम क्रुद्ध होकर उसे मारते हैं, इसीलिए उसने राम से प्रतिशोध लिया। ब्रह्म राम के महत्त्ववर्धन के लिये अनेक चमत्कारपूर्ण कथाओं, कथा का फल-कथन, भक्ति-निवेदन, स्तुतियाँ, नाम-जप आदि का भी संयोजन हुआ।

असमीया-रामायण में अवांतर कथाएँ बहुत कम हैं। बंगला-रामायण में कई रोचक लौकिक एवं पौराणिक आख्यानों को रामायण से संबद्ध किया गया है। मानस में चार-चार वक्ता हैं। उड़िया-रामायण भी शिव-पार्वती के संवाद-स्वरूप प्रस्तुत की गयी है। कथा-संगठन में तुलसीदास ने दक्षता का परिचय दिया है। उन्होंने अनावश्यक कथा का बहिष्कार किया है। वाल्मीकिरामायण की कथावस्तु में शैथिल्य है, उसमें अनेक स्थलों पर पुनरुक्तियाँ हैं। जब कभी दो पात्र मिलते हैं पूर्वघटित प्रसंग सुना जाते हैं। पाठक इन प्रसंगों से पूर्व परिचित होता है, अतएव उसके लिए ये वर्णन रोचक नहीं होते। तुलसीदास कथा की पुनरुक्ति अथवा व्यर्थ-विस्तार नहीं करते, वे प्रायः ऐसी पंक्ति द्वारा काम निकाल लेते है :

गाधिसूनु सब कथा सुनाई।
जेहि प्रकार सुरसरि महि आई।[1]

---

१. मानस १।२१२।१

जहाँ उनका भक्त, दार्शनिक एवं समाज-सुधारक रूप उभर आता है, वहीं कथा-प्रवाह बाधित एवं अरोचक हो उठता है। वैसे सहज-प्रवाह, स्वाभाविकता, रोचकता, नाटकीय-चमत्कार एवं सांकेतिकता आदि अनेक गुण मानस में अन्य रामायणों की अपेक्षा अधिक हैं। इंद्र-अहल्या मिलन जैसे अमर्यादित प्रसंगों का तुलसीदास ने या तो वर्जन किया है अथवा उसे संक्षेप में लिखा है। महाकाव्य की कला तथा राम के शील की रक्षा के लिए उन्होंने उत्तरकांड की कथा— सीता-त्याग, शंबूक-वध आदि का वर्णन नहीं किया।

पूर्वांचलीय रामायणकारों ने तुलसीदास की भाँति ऐसा निश्चय नहीं किया :

जगत मातु पितु संभु भवानी।
तेहिं सिंगारु न कहउँ बखानी।[1]

असमीया-रामायण में भी शृंगार-वर्णन कम है, सीता-राम के हृदय में प्रणय-भाव उदित होता है। वे लक्ष्मण को आखेट के लिए भेज देते हैं, फिर राम सीता के अंक में शयन करते हैं। बंगला-रामायण में काट-छाँट बहुत हुई है। शृंगारांतर्गत दांपत्य-प्रेम का एक उदाहरण षष्ठीपूजन के समय मिल जाता है। सीता को अंधेरे घर में लिटा कर सखियाँ राम से कहती हैं, सीता को हाथ पकड़कर उठा लाओ। सीता ने यह सोचकर कि कहीं पति का हाथ उनके पैर पर न पड़ जाए, बायें हाथ की शंखचूड़ी झनझना दी और राम ने हाथ पकड़ कर उठा लिया। किंतु सखियाँ यही कहती रहीं कि पैर पकड़ कर उठाया है। तांत्रिक वैष्णवधारा के कवि बलरामदास जगन्नाथपुरी के थे, उन्होंने अश्लील शृंगार का कई स्थलों पर जम कर वर्णन किया है। राम के प्रति काम-विह्वल नारियों का वर्णन इस प्रकार है :

नासिका फुलाइण ठारन्ति केतु बाली।
आखि छिटा मारि के हुअंत ठेलाठेलि।
मने मन मिशाइण चुम्बन भावन्ति।
बिकारे आनु आन से बोलन्ति।
स्तम्भीभूत होइ के मुखकु चाहे फेड़ी।
मदन बिकारे केहू न संभाले शाढ़ी।

(कोई बाला नाक फुला कर संकेत कर रही है, कोई कटाक्ष फेंक कर ठेला-ठेली कर रही है। कोई मन ही मन मिलन कल्पित करचुंबन कर रही है

---

१. मानस १।१०३ २

और मदन विकार के कारण कुछ का कुछ बोल रही हैं। कोई स्तंभित होकर मुँह मोड़ लेती है, और काम के वशीभूत होकर साड़ी नहीं संभालती।)

उड़िया-रामायण-लेखक स्त्रियों के हाव-भाव सौंदर्य-चेष्टाओं का अधिक वर्णन करता है। उसका रावण सीता से अनुरोध करता है—"नासिका फुलाइण हसिण कथा कहु।" उड़िया रामायण में एक ऐसा प्रसंग भी है जो तुलसीदास के वर्णन से साम्य रखता है—सहभोजन के समय सीता रत्नचूड़ी में राम का रूप देख मुग्ध स्तंभित रह जाती है। यहाँ तुलसी की इन पंक्तियों की याद आ जाती है :

निज पानि मनि महुँ देखअति मूरति सुरूपनिधान की।
चालति न भुजबल्ली बिलोकनि बिरह भय बस जानकी।[1]

तुलसी ने राम-सीता के श्रृंगार का वर्णन अत्यंत पवित्र भाव से किया है। कहीं कामोत्तेजक बातें नहीं, तथापि निश्छल स्वभाव के सरल किशोर-किशोरी का प्रथम स्नेह-मिलन पाठकों को तन्मय कर देता है। कंकण-किंकण-नूपुर-ध्वनि सुन कर फुलवाड़ी में प्रकाश करती-सी सीता को देखकर राम का सहज-पुनीत मन क्षुब्ध हो गया। सीता के कमल-मुख की शोभा को वे भ्रमर की भाँति पीने लगे। उधर सीता की स्थिति यह है कि वे एकटक देखती ही रह गयीं। प्रेम के अत्यधिक आवेग से विह्वल होकर वे शरच्चन्द्र-मुख चकोरी-सी हो गयीं :

अधिक सनेहँ देह भै भोरी।
सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।[2]

दांपत्य प्रेम के अनेक उदाहरण मानस में मिल जाएँगे। पति के प्रति पूज्य-भाव केवल इस एक अर्धाली में मिल जाएगा :

प्रभु पद रेख बीच बिच सीता।
धरति चरन मग चलति सभीता।[3]

राम के विरह-वर्णन में असमीया लेखक ने भी तुलसीदास जैसा दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है :

परम ईश्वर राम सीता जगन्माव।
देखाइलंत बिषयी जनर इटो भाव।

राम सीता के दारुण विरह का वर्णन अग्नि-परीक्षा एवं पाताल-परीक्षा के

---

१. मानस १।३२७ छंद ३ २. मानस १।२३२।३ ३. मानस २।१२३।३

समक्ष अत्यंत मार्मिकता के साथ किया है। बंगला-रामायण में विरह का स्वाभाविक चित्रण है :

दशदिके शून्य देखि सीता अदर्शने।
सीता बिना किछु नाहि लय मम मने।
सीता ध्यान सीता ज्ञान सीता चिंतामणि।
सीता बिना आमि येन मणिहाराफणि।
शुन शुन मृग पक्षी शुन वृक्षलता।
के हरिल आमार से चंद्रमुखी सीता।

उड़िया-रामायण-लेखक राम के विरह-वर्णन में भी अपनी रसिकता नहीं भूला है। राम को चिंता है कि झर-झर आँसू बहाती सीता के स्तनों पर पत्रावली नहीं रची गयी होगी। फिर भी विरह के मार्मिक प्रसंग भी कई हैं—राम ने स्वप्न देखा, अयोध्या में सीता के साथ प्रणयकेलि में देवी का मुक्ताहार छिन्न हो गया, रक्त-पुष्प-सदृश ओष्ठवाली सीता रुष्ट होकर बोलीं—'मेरा हार गूँथ दो।' इसी समय राम की आँख खुल गयी, वे सीता-सीता पुकार उठे। उन्हें चेत हुआ, यहाँ सीता कहाँ, यह अयोध्या नहीं माल्यवंत पर्वत है। ठंडी सांस भर कर बोले—सीता की मोती-माला कैसे गूँथ पाऊँगा, रावण तो मेरे मुख में कालिख लगा गया है :

काहिं मुहिं सीतार गुंथिबि मोती मालि।
रावण ये मुखे मोर लगाइछि कालि।

मानस के राम पर ब्रह्मत्व के आरोप के कारण राम के विरह का सत्य वर्णन नहीं हो सका। एक बात यह भी है कि सत्य-सीता का नहीं छाया-सीता का हरण हुआ था और वह भी उन्हीं की योजना के अनुसार। तुलसीदास ने अन्य पात्रों के हर्ष-शोक का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। लक्ष्मण-शक्ति-प्रसंग में राम का भी शोक-परिपूर्ण चित्र अंकित है। पिता के वचनों को सत्य करने के लिए जिस राजकुमार ने राज़सुख छोड़ा, पत्नी-हरण का कलंकित दुःख सह लिया, किंतु कर्त्तव्य-पथ से विचलित नहीं हुआ, वही राजकुमार अपने छाया-सदृश भाई की पीड़ा न देख सका। वह यहाँ तक कह उठा :

जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू।
पिता बचन मनतउँ नहिं ओहू।[1]

पूर्वांचलीय रामायणों के प्रकृति-चित्रण में सभी का समान दृष्टिकोण है।

१. मानस ६।६१।३

तुलसीदास की विशेषता है उपदेशात्मक चित्रण की। सबसे सुंदर और विस्तृत चित्र उड़िया-रामायण में मिलते हैं :

काठकटा बाँकिया हाणइ छड़ि गछ।
पलान्ति जम्बुके ये चाहिँण पछ पछ।

(कठफोड़वा पक्षी पेड़ पर तिरछा बैठा हुआ प्रहार कर रहा है, जिसे सुन कर गीदड़ (मुड़ मुड़ कर) पीछे की ओर देखते हुए भाग रहा है)

पूर्वांचलीय रामायणों के पात्रों के संवाद मर्मप्रेरित हैं, उनमें पात्रों के प्रेम, क्रोध, घृणा, व्यंग्य आदि की सशक्त व्यंजना हुई है।

असमीया-रामायण की निर्वासिता सीता तड़प कर कहती है, अब मैं फिर राघव की गृहणी कहलाऊँ तो मुझसे बढ़ कर निर्लज्ज नारी कौन होगी ? राम किस साहस से मुझे ग्रहण करेंगे····गर्भ के दो पुत्रों को मारना चाहा स्वामी के गुण-वर्णन करते समय मेरा शरीर जलता है। ऐसे यम-सदृश राम का मुख मैं कैसे देखूं ?

बंगला-रामायण के पात्रों में व्यंग्य का सुंदर पुट है। सीता को लौटाने के लिए रावण ने अंगद के सामने कुछ शर्तें रखी थीं, जिनमें एक थी—राम नाक पर तिनका रखकर क्षमा माँगे। वाक्पटु अंगद शर्तें स्वीकार करते गये किंतु अंत में एक ऐसी मार्मिक चोट की कि रावण तिलमिलाकर रह गया—ठीक है सेतु तोड़ दिया जाएगा, विभीषण तुम्हें लौटा दिया जाएगा, तुम्हारी जली हुई लंका का पुनर्निर्माण कर दिया जाएगा, किंतु रावण, एक बात तो बताओ :

शूर्पणखार नाक कान केमने यावे जोड़ा।

उड़िया-रामायण के संवादों में वचनवक्रता अधिक है। लक्ष्मण द्वार पर फुंकार रहे हैं। द्वारपाल सुग्रीव को सूचना देता है, सुग्रीव अज्ञान बन कर पूछता है—कौन लक्ष्मण आया है ? लक्ष्मण सरोष कहते हैं—जिनके बल पर किष्किंधा का राज्य और सुंदरी तारा का भोग कर रहे हो, उसका छोटा भाई लक्ष्मण आया है। राम की आत्मग्लानि की अनुभूति निम्न कथन में मिलती है। गाय चराते हुए ग्वाले से भूखे राम-लक्ष्मण ने दूध माँगा, उसके न देने पर लक्ष्मण ने राम को सम्मति दी कि इसे मार कर दूध ले लिया जाए। राम ने कहा—अपनी स्त्री के हरणकर्त्ता का मैं कुछ बिगाड़ न सका, इस अदोष को कैसे मारूँ :

एड़े बड़पणे मोर नाहिँ एवे कार्य।
सीता हरिनेला बनु बिश्रुवा तनुज।

ताहाकु प किछि मुहिं न पारिलि करि।
अदोषि लोककु कि मुआसि अछि मरि।

पूर्वांचलीय रामायणों में मानस जैसा दार्शनिक विवेचन नहीं है, फिर भी ब्रह्म के स्वरूप एवं भक्ति का परिचय तो मिल ही जाता है। चारों में राम को परब्रह्म का साकार अवतार माना गया है। उन्होंने गीता के उद्देश्य के अनुसार धर्म की रक्षा एवं दुर्जनों के विनाश के लिए लीलावश अवतार ग्रहण किया है। यह सगुण ब्रह्म शंकर के अनुसार मायावशवर्ती न होकर माया का स्वामी है। यहाँ रामानुजाचार्य के दृष्टिकोण से साम्य है। शंकर के अनुसार संसार को सभी ने मिथ्या माना है। सभी ने दशावतारों के एक-समान क्रम की ओर संकेत किया है। राम के ब्रह्मत्व को मानसकार ने जिस उच्च-भूमि पर अधिष्ठित किया है, पूर्वांचलीय लेखक नहीं कर पाये हैं। असमीया रामायण के दो कांडों के लेखक शंकरदेव एवं माधवदेव ने रामायण पर कृष्णभक्ति का रंग देने की चेष्टा की है। उड़िया-रामायण लेखक ने राम को जगन्नाथ-स्वामी से अभिन्न माना है। बंगला के राम अत्यंत भावुक गृहस्थ ब्रह्म हैं, जो कि अवतार से पूर्व सीता से वियोग की कल्पना कर रो पड़े हैं। सभी ने राम को त्रिदेवों से उच्च बताया है किंतु इसे तुलसीदास ही पूर्णतः सिद्ध कर सके हैं। सीता लक्ष्मी की अवतार एवं सामान्य कुलबधू हैं, मानस में वे राम की शक्ति माया भी हैं। कलियुग में रामनाम-जप का सभी लेखकों ने उपदेश दिया है। भक्ति के क्षेत्र में सभी लेखकों ने ब्रह्म के करुणामय सुकुमार-रूप का चिंतन कर अपने दैन्य का प्रकाश किया है। कहीं-कहीं निष्काम भक्ति के भी दर्शन हो जाते हैं। मानस की भक्ति अधिक उच्चकोटि की है सभी रामायणों की भक्ति जनांदोलन-कारी है किंतु तुलसीदास की रामायण ने यह कार्य अधिक सुचारु रूप से किया। मानस के माध्यम से उन्होंने साधारण-जन को नैतिक-शिक्षा दी तथा समाज के अनेक क्षेत्रों के पारस्परिक विरोधों को दूर कर समन्वय स्थापित किया।

हमारी सांस्कृतिक-उपलब्धियों के राम श्रेष्ठ आदर्श हैं। उन्हें केंद्रित कर समस्त भारत एवं भारत-प्रभावित देशों में असंख्य चरितकाव्य लिखे गये। पूर्वांचल किसी समय आर्यों द्वारा उपेक्षित था, परंतु यहाँ भी भारत के अन्य-प्रदेशों की भाँति ही रामचरित-विषयक आख्यानों का कुटीरों से लेकर प्रासादों तक सुप्रचार हुआ। एक ही पवित्रकथा भाषा का झीना आवरण डाल कर केवल दृश्यमान भिन्नताओं के साथ अभिव्यक्त हुई है। प्रत्येक भाषा के राम-काव्य में अपने प्रदेश की विशिष्टता का समाहार हुआ है किंतु सबकी आत्मा एक है।

प्रो० सेवक वात्स्यायन

रामचरितमानस और जायसी का पद्मावत

तुलसीकृत 'रामचरितमानस' और जायसी रचित 'पद्मावत' दोनों ही हिंदी के श्रेष्ठ महाकाव्य हैं। तुलसी कवि होने के साथ आचार्य भी थे और जायसी तसव्वुफ के कवि ही कवि इसीलिये रामचरितमानस जहाँ भारत के संस्कारों का भी संविधान-ग्रंथ है वहाँ जायसी का पद्मावत भारत की अंतर्द्रवित आत्मा का उद्गीरित भाव—पारावार है। इन उभय ग्रंथों के अवलोकन से यह भावना दृढ़ होती है कि कवित्त्व ही एक ऐसा धर्म है जिसमें जगत के सब धर्म और सिद्धांत एक होकर बहते हैं। यहाँ अनुशासन भी है और उन्मुक्त प्रवाह भी। पद्मावत और रामचरितमानस इसी धारा के दो स्वरूप हैं—एक बहुत गहरा और निर्मल, दूसरे की निर्मलता और गहराइयाँ बहुत व्यापक हैं। रामचरितमानस शुद्ध धर्म की धरोहर है जिसमें हृदय भी स्वतः सम्मिलित है और पद्मावत हृद्धर्म का ऐकांतिक उदाहरण है। उक्त दोनों ही काव्य-ग्रंथ जीवन की आधारभूत संज्ञाओं के अविकल उपादान और व्यापक सर्वनाम हैं।

कवि मलिक मोहम्मद जायसी का पद्मावत महाकाव्य चिर-निभृत और चिरप्रत्यक्ष रहस्य का चरमोद्घाटन है जिसे पढ़कर सृष्टि का आदि रहस्य भी खुलता है और स्थायी आत्म-परिचय प्राप्त होने के साथ जगत से अपने संबंधों की वास्तविक उद्धरणी भी प्रस्तुत होती है। प्रकारांतर से जायसी की इस प्रेमगाथा में उस प्रेम तत्त्व का वर्णन किया गया है जो ईश्वर को मिलाने वाला है तथा जिसका आभास लौकिक प्रेम के रूप में मिलता है। रत्नसेन और पद्मावती इसी लोक और परलोक के लौकिक संस्करण हैं।

तो भी पद्मावत की अपेक्षा रामचरितमानस जीवन और जगत् का और परमात्मा और आत्मा का सर्वस्व अधिक सरलता से समझा पाता है। उसका कारण यह है कि तुलसीदास संसार की ऊँची से ऊँची स्थिति से लेकर नीची से नीची स्थिति तक की बात इसी लोक की सीमा में रहकर प्रकट करते हैं। वेद से लेकर सामान्य संकीर्तन तक अपने परिमार्जिततम रूप में मानस द्वारा अभिव्यक्त हुए हैं जिनपर सरल से सरल हृदय को भी विश्वास कर पाना कठिन नहीं है जबकि पद्मावत का कवि लोककी सामान्य से सामान्य बात पक्षी की भाँति अपने रहस्य की चोंच में दबाकर सातवें आसमान से भी ऊपर तक उठाले जाता है और जब तक फिर से धरती तक बे-मन से उतर कर आता है तब तक अलौकिक महिमा का भूतपूर्व आकर्षणमय विलास अपने सरल श्रावकों और श्रोताओं द्वारा भूला हुआ पाता है। पद्मावत इसीलिये तुलसी के रामचरितमानस से अपेक्षया अधिक सरल और जनोपयोगी होते हुए भी लोकप्रिय नहीं है। पद्मावत का कवि लोकार्थ की कथा कहते-कहते परमार्थ की ऊँचाई तक उठ जाता है जहाँ तक जागतिक जनता की सीमित बाँह पहुँच नहीं पाती, वह उसे छूना तो चाहती है पर छू नहीं पाती। पद्मावत के रूप अपने रंगों में वस्तुतः अरूप ही अधिक कर दिये गये हैं। रामचरितमानस में सब प्रकार के संयम का कठोर राजतंत्र है, जहाँ स्खलन अक्षम्य है; मनुष्यता सुरक्षा की ऐसी ही सामर्थ्य में त्राण की संभावनाएँ पाती है अतः अनुशासन कभी अनभिप्रेत नहीं होता। वियोग जहाँ संयोग की साधार भूमिका हो उसका वरण कौन नहीं करना चाहेगा; रामायण के नियमन की व्यपस्थापिका सीमा भी इसी विरह-व्यामोह जैसी है। वहाँ का बंदर अपनी विचित्र आकृति में भी इसीलिये आह्लादित है कि यह उसके सुरूप उत्तराधिकार की विजयोद्घोषिणी पीठिका मात्र है जिसका स्वर स्पष्ट और सूचनाएँ सच्ची हैं अतः विश्वसनीय। पद्मावत के रत्नसेन के सिवा मोक्ष अथवा ब्रह्म-साक्षात्कार किसी अन्य को हुआ ही नहीं, मानस के खल तक रामबाण पर बैठे सुरलोक तक गये देखे गये हैं।

सुतराम् पद्मावत एक ऐसी पोथीशाला है जो पाठ तो पढ़ाती है परंतु आचरण की शिक्षा कम देती है जबकि रामचरितमानस एक ऐसा दिव्य विश्व-विद्यालय है जहाँ के दक्ष स्नातक जगदनुभव के सिद्ध अध्येता होकर निकलते हैं। वे व्यवहार-मंच पर अपने कर्त्तव्य का रम्य शास्त्रास्त्र लिये उदित होते हैं और पश्चात् शांति की खोज करते हैं। पद्मावत और मानस दोनों ही शांति-ग्रंथ हैं अंतर इतना है कि एक में पहला ही अध्याय शांति का है और दूसरे में शांति लीलादंत का नाम है। मानस कर्त्तव्यों को अधूरा छोड़कर धर्म-ध्वजी

होने की इजाजत नहीं देता। उसके राम पहले वन-वन भटकते हैं, जंगलियों को सभ्य बनाते हैं, तब कुछ कर पाते हैं, पद्मावत का रत्नसेन निखिल कर्त्तव्यों से पराङ्मुख हुआ, बिना कुछ विशेष किये ही वह सब प्राप्त कर लेना चाहता है जिसका उसे मोह है—आत्म-हत्या करने को भी प्रस्तुत होता है। परंतु राम में आवेश के क्षण कहीं नहीं मिलते, राम के व्यक्ति द्वारा धैर्य और सहिष्णुता का तदुपयोगी संदेश व्यापन्न और अशांत समाज को मानस ने दिया है। पद्मावत को शांति का अर्थ अपने आपको लोक की ओर से समेट लेना है, रामचरितमानस आत्मविस्तार का लोकरंजनकारी और कर्त्तव्यविधायक सदाग्रह है।

यही कारण है कि पद्मावत को हम रामचरितमानस की भूमिका कह सकते हैं, तत्तुल्य नहीं। सामाजिक अथवा लौकिक दृष्टि से पद्मावत की इस अव्यावहारिक अपूर्णता की संपूर्ति रामचरितमानस है। निर्गुण की उपासना जब कबीर के द्वारा नहीं समझाई जा सकी तो कहानी के द्वारा, प्रेमकथा के माध्यम से, जायसी और उनकी परंपरा के अन्य कवियों, संतों ने उसे कुछ अधिक लौकिक आधार देकर समझाने का यत्न किया तो भी इष्ट के इस अव्युत्पन्न रूप से अनाकर्षण घटा नहीं, अब तक की इन सारी असफलताओं और उपलब्धियों पर दृष्टि रखने वाले गोस्वामी तुलसीदास ने सगुण का रामचरितमानस दिया जिसमें लोक और परलोक, छोटे और बड़े, पात्र और अपात्र, स्त्री और पुरुष, पति और पत्नी, माता और पिता, भाई और भाई, भाई और बहन, सेवक और स्वामी, गुरु और शिष्य, राजा और प्रजा, मित्र और शत्रु, अपने और पराये, पृथ्वी और आकाश, मर्त्य और अमर्त्य, भक्त और भगवान, सज्जन और असज्जन, आत्मा और परमात्मा सब साफ साफ नजर आने लगे। एक प्रकार से पद्मावत ने जो गढ़ कर छोड़ दिया था, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा रामचरितमानस ने की। रामचरितमानस पद्मावत की लौकिकता और आध्यात्मिकता, शैली और विधान का परिष्कारक ग्रंथरूप है। रत्नसेन और पद्मावती भी हिंदुओं के थे परंतु उनका रहस्य सर्वसाधारण की समझ में आने वाला न था गूढ़ अथवा दुरूह था। राम और सीता भी भारत के थे ब्रह्म एवं शक्ति के अवतार थे, उनका दुःख-सुख, जय-पराजय से विनिर्मित लौकिक व्यक्तित्व इतना रमाने वाला होकर सामने आया कि उनके नाम मात्र उनके चरित्र-चरितों और प्रेरणाओं की पूरी व्यंजना करते हैं। रामचरितमानस का एक एक पात्र ऐसा है जो भलाई अथवा बुराई का कोई न कोई मापदंड लेकर चलता है।

भरत जैसे पात्रों की बात जाने दीजिये जिनका आदर्श ही सर्वस्व था, कैकेयी, रावण, कुंभकर्ण, मेघनाद तथा शूर्पणखा जैसे पात्रों का भी वहाँ कोई न कोई रहस्यात्मक विश्वसनीय आदर्श है। परंतु पद्मावत में आदर्श भी आवेश अथवा योग है, वहाँ प्रकृत भूमि बहुत कम मिलती है। सिद्धांतवाचन अथवा अध्यात्म दर्शन-निरूपण विद्रूपण ही वहाँ सब कुछ है। आदर्श का तात्पर्य उन प्रेरक विचार और आचरण-रूपों से होता है जिनसे कर्त्तव्य के प्रति प्रवृत्ति को बल मिलता है। किसी भी कल्याणाभिनिवेशी प्रबंधकाव्य का उद्देश्य इन्हीं आदर्शों की सृष्टि करना होना चाहिये, नौ द्वार, पाँच कोतवार, दसवाँ द्वार और चार बसेरों की भूल-भुलइयों में भटकाना नहीं। इसके लिये महत् विवेक की अपेक्षा होती है, जायसी में जितना भाव-धर्म प्रबल था उतना विवेक नहीं था। जितना साहित्य हमारी नजरों से गुजरा है उसे देखकर कहा जा सकता है कि पूज्य गोस्वामी तुलसीदास से अधिक विवेकी मौलिक साहित्यकार दूसरा नहीं हुआ। विवेक और संयम ने (संयम विवेक का ही फल है) उनकी वाणी को उन पूत मंत्रों का स्वरूप दिया है जिनसे लोक की मैल कटती है और पांथों के लिये दिव्य पथ प्रशस्त होता है। जायसी जितने गहरे थे, उतने कवि-रूप में ऊँचे न थे। तुलसी की गहराइयाँ और ऊँचाइयाँ दुर्लंघ्य हैं, सर्वथैव अजेय। तुलसी में सरलता है पर वे शिष्टाचार भी समझते हैं, जायसी में सरलता ही सरलता है।

तुलसी ने भक्ति को (जिसमें मुक्ति स्वतः सन्निहित है) और जायसी ने मुक्ति को लक्ष्य मानकर कविता लिखी है। मुक्ति अप्रत्यक्ष अतः रहस्यमयी है, भक्ति प्रत्यक्ष (वह भी सगुण की) अतः अति स्पष्ट है—यहाँ सब कुछ वाङ्मन-सा गोचर है। उपासक का प्रकार कोई भी वह भक्त ही कहा जाता है—तुलसी और जायसी दोनों ही भक्त कवि हैं। रामचरितमानस और पद्मावत दोनों ही हिंदी की अवधी उपभाषा में, दोहा-चौपाई छंदों में लिखे गये भक्ति-भावना के काव्य-ग्रंथ हैं।

पद्मावत में छोटे-बड़े कुल मिलाकर लगभग बीस पात्र हैं। रामचरितमानस पात्रों की दृष्टि से पूरे लोक का प्रतिनिधित्व करता है, ऐसा कोई वर्ग नहीं जिसका प्रतिनिधित्व मानस में नहीं हुआ है। पद्मावत के लगभग सभी पात्र काम चलाऊ पात्र हैं, काम खत्म होते ही उन्हें सेवा-निवृत्त कर दिया जाता है। मानस में चरित्रों का ऐसा अंश-स्पर्श न होकर सम्यक् सदुपयोग है। राजप्रासादों में विलसित पद्मिनी सती होने पर भी नारी के उस उच्चतम आदर्श को पद्मावतकार द्वारा नहीं पहुँचाई जा सकी (केवल सुंदरी ही बनी

रही) जिसने मानस की सीता को जन-जन की श्रद्धामाता, जगद्धात्री, जगज्जननी बना दिया है परंतु यह जायसी का दूषण नहीं उनकी विवशता हैं। तुलसीदास इतने सक्षम थे कि विवशताएँ भी उनकी उसी भाँति चेरी थीं जैसे वे राम के चेरे। इसी से तुलसी के सब प्रकार समर्थ रामचरितमानस में भक्ति-पूर्वक अवगाहन करने वाले मानव संसार-पतंग की घोर किरणों से दग्ध नहीं होते।

पद्मावत ने जो अनुभूति-तीव्रता और आत्म-दिव्यता का संदेश लोक को दिया है, वह अद्वितीय है, रामचरितमानस ने लोक की भावभूमि पर प्रतिष्ठित करके जो आदर्श दिये हैं उनसे मानवता और संस्कृति, चिर उपकृत रहेंगी। पूरे हिंदी-काव्य में पैनी पीर और परम-तत्त्व के छविमान बिंबित प्रभाव को पूरी भावना से व्यक्त कर पाने वाला ग्रंथ अकेला पद्मावत काव्य है और ईश्वर को धरती पर उतार कर, उसके शील, शक्ति और सौंदर्य के लोक-रंजनकारी स्वरूप को हम जैसा ही बनाकर विचरण कराने वाला काव्य ग्रंथ तुलसी का रामचरितमानस है।

डॉ० रामप्रकाश अग्रवाल

रामचरितमानस और वाल्मीकि रामायण

वाल्मीकि और तुलसी के विचारों, आदर्शों और जीवनदर्शन में वस्तुतः उतना अंतर नहीं है जितना कि उनकी काव्यशैली और युग की भिन्नता के कारण प्रतीत होता है। एक ही मूल भावना वाल्मीकि से प्रारंभ होकर मध्यवर्ती युगों के जीवन की जलवायु में पनपती और परिवर्तित होती हुई तुलसी के साहित्य में नवीन उपकरणों के साथ प्रकट हुई है। उसमें नवीन सांस्कृतिक और शैली-तत्त्व अवश्य सम्मिश्रित हो गये हैं, परंतु मूल भावना एवं विचार परिवर्तित नहीं हुए हैं। तुलसी के साहित्य को भक्ति-भावना के प्राधान्य के कारण वाल्मीकि के साहित्य से भिन्न जाति का (पौराणिक-धार्मिक) समझा जाता है, परंतु जब हमारी दृष्टि इस बात पर जाती है कि आदिकाव्य की रचना और प्रचलित रामायण का रूप स्थिर होने के बीच के समय में भक्ति के तत्त्व इस सीमा तक प्रस्फुटित हो चुके थे कि प्रक्षेप पंडितों ने आदिकाव्य का कायापलट ही कर दिया तो यह समझना सरल हो जाता है कि भारतीय जीवन का उत्थान जिस आदर्श को लेकर वाल्मीकिरामायण में आरंभ हुआ था उसकी ही एक मंजिल मानस में पूरी हुई है।

वाल्मीकि और तुलसी की एकता इस बात से भी प्रकट होती है कि दोनों का ही संबंध ब्राह्मणधर्म की परंपरा में विकसित साहित्य से है. अतः उनमें सांप्रदायिक दृष्टि से भी एकता है। वाल्मीकि और तुलसी की इस मौलिक एकता को समझने के लिए उनके जीवन-दर्शन पर, जो कि उनके काव्यानुशीलन के आधार पर प्रकट होता है, एक दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है।

वाल्मीकि और तुलसी का जीवन-दर्शन

दोनों काव्यों के अनुशीलन से यह प्रकट होता है कि उनके कवि वैदिक विचारधारा के अनुयायी थे। इसीलिए उनकी रामकथा के विविध प्रसंगों में यज्ञों, उपासना, श्राद्ध, देव-पूजन आदि की चर्चा है अर्थात् उनकी कथा का वातावरण बौद्ध, जैन और शैव संप्रदायों द्वारा निरूपित रामकथा से भिन्न और ब्राह्मणधर्म के अनुकूल है। इसी प्रकार उनके सामाजिक, पारिवारिक और राजनैतिक आदर्शों में बहुत कुछ समानता है। सामाजिक क्षेत्र में धर्माचरण, पारिवारिक में पितृभक्ति, पातिव्रत आदि गुण और राजनैतिक में रामराज्य की कल्पना दोनों में प्रायः एक जैसी है। दोनों का जीवनादर्श नैतिक मूल्यों पर आधारित था। वाल्मीकि ने भी अपने श्रेष्ठ पात्रों में जो दुर्बलताएँ प्रकट की हैं उन्हें अवांछनीय अवगुण ही माना है और रावण-पक्ष के भोगवादी पात्रों में भी जहाँ साधनात्मक गुण देखे हैं, उनकी प्रसंशा की है। रावण का तप और शक्ति स्वार्थनिष्ठ थी, इसीलिए उसके प्रति श्रद्धा जाग्रत नहीं की जा सकी। कांचन मृग के प्रति सीता की ललक भौतिक या सामान्य सांसारिक दुर्बलता थी, इसीलिए उसकी निंदा की गई। अन्य संप्रदायों द्वारा निरूपित रामकथा के अभिप्रायः और संकेत अधिकांशतः भिन्न हैं, परंतु वाल्मीकि रामायण और मानस में वे प्रायः एक ही हैं।

तुलसी के जीवन-दर्शन में वाल्मीकि से जो भिन्नता दिखलाई पड़ती है उसका मुख्य आधार है उनकी भक्ति-भावना। यह भक्ति-भावना वाल्मीकि में भी है, परंतु यह एक आदर्श महापुरुष के प्रति श्रद्धा के रूप में ही दिखाई पड़ती है। उसमें ईश्वर और अवतार विषयक जो अंश हैं वे प्रायः प्रक्षिप्त माने गए हैं। तुलसी ने अपने काव्य-नायक को पूर्ण ब्रह्म का अवतार माना है और वाल्मीकि ने पुरुषोत्तम। फिर भी वाल्मीकि ने अपने राम का चित्रण करते हुए प्रायः उन्हें उस सीमा पर प्रतिष्ठित किया है कि वे असाधारण प्रतीत होने लगते हैं। यही असाधारणता आगे चलकर दार्शनिक विचारधारा में पल्लवित होने वाली परब्रह्म की कल्पना को साहित्य के साथ संयोजित कर देने में सहायक हुई।

वाल्मीकि अपने साहित्य में मनुष्य की जिस अनिर्वचनीय शक्ति और प्रकृति में सन्निहित जिस जीवन-सत्ता का आभास देते हैं उससे भावी परब्रह्म की कल्पना की भूमिका बनती दिखायी पड़ती है। महत्ता की कल्पना दोनों

ही कवियों ने 'मानव जीवन के श्रेष्ठ गुणों के समुदाय' के रूप में की है, परंतु तुलसी ने उसमें कुछ अन्य तत्त्व जोड़कर मानव जीवन से उसे पृथक् बनाते हुए उसका महत्त्व बढ़ाने का प्रयत्न किया है। उनके युग की जनता के लिए इस की आवश्यकता भी थी, अपने युग तक विकसित होती हुई विचारधाराओं की अवहेलना भी वे नहीं कर सकते थे अतः विचारधारा में विविध विचारों के सम्मिश्रण और व्यापक समन्वय के कारण उनका जीवन-दर्शन वाल्मीकि से भिन्न प्रतीत होत है। फिर भी इसे सभी स्वीकार करते हैं कि इस सम्मिश्रित विचारधारा में एक स्रोत आदिकवि की विचारधारा का भी है जिनकी वंदना तुलसी ने मानस-प्रस्तावना में की है और इसीलिए वह उनकी विचारधारा का मुख्य आधार माना जा सकता है। वाल्मीकि ने जिस विचारधारा को इतिहास के आश्रय से व्यक्त किया था तुलसी ने उसको दर्शन और पुराण के आश्रय से प्रकट किया। इसलिए उनके काव्य के उद्देश्य में भी भिन्नता दिखाई पड़ती है और उससे भी अधिक उनकी काव्य-शैली में।

वाल्मीकि और तुलसी का काव्यादर्श

वाल्मीकि ने कहीं भी तुलसी के समान अपने काव्य में अपने काव्यादर्श की चर्चा या विवेचना नहीं की है, फिर भी उनके काव्यादर्श का अनुमान लगाया जा सकता है। उन्होंने उदात्त भावों की स्वच्छंद अभिव्यंजना की है, पर जो कुछ लिखा उसके प्रचार की लालसा भी उनके मन में थी। अतः यह कहा जा सकता है कि उनमें आदर्श की स्थापना के साथ उपदेश की वृत्ति भी थी। उनकी संगीतात्मक 'तंत्रीताललय समन्वित' कथाशैली प्रचार का साधन बनी और 'लवकुश' या 'कुशीलवों' के द्वारा आदिकाव्य का प्रारंभिक प्रसार हुआ। उनके काव्य में मानव आकृतियों और प्रकृतियों के सुंदरतम चित्र हैं, जीवन-प्रवाह की रोचक और रोमांचक घटनाएँ हैं, कथन में वक्रता और विविध भंगिमाएँ हैं, अलंकारों और अनुप्रासों की छटा है, हास-विषाद, उत्साह और प्रेम की मार्मिक अनुभूतियाँ हैं, ये उनके काव्य में निहित 'आनंद' के तत्त्व हैं। दूसरी ओर उनके काव्य में सत् और असत्, मंगल और अमंगल, शुभ और अशुभ, अनुकरणीय और त्याज्य, दूसरे शब्दों में धर्म और अधर्म तथा पुण्य और पाप का विवेचन भी है, यही उनके काव्य का उपदेश पक्ष है। पर इसकी साहित्यिक अभिव्यंजना हुई है; पौराणिक शैली जैसा प्रत्यक्ष उपदेश कथन नहीं है।

तुलसी ने अपने काव्यादर्श को स्पष्ट रूप में बतलाया है। उनका काव्य

'शिवेतरक्षतये' और 'उपदेशयुजे' था, 'सद्यःपरनिर्वृत्ति' भी उस में है, परंतु 'कांतासम्मित' के साथ 'प्रभुसम्मित' के संयोजन ने उनकी काव्यशैली को भिन्न रूप प्रदान कर दिया है। इस प्रकार वाल्मीकि और तुलसी के काव्यादर्श अथवा उद्देश्य में वस्तुतः अतर नहीं है, जो अंतर है वह शैली के कारण प्रतीत होता है। दोनों काव्य 'चरितकाव्य' हैं और आदर्श चरित्र या चरित्रों की स्थापना के द्वारा धर्मोपदेश भी दोनों का ही लक्ष्य है परंतु दोनों की धर्म विषयक कल्पना में अंतर भी है। रामचरितमानस में धर्म और भक्ति पर्याय-वाची हैं अर्थात् धर्माचरण करने वाले व्यक्ति को भक्ति की ओर भी अग्रसर होना चाहिए क्योंकि धर्मादर्श रूप में जिस व्यक्ति के आचरण को वह अपना लक्ष्य बनायेगा उसके सतत् सान्निध्य के कारण उसके प्रति श्रद्धापूर्ण अनुराग अर्थात् भक्ति का हो जाना भी स्वाभाविक है। इसी प्रकार जो भक्त होगा उसके आचरण में धर्म का आविर्भाव स्वयमेव होगा। अतः तुलसी ने भक्ति का उपदेश प्रत्यक्ष रूप में और आग्रहपूर्वक दिया है। उनके विचार से 'प्राकृतजन-गुणगान' उच्च काव्य विषय नहीं है, वस्त्रों के बिना जैसे सुंदर स्त्री भी कुरूपा प्रतीत होती है उसी प्रकार रामचर्चा के बिना पांडित्य-पूर्ण अलंकृत और चमत्कारयुक्त कविता शोभा और प्रकाश रहित प्रतीत होती है।[1] पांडित्य, अलंकरण और चमत्कार उत्तम काव्य के साधन हैं, साध्य नहीं। इस प्रकार तुलसी का काव्यादर्श रामनाम और राम-चरित्र के माध्यम से धर्मोपदेश करना था। समस्त काव्य-तत्त्वों के समान कथा भी उनके लिए गौण है। उनका उद्देश्य तो राम की भक्ति का पाठ पढ़ाना है और उसके लिए जब जिस काव्य-तत्त्व की आवश्यकता पड़ी है उसका उन्होंने अपनी सुसंपन्न काव्य-संपत्ति में से प्रयोग किया है। प्रधानता उन्होंने चरित्र की रखी है, कथा की नहीं, क्योंकि चरित्र ही उपदेश का सहज साधन होता है।

वाल्मीकि का उद्देश्य भी यही है। यह बात वाल्मीकिरामायण में राम-संबंधी विशेषणों से प्रकट है। साकार, सावयव धर्म को राम के चरित्र में, और उनके साथ धर्म के छोटे-बड़े रूपों को अन्य पात्रों के माध्यम से, प्रस्तुत करके वाल्मीकि ने भी तो धर्मोपदेश ही दिया है और उस धर्म का स्वरूप दोनों ही काव्यों में समान है। वह एक ही भूमि पर उगा हुआ कल्पतरु है। तुलसी के समय की जलवायु, ऋतु और आयु के अंतर के कारण उस कल्पतरु में विकास

१. मानस १।१६-२३

और वृद्धियाँ हो गई हैं। भक्ति के तत्व वाल्मीकिरामायण में भी हैं परंतु उसका स्वरूप सांप्रदायिक नहीं है। उसमें तुलसी के समान निर्गुणता भी नहीं है। तुलसी ने नाम को राम से अधिक माना है।[२] उसे सगुण और निर्गुण दोनों से बढ़कर माना है।[३] इसी प्रकार के विवेचन और उपदेश ने उनके काव्य में दार्शनिक दुरुहता, धार्मिक सांप्रदायिकता और पौराणिक उपदेशात्मकता उत्पन्न कर दी है। राम को ब्रह्म का पर्यायवाची बनाकर, समस्त उपास्यों और उपासनाओं को उनके आधीन करके तुलसी ने प्रत्येक महापुरुष के समान समन्वयात्मक बुद्धि का परिचय दिया है और उनका भी अपना एक वाद अथवा संप्रदाय जैसा बन गया है।

वाल्मीकि के सामने समन्वय की समस्या नहीं थी, अथवा कह सकते हैं कि इतनी जटिल नहीं थी। उनके सामने प्रश्न संस्कृति का था, धर्म का नहीं। इक्ष्वाकु-संस्कृति के रूप में आर्यसंस्कृति का श्रेष्ठ रूप, धर्म के श्रेष्ठ तत्त्वों से पुष्ट होकर विद्यमान था। उसी का प्रचार उन्हें करना था। अतः उनका उद्देश्य सांस्कृतिक और राजनैतिक था। उन्होंने संस्कृतियों का समन्वय किया है और समन्वय ही नहीं वरन् अन्य अविकसित, अर्धविकसित अथवा कुविकसित संस्कृतियों को आर्यसंस्कृति के आधीन बनाया है।

इस प्रकार तुलसी और वाल्मीकि के काव्य-विषयक उद्देश्य में भी एक सीमा तक समानता है, अर्थात् उनका लक्ष्य तो एक ही है --'जनकल्याण' अथवा 'जनता को धर्मोपदेश' परंतु उनकी रीति-पद्धति और साधन भिन्न हैं। तुलसी ने धर्म और दर्शन को जनकल्याण का साधन बनाया है और प्रत्यक्ष उपदेश की पद्धति अपनायी है और वाल्मीकि ने संस्कृति को राष्ट्रीय संगठन का साधन बनाया है तथा अप्रत्यक्ष या सांस्कृतिक प्रचार की पद्धति अपनायी है। इसीलिए वाल्मीकिरामायण को दक्षिण में आर्य-संस्कृति के प्रचार अथवा अनार्य जातियों पर आर्यजाति के अभियान का रूपक माना गया है, जो निराधार कल्पना नहीं है। वाल्मीकिरामायण में इस राजनैतिक और सांस्कृतिक लक्ष्य को प्रकट करने वाले ठोस आधार हैं फिर भी मानस के समान उनका उद्देश्य व्यक्त नहीं है। काव्य-रचना दोनों ही कवियों ने लोक संग्रह के लिए की थी पर इस उद्देश्य की पूर्ति उन्होंने भिन्न अभिव्यंजना-पद्धति और काव्य-शैली के द्वारा की है।

---

१. मानस १।२४-२५ २. मानस १।१०

वाल्मीकि और तुलसी की अभिव्यंजना पद्धति

दोनों कवियों की साहित्यिक परिस्थितियाँ भिन्न थीं। वाल्मीकि के समक्ष केवल वैदिक साहित्य था परंतु तुलसी के समक्ष पुराणों की भीड़, ललित वाङमय की वीथिकाएँ और विविध प्रकार का धार्मिक सहित्य था। वाल्मीकि स्वयं आदिकवि थे, उनके समय में साहित्यिक शैलियाँ उभर रही थीं। वाल्मीकि काव्य-शैलियों के आदि निर्देशक थे और तुलसी विभिन्न शैलियों के प्रयोक्ता। उन्होंने अपने महाकाव्य में नाना धार्मिक पद्धतियों के समान नाना साहित्यिक शैलियों का भी समन्वय किया। वाल्मीकि और तुलसी की भाषा, छंद, अलंकार, संवाद, महाकाव्य-रूप आदि काव्य-तत्त्वों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि तुलसी में जनतत्त्व अधिक हैं। उनकी भाषा वाल्मीकि के समान साहित्यिक और परिष्कृत नहीं है, परंतु उसमें तद्‌भव शब्दावली, बोलियों के प्रयोग, प्रचलित अरबी, फारसी शब्द तथा लोकोक्तियों और मुहावरों के रूप में एक देशव्यापी जनभाषा या राष्ट्रभाषा का आदर्श प्रस्तुत किया गया है। तुलसी ने रामचरितमानस की प्रस्तावना में 'भाषा भनिति' 'गिरा ग्राम्य' और 'कवित बिबेक एक नहिं मोरे' कहते हुए अपनी अभिव्यंजना पद्धति के लोकस्तरीय स्वरूप को स्पष्ट कर दिया है। उनका उद्देश्य भले ही 'प्राकृतजन-गुणगान' नहीं है, परंतु उनकी शैली प्राकृतजन के लिए ही है।

जिस प्रकार तुलसी की भाषा वाल्मीकि की अपेक्षा सामान्य और अपरिष्कृत है; उसी प्रकार उनकी चौपाई अनुष्टुप की अपेक्षा स्वच्छंद है। वाल्मीकि के पास तंत्री-ताल-लय का शास्त्रीय संगीत है तो तुलसी के पास जनकंठ का सहज संगीत। उनके रूपकों में पांडित्य है परंतु उनके अप्रस्तुत-विधान में लोकजीवन का व्यापक सन्निवेश हुआ है। उनकी संवादशैली ऐसी है कि वे मानस-सरोवर के चारों घाटों पर विराजमान समस्त भारतीय जनता (विविध वर्गों सहित) से स्वयं बात कर रहे हों। बीच-बीच में संबोधन, चेतावनी, उपदेश, भर्त्सना, भाव-प्रेरणा और नाटकीयता आदि तुलसी की कथन-शैली के विशिष्ट गुण हैं जिनके आधार पर वाल्मीकि की काव्यशैली से उसकी पृथक्ता स्पष्ट हो जाती है।

तुलसी की अभिव्यंजना पद्धति में साहित्य शास्त्रीय तत्त्वों का धर्मतत्त्वों की तुलना में अभाव नहीं है, वरन् वे अत्यंत प्रचुर हैं और हिंदी के आदर्श हैं, पर उनमें जनजीवन का सारल्य और स्वच्छंदता है। एक ओर उनकी उपदेश शैली वाल्मीकि से उनकी पृथक्ता प्रकट करती है तो दूसरी ओर उनकी नाटकीय

शैली भी। यदि वाल्मीकिरामायण उपदेश शैली से दूर रहने के कारण काव्य-धर्म का अधिक निर्वाह करती हुई दिखायी पड़ती है तो मानस उपदेश शैली के साथ नाटकीयता का संयोजन करने के कारण साहित्यिकता को हाथ से नहीं जाने देता। वाल्मीकिरामायण ने भी संस्कृत के नाटकों को अनुप्रेरित किया है परंतु मानस तो पद्यनाटक या नाटकीय महाकाव्य ही है।

इस प्रकार तुलसी की अभिव्यंजना-पद्धति की मुख्य विशेषता इस बात में दिखाई पड़ती है कि साहित्य शास्त्र के सभी तत्त्वों का यथोचित सम्मान करते हुए भी उन्होंने प्रधानता लोकतत्त्वों को ही दी है। लोक और शास्त्र का यह समन्वय ही उनके समस्त काव्य का—विचार और अभिव्यक्ति का—मुख्य गुण है।

तुलसी का उद्देश्य भक्ति का प्रचार था, इसका प्रभाव भी उनकी शैली पर पड़ा है। उन्होंने समस्त काव्यतत्त्वों की योजना इसी दृष्टि से की है। भाषा की यह सरलता, छंद की यह स्वच्छंदता, लोकजीवन से अप्रस्तुतविधान का चयन, संवारों की योजना आदि इसीलिए की गई है कि भक्ति का संदेश जनता के सभी वर्गों तक पहुँच सके। इसीलिये वे एक ओर पुराणों की शैली का आश्रय लेते हैं तो दूसरी ओर साहित्यशास्त्र के तत्त्वों का आधार भी नहीं छोड़ते, और साथ ही मार्मिक स्थलों को नाटकीय ढंग से भी प्रस्तुत करते चलते हैं।

तुलसी ने प्रत्येक रस का सांगोपांग निर्वाह करते हुए उसे भी भक्तिरस में परिणत किया है और जो संबंध संचारी भावों का स्थायी भावों के साथ होता है वही समस्त रसों का तुलसी के भक्तिरस के साथ है। वाल्मीकिरामायण में भक्ति एक भावना के रूप में ही सीमित है परंतु मानस में वह पूरा जीवनशास्त्र बनकर प्रकट हुई है और रस के क्षेत्र में रसराज बन गई है। वाल्मीकि रामायण का प्रधान रस वीर है परंतु वह एक प्रकार से भक्ति के रूप में ही प्रकट होता है क्योंकि उस वीर के प्रति जनता के मन में पूजा की भावना बन जाती है। इस प्रकार मानस के भक्तिरस की पुष्ट भूमिका भी वाल्मीकि रामायण में ही बन चुकी थी।

इस प्रकार प्रकट है कि मूल विचार में पर्याप्त समानता, उद्देश्य में आंशिक अंतर और अभिव्यंजना शैली में विशेष पार्थक्य होने के कारण दोनों काव्यकृतियाँ एक विषय से संबंधित होती हुई भी पृथक् प्रतीत होती हैं।

लेखक-परिचय

(नाम, जन्मतिथि तथा वर्तमान पता)

१. डा० अंबाप्रसाद 'सुमन' (२१ मार्च १९१६ ई०); डी० लिट्०; हिंदी विभाग, अलीगढ़ वि० वि०; हरिनगर, अलीगढ़ (उ० प्र०)

२. श्री अभयपालशरण रस्तौगी; पत्रकार, सिरसी (मुरादाबाद) उ० प्र०

३. डा० अमरेश पाठक (१९३६ ई०); डी० लिट्०; रीडर एवं अध्यक्ष, मैथिली विभाग, पटना कालेज, पटना (बिहार)

४. श्री उदयशंकर दुबे, अनुसंधाता, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

५. श्रीमती उषा मिश्रा (१५ जनवरी १९३५ ई०) ; प्रधानाचार्या, रिखी सिंह गर्ल्स इण्टर कालेज, माडल टाउन, बरेली (उ० प्र०)

६. डा० एन० चंद्रशेखरन नायर (२६ दिसंबर १९२३ ई०); डी०लिट्०; प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग; एन० एस० एस० कालेज, मट्टनूर, केरल

७. डा० एस० एन० गणेशन, पी-एच० डी०; हिंदी विभाग, मद्रास वि० वि०, मद्रास, तमिलनाडु

८. डा० कन्हैयालाल सहल; पी-एच० डी०; सहल सदन, पिलानी (राज०)

९. डा० कृष्णचंद्र गुप्त (३१ मार्च १९३५ ई०); पी-एच० डी०; हिंदी विभाग, सनातन धर्म कालेज, मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)

१०. डा० कैलाशशरण श्रीवास्तव; पी-एच० डी०; हिंदी विभाग, एम० जी० एम०पी०एम० कालेज, किरतपुर, बिजनौर (उ० प्र०)

११. डा० कैलाशचंद्र भाटिया (१९२७ ई०); डी० लिट०; प्रोफेसर, हिंदी तथा प्रादेशिक भाषाएँ, लालबहादुर शास्त्री प्रशासन अकादमी, मसूरी (उ० प्र०)

१२. डा० गणेश खरे (१५ जनवरी १९३७ ई०); पी-एच०डी०; हिंदी विभाग, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, राजनाँदगाँव (म० प्र०)

१३. डा० (श्रीमती) गिरिजासिंह (३१ अगस्त १९३२ ई०); डी०फिल०; ४, महर्षि दयानंद मार्ग, इलाहाबाद।

१४. डा० गिरिधरप्रसाद शर्मा; पी-एच० डी०; हिंदीविभागाध्यक्ष, भारतीय विद्याभवन, हजारीमल सोमानी कालेज, चौपाटी रोड, बंबई-७

१५. डा० गिरिराजशरण अग्रवाल (१४ जुलाई १९४४ ई०); पी-एच० डी०; हिंदी विभाग, वर्धमान कालेज, बिजनौर; अनाजमंडी, बिजनौर (उ० प्र०)

१६. डा० गोपालजी 'स्वर्णकिरण' (१६ मार्च १९३४ ई०); पी-एच०डी०; हिंदी विभाग, किसान कालेज, सोहसराय (नालंदा) बिहार।

१७. श्री गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर'; शंकर निवास, झाँसी (उ० प्र०)

१८. डा० गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेंद्र' (१९१३ ई०); डी० लिट्०; रीडर, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग, भागलपुर वि० वि०, भागलपुर

१९. श्री जनार्दनदत्त शुक्ल, आई० सी० एस०; ५, बटलररोड, लखनऊ।

२०. डा० नंदकिशोर तिवारी (२ जनवरी १९४३ ई०); डी० लिट्०; हिंदी विभाग, शांतिप्रसाद जैन डिग्री कालेज, सहसराम (बिहार)

२१. डा० निजाम उद्दीन; (२ जनवरी १९३३ ई०); पी-एच० डी०; हिंदी विभाग, इस्लामिया कालेज, श्रीनगर-२ (कश्मीर)

२२. डा० भगवतशरण अग्रवाल (२३ फरवरी १९३० ई०); पी-एच० डी०; प्रोफेसर्स क्वार्टर्स, यूनी० क्वार्टर्स मार्ग, नवरंगपुरा, अहमदाबाद-९

२३. प्रो० भगवानशरण भारद्वाज 'प्रदीप'; हिंदी विभाग, बरेली कालेज, बरेली (उ० प्र०)

२४. डा० भोलानाथ 'भ्रमर'; डी०लिट्०; रीडर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, महारानी लालकुँवरि स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बलरामपुर।

२५. डा० बल्देवप्रसाद मिश्र : राजनाँद गाँव (म० प्र०)

२६. आचार्य बैजनाथराय (२९ नवंबर १९२३ ई०); एफ १/५४ सेंट्रल गवर्नमेंट क्वार्टर्स, नारकेलडाँगा, कलकत्ता।

२७. श्रीमती मीना अग्रवाल (१५ दिसंबर १९४७ ई०); एम० ए०, रिसर्च स्कालर; अनाजमंडी, बिजनौर (उ० प्र०)

२८. श्री मोहनलाल शर्मा; जी०आई०/७०८ सरोजिनीनगर, नई दिल्ली-२३

२९. डा० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण' (७ जनवरी १९४१ ई०); पी-एच० डी०; हिंदी विभाग, शंभूदयाल स्नातकोत्तर कालेज, गाजियाबाद।

३० प्रो० रघुवीरसहाय; हिंदी विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री प्रशासन अकादमी मसूरी (उ० प्र०)

३१. डा० रमानाथ त्रिपाठी (वसंत पंचमी, १९२६ ई०); डी० लिट्०; हिंदी विभाग (सांध्य) दिल्ली वि० वि०; दिल्ली-९

३२. डा० रायनारायण राय (१८ दिसंबर १९३४ ई०); पी-एच० डी०; हिंदी विभागाध्यक्ष, ए० सी० कालेज, घोरपड़ी, पूना।

३३. डा० राजनारायण मौर्य (३ जनवरी १९३५ ई०); पी-एच० डी०; हिंदी विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना।

३४. डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी; डी० लिट्०, शीतलागली, आगरा।

३५. डा० रामदत्त भारद्वाज (मार्गशीर्ष कृष्णा द्वादशी १९५९ वि०); डी० लिट०; ११।९ शक्तिनगर, दिल्ली-७

३६. डा० रामदेव शुक्ल (५ जनवरी १९३८ ई०); पी-एच०डी; हिंदी विभाग, गोरखपुर वि० वि०, गोरखपुर (उ० प्र०)

३७. डा० रामप्रकाश अग्रवाल, पी-एच० डी०; अध्यक्ष हि० वि०, मेरठ कालेज, मेरठ (उ० प्र०)

३८. डा० रामस्वरूप आर्य (१ अप्रैल १९३३); पी-एच० डी०; अध्यक्ष एवं रीडर, हिंदी विभाग; वर्धमान कालेज, बिजनौर; नईबस्ती, बिजनौर (उ० प्र०)

३९. डा० रामाभिलाष त्रिपाठी (१६ जुलाई १९२८ ई०); पी-एच० डी०; नंदराम जी का मकान, अलवर (राज०)

४०. डा० रामेश्वरलाल खंडेलवाल (२५ दिसंबर १९१९ ई०); डी० लि०ट्; अध्यक्ष हिंदी विभाग, कुरुक्षेत्र वि० वि०, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

४१. डा० रामेश्वरप्रसाद सिंह (१५ फरवरी १९३५); पी-एच० डी०; स्नातकोत्तर हिंदी विभाग, भागलपुर वि० वि०, भागलपुर

४२. डा० रामेश्वरलाल अग्रवाल; पी-एच० डी०; हिंदी विभाग, मेरठ कालेज, मेरठ (उ० प्र०)

४३. डा० लक्ष्मीनारायण दुबे; पी-एच०डी०; सहायक आचार्य, हिंदीविभाग, सागर वि० वि०, सागर (म० प्र०)

४४. डा० वचनदेव कुमार (१ जनवरी १९३४ ई०); डी० लिट्०; व्याख्याता हिंदी विभाग, पटना कालेज, पटना (बिहार)

४५. डा० वागीशदत्त पांडेय; डी० लिट्०; व्याख्याता, के० एम० हिंदी एवं भाषा विज्ञान विद्यापीठ (आगरा वि० वि०) आगरा (उ० प्र०)

४६. डा० विपिनबिहारी ठाकुर; पी-एच०डी०, हिंदीविभाग, रोसड़ा कालेज, रोसड़ा (समस्तीपुर) बिहार।

४७. डा० विश्वदेव त्रिगुणायत (७ जनवरी १९३९ ई०); पी-एच० डी०; हिंदी विभाग, शंभूदयाल पोस्ट ग्रेजूएट कालेज, गाजियाबाद

४८. डा० वीरेन्द्रपाल श्रीवास्तव (१८ अगस्त १९३२ ई०); पी-एच० डी०, व्याख्याता हिंदी, कनिष्ठ महाविद्यालय राहतगढ़ (म० प्र०)

४९. श्री वेदप्रकाश गर्ग (५ दिसंबर १९२९ ई०); १४ खटीकान स्ट्रीट, मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)

५०. श्री वेदव्रत शास्त्री (१९ जनवरी १९१२ ई०); कासगंज, एटा (उ०प्र०)

५१. प्रो० श्रीचंद्र जैन; प्रधानाचार्य एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, संदीपनी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उज्जैन।

५२. श्री श्रीरंजन सूरिदेव (३ फरवरी १९२७ ई०); कार्यकारी संपादक, परिषद पत्रिका, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-४ (बिहार)

५३. डा० श्रीराम त्यागी; पी-एच० डी०; प्रधानाचार्य, वर्धमान कालेज, बिजनौर (उ० प्र०)

५४. डा० शंभूनाथ चतुर्वेदी (१२ फरवरी १९३७ ई०); पी-एच० डी०; प्रवक्ता हिंदी विभाग, लखनऊ वि० वि०, लखनऊ (उ० प्र०)

५५. श्री शचींद्रमोहन भटनागर, प्रधानाचार्य, इंटरमीडिएट कालेज, बहजोई (मुरादाबाद) उ० प्र०।

५६. डा० शालिग्राम गुप्त (१३ नवंबर १९३१ ई०); डी० फिल्०; प्रवक्ता हिंदी विभाग, विश्वभारती वि० वि०, शांतिनिकेतन, वीरभूमि

५७. प्रो० शिवअवतार रस्तौगी (४ जनवरी १९३९ ई०); प्रवक्ता, हिंदी विभाग, महाराजा अग्रसेन कालेज, मुरादाबाद (उ० प्र०)

५८. डा० शिवबालक शुक्ल (१३ अगस्त १९२० ई०); पी-एच० डी०; रीडर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, केन सोसायटीज नेहरू कालेज, हरदोई (उ० प्र०)

५९. प्रो० श्यामकिशोर शर्मा (४ जनवरी १९४४ ई०) हिंदी विभाग, आर० जे० पी० कालेज, बिजनौर; अनाज मंडी, बिजनौर।

६०. डा० श्यामप्रकाश (९ अक्टूबर १९३८ ई०); पी-एच० डी०; व्याख्याता, के० एम० हिंदी एवं भाषा विज्ञान विद्यापीठ (आगरा वि० वि०) आगरा (उ० प्र०)

६१. डा० श्यामबहादुर वर्मा (चैत्र शुक्ल पंचमी १९७५ वि०); पी-एच०डी०; व्याख्याता हिंदी विभाग, डी० ए० वी० कालेज (सांध्य) दिल्ली

६२. डा० सत्यनारायण शर्मा; पी-एच० डी;

६३. डा० सुरेशचंद्र गुप्त (२० दिसंबर १९३३ ई०); डी० लिट्०; वरिष्ठ प्राध्यापक, हिंदी विभाग, राजधानी कालेज, दिल्ली।

६४. डा० सूर्यप्रसाद दीक्षित (६ जुलाई १९३९ ई०); डी० लिट्०; हिंदी विभाग, जोधपुर वि० वि०, जोधपुर (राज०); ७२४ मार्ग ३, सरदारपुरा, जोधपुर (राज०)

६५. प्रो० सेवक वात्स्यायन (मार्गशीर्ष शुक्लाष्टमी १९८९ वि०); व्याख्याता हिंदी विभाग, क्राइस्टचर्च कालेज, कानपुर (उ० प्र०)

६६. डा० स्नेहलता प्रकाश (१४ जुलाई १९४० ई०); पी-एच० डी०; १४ गोपाल कुंज, बाग मुजफ्फरखाँ, आगरा (उ० प्र०)

६७. डा० (श्रीमती) हर्षनंदिनी भाटिया (१८ जुलाई १९३९ ई०); पी-एच० डी०; प्रधानाचार्या, भारती महिला विद्यालय, अलीगढ़

६८. डा० हरिश्चंद्र दीक्षित (हलषष्ठी १९९० वि०); पी-एच० डी०; प्रवक्ता हिंदी विभाग, रा० स्व० ग्रा० उ० स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पुखरायाँ, कानपुर (उ० प्र०)

६९. डा० हरिश्चंद्र वर्मा (५ जनवरी १९३४ ई०); पी-एच० डी० (हिंदी-संस्कृत); प्रवक्ता हिंदी विभाग, कुरुक्षेत्र वि० वि०, कुरुक्षेत्र

७०. डा० हरिदत्तशर्मा 'सुधांशु' (२ मार्च १९३४ ई०); पी-एच० डी०, प्रवक्ता हिंदी विभाग, राजर्षि महाविद्यालय, अलवर (राज०)